॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
४७



कविवरमुरारिविरचितम्

अनर्घराघवम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—
व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्यः
आचार्यः श्रीरामचन्द्रमिश्रः
मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाजसंस्कृतकालेजाध्यापकः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, संवत् २०१७

मूल्य ८—००

The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1 (India)
1960

समर्पणम्

दरभङ्गा-राजपण्डितानाम् अनर्घराघव-

नाटकस्य विषये परां प्रीतिं दधतां

श्रीबलदेवमिश्रमहोदयानाम्

आदरणीयकरकमलयोः

सबहुमानमुपायनीकरोति

स्वां कृतिमिमाम्

प्रकाशप्रणेता

रामचन्द्रमिश्रः

अवतारणा

अथायमुपक्रम्यते प्रकाशयितुं प्रकाशसमन्वितो मुरारिकृतोऽनर्घराघव-नामा नाटकग्रन्थः। अस्य रचयितुः परिचयादिकं साहित्यिकं गौरवं चाग्रे राष्ट्रभाषायां लिखितमस्तीति तत एवावगन्तव्यम्।

अस्य पुस्तकस्य बह्वष्टीकाः प्रथन्ते, यथा—१. पूर्णसरस्वतीकृता, २. हरिहरकृता, ३. मानविक्रमकृता, ४. रुचिपतिदत्तकृता, ५. धर्मानन्दकृता, ६. वरदपुत्रकृष्णकृता, ७. लक्ष्मीधरकृता, ८. विष्णुपण्डितकृता, ९. जीवानन्दकृता च। एतदन्या अपि टीकाः श्रूयन्ते।

तत्र यथोपलब्धास्त्रिचतुराष्टीका विलोक्य मया व्याख्यानमिदं प्रस्तुतीकृतम्। अत्र व्याख्याने मया प्रयस्य सारल्यमानीतम्, गद्यभागोऽपि सर्वत्र व्याख्यातः। आवश्यकतया प्रतीयमानश्छन्दोऽलङ्कारादिनिवेशोऽपि नोज्झितः। परिशिष्टे च ज्ञातव्याः सर्वेऽपि विषयाः समावेशिताः। आशासेऽनया टीकया छात्रा अध्यापकाश्च यथायोग्यमुपकृता भविष्यन्ति।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य विकसतां सतां नित्यक्षमामयतया दोषैकदृशामसतां तु पुरः क्षमाप्रार्थनाव्यापारस्यापि स्वप्रवञ्चनामात्रसारतया क्षमाप्रार्थनामन्तरैव समापयामि स्वामिमामवतारणाम्।

मुजफ्फरपुरम्
सं० २०१७

विदुषां विधेयः
रामचन्द्रमिश्रः

समालोचना

नाटकसाहित्यकी प्राचीनता

भारतीय नाटकसाहित्य विचारधारा तथा विकासक्रममें मूलतः स्वतन्त्र है इस बातको अब सभी आलोचक मानने लग गये हैं।

वैदिक साहित्यकी समीक्षासे पता चलता है कि वैदिककालमें नाटकके सभी अङ्गों—संवाद, सङ्गीत, नृत्य एवं अभिनय का किसी न किसी रूपमें अस्तित्व था। ऋग्वेदके यम-यमी, उर्वशी-पुरुरवा, सरमापणिके संवादात्मक सूक्तोंमें नाटकीय संवादका तत्त्व विद्यमान है। सामवेद तो सङ्गीत-प्राण ही है। आलोचकोंका अनुमान है कि ऐसे संवाद ही कालान्तर में परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमें परिणत हुए होंगे। रामायण-महाभारतकालमें नाटकका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराट पर्वमें रङ्गशालाका नाम आया है। नट शब्दका भी वहाँ प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधर स्वामीके अनुसार 'नवरसाभिनय-चतुर' है। हरिवंशमें रामायणकी कथापर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमें भी 'नट' 'नर्त्तक' 'नाटक' 'रङ्गमञ्च' आदिका वर्णन स्थान-स्थानपर मिलता है तथा 'कुशीलव' शब्दका प्रयोग भी 'नट' वा 'अभिनेता' के अर्थमें हुआ है। महामुनि पाणिनिने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' इस सूत्रमें नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्रका स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके समयमें या उनसे पूर्व भी अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधारपर इन नटसूत्रोंकी रचना हुई होगी। लक्ष्यग्रन्थोंको देखकर ही तो लक्षण-ग्रन्थोंका निर्माण किया जाता है।

इधर द्वितीय ईस्वी सदी पूर्वकी एक प्राचीन नाट्यशाला भी छोटा नागपुर की पहाड़ियोंमें पाई गई है जो नाट्यशास्त्रमें वर्णित प्रेक्षागृहोंसे मिलती-जुलती है। इस तरह संस्कृत नाटकोंकी अपनी परम्परा सिद्ध होती है।

संस्कृत नाटकोंमें रङ्गमञ्चके लिए कहीं-कहीं 'यवनिका' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसीसे कुछ पाश्चात्य विद्वान् अनुमान लगाते हैं कि संस्कृत नाटकोंकी उत्पत्ति 'यवन' अर्थात् 'ग्रीक' नाटकोंके प्रभावसे हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है, 'यवनिका' शब्दका रहस्य तो इतना ही भर है कि यह पर्दे यवनदेशसे आये हुए वस्त्रोंसे बनाये जाते थे।

प्राचीन पद्धति-क्रमसे विचार करनेपर भी नाटक साहित्यकी प्राचीनता सिद्ध होती है—भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें लिखा है—

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत् ॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शनम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम् ।
नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥
एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन् ।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतकानि च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥
आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
पुत्रानध्यापयं योग्यान्प्रयोगं चास्य तत्त्वतः ॥
एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने ।
अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र सङ्गताः ॥
देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥

शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें लिखा है—

'कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान् महेश्वरः ।
स्वे महिम्नि स्थितः स्वैरं नृत्यन्नानन्दनिर्भरम् ॥
मनसैवासृजद्विष्णुं ब्रह्माणं च महेश्वरः ।
नियोगाद् देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत् ॥
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् ।
दिव्यं चरित्रमैशं मे कथमभ्यस्ततामियात् ॥
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः ।

स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम् ॥
उवाच वाक्यं भगवान्नन्दी तच्चिन्तितार्थवित् ।
नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ॥
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम् ।
भरतेषु प्रयोज्यं त्वया सम्यग्विजानता ॥
तस्मिन् प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ।
प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते ॥
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान् प्रभुः ।
श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मा देवैः समन्वितः ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं सम्यगभ्यधात् ।
अध्याप्य भरतानेतत् प्रयुङ्ध्वमिति चाब्रवीत् ॥
ततस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
तदेतत् प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात् ।
वृत्तिभिः सह चत्वारः शृङ्गाराद्या विनिर्गता ॥'

उपर्युक्त समीक्षा तथा उद्धरणोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक साहित्यने अपने क्रमबद्ध विकासमें वैदिकवाङ्मय, इतिहास तथा पुराणसे प्रचुर प्रेरणा पाई है। इस प्रकार भारतीय नाटकोंके विकासमें बहुत समय लगा होगा। उन्हीं नाटकोंमेंसे एक नाटक है :—

अनर्घराघवनाटक

अनर्घराघव रामायणकी कथापर आधारित एक सात अङ्कोंका नाटक है, इसी नाटककी योग्यता तथा रोचकताके कारण इसके प्रणेता 'बालवाल्मीकि' नामसे प्रख्यात हो गये हैं। इस नाटककी भाषा, भावसमृद्धि और कथावस्तु सर्वत्र सरल नहीं होनेपर भी विद्वत्ता तथा कवित्वसे पूर्ण मानी जाती है। अधिकांश कल्पनायें मौलिक तथा निजी ढङ्गके रूपमें प्राकृतिक हैं, जिनसे यह नाटक नितान्त गौरवपूर्ण बन गया है। यद्यपि विदेशी आलोचकोंने कहा है कि भारतीय विद्वान् मुरारिको अनुचित तथा अनपेक्षित प्राधान्य देते हैं, परन्तु उनका ऐसा कथन इसलिये असङ्गत है कि वे अनर्घराघवको विना समझे ऐसा कहते हैं। अनर्घराघव नाटक साहित्यका मेरुदण्ड, व्याकरण–नैपुण्यका परीक्षा-निकष माना जाता है। भट्टोजिदीक्षितके ऐसे वैयाकरणने भी अपनी सिद्धान्त-कौमुदीमें इसके अनेक उद्धरण दिये हैं जिससे इसकी विद्वत्तापूर्णता असन्दिग्ध रूपमें प्रकाशित होती है।

कविवर मुरारि

अधिकांश भारतीय कवियोंकी तरह मुरारिका परिचय भी अन्धकारपूर्ण है क्योंकि इन्होंने जो अपने विषयमें लिखा है वह बहुत स्वल्प है। उनके लेखसे इतनाही ज्ञात होता है कि यह मौद्गल्यगोत्रोत्पन्न 'वर्धमान'के पुत्र 'तन्तुमती' गर्भज थे।

इनके समयका निरूपण इसी आधारपर किया जाता है कि इनके नाटकमें भवभूतिके नाटकका स्पृहणीय अनुकरण पाया जाता है, अतः इनका समय भवभूतिके बाद होना चाहिये। ८५५-८८४ ए. डी. में वर्त्तमान 'अनन्तवर्मा'के दरबारमें रहनेवाले तथा 'हरविजय' महाकाव्यके प्रणेता 'रत्नाकर'ने लिखा है 'अङ्कोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्'। इससे इनका तत्पूर्ववर्त्तित्व प्रमाणित होता है। मुरारिने लङ्कासे अयोध्या आते हुए रामके मुखसे अन्यान्य स्थानोंके साथ 'माहिष्मती' नगरीका वर्णन करवाया है:—

'इयं च करचुलिनरेन्द्रसाधारणाग्रमहिषी माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी'।

माहिष्मतीके करचुलि-राजगण नवम शतकके मध्यमें 'माहिष्मती' छोड़कर त्रिपुरी' तथा 'रत्नपुरा' नामक राजधानियां बसा ली थीं।

बहुत सम्भव है कि मुरारि 'उदात्तराघव' नामक रूपकके प्रणेता 'अनङ्गहर्ष' नामक 'करचुलि' नरेशके समकालिक रहे हों। अनङ्गहर्षका स्मरण 'कुट्टिनीमत' नामक ग्रन्थमें किया गया है।

इन सभी बातोंपर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि मुरारि अष्टमशतकके चरम तथा नवमशतकके प्रथमभागमें विद्यमान थे।

मुरारिका ग्रन्थ

मुरारिकृत ग्रन्थ एकमात्र 'अनर्घराघव'ही प्राप्त होता है। परम आदरणीय होनेसे वह एक ही ग्रन्थ माघकी तरह अक्षयकीर्त्तिका कारण बन गया।

शार्ङ्गधरपद्धतिमें लिखा है:—

'भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः॥'

अन्य सूक्तियां भी हैं—

'मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे मतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माऽघे मतिं कुरु॥'
'मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥'

'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'।

मीमांसाके भाट्टरहस्यादि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जिनका नाम तथा मत आया है वह मुरारि मैथिल ब्राह्मण तथा प्रकृत-नाटक-प्रणेता मुरारिसे भिन्न थे। प्रायः 'मुरारेस्तु तृतीयः पन्थाः' यह आभाणक उन्हींके विषयमें चला था क्योंकि उनका मत भट्टमत तथा गुरुमतसे भिन्न था।

मैं समझता हूँ मुरारि भी दाक्षिणात्य ब्राह्मणोंमेंसे किसी ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न हुए थे क्योंकि उनकी कवितापर भवभूतिका बड़ा प्रभाव पड़ा है, उनके समयमें और भवभूतिके समयमें जितना अन्तर है उतने समयमें दूरवर्त्ती कविपर इतना प्रभाव होना सम्भव नहीं है॥

मुरारिका शास्त्रीय पाण्डित्य

अनर्घराघवका प्रत्येक पृष्ठ ही मुरारिके शास्त्रीय पाण्डित्यका प्रमाण है, खासकर मुरारि व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेद, राजनीति और वैशेषिकके मर्मज्ञ प्रतीत होते हैं क्योंकि इन शास्त्रोंके तत्त्व उनके मुखसे अनायास निकल जाया करते थे। उदाहरणार्थ देखिये—

राजनीतिः—१-'अहिभयोपजायजर्जरं सुहृद्गृहमुपश्रुत्य ··· आत्मबलैकदेशं बालिप्रतिग्रहाय प्राहिणोत्' (अंक २)

२-'आरण्योऽग्निरिव सुखदुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति, मण्डलस्य चानुग्राह्यो भवति'। (अङ्क ४)

३-'राजपुत्रोऽङ्गदो सौ बालो नवबुद्धिरामपात्रमिव यद्यदाधीयते तत्तद् आचूषति'। (अङ्क ६)

४-'अरिषड्वर्ग एवायमस्यास्तालपदानि षट् तेषामेकमपि च्छिन्दन् व्यक्षय भ्रमरीं श्रियम्'। (अङ्क ६)

व्याकरण— १-'प्रकृष्टकर्त्रभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन्'। (अङ्क २)

२-'तपोभिरस्य ब्राह्मणातिदेशोऽपि क्षत्रकार्यं न जहाति' (अङ्क ४)

वेद— १-'परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूंषि'। (अङ्क २)

२-'गायत्री द्रुपदा देवी पाप्मानमपहन्तु ते।
पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम्॥' (अङ्क ४)

धर्मशास्त्र— १-न दीक्षिष्यमाणाः क्रुध्यन्तीति रक्षितारं क्षत्रियमुपाददते (अङ्क २)

२-'आतिपातिके कर्मणि राज्ञां सद्यः शुद्धिः'। (अङ्क ५)

वैशेषिक— १-'विश्वं चाक्षुषमस्तमस्ति हि तमः कैवल्यमौपाधिकप्राच्यादिव्यवहारबीजविरहाद्दिङ्मात्रमेव स्थितम्।' (अङ्क २)

२-'वैशेषिक-कन्दली पण्डितो जगद्विजयमानः पर्यटामि' (अङ्क ५)

मुरारिका कवित्व

केवल शास्त्रीय पाण्डित्यके बलपर कोई प्रसिद्ध नाटककार होने का दावा नहीं कर सकता है अतः मुरारिका कवित्व जबतक हमारे सामने न आवे तबतक हम उनके नाटकका आदर कैसे करेंगे।

इस सम्बन्धमें मैं उनके नाटकसे कुछ उद्धरण देकर उनके कवित्वका उदाहरण उपस्थित करता हूँ। देखिये:—

'क्रियाणां रक्षार्थं दशरथमुपस्थाय विमुखे
मुनौ विश्वामित्रे भगवति गते सम्प्रति गृहान्।
तपोलेशक्लेशादुपशमितविघ्नप्रतिभये
प्रवृत्ते यष्टुं वा रघुकुलकथैवास्तमयते॥ (१. ४५)

रामको यज्ञरक्षार्थ तपोवन ले जानेके लिये विश्वामित्र दशरथके यहाँ आये थे, दशरथ विचार करते हैं कि विश्वामित्रके ऐसे तपस्वी यज्ञकी रक्षाके लिये मेरे पास आये अगर वे यों हीं लौट जाते हैं और अपने तपके अंशको खर्च करके यज्ञ करने लगते हैं तब रघुवंशकी दानवीरताकी कथा ही अस्त हो जाती है। कितनी उदारभावना तथा प्राञ्जल कथन है।

'एकद्विप्रभृतिक्रमेण गणनामेषामिवास्तं यतां
कुर्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसंवर्त्तिकाः।
भूयोऽपि क्रमशः प्रसारयति ताः सम्प्रत्यसूनुद्यतः
संख्यातुं सकुतूहलेव नलिनी भानोः सहस्रं करान्॥ (२. ५)

कमलिनी सहस्रपत्रा होती है, जब सूर्य अस्त होने लगते हैं उनके अस्त होते हुए करोंको एक-एक गिनती हुई यह कमलिनी अपने हजार पत्रोंको सङ्कुचित कर लेती है, स्वयं मुंद जाती है, फिर जब सूर्य उगने लगते हैं तब उनके उदित होने वाले करों की गिनती सी करती हुई वही नलिनी अपने हजार पत्रोंको विकसित कर लेती है। कितनी अच्छी उत्प्रेक्षा है यह।

'दातव्येयमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ
दोर्लीलामसृणीकृतत्रिभुवनो लङ्कापतिर्याचते।
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु कथागोष्ठीषु नः शासति
त्वद्वृत्तानि परोरजांसि मुनयः प्राच्या मरीच्यादयः॥ (३. ४४)

रावण की ओरसे सीता की मँगनी करनेके लिये आया हुआ पुरोहित शौष्कल जनकसे कह रहा है कि जब आपको कन्यादान करना ही है तब आप क्या देख रहे हैं, रावणके समान वीर पात्रका मिलना आपका सौभाग्य है। आप

विचार क्या करते हैं, आपका विचार करना मूढ़ताका प्रतीक है, आपसे तो ऐसी आशा नहीं की जाती है।

रामने धनुर्भङ्ग कर दिया, पुरोहित शौष्कलको इसकी खबर मिल गई, वह जारहा है, परन्तु जाते जाते चेतावनी देता है, वह कितना रम्य है :—

समन्ताद्रुत्तालैः सुरसहचरीचामरमरु-
त्तरङ्गैरुन्मीलद्भुजपरिघसौरभ्यशुचिना।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता
मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपययाः॥ (३. ६१)

रावणने जिस सीताको हृदयमें रख लिया है उस सीताके साथ विवाह करना सर्पसे खेलना होगा, अतः हे राम, धनुर्भङ्ग की कीर्त्तिमात्रसे सन्तुष्ट होकर आप लौट जाँय, विवाहके फन्देमें न पड़ें।

प्रसाद गुण कविताकी रीढ़ मानी जाती है। देखिए:—

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो
विपक्षादम्भोजादुपगतवतो वा मधुलिहः।
अपर्याप्तः कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय-
प्रबन्धः साधूनामयमनभिसन्धानमधुरः॥ (६. ६)

कुमुद अपने उदरमें रहनेवाले तथा शत्रुभूत कमलोंके पाससे आनेवाले भ्रमरोंका समान आदर करता है, ठीक ही है साधुजन स्व तथा परका विचार किये बिना ही उपकार किया करते हैं।

कितने उदाहरण दिये जाँय, श्लोकोंका अर्थ-गौरव माघके श्लोकोंकी याद दिलाते हैं, बन्धगाढता तथा उपस्थापन शैलीके लिये एक श्लोक देखिये:—

'कल्पान्तक्रूरसूरोत्करविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध-
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयोविलक्षः।
सम्भूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहाशस्त्रसंपातभीमा-
मुर्वीं गीर्वाणगोष्ठीगुरुमदनिकषो नैकषेयः पिधत्ते॥ (३. ३१)

रावणके युद्धावतरणका यह वर्णन कितना उदात्त बना है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि इस नाटकमें कवित्वका बड़ा सुन्दर विकास है।

कथासार

अङ्क १

महर्षि विश्वामित्रके आश्रममें यज्ञ होनेवाला है, उन्होंने दशरथके पास आकर राम तथा लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ आश्रम लेजानेकी इच्छा प्रकट की। हृदयमें व्यथित होकर भी दशरथने विश्वामित्रका अनुरोध स्वीकार किया और विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणको आश्रममें ले आये। वसिष्ठने भी वामदेवके द्वारा विश्वामित्रके अनुरोधका समर्थन किया।

अङ्क २

आश्रममें आनेपर रामने यज्ञकी रक्षा की। एकदिन सन्ध्यासमय राक्षसोंने उपद्रव मचाया। विश्वामित्रकी आज्ञासे धनुष्पाणि रामने ताड़का का वध किया। विश्वामित्रने रघुकुलकी कीर्त्तिका गान किया।

अङ्क ३

विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणके साथ मिथिला आये। वहाँ जनकने सीता-स्वयंवरकी पूरी तैयारी कर रखी थी। विश्वामित्रके साथ राम-लक्ष्मणको देखकर जनकको बड़ी प्रसन्नता हुई। विश्वामित्रने जनककी तथा जनकने विश्वामित्रकी बड़ी प्रशंसा की। वहीं पर विश्वामित्रने राम-लक्ष्मणका परिचय कराया। जनकने अपनी प्रतिज्ञापर खेद प्रकट किया। इस पर विश्वामित्रने कहा कि दिखलाइये हर-चाप, राम उसे भग्न करेंगे। इसी समय रावणका पुरोहित शौष्कल आया, उसने बड़ी भूमिकाके साथ सीताकी मँगनी रावणके लिये की, उसकी बातके समाप्त होनेसे पहले ही रामने धनुर्भङ्ग कर दिया और वह अपनासा मुँह लेकर चला गया।

अङ्क ४

माल्यवान् तथा शूर्पणखाके कथोपकथन रूपमें अनन्तर-करणीय स्थिर किया गया। इधर हरचापभङ्ग सुनकर कुपित परशुराम मिथिलामें आये। उनके कोपका सौम्य उत्तर रामने दिया, परन्तु वह बढ़ता ही गया, अन्तमें उन्होंने अपना वैष्णव धनुष रामको चढ़ानेके लिये दिया, रामने जब उसे चढ़ा दिया तब उनका संशय दूर हो गया, और वह आशीर्वाद देकर तपस्या करने चले गये। उनके जानेके बाद सीता-विवाहोत्सवके साथ परशुराम-विजयोत्सव भी मनाया ही जारहा था कि कैकेयीने दासीके द्वारा पत्र भेजकर अपने

वरदानोंमें रामवनवास तथा भरतका राज्याभिषेक मांगा। सभीमर्माहत हो उठे। परम पितृभक्त राम सीता तथा लक्ष्मणके साथ वन चले गये।

अङ्क ५

रामके वनमें जाने पर रावणने भिक्षुका वेष बनाकर रामके आश्रममें प्रवेश किया, उस समय राम आश्रममें नहीं थे। सीताका हरण हुआ, जटायु मारे गये, पीछे सब समाचार जानकर राम बड़े दुखी हुए, उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये वालिवधपूर्वक सुग्रीवके साथ मैत्री कर ली।

अङ्क ६

सुग्रीव द्वारा आयोजित सारी वानर-सेनाने समुद्र बांधकर लङ्कापर आक्रमण किया। युद्धमें इन्द्रजित् कुम्भकर्णके मारे जानेके बाद रावण स्वयं लड़ने आया और बड़ा भीषण युद्ध करता रहा। अन्तमें रामके अस्त्रोंसे आहत होकर वह भी धराशायी हो गया।

अङ्क ७

अग्नि-परीक्षाके बाद शुद्धा सीताको साथ लेकर पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो राम आदि अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए। मार्गमें नाना नदी, पर्वतों, स्थानोंको देखते हुए वह अयोध्या पहुँचे, जहां वसिष्ठ आदि उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रामका राज्याभिषेक होता है॥

कथाका आधार

अनर्घराघवकी कथा रामायणकी प्रसिद्ध कथापर आधारित है। जो कुछ परिवर्त्तन-परिवर्धन किया गया है वह नाटककी दृष्टि से ही। इसमें भी महावीर-चरितकी तरह राम-वनगमनका प्रसङ्ग मिथिलामें ही उठा दिया गया है। माल्यवान् तथा जाम्बवान् की पूरी मन्त्रणायें कविकी सृष्टियां हैं जिनसे कथा तथा रसका परिपोष होता है। परशुरामका विस्तृत भाषण-वर्णन काव्यसौष्ठव लाने तथा वीर रसको परिपुष्ट करनेके लिये किया गया है। सप्तम अङ्कमें कथा भाग नहींके बराबर है, उसमें तो कालिदास कृत रघुवंशके त्रयोदश सर्गकी तरह केवल वर्णन मात्र है।



पात्रालोचन

१—राम

रामका चित्रण इस नाटकमें आदर्श वीरके रूपमें किया गया है। विश्वामित्रके यज्ञमें उनके गुरु विश्वामित्र उन्हें आदेश देते हैं कि 'गृहाण चापं निगृहाण ताडकाम्' उसपर वे कहते हैं कि यह तो स्त्री है। आप इसको मारनेकी आज्ञा क्यों देरहे हैं। इसपर विश्वामित्र कह उठते हैं कि आश्रमकी बाधा समीप आरही है उत्तर-प्रत्युत्तर मत करो, इसको मारो। इसपर राम उसका वध तो करते हैं परन्तु उन्हें लज्जा होती ही है।

परशुरामसे बातें हो रही हैं, दशरथ, जनक, शतानन्द सभी गुरुजन उन्हें मना रहे हैं परन्तु उनका पारा नहीं उतरता, रामकी वीरता सौजन्यसे आवृत है वह कुछ कठोर बात नहीं निकालते हैं। परशुराम बढ़ते जा रहे हैं, तब रामने देखा कि ऐसे काम नहीं चलेगा तब वे बोल उठे—

'नृपानप्रत्यर्थान् किमपवदसे नन्वयमहं शिशुक्रीडाभग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुरः।
अहङ्कारक्रूरार्जुनभुजवनव्रश्चनकलानिसृष्टार्थो बाहुः कथय कतरस्ते प्रहरतु'॥

व्यर्थमें बड़े बूढ़ोंका अपमान क्यों करते हैं, बालक्रीडामें ही शिवधनुर्भञ्जक मैं तो आपके सामने ही खड़ा हूँ, सहस्रार्जुनको मारनेवाला आपका कौनसा हाथ मुझपर प्रहार करेगा? कृपया इसकी आज्ञा दीजिये।

कितना नम्र और दृढ़ यह वचन है, कितनी बहादुरी इस वचनके पीछे छिपी है।

परशुराम परास्त होकर जाने लगते हैं तब भी रामने उनकी बड़ी प्रतिष्ठा की जिससे उनकी वीरतामें चार चाँद लग गये हैं।

२—लक्ष्मण

लक्ष्मण का चित्रण इस ग्रन्थमें बहुत थोड़ा है पर जहाँ है वहाँ उन्हें रामका अनुगामी चित्रित किया गया है। चन्द्रोदयादि-वर्णनमें वह रामके साथ हैं। ताडकाके वधके समय जब राम स्त्रीवधके लिये कुछ विचारमें पड़ जाते हैं तब लक्ष्मण उन्हें कहते हैं कि जब विश्वामित्र कह रहे हैं तब कोई क्षति नहीं है।

परशुरामके आनेपर इनका कोप भड़कता है, परन्तु रामके आदेशसे इन्होंने अपनेको संयत कर लिया। इस प्रकार यह बराबर रामके अनुगामी रहे।

३—सीता

सीताका चरित बहुत स्वल्प है, विवाहके पहले, वन जानेके समय, कहीं भी सीताका कुछ ऐसा उल्लेख नहीं है जिससे चारित्रिक विशेषतापर प्रकाश पड़े।

४—रावण

इस नाटकमें रावण प्रतिनायक है। प्रतिनायकका उत्कर्ष वर्णन फलतः नायकोत्कर्षमें पर्यवसित होता है, इस दृष्टिसे रावणका चित्रण बहुत साधारण हुआ है। रावण वीर अवश्य है परन्तु इस नाटकमें उसका चित्र विलासीका चित्र है। उसकी बहादुरीका अवसर उपस्थित होता है लङ्काके घेरे जानेपर। उसे हम चरित्र नहीं कहकर कीर्त्ति कहते हैं।

५—माल्यवान्

यह रावणका मातामह-भ्राता तथा मन्त्री है। इसका राजनीति ज्ञान इसके भाषणोंसे स्पष्ट झलकता है। इसके चार गण सर्वत्र सतर्क तथा बुद्धिमान् है। माल्यवान् भविष्यकी चिन्ता इतनी सावधानीसे करता है कि इसके लिये उसको धन्यवाद देना चाहिये। राम-रावणयुद्ध अभी दूर है परन्तु उसे उस समयकी परिस्थितिका चित्र अङ्कित करके अपने सहधर्मियोंको समझाना तथा तदनुसार आचरण करना है। बाली उसके मित्रोंमें है, उसके द्वारा की गई स्वपक्षपरपक्ष-विवेचना तथा राजनीतिक घात-प्रतिघातकी एक राजनीतिक विवेचना होगी।

६—परशुराम

स्वाभाविक वीरता, तपस्या तथा गुरुभक्तिसे पूर्ण वे रङ्गमञ्चपर आते हैं, उनका क्षत्रियविरोध तथा वीरभाव इतना प्रकट है कि वह रामकी बातोंपर ध्यान तक नहीं देना चाहते; वे अपनी ही बात कहे जाते हैं।

परशुरामको ब्राह्मणत्वकी एवं तपस्या तथा क्षत्रियोचित वीरताका भी समान अभिमान है। शतानन्दकी बातोंसे उनको चिढ़सी होती है।

वीर होनेके कारण परशुराम रामकी प्रशंसा भी किये विना नहीं रह सकते हैं, वह कह उठते हैं—'नापराद्धमस्मासु वत्सेन।'

७—विश्वामित्र

विश्वामित्रका चरित्र इस नाटकमें मूलस्रोत माना जाता है, वे रामको उसी प्रकार संवारते हैं जैसे मुद्राराक्षसका चाणक्य चन्द्रगुप्तको। धनुष उठानेकी आज्ञा देते है तब धनुष उठता है, ताड़का-वधकी प्रेरणा होती है तब ताड़कावध होता है। रामके सभी कर्त्तव्योंकी चिन्ता विश्वामित्रको ही है।

इस नाटकमें पात्रके चरित्रपर कम ध्यान दिया गया है, वर्णन पर अधिक अतः चरित्रचित्रणका प्रकरण कुछ छोटा हो गया है।



पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

१ दशरथ : अयोध्याधीश
२ वामदेव : दशरथके पण्डित
३ विश्वामित्र : प्रसिद्ध ऋषि
४ राम : दशरथपुत्र
५ लक्ष्मण : ,,
६ दौवारिक : एक सिपाही
७ शुनःशेप : विश्वामित्रशिष्य
८ पशुमेढ़ : ,,
९ शतानन्द : गौतमपुत्र, जनक पुरोहित
१० जनक : मिथिलाधीश
११ परशुराम : प्रसिद्ध क्षत्रियद्वेषी
१२ कञ्चुकी : जनकके दरबारका भृत्य
१३ शौष्कल : रावण पुरोहित
१४ माल्यवान् : रावणके मन्त्री
१५ जाम्बवान् : सुग्रीवके मन्त्री
१६ जटायु : दशरथमित्र, गृध्र
१७ गुह : नाविक
१८ वाली : किष्किन्धाधीश
१९ शुक : रावणके चर
२० सारण : ,,
२१ रत्नचूड : व्योमचारी सिद्ध
२२ हेमाङ्गद : ,,
२३ विभीषण : रावणानुज
२४ सुग्रीव : वानरराज
२५ भरत : राम के अनुज
२६ शत्रुघ्न : ,,

स्त्री-पात्र

१ सीता : जनकपुत्री
२ कलहंसिका : सीताकी दासी
३ शूर्पणखा : रावणकी बहन
४ श्रवणा : तापसी



॥ श्रीः ॥

अनर्घराघवम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्



प्रथमोऽङ्कः

निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवतः कौमोदकीलक्ष्मणः
कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने ।

भूतेशे नियमाय मौनिनि गते दूरं क्वचिन्नन्दिनि
म्लाने बालविधौ तथामृतभुजां सिन्धौ भजन्त्यां क्रुधम् ।
यस्मिन्हैमवती बबन्ध विविधां भावानुबन्धोद्धुरां
चेतोवृत्तिमसौ कृपीष्ट कुशलं देवो द्विपेन्द्राननः ॥ १ ॥
श्रद्धानतेन शिरसा पितरं मधुसूदनम् ।
प्रसूं जयमणिं चाहं प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥
श्रीमन्मुरारिकविता-भावानवबोधबद्धवैमुख्यान् ।
मन्ये कतिचन बालान् प्रोत्साहयिता प्रकाशोऽयम् ॥ ३ ॥
सन्तो गुणेन तुष्यन्ति स नैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥ ४ ॥

नाटकप्रणयनयशस्त्री महाकविर्मुरारिः शिष्टाचारानुमितकर्त्तव्यताकं नान्दीसंज्ञया प्रथमानं मङ्गलमारचयति—निष्प्रत्यूहमिति । प्रत्यूहस्य विघ्नस्याभावो निष्प्रत्यूहम् तस्मै निष्प्रत्यूहम् विघ्नाभावाय चिकीर्षितग्रन्थसमाप्तिप्रचारयोर्निर्विघ्नसम्पत्तये भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः कौमोदकीलक्ष्मणः कौमोदकी नाम विष्णुगदा लक्ष्म चिह्नं यस्य तस्य तथोक्तस्य गदाधरस्य विष्णोः कोकस्य चक्रवाकस्य प्रीतिः आनन्दः चकोरस्य तदाख्यया प्रसिद्धस्य पक्षिभेदस्य पारणमुपवासान्तभोजनञ्च तयोः कोकप्रीतिचकोरपारणयोः पटुनी ज्योतिषी ययोस्तादृशी लोचने

विघ्नशान्तिके लिये कौमोदकी नामक गदासे भूषित भगवान् विष्णुके उन नयनोंकी उपासना करते हैं जिनमें कोककी प्रीति तथा चकोरके व्रतान्त भोजनमें उपयुक्त सूर्य-

याभ्यामर्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरर्धनिद्रायितो
नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः ॥ १ ॥

नयने उपास्महे आराधयामः, भगवतो विष्णोर्नयने सूर्यचन्द्रात्मके, तत्र सूर्यज्योतिषा दिवससंयोगिनः कोकस्य प्रीतिः, चन्द्रज्योत्स्नापिबस्य चकोरस्य दिवसमनाहारेण यापितवतो जायमाने चन्द्रोदये पारणञ्जायत इति नयनयोस्तयोः कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मत्त्वमुच्यते । याभ्यां सूर्यचन्द्रात्मकाभ्यां विष्णुलोचनाभ्याम् अर्धविबोधेन आंशिकविकासेन मुग्धमधुरा अतिमनोहरा श्रीः शोभा यस्य तथोक्तः सूर्यरूपनेत्रसम्पर्कवशादर्धविकसिततया मनोहारीत्यर्थः, अर्धनिद्रायितः चन्द्ररूपद्वितीयनेत्रप्रभासंपर्कवशादर्धमुद्रितश्च नाभी पल्वलमिव अल्पं सर इव तस्य यत्पुण्डरीकं सिताम्भोजं तस्य मुकुलः कलिका कम्बोः शङ्खस्य सपत्नीकृतः सादृश्यं प्रापितः । अयमाशयः—विष्णोस्ते नयने भजामो ये सूर्यचन्द्रात्मकतया कोकप्रीतिं चकोरपारणं च जनयतः, किञ्च याभ्यां सम्पृक्तः कमललोचनस्य नाभीपल्वलपुण्डरीकमुकुलोऽशतो विकसितो मुद्रितश्च भूत्वा शङ्खस्य साम्यमुपाचर्छतीति । निष्प्रत्यूहमिति 'अव्ययं विभक्ती'त्यादिना समासे 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इति चतुर्थ्या अम्भावः । 'कौमोदकीलक्ष्मणः' इति भगवतो विशेषणं धृतास्त्रतया तस्य विघ्नोपशमनसमर्थतामाह । इतराण्यङ्गानि विहाय भगवतो नेत्रयोरेव क्रियमाणाऽऽराधना तदीयशुभदृष्टिनिपाताभिलाषितां ध्वनयति ग्रन्थकृतः । कोकप्रीतिचकोरपारणपटुत्वोक्त्या च परमकारुणिकयोर्नयनयोर्विनैव कञ्चनोपाधिं कोकानां प्रियाविरहशोकापहारितया प्रीतिप्रदानेन चकोराणां ज्योत्स्नारूपभक्ष्यप्रदानविधया चोपकारितया निवेद्यमानया उपासनाकर्त्तुरभिलषितार्थप्रदातृत्वं ध्वन्यते । नाभ्याः पल्वलत्वरूपणेन गभीरताध्वनिः, पुण्डरीकस्य श्वेतगुणयोगितयाऽर्धविकासितया च शङ्खसादृश्यमवगन्तव्यम् । अत्रार्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरित्यनेनैवार्धनिद्राणत्वे लब्धेऽवशिष्टार्धखण्डितत्वशङ्कानिराकरणायार्धनिद्रायितत्वं शब्दत उक्तम् इति केचित् । केचित्तु 'अर्थतः प्राप्तेऽपि निद्राणत्वे स एव विशेषः शाब्द्या वृत्त्या परिचीयतामिति तदुपादानं शाब्द्या वृत्त्या प्रकाशनं न पौनरुक्त्यमावहतीत्याहुः, तथा चोक्तं सरस्वतीकण्ठाभरणे—'आर्थ्या वृत्त्या लब्धस्य शास्त्रेतिहासादौ शाब्द्या वृत्त्या भणनं न पौनरुक्त्याय' ।

अत्र निष्प्रत्यूहमित्यनेन प्रकृते निर्गतः प्रत्यूहो रावणादिर्यस्मात्स निष्प्रत्यूहो

चन्द्रात्मक ज्योति विद्यमान है, जिन सूर्यचन्द्रात्मक नयनोंके सम्पर्कसे आधा विकसित तथा आधा मुकुलित भगवान्‌का नाभि कमल शङ्खकी समताको प्राप्त करवा दिया जाता है ॥ १ ॥

अपि च—

विरमति महाकल्पे नाभीपथैकनिकेतन-
त्रिभुवनपुरःशिल्पी यस्य प्रतिक्षणमात्मभूः।
किमधिकरणं कीदृक्कस्य व्यवस्थितिरित्यसा-
वुदरमविशद्द्रष्टुं तस्मै जगन्निधये नमः ॥ २ ॥

रामभद्रस्तमुपास्महे इति नायको रामस्तत्कृतरावणवधश्च सूच्यते, कौमोदकीति, कौ पृथिव्यां मोदकी हर्षहेतुरिन्द्रजिद्विनाशः, कोकव्रतीति कोकतुल्यो विभीषणः, चकोरपदेन तदुपमः सुग्रीवः, अर्धविमुग्धार्धविकासपदाभ्यां रावणसेनाया अविकासो रामसेनाया विकासश्च सूच्यन्ते।

उपमात्रालङ्कारः, कम्वोः सादृश्यस्य कमलमुकुले बोधनात्। 'कौमोदकी गदा' 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' 'पल्वलं चाल्पसरः' 'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्' 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' 'कोकश्चक्रश्चक्रवाकः' 'शङ्खोऽस्त्री कम्बुरस्त्रियाम्' इति सर्वत्र कोषाः।

शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

विरमतीति। महाकल्पे महाप्रलये विरमति अतिक्रामति सति पुनः सर्गप्रारम्भकाले नाभी एव पन्थाः भगवदुदरप्रवेशमार्गः एकम् अद्वितीयं निकेतनं वासस्थानं यस्य तथोक्तः, त्रिभुवनपुरः त्रिलोकीनगर्याः शिल्पी निर्माता असौ आत्मभूः ब्रह्मा कस्य वस्तुनः कीदृक् व्यवस्थितिः व्यवस्था किमधिकरणा च कस्मिन्नधिकरणे कः पदार्थः केन रूपेण व्यवस्थितः इति द्रष्टुं प्रत्यक्षमीक्षितुं यस्य भगवत उदरमविशत् तस्मै जगन्निधये जगन्निवासाय नारायणाय नमः। महाप्रलयावसाने सृष्टिमारब्धुकामो भगवन्नाभीकमलवास्तव्यो ब्रह्मा सकलस्रष्टव्यपदार्थस्थितिपरिचयार्थं यस्य भगवतो विश्वावासभूतमुदरमविशत्तस्मै जगन्निवासाय प्रलये विश्वमात्मनि संहृतवते नमोऽस्तु इत्यर्थः।

अनेन पद्येन दशग्रीवे विरमत्यात्मभू रामो लङ्कोदरं तत्सन्निवेशदर्शनाय प्रविष्ट

प्रलयकालके समाप्त होनेपर विष्णुके नाभिकमलमें रहनेवाले तथा त्रिभुवन निर्माणके शिल्पी ब्रह्मा जब संसार बनानेकी इच्छा करते हैं तब बनाये जानेवाले संसारकी क्या स्थिति है ? कितना बड़ा अधिकरण है ? क्या व्यवस्था है ? इत्यादि सभी बातोंको प्रत्यक्ष देखनेके लिये जिस भगवान् विष्णुके उदरमें प्रवेश करते हैं, उस संसारके आश्रय प्रलयकालमें संसारको अपने उदरमें समेट लेनेवाले विष्णुको नमस्कार है ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते ।)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । भो भो लवणोदवेलावनालीतमालतरुकन्दलस्य त्रिभुवनमौलिमण्डनमहानीलमणेः कमलाकुचकलशकेलिकस्तूरिकापत्त्राङ्कुरस्य भगवतः पुरुषोत्तमस्य यात्रायामुपस्थानीयाः सभासदः, कुतश्चिद् द्वीपादागतेन कलहकन्दलनाम्ना कुशीलवेन रौद्र-

---

इत्यर्थः सूच्यते । हरिणी वृत्तम् , 'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात् ॥ २ ॥

नान्द्यन्ते । नन्दयति देवादीनिति नान्दी, रङ्गविघ्नोपशान्तये नटैः क्रियमाणो मङ्गलाचरणविशेषः । उक्तञ्च साहित्यदर्पणे—'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि । तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।' अत्राष्टपदा नान्दी, तथा चोक्तं तत्रैव, 'पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत' । अत्र पदशब्दः श्लोकपादपरः सुप्तिङन्तरूपो वेति द्वैधम् , इह तु श्लोकपादपरकतयैव समन्वयः कर्त्तव्यः ।

लवणोदः लवणसागरः क्षारजलतया तथा नाम । वेला तीरभूमिः । तत्र या वनाली वनराजिः तस्यां यः तमालतरुः तापिच्छवृक्षः, तस्य कन्दलस्य काण्डभूतस्य, लवणोदधितटवनस्थितस्येत्यर्थः, त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य मौलिर्मस्तकं तस्य मण्डनाय अलङ्काराय यः महान् नीलमणिर्नीलकान्तरत्नं तस्य तथोक्तस्य लोकत्रयवन्दनीयस्येत्यर्थः । कमला लक्ष्मीस्तस्याः कुचावेव कलशौ तयोः केलिः क्रीडा तदर्थं कस्तूरिकया पत्त्रं पत्त्रावलीविरचनम् तदङ्कुरस्येव, हरेः कृष्णत्वात्त्रिभिरिह रूपणम् । पुरुषोत्तमस्य पुरुषश्रेष्ठस्य । यात्रायाम् उत्सवे, 'यात्रा स्याद्यापनायां च गतौ देवार्चनोत्सवे' इति धरणिः । उपस्थानीयाः उपस्थिताः, 'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' इति कर्त्तर्यनीयर् । सभासदः सामाजिकाः । 'सभासदः सभास्ताराः सभ्याः सामाजिकाश्च ते' इत्यमरः । कुतश्चिद् द्वीपात् द्वीपविशेषात् सिंहलात् । कुशीलवेन नटेन । प्रबन्धम् नाटकम् । अभिनयता प्रयोज्यदर्शयता । उद्वेजितः खेदितः ।

[नान्दीके अनन्तर]

सूत्रधार—अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है । लवण समुद्रके तटपर वर्त्तमान वनमालाके तमालवृक्षप्ररोह-समान, त्रिभुवनशिरोभूषण महानीलमणितुल्य, लक्ष्मीके कुचकलशपर लिखित मृगमदलेखसदृश श्यामवर्ण भगवान् पुरुषोत्तमकी यात्रामें उपस्थित सभासदो, किसी अन्य द्वीपसे आये हुए कलहकन्दल नामक नटने रौद्र, बीभत्स तथा

बीभत्सभयानकाद्भुतरसभूयिष्ठं कमपि प्रबन्धमभिनयता नित्यं किलायमुद्वेजितो लोकः।

तत्कस्यचिदभिमतरसभावभाजः प्रेक्षणकस्य प्रयोगानुज्ञया नाट्यवेदोपाध्यायबहुरूपान्तेवासी मध्यदेशीयः सुचरितो नाम भरतपुत्रोऽहमनुगृह्ये। यतः—

प्रीतिर्नाम सदस्यानां प्रिया रङ्गोपजीविनः।
जित्वा तदपहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम् ॥ ३ ॥

(आकाशे कर्णं दत्त्वा।) किं ब्रूथ। 'वैदेशिको भवानसमग्रपात्रः कथमीदृशे कर्मणि प्रगल्भते' इति। (विहस्य। सप्रश्रयमञ्जलिं बद्ध्वा।)

अभिमतरसभावभाजः अभीष्टरसभावशालिनः। प्रेक्षणकस्य दृश्यकाव्यप्रभेदस्य। नाट्यवेदोपाध्यायस्य नाट्यवेदाचार्यस्य बहुरूपनाम्नः अन्तेवासी शिष्यः, भरतपुत्रो नटः। अनुगृह्ये अनुगृहीतः स्याम्। मां नाटकं प्रयोजयितुमनुमन्यन्तां भवन्त इति तदाशयः।

प्रीतिरिति। यतः यस्मात् सदस्यानां सामाजिकानां या प्रीतिः सन्तोषः सा मम रङ्गोपजीविनो नटस्य प्रिया अपेक्षिता। तस्याः प्रीतेः अपहर्त्तारम् अपहारकम् कलहकन्दलनामानम् (सततं नीरसनाटकप्रयोगेण भवदीयाप्रीतिकरम्) नटं जित्वा स्वप्रयोगनैपुण्येन विजित्य एषः अहम् तां भवतः प्रीतिं नाम प्रियाम् प्रत्याहरामि पुनरानयामि। अत्र प्रियाहरणतत्कर्त्तृपराजयप्रियापुनरानयनादिभिरत्र नाटके वक्ष्यमाणसीताहरणरावणपराजयसीताप्रत्याहरणादिरूपोऽर्थो ध्वनितः ॥ ३ ॥

वैदेशिकः—अन्यदेशायातः पथिकः। असमग्रपात्रः तत्तद्भूमिकाग्राहिजन-

---

भयानक रससे ओतप्रोत कोई प्रबन्ध नित्यप्रति दिखलाकर यहाँके लोगोंको उद्वेजित कर दिया है।

अतः आप नाट्यकलाके आचार्य बहुरूपके शिष्य मध्यदेशवासी सुचरित नामक मुझ नटको आज्ञा देकर कृतार्थ करें कि मैं अभिमत रसवाले किसी रूपकका अभिनय दिखलाऊं। क्योंकि—

सदस्योंकी प्रीति नाट्योपजीवी नटोंकी प्रियतमा हुआ करती है, उसे छीनकर ले जानेवाले उस दुष्टको जीतकर मैं, उस प्रीतिरूप प्रियतमाको वापस लाना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

(आकाशमें कान लगाकर) क्या कहा ? 'आप वैदेशिक होकर विना पात्रोंके ऐसे कार्यमें किस प्रकार उद्यत हो रहे हैं'। (हंसकर, नम्रताके साथ हाथ जोड़कर) अहा,

हन्त भोः, किमेवमुदीर्यते। भवद्विधानामाराधनी वृत्तिरेव मे पात्राणि समग्रयिष्यति। यतः—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥ ४॥

(पुनराकाशे कर्णं दत्त्वा।) किं ब्रूथ! 'तर्हि प्रहितेयमस्माभिः पत्रिका' इति।

(प्रविश्य नटः पत्रिकां ददाति। सूत्रधारो गृहीत्वा वाचयति।)

'यत्र सर्वपुरुपार्थरहस्यनिःस्यन्दिनि—

विकलः। ईदृशे बहुपात्रप्रयोजनीयेऽभिनयात्मके कार्ये। प्रगल्भते प्रवृत्तिसाहसिक्यं दर्शयति। भवद्विधानाम् विज्ञसामाजिकानाम्। आराधनी–सेवाविधात्री। वृत्तिः व्यापारो व्यवहारो वा। समग्रयिष्यति–पूर्णतां नेष्यति।

यान्तीति। न्यायप्रवृत्तस्य नीत्यनुवर्त्तिनो जनस्य तिर्यञ्चः तिर्यग्योनिजाताः विवेकविकला वानरादयोऽपि सहायताम् उपकारतत्परतां यान्ति गच्छन्ति, अपन्थानं कुवर्त्म गच्छन्तं यान्तं तु सोदरः सगर्भ्योऽपि विमुञ्चति परिहरति। इह सन्मार्गानुगतस्य रामस्य वानरादयोऽपि सहायाः संवृत्ताः अपथप्रवृत्तस्य तु रावणस्य सोदरोऽपि विभीषणस्तं त्यक्त्वा राममाश्रित इति नाटकीयं वस्तु ध्वनितम्॥ ४॥

'प्रहितेयमस्माभिः पत्रिकेति सदस्यवचनानुवादः—

यत्र यस्मिन् सर्वपुरुषार्थरहस्यनिस्यन्दिनि सर्वे पुरुषार्थाः धर्मार्थकाममोक्षाः तेषां रहस्यं गोपनीयं तत्त्वम् तस्य निस्यन्दः धारणं तद्वति सर्वपुरुपार्थरहस्योद्घाटके सकलपुरुषार्थप्रदानक्षमे सन्दर्भे इति विशेष्यमध्याहृत्य योजनीयम्।

ऐसा क्यों कहते हैं। आप सरीखे महानुभावोंको प्रसन्न करनेकी मेरी प्रवृत्ति ही मुझे पात्रोंको जुटानेमें सहायता देगी। क्योंकि—

न्याय-सङ्गतमार्गसे चलनेवालोंको पशु-पक्षी भी सहायता प्रदान करते हैं, और अपथ-प्रवृत्त जनको उनके सोदरभी छोड़ देते हैं॥ ४॥

(फिर आकाशमें कान लगाकर) क्या कहा? 'तो हमने यह आज्ञा पत्रिका दे दी'। (प्रविष्ट होकर नट आज्ञापत्रिका देता है। सूत्रधार लेकर पढ़ता है]

'जिस प्रबन्धमें चतुर्विध पुरुषार्थका रहस्य प्रवाहित होता है—

चेतःशुक्तिकया निपीय शतशः शास्त्रामृतानि क्रमा-
द्वान्तैरक्षरमूर्तिभिः सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिताः ।
उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसंवल्गन-
प्रौढाहंकृतयो लुठन्ति सुहृदां कण्ठेषु हारस्रजः ॥ ५ ॥
तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे ।
जगदानन्दकन्दाय संदर्भाय त्वरामहे' ॥ ६ ॥

चेतःशुक्तिकयेति । (यत्र सन्दर्भे) चेत एव शुक्तिका तया क्रमात् यथावसरं शतशः शास्त्राणि शतं शतमुपदेशप्रदशासनानि एव अमृतानि निपीय सादरं पीत्वा समालोच्य वान्तैः उद्गीर्णैः मुक्ताफलैः मौक्तिकैः अक्षरमूर्त्तिभिः वर्णस्वरूपैः सुकविना गुम्फिताः सन्दब्धाः उन्मीलतां प्रस्फुरतां कमनीयानां नायकगुणानां ग्रामस्य समुदायस्य उपसंवल्गनेन सम्बन्धेन सद्भावेन प्रौढाहङ्कृतयः रचनोत्कर्षजनिताभिमानशालिन्यः हारस्रजः मनोहारिण्यो वर्णमालाः सुहृदां सहृदयसामाजिकानां कण्ठेषु लुठन्ति निवसन्ति । अन्यानि अपि मौक्तिकानि शुक्तिकासु बहुशः पीतपानीयासु वान्तानि सुचतुरपुरुषेण गुम्फितानि कमनीयमध्यमणिसंयुतानि सूत्रग्रथितानि सत्पुरुषाणां कण्ठेषु लुठन्तीति प्रसिद्धं तथैव चेतःशुक्तिकया शास्त्रामृतानि पीत्वा वान्तैरक्षरस्वरूपैर्मुक्ताफलैर्ग्रथिताः कमनीयनायकरूपमध्यमणितद्गुणरूपसूत्रसन्दब्धतयोत्कृष्टताजनितगर्वभाजः प्रबन्धरूपमालाः सहृदयसामाजिकानां कण्ठेषु स्थानं लभन्त इत्यर्थः । अत्र वान्तशब्दप्रयोगेणाश्लीलत्वं माशङ्कि, तस्य दोषस्य लाक्षणिकप्रयोगातिरिक्तस्थलविषयतया नियतत्वात्, अत्र प्रकाशितार्थे वान्तपदस्य लाक्षणिकत्वात्, तथा चोक्तं दण्डिना—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादिगौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते' । श्लिष्टपरम्परितरूपकमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

तस्मै इति । तस्मै प्रसिद्धाय वीराद्भुतयो रसयोरारम्भेण सम्बन्धेन ताडकावधधनुर्भङ्गादिप्रकरणप्रयोज्येन गम्भीरं दुरवगाहम् उदात्तं सर्वहृद्यं च वस्तु कथावस्तु यत्र तस्मै तथोक्ताय जगदानन्दकन्दाय सकलरसिकानन्ददात्रे सन्दर्भाय

जिस प्रबन्धमें—हृदयरूप शुक्तियाँ शास्त्ररूप अमृत पीकर यथाक्रमसे अक्षररूप मौक्तिक उत्पन्न करती हैं, उन्हें लेकर सुकविगण हार तैयार करते है, जिसमें नायक (नेता–सुमेरु) का रमणीय गुण द्योतित होता है, जिससे अहङ्कार झलका करता है, ऐसे यह हार सहृदयोंके गलेमें शोभा पाते हैं—यह बात चरितार्थ होती हो ॥ ५ ॥

उस वीर तथा अद्भुतरसपूर्ण कथावस्तुसे युक्त संसारको आनन्द प्रदान करनेवाले संदर्भको अभिनीत करने की शीघ्रता करें ॥ ६ ॥

(विमृश्य सहर्षस्मितम् ।) मारिष, रामायणमिति शृणोषि तत्रभवतः कवित्वावतारप्रथमतीर्थस्य वल्मीकजन्मनो मुनेः सरस्वतीनिर्यासो यशःशरीरमिक्ष्वाकूणाम् ।

नटः—अथ किम् ।

सूत्रधारः—तत्प्रतिबद्धप्रबन्धानुबन्धिनी परिषदाज्ञा ।

नटः—(विहस्य ।) अहो, सकलकविसार्थसाधारणी खल्वियं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी ।

सूत्रधारः—मारिष, किमुच्यते ।

नाटकरूपप्रबन्धाय त्वरामहे सत्वरा भवामः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ६ ॥

मारिषेति सूत्रधारामन्त्रणम् ।

तत्रभवतः पूजनीयस्य, 'पूज्यस्तत्रभवानत्रभवान्' इत्यमरः । कवित्वावतारप्रथमतीर्थस्य कवित्वेन कवित्वस्य वा योऽवतारः प्रकाशस्तस्य प्रथमतीर्थस्य आदिमस्थानस्य, आदिकवेरित्यर्थः । वल्मीकजन्मनो वाल्मीकेः । सरस्वतीनिर्यासः वाक्प्रसरः । इक्ष्वाकूणां यशःशरीरम् , इक्ष्वाकुकुलकीर्त्तिगाथा ।

अथकिम्—सत्यमुक्तं त्वयेति भावः ।

तत्प्रतिबद्धेति । तेन वाल्मीकिना प्रतिबद्धो विरचितो यो रामायणरूपः प्रबन्धः तदनुबन्धिनी तदनुसारिणी परिषदाज्ञा सामाजिकानामादेशः । सामाजिकाः कमपि रामायणानुगतं प्रबन्धमभिनेतुमादिशन्ति इति भावः ।

सकलेति । सकलानां कविसार्थानां कविसमुदायानां साधारणी संवादिनी सकलकविभिः समानभावेनादृता । सुभाषितनीवी वाल्मीकिकृतसूक्तरूपं मूलधनम् । सर्वेऽपि कवयो वाल्मीकिसूक्तमुपजीवन्तीत्यर्थः । 'नीवी स्याद् वसनग्रन्थौ नीवी मूलधनेऽपि च' इति विश्वः ।

(विचार करके) (सहर्ष मुस्कुराकर) मारिष, पूजनीय कविताके प्रथमावतारके लिये प्रसिद्ध भगवान्—वाल्मीकि मुनिकी कृति सरस्वतीके सारभाग रामायणको तुमने सुना होगा जो इक्ष्वाकुवंशियोंका यशःशरीर है ?

नट—और क्या ?

सूत्रधार—रामायणसे सम्बन्धित प्रबन्धके अभिनयकी आज्ञा परिषद् दे रही है ।

नट—(हंसकर) अहा सभी कविगण वाल्मीकिकी कवितारूप मूलधनका ही तो उपजीवन किया करते हैं ।

सूत्रधार—मारिष, क्या कहना है ?

अपि कथमसौ रक्षोराजस्तताप जगत्त्रयी-
मपि कथमभूदिक्ष्वाकूणां कुले गरुडध्वजः ।
अपि कथमृषौ दैव्यो वाचः स्वतः प्रचकाशिरे
सुचरितपरीपाकः सर्वः प्रबन्धकृतामयम् ॥ ७ ॥

तत्र तावन्निरूपयामि रूपकमभिरूपमीदृशम् । (मुहूर्तमिव स्थित्वा । स्मरणमभिनीय । सोल्लासम् ।) अस्ति मौद्गल्यगोत्रसम्भवस्य महाकवे[1]र्भट्ट-श्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघवं

अपि कथमिति । अपि असौ रक्षोराजः सकलराक्षसचक्रवर्त्ती रावणः जगत्त्रयीं त्रिलोकीं कथं तताप सन्तापितवान्? अपि इक्ष्वाकूणां तदाख्यया प्रथितानां सूर्यवंश्यराजन्यकानाम् कुले वंशे गरुडध्वजः विष्णुः कथमभूत् केन प्रकारेण—रामात्मनाऽवततार, अपि कथम् ऋषौ वाल्मीकौ दैव्यः देवभाषिताः संस्कृता गिरः वाचः प्रचकाशिरे छन्दोबद्धवागात्मना पर्यणमन् , सर्वः अयम् प्रबन्धकृताम् रामाश्रिततत्तत्प्रबन्धप्रणयनयशस्विनाम् कवीनाम् सुकृतपरिपाकः पुण्यपरिणामः, रावणकर्तृकजगत्सन्तापनंतदुपशमोद्देश्यकरामावतारतद्यशोवर्णनप्रयोजनकादिकविनिष्ठच्छन्दोबद्धवागवतारादि सर्वं सुकविसुकृतनिदानकमेव, कथमन्यथेदं सम्भवेदिति । त्रयोऽप्यपयः प्रश्नार्थाः, 'अपिः सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति विश्वः । हरिणीवृत्तम् ॥ ७ ॥

निरूपयामि विचार्य निर्धारयामि । अभिरूपम् योग्यं यथोक्तगुणयोगि । अभिनीय—शिरःकम्पादिना स्मरणं नाटयित्वा ।

वर्धमानतनूजन्मनः वर्धमानाख्यविदुषः पुत्रस्य । तन्तुमतीनन्दनस्य तन्तुमती नाम मुरारिमाता तन्नन्दनस्य तत्पुत्रस्य । 'गोत्रं नाम च बध्नीयात् पूजावाक्यं च पार्षदः । नाटकस्य च यन्नाम गर्भनिर्दिष्टलक्षणम्' इति भरतोक्तदिशात्र मुरारिजनकजननीनामनिर्देशः तत्कृतिप्रशंसा च । तत् अनर्घराघवं नाम नाटकम् ।

यह कैसे सम्भव हो गया कि रावणने सारे संसारको सन्तापित कर दिया, यह भी कैसे सम्भव हो गया कि भगवान् विष्णुने इक्ष्वाकुवंशमें जन्म ले लिया, और यह भी कैसे सम्भव हो गया कि वाल्मीकिके हृदयमें वाणीने अपना प्रकाश फैलाया ? निश्चय ही यह सारा काण्ड सुकवियोंके पुण्यप्रतापका फल है ॥ ७ ॥

इसीलिये सोचता हूँ कि कौन रूपक उपयुक्त होगा । (क्षणभर रुककर) (याद करके उल्लासके साथ) मौद्गल्यगोत्रोत्पन्न महाकवि वर्धमान भट्टके पुत्र तन्तुमती नामक

१. 'महाकवेः' इत्यस्मात्पूर्वम् 'बालवाल्मीकेः' इत्यधिकविशेषणम् ।

नाम नाटकम् । तत्प्रयुञ्जानाः सामाजिकानुपास्महे । (विचिन्त्य सहर्षम् ।) अहो रमणीया खल्वियं सामग्री परिषदाराधनस्य । यतः—

मद्वर्ग्या रसपाठगीतिगतिषु प्रत्येकमुत्कर्षिणो
मौद्गल्यस्य कवेर्गभीरमधुरोद्गारा गिरां [1]व्यूतयः ।
[2]धीरोदात्तगुणोत्तरो रघुपतिः काव्यार्थबीजं मुनि-
र्वाल्मीकिः फलति स्म यस्य चरितस्तोत्राय दिव्या गिरः ॥८॥

अयं तु प्राचेतसीयं कथावस्तु बहुभिः प्रणीतमपि प्रयुञ्जानो नाप-

प्रयुञ्जानाः अभिनयन्तः । सामाजिकान् सहृदयसभ्यान् । उपास्महे–आराधयामः सामग्री—उपकरणम् । परिषदाराधनस्य–सभ्यजनसन्तोषस्य ।

मद्वर्ग्या इति । मद्वर्ग्याः मम सम्प्रदाये वर्त्तमाना जनाः प्रत्येकम् एकैकम् रसाः नाटकप्रयोज्याश्शृङ्गारवीरादयः, पाठः स्वरस्वादमाधुर्यम्, गीतिः सङ्गीतञ्च तेषु उत्कर्षिणः उत्कर्षवन्तः, मौद्गल्यस्य मौद्गल्यगोत्रोत्पन्नस्य कवेर्मुरारिनाम्नः गिरां व्यूतयः वाग्विस्तराः गभीराः अर्थगौरवपूर्णाः मधुराः मनोहराश्च उद्गाराः उक्तयो यासु तादृश्यः अर्थगौरवपूर्णा मनोहराश्चेत्यर्थः । धीरोदात्तगुणोत्तरः धीरोदात्त-श्रेष्ठः रघुपतिश्च काव्यार्थबीजम् काव्ये वर्णनीयतया तदर्थमूलम्, यस्य रघुपते रामस्य चरितस्तोत्राय कीर्त्तिस्तुतये वाल्मीकिर्नाम मुनिः दिव्याः अमानुषीः गिरः वाचः फलति स्म आविर्भावयति स्म । एतेन सामग्रीपूर्णता द्योतिता, नटकविकाव्य-वस्तुकविभाषाणामुत्कृष्टतया प्रबन्धाभिनयसामग्रीपूर्त्तिरस्तीति भावः । 'अवि-कत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥' इति धीरोदात्तलक्षणम् ॥ ८ ॥

अयम् मुरारिः । प्राचेतसीयम् वाल्मीकिकृतम् । कथावस्तु चरितम् । बहुभिः

माताके गर्भसे उत्पन्न मुरारिकृत अनर्घराघव नाटक है। उसीके अभिनयद्वारा सामाजिकों का अनुरञ्जन किया जाय । क्योंकि—

मेरे सहकर्मी रससृष्टि, पदपाठ, गीतिकला, सभी नाट्याङ्गोंमें एकसे एक बढ़कर सिद्धहस्त हैं, मौद्गल्यकवि मुरारिकी कविता गभीर मधुर-उद्गारशालिनी है, काव्यके नायक वीर तथा उदात्तगुण-मण्डित भगवान् रामचन्द्रही हैं, जिनके चरित की प्रशंसामें वाल्मीकिने दिव्यवाणीका प्रयोग सफल किया है ॥ ८ ॥

यह श्रोत्रियपुत्र मुरारि यदि वाल्मीकिद्वारा प्रयुक्त कथावस्तुका उपयोग करता है तो

१. 'स्यूतयः' इति पाठान्तरम् । २. 'वीरोदात्त–' इति ।

राध्यति श्रोत्रियपुत्रः । पश्य—

यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ।
स्वमात्मानं तत्तद्गुणगरिमगम्भीरमधुर-
स्फुरद्वाग्ब्रह्माणः कथमुपकरिष्यन्ति कवयः ॥ ९ ॥

उपक्रममाणश्च स कविः स्वनिर्भासशब्दब्रह्माणमाचार्यं प्राचेतसं गिरं च देवतामेवमुपश्लोकितवान् ।

कालिदासादिप्राचीनकविभिः, प्रणीतम् प्रकाशितं स्वकाव्ये आदृतम्, प्रयुञ्जानः स्वनाटके उपाददानः । नापराध्यति न दोषभाग् भवति । श्रोत्रियपुत्रः वेदज्ञस्य वर्धमानस्य तनयः ।

यदि क्षुण्णमिति । यदि पूर्वैः प्राचीनैः पण्डितैः वाल्मीकिप्रभृतिभिः क्षुण्णम् बहुशो वर्णितमिति कृत्वा रामस्य चरितम् रामायणीयं कथावस्तु जहति त्यजन्ति, यदि साम्प्रतिकाः कवयो भूतपूर्वकविभिराम्रेडिततया रामचरित्रं न स्वकविताविषयं चिकीर्षन्ति, तदा तत्तद्गुणानां माधुर्यौजःप्रसादादीनां गरिम्णा गौरवेण गम्भीरमर्थगुरु मधुरं हृद्यं च यथा स्यात्तथा स्फुरद्वाग्ब्रह्म शब्दरूपं ज्योतिर्येषां ते तथोक्ताः तत्तद्गुणपूर्णकवित्वशालिनः कवयः कथम् स्वम् आत्मानम् कथम् उपकरिष्यन्ति प्रतिपत्तिरूपमुपकारं प्रापयिष्यन्ति यशस्विनं करिष्यन्ति, यतः एतावद्भिः अपरिसंख्येयैर्गुणैर्जगति कोऽन्यो रामातिरिक्तो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते पूर्वकविपरिगृहीततया यदि रामस्य चरितं साम्प्रतिकाः कवयो न स्वकवितायां विषयीकरिष्यन्ति तदा ते स्फुरद्वाग्ब्रह्माणः सन्तोऽपि कथमात्मानमुपकरिष्यन्ति, तादृशपुण्यकीर्त्तिनायकान्तरस्य दुर्लभत्वादित्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम्, 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति तल्लक्षणात् ॥ ९ ॥

उपक्रममाणः—काव्यमारभमाणः, स कविः मुरारिः । स्वनिर्भासः स्वतः प्रकाशः

इसमें उसका कुछ दोष नहीं माना जाना चाहिये ।

यदि प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित होनेके कारण रामचन्द्रके चरितको अपनी काव्यकलाका आधार नहीं बनावें, तो दूसरा रामचन्द्रसमान चरितनायक इस संसारमें कहाँ पाया जायगा, और तब तत्तत् गुणकी गरिमा तथा गम्भीरतासे पूर्ण वाणीवाले कविगण अपनेको महाचरित प्रदर्शन द्वारा कैसे उपकृत कर सकेंगे ? ॥ ९ ॥

अपनी कविताके प्रारम्भमें महाकवि मुरारिने स्वतःप्रकाश शब्दब्रह्म वाले प्राचेतस वाल्मीकि तथा सरस्वती की वन्दना निम्नलिखित रूपमें की है ॥

तमृषिं मनुष्यलोकप्रवेशविश्रामशाखिनं वाचाम् ।
सुरलोकादवतारश्रान्तरखेदच्छिदं वन्दे ॥ १० ॥
धातुश्चतुर्मुखीकण्ठशृङ्गाटकविहारिणीम् ।
नित्यप्रगल्भवाचालामुपतिष्ठे सरस्वतीम् ॥ ११ ॥

नटः—(सहर्षम् ।) भाव, तत्प्रस्तूयताम् । अस्य हि मौद्गल्यानां[1]

शब्द एव ब्रह्म यस्य तं स्वतोऽवतीर्णवाक्प्रसरम्, अनायासप्राप्तकवित्वप्रवाहमित्यर्थः । आचार्यम् सकलकविगुरुम् । प्राचेतसम् वाल्मीकिम् । उपश्लोकितवान् स्तुतवान् ।

तमृषिमिति । वाचाम् कवितारूपवचनविन्यासानाम् यः मनुष्यलोके मर्त्ये प्रवेशः समागमः तत्र [स्वर्गात् (कवितायाः) अवतारे अवतरणे श्रान्तरखेदः शून्यवर्त्मनि निरवलम्बनतया गमनक्लेशः तं छिनत्तीति तथोक्तं] विश्रामशाखिनं श्रमापहं तरुं तमृषिं वाल्मीकिं वन्दे । समालम्बे वर्त्मनि सक्लेशं स्वर्गाद् भुवमवतरन्त्याः कवितायाः विश्रामवृक्षभावं भजन्तं वाल्मीकिं नामर्षिं वन्दे इत्यर्थः । आर्यावृत्तम् । रूपकमलङ्कारः ॥ १० ॥

धातुरिति । धातुः ब्रह्मणः चतुर्णां मुखानां समाहारः चतुर्मुखी मुखचतुष्टयम् तस्याः कण्ठा एव शृङ्गाटकानि चतुष्पथम् तत्र विहारिणीं सततविहारशीलाम् प्रगल्भवाचालाम् समुद्धतां वावदूकाञ्च सरस्वतीम् वाचम् सततं सर्वदा उपतिष्ठे पूजयामि । ब्रह्ममुखवासरसिकां वाचं मन्त्रद्वाराऽऽराधयामीत्यर्थः । ननु बहुभाषित्वेन सरस्वत्याः का स्तुतिरिति चेत्, सरस्वत्याः चतुर्मुखमुखरूपशृङ्गाटकविहारितया पण्यस्त्रीत्वेन रूपितत्वे वाचालताया एव स्तुत्यत्वात् । 'शृङ्गाटकं भवेद्वारिकण्टके च चतुष्पथे' इति मेदिनी । 'स्याज्जल्पकस्तु वाचालः' इति च । रूपकं स्पष्टमलङ्कारः ॥

प्रस्तूयताम् आरभ्यताम् । ब्रह्मर्षीणाम् ब्राह्मणाश्च ते ऋषयो ब्रह्मर्षयस्तेषाम्

वाणी मनुष्यलोकमें प्रवेश करने चली तब बीचमें ठहरने अपने विश्रामके लिये वाल्मीकिरूप वृक्षको चुना, उस वृक्षने अपनी छायामें बैठाकर वाणीको छायारहित मार्गमें सुरलोकसे मर्त्यलोकतक आनेके कष्टको दूर कर शीतलता प्रदानकी, मैं उस विश्रामशाली वाल्मीकि मुनिको नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥

ब्रह्माके चारों मुखरूप चतुष्पथमें विहार करनेवाली सदा प्रगल्भ तथा वाचाल सरस्वतीकी वन्दना करता हूँ ॥ ११ ॥

नट—(हर्षके साथ)भाव, तब प्रारम्भ कर दीजिये । इस मौद्गल्य गोत्रोत्पन्न ब्रह्मर्षि-

---

१. 'मौद्गल्यायनानाम्' इति ।

ब्रह्मर्षीणामन्वयमूर्धन्यस्य मुरारिनामधेयस्य बालवाल्मीकेर्वाङ्मयममृतबिन्दुनिष्यन्दि कन्दलयति कौतुकं मे ।

सूत्रधारः—मारिष, स्थाने भगवतः कुतूहलमीदृशमेवैतत् । तथाहि—

तत्तादृगुज्ज्वलककुत्स्थकुलप्रशस्ति-
सौरभ्यनिर्भरगभीरमनोहराणि ।
वाल्मीकिवागमृतकूपनिपानलक्ष्मी-
मेतानि बिभ्रति मुरारिकवेर्वचांसि[1] ॥ १२ ॥

ऋषिस्वरूपाणां ब्राह्मणानामित्यर्थः । अन्वयमूर्धन्यस्य वंशे प्रधानस्य । मुरारिनामधेयस्य मुरारिनामकस्य । बालवाल्मीकेः वाल्मीक्यवतारभूतस्य बालपदं वृद्धवाल्मीकेर्भेदकम् । वाङ्मयम् वचनविन्यासो नाटकमित्यर्थः । अमृतनिष्यन्दि सुधावर्षि । कौतुकम् औत्सुक्यम् । कन्दलयति अङ्कुरयति । स्थाने भवतः कुतूहलम् । उचितं तवौत्सुक्यम् । ईदृशमेवैतत्–उत्सुकता जनकमेव वचनं मुरारेरतो युक्तमेव तत्प्रयोगे तवौत्सुक्यमिति भावः ।

तत्तादृगिति । तत् प्रसिद्धम् तादृक् अनन्यसाधारणम् उज्ज्वलम् स्वगुणप्रकाशम् यत्ककुत्स्थकुलम् सूर्यवंश्यराजकुलम् तस्य या प्रशस्तिः चरितकीर्त्तनरूपा प्रशंसा तस्याः सौरभ्यं ख्यातिस्तया गभीरमनोहराणि महान्ति सुन्दराणि च एतानि मुरारिकवेर्वचांसि वाल्मीकेर्यद् वागेवामृतं तस्य यः कूपस्तस्य निपानलक्ष्मीम् कूपसमीपस्थेष्टकादिबद्धस्वल्पजलाशयशोभां बिभ्रति धारयन्ति । यथा कूपान्न्यूनं निपानं तथा वाल्मीकिवचनेभ्यः किञ्चिन्न्यूनानि मुरारिवचनानीति भावः । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इति कोषः । अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वक्ष्यतीति मुरारिवचनस्य निपानस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावात् निदर्शनालङ्कारः, 'सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित् । यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शने'ति

वंशमूर्धन्य बालवाल्मीकि मुरारिकी कवितायें–जो अमृत बिन्दुकी वर्षा करती हैं—मेरे हृदयमें उत्सुकता पैदा कर रही हैं ।

सूत्रधार—मारिष, आपका कौतुक ठीक ही है, यह कविता ऐसी ही है ।

उन अवर्णनीय काकुत्स्थकुलकी प्रशंसासे सुरभित गम्भीर तथा मनोहर मुरारिकी कवितायें वाल्मीकिके वचनरूप अमृतके लिये कूप-निपानकी शोभा धारण करती हैं ॥१२॥

---

१. क्वचित् 'तत्तादृगुज्ज्वल–' इत्यादि श्लोकाग्रे 'अपि च । देवीं वाचमुपासते हि बहवः' इत्यादि श्लोको दृश्यते ।

(नेपथ्ये गीयते ।)

दिणअरकिरणुक्केरो पिआअरो को वि जीअलोअस्स ।
कमलमउलंकवालीकिअमहुअरकड्ढणविअड्ढो ॥ १२ ॥

[दिनकरकिरणोत्करः प्रियाकरः कोपि जीवलोकस्य ।
कमलमुकुलाङ्कपालीकृतमधुकरकर्षणविदग्धः ॥ १२ ॥]

सूत्रधारः—(आकर्ण्य ।) कथमुपक्रान्तमेव नर्तकैः, यदियं दशरथोत्सङ्गाद्रामभद्राकर्षिणो विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा । (पुरोऽवलोक्य ससंभ्रमम् ।) अये, कथमत्रैव तत्रभवतः कमलयोनिजन्मनो मुनेराय-

---

लक्षणात् ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम्, 'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' इति च तल्लक्षणम् ॥ १२ ॥

दिनकरेति । दिनकरस्य सूर्यस्य किरणोत्करः तेजोनिवहः (तत्स्वरूपः) जीवलोकस्य संसारस्य प्रियाकरः सुखदः कोऽपि अनिर्वचनीयगुणगणः पुरुषः कमलमुकुलेन पद्मकलिकया अङ्कपालीकृतः क्रोडविनिहितः यः मधुकरो भ्रमरस्तस्य कर्षणे तत् क्रोडात् बहिर्नयने विदग्धः चतुरः क्षमः । यथा कमलमुकुलक्रोडीकृतस्य भ्रमरस्य ततो बहिर्नयने सूर्यकिरणोत्कर एव दक्षस्तथा दशरथस्य क्रोडे स्थितस्य रामस्य ततो विकृष्य तपोवननयने विश्वामित्र एव समर्थ इति ध्वनिः । एतद्गाथासूचितोऽर्थोऽयमग्रे सूत्रधारकथनेन स्पष्टीभविष्यति ॥ १२ ॥

उपक्रान्तम् प्रारब्धम् । प्रावेशिकी प्रवेशसूचिका । ध्रुवा गीतिभेदः । तथा चोक्तं भरतेन 'ध्रुवा तु गीतिभेदोऽयं वृन्दसामा निबध्यते' । सा चेयं पञ्चधा 'प्रावेशिकी निष्क्रमणी परिक्रामण्यवस्थितिः । उत्थापनी तु पञ्चम्या ध्रुवा नाट्यार्थसिद्धये । तत्र प्रावेशिकी ज्ञेया प्रवेशे गानयोगतः ॥' ससंभ्रमम् सादरम् । कमलयोनिजन्मनः कमलयोनिर्ब्रह्मा ततो जन्म यस्य तस्य मुनेर्वसिष्ठस्य । आयतनात्

(नेपथ्यमें गाया जाता है)

यह सूर्यका किरण-समुदाय लोगोंको अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करता है जो कमलकुलकी गोदरूप कारागारमें बन्दीभूत मधुकरोंको बाहर निकालनेमें पटु है ॥ १२ ॥

सूत्रधार—(सुनकर) क्यों, नर्त्तकोंने प्रारम्भ भी कर दिया ? जिसमें दशरथकी गोदसे रामको अलग करनेवाले विश्वामित्रकी सूचना देनेवाली यह गीत है । (आगे देखकर घबड़ाहटके साथ) अरे, वसिष्ठमुनिके आश्रमसे वापस आये हुए वामदेवके

तनात्प्रतिनिवृत्तेन ऋत्विजा वामदेवेन किमपि तद्वाचिकमभिधीयमानो महाराजो दशरथस्तिष्ठति । तदेहि । न द्वयोस्तृतीयेन[1] भवितव्यमित्यावामप्यनन्तरकरणीयाय सज्जीभवावः । (इति निष्क्रान्तौ ।)

प्रस्तावना ।

(ततः प्रविशति यथोपदिष्टो दशरथो वामदेवश्च ।)

दशरथः—अहो, बहुधा श्रुतमपि भगवतो वसिष्ठस्यानुशासनं नवं नवमिव प्रमोदयति माम् ।

आश्रमपदात् । प्रतिनिवृत्तेन परावर्त्तमानेन । किमपि सातिशयरहस्यम् । तद्वाचिकम् वसिष्ठसन्देशम् । अभिधीयमानः उच्यमानः । वसिष्ठाश्रमान्निवृत्तो वामदेवो दशरथाय वसिष्ठसन्देशं कथयंस्तिष्ठति, तदनयो रहस्यकथायां नावाभ्यां सङ्गन्तव्यमित्याह—न द्वयोरिति, न द्वयोस्तृतीयेन भवितव्यम् न द्वयोः कथायां तृतीयेन सम्मिलित्व्यमिति 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र' इति स्मरणात् । आवाम् नटसूत्रधारौ । सज्जीभवावः उद्यतौ भवावः ।

प्रस्तावना—'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा । सूत्रधारेण सहिता संलापं यत्र कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैश्चापि नाटके । प्रस्तावना हि सा ज्ञेया प्रकृतार्थोचितं वचः ॥' इति तल्लक्षणम् । अयमेव पूर्वरङ्गः, 'पूर्वरङ्गः सभापूजा कवेर्गोत्रादिकीर्त्तनम् । नाटकादिस्तथा संज्ञा सूत्रधारोऽप्यथो सुखम् ॥ गीतिक्रिया च वाद्यं च वर्णिकाग्रहणं तथा । धृतिर्जवनिकायाश्च पूर्वरङ्गश्चतुर्विधः ॥' इति तत्स्वरूपस्य भरतेन निवेदनात् ।

बहुधाश्रुतम् अनेकवारमाकर्णितम् । अनुशासनम् आज्ञावचनम् । नवं नवमिव सततनूतनमिव । प्रमोदयति आनन्दयति ॥

द्वारा कहे गये संवादको सुनते हुए महाराज दशरथ यहीं तो हैं । अतः चलो, दो आदमियोंकी रहस्य कथामें तृतीय नहीं बनना चाहिये । अब हम अपने अग्रिम कर्त्तव्यके लिये सज्जित हो लें । (दोनोंका प्रस्थान)

[प्रस्तावना समाप्त)

(इसके बाद यथोक्तरूपमें दशरथ तथा वामदेवका प्रवेश)

दशरथ—अहा ! अनेक बार सुना गया भी वसिष्ठका अनुशासन नित्य-नूतनकी तरह मुझे आनन्दित करता है ।

---

१. क्वचित् 'न द्वयोस्तृतीयेन भवितव्यमिति निष्क्रान्तौ' इत्येतावदेव पाठः ।

वामदेवः—

मधुकैटभदानवेन्द्रमेदःप्लवविस्रा विषमैव मेदिनीयम् ।
अधिवास्य यदि स्वकैर्यशोभिश्चिरमेनामुपभुञ्जते नरेन्द्राः ॥ १४ ॥

दशरथः—(सविमर्शस्मितम् ।) सखे[1] वामदेव,

तस्याज्ञयैव परिपालयतः प्रजां मे
कर्णोपकण्ठपलितङ्करणी जरेयम् ।
यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सर्व-
मद्यापि तन्मयि गुरुर्गुरुपक्षपातः ॥ १५ ॥

मधुकैटभेति । मधुकैटभौ दानवेन्द्रौ प्रथितौ तयोर्मेदसो वसायाः प्लवेन प्रवाहात्मना क्षरणेन विस्रा आमगन्धवती इयं मेदिनी पृथ्वी विषमा दुर्भोग्या एव दानवेन्द्रयोस्तयोर्वसापङ्केन पङ्किलेयं धरित्री नोपभोगक्षमा आसीदिति पूर्वार्द्धार्थः नरेन्द्रा राजानः स्वकैर्यशोभिरधिवास्य स्वकीर्त्तिभिः सुरभीकृत्य चिरम् उपभुञ्जते तर्हि उपभुञ्जते, राक्षसैः पूतिगन्धितां प्रापिताया अस्य भुवो राजकीर्त्तिभिरेव सुरभीकृतत्वेन वासक्षमता जातेति हृदि कृत्य भवन्तोऽपि भुवं यशसा सुरभीकर्त्तुं यतन्तामिति वसिष्ठस्य सन्देशो वामदेवेन दशरथाय निवेद्यमानो बोध्यः । 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्' इति मेदिनी ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्य वसिष्ठस्याज्ञया आदेशानुसारम् एव प्रजां रक्षतः पालयतो मे मम इयम् कर्णोपकण्ठे कर्णपार्श्वे पलितङ्करणी शौक्ल्यसम्पादिका जरा वृद्धावस्था जातेति शेषः, वसिष्ठाज्ञयैव प्रजाः पालयन्नहं वार्द्धक्यं प्राप्त इत्यर्थः, अद्यापि इह वृद्धावस्थायामपि गर्भरूपमिव अतिबालमिव गुरुः वसिष्ठः सर्वं कर्त्तव्यजातम् माम् अनुशास्ति आदिशति, तन्मयितस्य गुरुपक्षपातः, महान्स्नेहातिशयः, वृद्ध-

---

वामदेव—यह पृथ्वी मधुकैटभ आदि दानवोंके मेद प्रवाहसे दुर्गन्ध पूर्ण हो रही थी, इसे अपनी कीर्त्तियोंसे सुवासित करके ही इन नृपतियोंने उसका उपभोग किया ॥ १४ ॥

दशरथ—(विचारकर मुस्कुराते हुए) सखे वामदेव, महाराज वसिष्ठकी आज्ञासे ही मैं इस पृथ्वीका शासन करता आया हूं, मैं अब बूढ़ा हो चला, फिर भी आज भी वसिष्ठ छोटे बालककी तरह मुझे सभी विषयोंमें राय देते हैं यह उनका महान् अनुग्रह है ॥ १५ ॥

---

१. 'ऋषे' इति ।

वामदेवः—महाराज, किमुच्यते। समानवृत्तेरपि क्वचिदेव कस्यचित्तारामैत्रकम्। तथाहि स तत्रभवान्—

साधारणो रघूणां गुरुर्भवन्नपि विशेषदृष्टिस्ते।
नामोदयति कमिन्दुः कुमुदं पुनरस्य सर्वस्वम्॥ १६॥

दशरथः—वामदेव, मम हि गुरुवचनश्रवणतृष्णामङ्कुशीकरोति[1] श्रोत्रवृत्तिरिन्द्रियान्तरानुसारिणो हृदयमहागजस्य। तन्न किञ्चिदपरमवशिष्यते[2]।

मपि यन्मां गुरुरनुशास्ति तत्सर्वं स्नेहविजृम्भितमित्यर्थः। 'पलितं जरसा शौक्ल्यम्' इति कोपः। पलितं क्रियते यया सा पलितङ्करणी। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ १५॥

समानवृत्तेः सर्वजनसमवर्त्तिनः। तारामैत्रकम् चक्षूरागः, समवृत्तेरपि जनस्य क्वचन स्नेहातिशयो दृश्यत इति भवति वसिष्ठस्यास्ति प्रेमप्रकर्ष इति भावः।

साधारण इति। रघूणां रघुवंश्यानां साधारणो गुरुर्भवन्नपि वसिष्ठस्ते तव विषये विशेषदृष्टिः त्वयि धृतसविशेषप्रेमा तिष्ठतीति शेषः, अत्र दृष्टान्तमाह—नामोदयतीति इन्दुश्चन्द्रः कन्न आमोदयति हर्षयति सर्वमप्यानन्दयतीत्यर्थः, अस्य चन्द्रस्य पुनः कुमुदं सर्वस्वम् निधिभूतम्, यद्यपि चन्द्रः सर्वानानन्दयति, तथाऽप्यसौ कुमुदस्यात्यन्तमानन्दजनक इत्यर्थः। प्रतिवस्तूपमालङ्कारः, 'वस्तु किञ्चिदुपन्यस्य समानात्तत्सधर्मणः। साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा मता' इति तल्लक्षणम्॥१६॥

मम दशरथस्य, श्रोत्रवृत्तिः श्रवणव्यापारः इन्द्रियान्तरानुसारिणः किञ्चिद्परमिन्द्रियमनुसर्त्तुमिच्छतो हृदयमहागजस्य मनोरूपस्य करिणः गुरुवचनश्रवणतृष्णाम् वसिष्ठादेशश्रवणाभिलाषम् अङ्कुशीकरोति अङ्कुशतां नयति, यदैव मम मनो विषयान्तरे प्रसक्तं भवितुमिच्छति तदैव मम श्रोत्रवृत्तिर्गुरुवचनतृष्णारूपेणाङ्कुशेन

वामदेव—महाराज, क्या कहें, समवर्त्ती होने पर भी किसीके साथ किसीका लग्न मिल जाता है। महाराज वसिष्ठ—

यद्यपि सभी रघुवंशियोंके तुल्यभावसे गुरु रहे हैं फिर भी उनकी आप पर खास कृपा रहती है, चन्द्रमा किसको नहीं आनन्दित करता है किन्तु कुमुद उसका सर्वस्व कहा जाता है॥ १६॥

दशरथ—इन्द्रियान्तरके साथ संबन्ध जोड़नेकी इच्छा रखनेवाले हमारे हृदयको कान गुरुवचन तृष्णा द्वारा अपने वशमें कर रहे हैं, तो क्या कुछ और सन्देश है?

---

१. 'अङ्कुशयति' इति। २. 'तत्किमपरमवशिष्यते' 'तन्न किंचिदवशिष्यते' इति च।

वामदेवः—महाराज, निःशेषमभिहितम्। इमां तु सर्वसंदेशसंग्रहकारिकां कारिकामतिप्रयत्नेन भगवान्भवन्तमनुस्मारयति।

दशरथः—(सादरम्।) अवहितोऽस्मि। किमाज्ञापयति[1]।

वामदेवः—

हुतमिष्टं च तप्तं च धर्मश्चायं कुलस्य ते।
गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिनः॥ १७॥

दशरथः—(सहर्षम्।) सुष्ठु शिरसि कृतमाचार्यवचनम्।

किं च—

अस्मद्गोत्रमहत्तरः क्रतुभुजामध्यायमाद्यो रवि-

तद्विषयान्तरान्निवर्त्तयति, अन्योऽपि हस्तिपको मार्गान्तरं प्रपित्समानं करिणं बलादङ्कुशेन निवर्त्तयति तद्वदित्यर्थः।

निःशेषमभिहितम्-सर्वं वक्तव्यमुक्तम्। सर्वसन्देशसंग्रहकारिकाम्-सकलसन्देशसङ्कलनरूपाम्। कारिकाम्-श्लोकम्। (कारिका तु कृतौ श्लोके) अतिप्रयत्नेन-महता प्रयासेन। भवन्तमनुस्मारयति-त्वां स्मारयति।

अवहितः—कृतावधानः, श्रोतुमुत्सुकः।

हुतमिति। हुतं होमः देवतोद्देशेन वह्नौ हविस्त्यागः, इष्टमग्निहोत्रादि, तप्तं तपः, धर्मश्च ते कुलस्य, यत् अतिथयो याचकाः पूर्णकामाः प्रार्थितं लब्ध्वा गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते गच्छन्ति। तव कुलस्य होमो यागस्तपस्याधर्मश्चायमेव यदतिथयो लब्धकामा एव तव गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते नालब्धकामा इत्यर्थः। एतेन विश्वामित्रकृतरामप्रार्थनायाः अनुपदभाविन्याः साफल्यं सूच्यते॥ १७॥

सुष्ठु साधु। शिरसि कृतम् अङ्गीकृतम्। आचार्यवचनम् वसिष्ठाज्ञा।

अस्मद्गोत्रेति। क्रतुभुजां देवानाम् आद्यः प्रथमो रविः अद्य अस्मद्गोत्रमहत्तरः

वामदेव—महाराज, निःशेषरूपसे सन्देश कह चुका हूं, सभी सन्देशोंको समेट लेनेवाले इस सूत्रको भगवान् वसिष्ठने विशेषरूपसे याद कराया है।

दशरथ—(आदरके साथ) सावधान हूं, क्या आदेश है?

वामदेव—होम, याग, धर्म, तथा तप सब कुछ आपके वंशका यही है कि आपके घरसे याचक पूर्णकाम होकर ही लौटा करते हैं॥ १७॥

दशरथ—(सहर्ष) आचार्यके सन्देशको मैंने भली-भांति सिरपर चढ़ाया, आज यज्ञांश भोक्ताओं में प्रथम सूर्य हमारे वंशके प्रवर्त्तक सिद्ध हुए, आज हमारे

---

१. 'किमाज्ञापयन्ति गुरव इति' इति।

यज्वानो वयमद्य ते भगवती भूरद्य राजन्वती।
अद्य स्वं बहुमन्यते सहचरैरस्माभिराखण्डलो
येनैतावदरुन्धतीपतिरपि स्वेनानुगृह्णाति नः ॥ १८ ॥

वामदेवः—राजर्षे, सहजानुभावगम्भीरमहिमानो यूयमेव तादृशाय यशसे। [2]वयं तु केवलमुपदेष्टारः।

उन्मुद्रयति हि कुमुदाकरमशरन्निशातनिस्तुपोऽपि तुषारकिरणः।

मदीयकुलमूलम्, (सूर्यस्य मदीयगोत्रमूलतायाः फलमद्यैव लभ्यते मया) अद्य ते वयं यज्वानः इष्टवन्तः (यागसाफल्यमप्यद्यैव प्राप्यते) भगवती भूः सर्वसमर्था मही अद्य राजवन्ती प्रशस्तराजशालिनी। अद्य अस्माभिः सहचरैः सहायैः सद्भिः आखण्डल इन्द्रः स्वम् आत्मानं बहुमन्यते धन्यं मन्यते, येन यत् अरुन्धतीपतिः वसिष्ठः अपि स्वेन आत्मना अस्मान् एतावत् इयत् अनुगृह्णाति अनुकम्पते। वसिष्ठस्येयत्याः दयायाः पात्रत्वे नाद्याहं सूर्यवंशप्रसूतत्वं यज्ञकर्तृत्वं राज्यमिन्द्रसख्यं च स्वीयं धन्यं मन्ये इत्यर्थः। 'सुराज्ञि देशे राजन्वान्' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

सहजेति। सहजः स्वाभाविको योऽनुभावः प्रभावस्तेन गम्भीरः दुरवगाहो महिमा माहात्म्यं येषां तथाविधाः यूयमेव तादृशाय वसिष्ठदयापात्रत्वप्रभवाय तादृशकीर्त्तिशालित्वरूपाय वा यशसे प्रभवथेत्यर्थः।

उन्मुद्रयतानि। शरदः ऋतुभेदस्य निशा रात्रिस्तया निशातः तीक्ष्णः समेधित करः अत एव निस्तुपः मेघाद्यनावृतः—शरन्निशानिशात निस्तुपः—स न भवति इति पश्चान्नञा समासे अशरन्निशानिशातनिस्तुपोऽपि तुषारकिरणः शीतरश्मिः चन्द्रः कुमुदाकरम् कुमुदसमूहम् उन्मुद्रयति विकासयति स पुनर्वसिष्ठो द्वितीय-

---

यज्ञ सफल हुए, आज हाँ पृथ्वीने सुराजा प्राप्त किया, आज इन्द्र हमारे समान मित्रको पाकर अपनेको आदृत समझते हैं, जबकि स्वयं वसिष्ठ मुझपर इतना अनुग्रह रखते हैं ॥ १८ ॥

वामदेव—राजर्षे, स्वाभाविक प्रताप तथा गम्भीर महिमाके आश्रय आप स्वयं उस कीर्त्तिके योग्य हैं, हम तो केवल उपदेश देते हैं।

शरद निशामें प्रकट प्रकाश तथा मेघाद्यनावृत चन्द्रमा कुमुद कुलको विकसित

---

१. 'नो भगवती' इति।　　२. 'न केवलमुपदेष्टारोवयम्' इति।

स पुनः किमुच्यते भगवान्द्वितीयपरमेष्ठी वसिष्ठः ॥ १९ ॥

अपि च—

इदं वो याज्यानामुदितमुदितं यत्कुलमभू-
द्यदिष्टं वा कुर्वन्नकृत सगरः पूर्तमुदधिम् ।
असौ पूर्वेषां ते सुचरितपताका यदमर-
स्रवन्ती कृत्स्नोऽयं त्रिभुवनगुरोस्तस्य विभवः ॥२०॥

किं च—

कौशिकस्वीकृतस्यापि यदाज्ञातिक्रमादभूत् ।

परमेष्ठी अपरो ब्रह्मा किमुच्यते ? स हि सर्वाधिकं कुमुदं प्रकाशयेत्, ब्रह्मवद्-मितसामर्थ्यशालित्वादित्यर्थः । इदं तु कुमुदाकरं नाम वृत्तम्, एकादशभिर्वर्णै रष्टादशभिः क्रमादुभौ पादौ । तत्कुमुदाकरवृत्तं चरमौ तु दशाक्षरौ यस्य इति तल्लक्षणम् ॥ १९ ॥

इदमिति । यत् याज्यानां वसिष्ठेन याजनीयानाम् वः युष्माकं रघुवंश्यानाम् कुलं वंशः उदितमुदितम् उदययुक्तं हृष्टं च अभूत्, यत् इष्टं यागं कुर्वन् सगरो नाम राजा उदधिं सागरं पूर्तं खातम् अकृत कृतवान् । यत् अमरस्रवन्ती देवनदी गङ्गा ते तव पूर्वेषां भगीरथाभिधपूर्वजन्मनाम् सुचरितपताका कीर्त्तिवैजयन्ती, अयं कृत्स्नः सकलोऽपि त्रिभुवनगुरोः वसिष्ठस्य विभवः प्रभावः अस्तीति शेषः, भवतां कुलस्योदये प्रमोदे, भवत्कुलोत्पन्नस्य सगरस्य समुद्रखननपूर्वकयज्ञ-सम्पादनसाफल्ये भवत्कुलजस्य भगीरथस्य गङ्गाप्रवाहानयनरूप सामर्थ्ये च भगवतो वसिष्ठस्यैव प्रभावो विजृम्भते इत्याशयः । 'पूर्त्तं त्रिषु पूरिते स्यात् क्लीवं खातादिकं मतम्' इति मेदिनी । 'पताका वैजयन्ती स्यात्' 'स्रवन्ती निम्नगापगा' इत्युभयत्रामरः ॥ २० ॥

कौशिकेति । यस्य वसिष्ठस्य आज्ञातिक्रमात् आदेशोल्लङ्घनात् कौशिकस्वी-कृतस्य विश्वामित्रेण याज्यतयानुमतस्यापि त्रिशङ्कोर्नाम प्राचीननृपस्य उपभोगाय वासविहारादिकर्मणे द्यौः स्वर्गः भूः पृथ्वीलोकोऽपि नाभूत् । वसिष्ठाज्ञामुल्लङ्घ

करता है, वसिष्ठके सम्बन्धमें क्या कहा जाय ? वे तो अपर ब्रह्मा हैं ॥ १९ ॥

यह विश्वगुरु वसिष्ठका ही सारा प्रभाव है कि आपका यह याज्ञिक वंश नित्य नूतन उदय प्राप्त करता रहा है, यज्ञ करते हुए सगरने सागर खुदवा डाला, आपके पूर्वज भगीरथका ही यह प्रताप है कि गङ्गा प्रवाहित हैं ॥ २० ॥

जिस वसिष्ठकी आज्ञाको नहीं माननेके कारण विश्वामित्र द्वारा अनुगृहीत होनेपर भी

त्रिशङ्कोरुपभोगाय न द्यौरपि न भूरपि ॥ २१ ॥

[1]**प्रतीहारी**—[2]जयतु जयतु देवः। देव, भगवान्कौशिको द्वारमध्यास्ते।

दशरथः—(ससंभ्रमम्।) किं[3] कौशिकः।

वामदेवः—अहं तमुपेत्य श्रौतेन विधिना पुरस्कृत्य प्रवेशयामि तपोनिधिम् (इति प्रतिहार्या[4] सह निष्क्रान्तः।)

दशरथः—(सहर्षम्।)

यः क्षत्रदेहं परितक्ष्य टङ्कैस्तपोमयैर्ब्राह्मणमुच्चकार।

विश्वामित्रं पुरोहितं कृत्वेष्टवतोऽपि त्रिशङ्कोर्न स्वर्गोऽसिद्ध्यत्, न वा धरित्री वासक्षमाऽवर्तत, किन्त्वसौ मध्येऽलम्बत तदीदृशप्रभावो वसिष्ठर्षिरिति भावः। पुरा किल त्रिशङ्कुर्नाम राजा सदेहं स्वर्गं गन्तुकामो यागाय वसिष्ठं वृतवांस्तेन निषिद्धस्तत्पुत्रांश्च वृतवांस्तदनन्तरं विश्वामित्रं पुरोहितं कृत्वा यज्ञे प्रवृत्तो वसिष्ठेन चाण्डालतयाभिशप्तः, देवाश्च तद्यज्ञे नोपासदंस्तदित्थं स्वं पौरोहित्यं हीयमानं विलोक्यापरां सृष्टिं विधातुमुपक्रममाणो विश्वामित्रो ब्रह्मणा प्रसाद्य वारितो भूत्वा स्वतपसा त्रिशङ्कुः स्वर्गं प्रेपितवांस्ततश्चाण्डालस्य स्वर्गानर्हतामालोचयेन्द्रेण हुंकृतोऽधः पतितो द्यावापृथिव्योरन्तरालेऽवर्त्ततेति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ॥ २१ ॥

द्वारमध्यास्ते—द्वारदेशे तिष्ठतीत्यर्थः।

ससंभ्रमम्—संभ्रमश्चात्र तत्प्रभावजनित प्रत्युत्थानस्वागतादिचिन्ताजन्यः।

श्रौतेन—शास्त्रोक्तेन। पुरस्कृत्य आदृत्य। प्रवेशयामि राजद्वारमानयामि।

यः क्षत्रदेहमिति। यः विश्वामित्रः तपोमयैः तपस्यारूपैः टङ्कैः पाषाण-

---

त्रिशङ्कुके लिये स्वर्ग तथा पृथ्वी कहीं पर स्थान नहीं रहा, वे अधरमें लटकते रहे ॥ २१ ॥

प्रतीहारी—जय हो महाराजकी, देव, भगवान् कौशिक, दरवाजेपर खड़े हैं ?

दशरथ—(चकित होकर) क्या कौशिक हैं ?

वामदेव—मैं उनके पास जाकर वैदिक विधानसे सत्कृतकरके बुला लाता हूँ। (प्रतीहारीके साथ जाते हैं)

दशरथ—(सहर्ष)

जिस विश्वामित्रने तपस्यारूप छेनीसे काटकर क्षत्रिय शरीरको ब्राह्मण शरीरके रूपमें

---

१. 'प्रतीहारः' इति। २. 'जयति जयति देवः', 'जयतु देवः' इति च।

३. 'किं कौशिकः' इत्यस्मादग्रे 'प्रतीहारः—अथ किम्' इत्यधिकं क्वचिद् दृश्यते।

४. 'प्रतीहारेण सह' इति।

परोरजोभिः स्वगुणैरगाधः स गाधिपुत्रोऽपि गृहानुपैति ॥२२॥

(ततः प्रविशति वामदेवोपदिश्यमानवर्त्मा विश्वामित्रः ।)

विश्वामित्रः—सखे [1]वामदेव, त्वमधुनैव वसिष्ठाश्रमादागतोऽसि । कच्चित्कुशली तावदरुन्धतीनाम्ना पतिव्रतामयेन ज्योतिषा सहचरितधर्मा तत्रभवान्मैत्रावरुणिः ।

वामदेवः—विशेषेण पुनरद्य याज्यकुलमुपतिष्ठमाने चिरन्तनप्रणयिनि कौशिके ।

दारणास्त्रभेदैः क्षत्रदेहं क्षत्रियशरीरं परित्यज्य खण्डयित्वा तनूकृत्य ब्राह्मणम् उच्चकार तदेव क्षत्रियशरीरं ब्राह्मणभावमानीतवान्, परोरजोभिः रजोगुणसंबन्धवर्जितैः स्वगुणैः सात्त्विकगुणैः अगाधः अतलस्पर्शगभीरः सः विश्वामित्रः अपि गृहान् अस्मद्गृहान् उपैति, तदहो भाग्यं ममेति भावः । 'टङ्कः पाषाणदारणः' ,अगाधमतलस्पर्शे' इत्युभयत्रामरः ॥ २२ ॥

कच्चिदिति जिज्ञासासूचकमव्ययम्, पतिव्रतामयेन पातिव्रत्यपूर्णेन । ज्योतिषा तेजसा । सहचरितधर्मा सङ्गतधर्मा, अरुन्धतीसहधर्मिणीकः अरुन्धतीपतिः, मैत्रावरुणिः मित्रवरुणयोरपत्यं वसिष्ठः ।

याज्यकुलम् यजमानगृहम्, उपतिष्ठमाने समागते । चिरन्तनप्रणयिनि प्राचीनमित्रे । त्वयि प्राक्तनसुहृदि रघुकुलगृहमायाते सातिशयकुशलः प्रसन्नो वसिष्ठ इत्यर्थः ।

परिणत कर दिया, रजोगुणसे परे अपने सात्त्विक गुणोंसे अगाध वही गाधिपुत्र विश्वामित्र हमारे घर पधार रहे हैं ॥ २२ ॥

[वामदेवके साथ विश्वामित्रका प्रवेश]

विश्वामित्र—मित्र वामदेव, आप अभी वसिष्ठके आश्रमसे आये है । अरुन्धती नामक पतिव्रताज्योतिसे सहचरित धर्मानुष्ठानकर्त्ता वसिष्ठ कुशल तो हैं ?

वामदेव—खास करके आज चिरप्रणयी कौशिकके यजमानगृहमें पधारनेपर वसिष्ठ सानन्द हैं ।

---

१. 'वामदेव' इत्यस्मादग्रे 'कथय' इति । २. 'विश्वामित्रे' इति ।

विश्वामित्रः—सखे वामदेव, चिरेण दशरथो द्रष्टव्य इति सर्वमनोरथानामुपरि वर्तामहे।

वामदेवः—(सविनयम्।) भगवन्कुशिकनन्दन, धन्यः खल्वयं राजा सावित्रो यमेवमनुरुध्यन्ते [1]भवन्तोऽपि।

विश्वामित्रः—सखे, धन्य एवायम्!

> **नमन्नृपतिमण्डलीमुकुटचन्द्रिकादुर्दिन-**
> **स्फुरच्चरणपल्लवप्रतिपदोक्तदोः सम्पदा।**
> **अनेन ससृजेतरां तुरगमेधमुक्तभ्रम-**
> **त्तुरङ्गखुरचन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी॥ २३॥**

सर्वमनोरथानाम् सर्वाभिलषणीयानाम्। उपरि वर्त्तामहे सर्वेपि नः कामाः सिद्धा इति भावः।

अयं राजा सावित्रः सूर्यवंशोद्भवोऽयं राजा दशरथः। यम् दशरथम्। एवमनुरुध्यन्ते इत्थं वहु मानयन्ति।

नमदिति। नमन्ती पादयोः प्रणमन्ती या नृपतिमण्डली राजसमुदायः तस्याः मुकुटानाम् किरीटानाम् चन्द्रिकया नानावर्णप्रभया दुर्दिने आच्छन्ने स्फुरन् राजन् यश्चरणपल्लवः पल्लवकोमलः पादः तेन प्रतिपदम् सर्वत्र उक्ता प्रकटीकृता दोः सम्पत् वाहुवलं यस्य तादृशेन पादप्रणतराजन्यकप्रकटीकृतभुजवीर्येणेत्यर्थः, अनेन राजा दशरथेन तुरगमेधेषु अश्वमेधनामकयागभेदेषु मुक्तानाम् अभिमन्त्र्य विसृष्टानाम् भ्रमताम् अनिरुद्धप्रसरं सर्वासु दिक्षु सञ्चरताम् तुरङ्गाणाम् अश्वानाम् खुरचन्द्रकप्रकरः चन्द्रकलाकारखुरसमूहः, तेन दन्तुरा नतोन्नता मेदिनी पृथ्वी ससृजेतराम् क्रियतेस्म। अनेन दशरथेन अश्वमेधे त्यक्तेनाश्वेन सकलदिशासु

विश्वामित्र—सखे वामदेव, वहुत दिनोंके वाद राजा दशरथसे मिलूंगा यह सभी मनोरथों के ऊपर है।

वामदेव—(नम्रता के साथ) महाराज विश्वामित्र, ये सूर्यवंशी राजादशरथ धन्य है आप इतना आदर करते हैं

विश्वामित्र—सखे; ये राजा दशरथ धन्य हैं।

अन्यान्य राजगण इनके चरणों पर नत होते हैं उनके मस्तकालङ्कारस्थित ज्योत्स्नासे प्रकाशित होनेवाले चरणोंकी शोभा ही इनके वाहुके प्रतापका प्रतिपादन करती है, यह राजाने अश्वमेधमें छोड़े गये अश्वके खुरचिह्नोंसे सारी पृथ्वीको निम्नोन्नत बना दिया है॥

---

१. 'भगवन्तोऽपि' इति।

(पुरोऽवलोक्य सहर्षम् ।)

चिरादक्ष्णोर्जाड्यं शमयति समस्तासुरवधू-
कचाकृष्टिक्रीडाप्रसभसुभगं भावुकभुजः ।
त्रिलोकीजङ्घालोज्ज्वलसहजतेजा मनुकुल-
प्रसूतिः सुत्राम्णो विजयसहकृत्वा दशरथः ॥२४॥

सखे वामदेव, इयमनेन पीयूषतुषारसीकरासारवर्षिणी सुजनसंवाद-

भ्रमता सकला अपि दिशो जिता इत्यर्थः। 'मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्युभयत्रामरः॥ पृथ्वीवृत्तम्, जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति हि तल्लक्षणम्॥ २३॥

चिरादिति। समस्तानां सर्वेषाम् असुराणां राक्षसानां याः वध्वः अङ्गनाः तासां कचाकृष्ट्या केशाकर्षणेन या क्रीडा विलासः तया सततं सुभगंभावुकौ प्रसह्यमनोहरौ भुजौ यस्य सः तथोक्तः सर्वासामपि निशाचरवधूनां तत्पतिवधपूर्वककेशाकर्षकतया मनोज्ञौ भुजौ दधान इत्यर्थः। त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तत्र जङ्घालम् अतिशीघ्रगं यत् उज्ज्वलं प्रकाशशालि सहजं स्वभाविकं च तेजो यस्य सः, सुत्राम्णः इन्द्रस्य विजयेषु तत्र तत्र युद्धेषु जायमानेषु जयेषु सहकृत्वा साहायकेनोपकर्त्ता मनुकुलप्रसूतिः मनुवंशजन्मा अयं राजा दशरथः चिरात् बहुकालानन्तरम् अक्ष्णोः मम नेत्रयोः जाड्यम् विषयग्रहाशक्तिम् शमयति, नेत्रे विकासयति सकलासुरजयिनं त्रिभुवनप्रचारियशसं शक्रसहायकमेनं दृष्ट्वा चिरस्य विकासं भजतो ममाक्षिणी इति भावः। 'जङ्घालोऽतिजवस्तुल्यौ' 'सुत्रामा गोत्रभिद् वज्री' इत्युभयत्रामरः, शिखरिणी वृत्तम्, तल्लक्षणमुक्तपूर्वम्॥ २४॥

अनेन लोकनाथेन—राज्ञा दशरथेन, पीयूषमेव यत्तुषारं हिमं तस्य सीकरोऽम्बुकणस्तस्यासारो धारासम्पातस्तद्वर्षिणी सुजनानां संवादे परस्परालापे यत्कौतुकम् आनन्दस्तस्य मेघलेखा घनश्रेणी पौरस्त्येनमरुता पूर्वदिग्देवेन शक्रेण सहस्रशिखरीक्रियते सहस्रशिखरशालितां प्राप्यते, यथा जलसीकरासारवर्षिणी

बहुत दिनोंपर आज राजा दशरथ हमारी आँखोंकी तकलीफको दूर करेंगे, जिन्होंने समस्त असुर स्त्री समुदायके कचाकर्षणद्वारा अपने बाहुओंकी सुभगता बढ़ाई है, जिनका यश त्रिलोकीमें व्याप्त है, जो मनुकुलमें उत्पन्न हुए हैं, तथा जो युद्धमें इन्द्रको विजय दिलाया करते है॥ २४॥

सखे वामदेव, जैसे पूरबसे आनेवाली वायु मेघमालाको बढ़ाती है उसी तरह इस

कौतुकमेघलेखा पौरस्त्येनेव मरुता लोकनाथेन सहस्रशिखरीक्रियते ।

वामदेवः—भगवन्, अद्य खलु दिलीपकुलकुशलकर्मकल्पलतानामङ्कुरग्रन्थिभि[1]रुदीर्यन्ते किसलयानि । यदत्रभवानपि त्रिभुवनसनातनगुरुरेवमस्मै नरेन्द्राय स्पृहयति ।

(इति परिक्रामतः ।)

दशरथः—(सहर्षं ससंभ्रममासनादुत्थायोपसृज्य च ।) भगवन्कुशिकनन्दन, ऐक्ष्वाकः पङ्क्तिरथोऽभिवादयते ।

विश्वामित्रः—स्वस्ति भवते सपरिवाराय ।

(इति सर्वे यथोचितमुपविशन्ति ।)

वनमाला पौरस्त्यवातेन सहस्रशिखरतां प्रापय्य विस्तार्यते तथैवेन्द्रेण दशरथेन सह वार्त्तालापकौतुकं सहस्रवर्त्मसु विस्तार्यते, इन्द्रः सर्वदा दशरथेन सह वार्त्तालापं कामयत इत्यर्थः । 'सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः' 'मरुतौ पवनामरौ' धारासम्पात आसारः' इति सर्वत्रामरः ।

दिलीपेति । दिलीपस्य कुलं वंशस्तस्य कुशलकर्माण्येव कल्पलता सत्कर्मरूपकल्पवल्ली तासाम् अङ्कुरग्रन्थयः पर्वाणि तैः किसलयानि नवपत्राणि उदीर्यन्ते प्रकाश्यन्ते, दिलीपवंश्यनृपतिविहितसत्कर्मरूपवल्ली किसलयानि प्रसूते, नवीभवति फलाभिमुखीभवतीत्यर्थः । अत्रभवान्-पूजनीयो भवान्, त्रिभुवनसनातनगुरुः लोकत्रितयमूर्धन्यः, एवम् पूर्वोक्तप्रकारेण । अस्मै नरेन्द्राय-दशरथाय ।

पङ्क्तिरथः—दशरथः ।

राजाने सुजन संवादको–जिसमें अमृतकी बूंदें बरसती रहती हैं–बढ़ावा दिया करता है ।

वामदेव—महाराज, आज दिलीप वंशके शुभकर्मरूप तरुओंने नये पत्ते पैदा किये हैं, जिससे आपके सदृश त्रिभुवनगुरु मुनि इस राजाकी प्रशंसा करते हैं ।

[दोनों चलते हैं]

दशरथ—(सहर्ष आसनसे उठकर समीप जाकर) महाराज विश्वामित्र, इक्ष्वाकुवंशी मैं दशरथ प्रणाम करता हूँ ।

विश्वामित्र—आपका परिवारके साथ मङ्गल बढ़े ।

[सभी यथोचित स्थान पर बैठते हैं]

---

१. 'उद्गीर्यन्ते' इति । २. 'सप्रणयम्' इति ।

दशरथः—([2]सप्रश्रयम् ।) भगवन्विश्वामित्र,

कच्चित्कान्तारभाजां भवति परिभवः कोऽपि शौवापदो वा
प्रत्यूहेन क्रतूनां न खलु मखभुजो भुञ्जते वा हवींषि ।
कर्तुं वा कच्चिदन्तर्वसति वसुमतीदक्षिणः सप्ततन्तु-
र्यत्संप्राप्तोऽसि किं वा रघुकुलतपसामीदृशोऽयं विवर्तः ॥२५॥

विश्वामित्रः—(विहस्य ।)

जनयति त्वयि वीर दिशां पतीनपि गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिनः ।

सप्रश्रयम्—सविनयम् ।

कच्चिदिति । कान्तारभाजाम् अरण्यवासिनां भवतां मुनीनां कोऽपि शौवापदः श्वापदकृतः परिभवः अनादरादिः क्लेशः भवति कच्चित् किम्? मखभुजो यज्ञ-भागभोक्तारो देवा वा क्रतूनां प्रत्यूहेन राक्षसादिभिर्यज्ञानां विघ्नितया हवींषि न खलु भुञ्जते अश्नन्ति वा? वसुमतीदक्षिणः पृथ्वीदक्षिणाकः सप्ततन्तुर्यागः वा कच्चित् अन्तर्वसति मनसि वर्त्तते? यत् यस्मात् सम्प्राप्तः अस्मद्गृहान् समायातः असि, किंवा रघुकुलतपसाम् रघुवंशचरिततपस्यानाम् अयम् ईदृशः एतादृश एव विवर्त्तः परिणामः । वनवासिनः श्वापदा अभिभवन्ति किम्? राक्षसकृत-विघ्नेन देवानां हविर्भोजने बाधा वा जायते किम्? पृथ्वीदक्षिणाकं यागं वा कर्त्तु-मन्तरभिलाषो वर्त्तते? यदस्मद्गृहानागता भवन्तः, अथवाऽयं रघुवंशतपः-प्रभावो यद्भवादृशाः समागच्छन्तीति भावः । शुन इव पदमेषामिति श्वापदा व्याघ्राः, ततोऽणि शौवापदमिति रूपम् । 'द्वारादीनाञ्च' इत्यैजागमः । 'सप्ततन्तु-र्मखः क्रतुः' 'विवर्त्तः परिणामे स्यात्' इति मेदिन्यमरौ । स्रग्धरावृत्तं तल्लक्षणं यथा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' ॥ २५ ॥

जनयतीति हे वीर, त्वयि दशरथे दिशांपतीन् दिगधीशान्, इन्द्रादिनपि गृहाङ्गणमात्रकुटुम्बिनः त्वद्गृहाङ्गणसततस्थायिनः (सर्वदा यज्ञानुष्ठानात्सततं

दशरथ—(नम्रताके साथ) क्या वनवासियोंको किसी प्रकारसे श्वापदोंने कष्ट दिया है? क्या यज्ञमें कुछ बाधा हुई है जिससे देवोंको हवि नहीं प्राप्त हो रही है? क्या आपके हृदयमें सारी पृथिवी दक्षिणा में देकर कोई यज्ञ करनेकी इच्छा हो रही है! जो आप हमारे घर पधारे है, या यह रघुवंशियों के तपकाही परिणाम है ॥ २५ ॥

विश्वामित्र—(हंसकर) हे वीर, आपने जब सभी असुरों को परास्त करके देवोंको भी घरभरमें नियतवासी बना रक्खा है तब हम लोगों को भय किस प्रकारका? भय तो

रिपुरिति श्रुतिरेव न वास्तवी प्रतिभयोन्नतिरस्तु कुतस्तु नः ॥२६॥

अपि च—

दत्तेन्द्राभयविभ्रमाद्भुतभुजासंभारगम्भीरया ।
त्वद्वृत्त्या शिथिलीकृतस्त्रिभुवनत्राणाय नारायणः ।
अन्तस्तोषतुषारसौरभमयश्वासानिलापूरण-
प्राणोत्तुङ्गभुजङ्गतल्पमधुना भद्रेण निद्रायते ॥ २७ ॥

त्वद्गृहोपस्थितिशालिनः) जनयति कुर्वति सति, रिपुरिति अस्माकं यज्ञस्य शत्रुरिति श्रुतिरेव वास्तवी श्रवणमात्रमेव रिपूणाम् न पारमार्थिकं सत्त्वमिति नः अस्माकं प्रतिभयस्य शत्रुकृतस्य त्रासस्य उन्नतिः वृद्धिः कुतः नु, शत्रूणां नाममात्र-शिष्टत्वे शत्रुभयसम्भावना नितान्तनिरस्ता वेद्येति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तं, 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति तल्लक्षणम् ॥ २६ ॥

दत्तेन्द्रेति । दत्तम् वितीर्णम् इन्द्राय अभयम् निर्भयत्वं येन तादृशो विभ्रमो विलासो ययोः तयोस्तथोक्तयोः अतएव अद्भुतयोः आश्चर्यकरयोः भुजयोः संभारः सामर्थ्यम् तेन गम्भीरया उद्भटया त्वद्वृत्त्या त्वदीयव्यापारेण।इन्द्राय दत्ताभयस्य तव बाहुबलस्य प्रभावेणेत्यर्थः त्रिभुवनत्राणाय लोकरक्षाकर्मणे शिथिलीकृतः अनपेक्षितः नारायणः विष्णुः अधुना सम्प्रति अन्तस्तोषेण आन्तरसन्तोषेण तुषारः शीतलः सौरभमयः सुगन्धपूर्णः यः श्वासानिलः तेन आपूरणं परिपुष्टिर्यस्य तथाभूतेन प्राणेन प्राणाख्यवायुना उत्तुङ्गः समुन्नतो यो भुजङ्गः शेषः स एव तल्पः शय्या यत्र तथा भद्रं सुखम् निद्रायते स्वपिति । इन्द्रायापि निर्भयभावं दत्तवतोरद्भुतयोस्तव भुजयोर्व्यापारेण जगति रक्ष्यमाणे तत्रानपेक्षितो भगवान्विष्णुरन्तस्तोषव्यञ्जकेन स्वेन सुगन्धिना श्वासानिलेन भक्ष्यभूतेन फुल्लतनौ शेषनागे स्वतल्पे सुखं स्वपितीत्याशयः । 'तुषारः शीतलः शीतः' 'दोर्दोषा च भुजा भुजः' 'तल्पं तु शयनीये स्यात्' इति सर्वत्र विश्वामरौ । निद्रायत इत्यत्र 'कर्त्तुः क्यङ्' इति क्यङ् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

केवल सुनने की बात रह गई है वस्तुतः वह कोई वस्तु नहीं है ॥ २६ ॥

इन्द्रको अभय देनेवाले आपके भुजबलगम्भीरव्यापारोंने नारायणके शिरसे भुवन रक्षाका भार उतार दिया है, अतः नारायण आन्तरिक सन्तोषको अभिव्यक्त करनेवाला श्वासग्रहण करते हैं जिससे नारायण के तल्पभुजगपवनाश होने से स्थूल होते जाते हैं, और भगवान् नारायण उस पन्नागशयन पर आनन्द की नींद सोते हैं ॥ २७ ॥

दशरथः—(सवैलक्ष्यस्मितम् ।) भगवन्विश्वामित्र, अभ्यमित्रीणस्य तत्रभवतः सुनासीरस्य नासीरपूरकेण पदातिपरमाणुना मयापि कदाचिदुद्धृतं धनुर्यन्मूलोऽयमलीकलोकप्रवादो भवन्तमप्याप्याययति ।

विश्वामित्रः—(सोत्साहस्मितम् ।) [2]सखे,

त्रैलोक्याभयलग्नकेन भवता वीरेण विस्मारित-
स्तज्जीमूतमुहूर्तमण्डनधनुःपाण्डित्यमाखण्डलः ।

सवैलक्ष्यम्—सङ्कोचम् ।

अभ्यमित्रीणस्य शत्रोरभिमुखं गच्छतः । सुनासीरस्य इन्द्रस्य । नासीरपूरकेण सैन्याग्रगामिना । पदातिपरमाणुना क्षुद्रपदातिना । उद्धृतम् उत्थापितम् । यन्मूलः यत्कारणकः । अलीकप्रवादः मिथ्याप्रचारः । आप्याययति तर्पयति । शत्रूँल्लक्ष्यीकृत्य पिपासोरिन्द्रस्य सैन्यसमुदयेऽहमप्येकः पदातिः स्वं धनुरुद्यतं कृतवानेतावतैव ममेयं कीर्त्तिर्भवन्तमपि प्रशंसार्थं मुखरयतीत्यर्थः । 'यो गच्छत्यलं विद्विषतः प्रति । सोऽभ्यमित्योऽभ्यमित्रीयोऽभ्यमित्रीणः' इत्यमरः । 'सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः । 'नासीरोऽग्रगन्तरि' 'अलीकं त्वप्रियेऽनृते' इति च विश्वामरौ ॥

त्रैलोक्याभयेति । आखण्डल इन्द्रः त्रैलोक्यम् लोकत्रयम् तस्य पदभयम् सर्वतोऽप्यकुतोभयत्वं तत्र लग्नकेन प्रतिभूस्वरूपेण वीरेण भुजशौर्यशालिना भवता तत् प्रसिद्धम् जीमूते मेघे मुहूर्त्तं क्षणिकं मण्डनमलङ्करणं धनुः तस्य पाण्डित्यं चालनचातुर्यं विस्मारितः, त्वया वीरेण त्रिलोक्यां निवृत्तभयायां कृतायां शक्रः कदापि स्वं मेघालङ्कारभूतं धनुरावश्यकताऽभावेन न स्पृशतीति चिरादभ्यासाभावादसौ तत्पाण्डित्यमेव विस्मृतवानित्यर्थः । किञ्च अजस्रं बहुलम् मखेषु यज्ञेषु अर्पितेन दत्तेन हविषा हवनीयद्रव्येण सम्फुल्लेन प्रवृद्धेन मांसेन उल्लसन्ती जायमाना

दशरथ—(लज्जा तथा मुस्कुराहटके साथ) भगवन् विश्वामित्र, इन्द्रने जब शत्रुओं पर आक्रमण किया था तब उनकी सेनामें मैं भी पैदल सैनिकके रूपमें धनुष उठाया था, जिसके चलते यह किंवदन्ती फैलाई गई जो आपको प्रसन्न कर रही है ।

विश्वामित्र—(उत्साहके साथ हँसकर) सखे,—

त्रैलोक्यको अभयदान देनेवाले आपने मेघरूप धनुषकी पण्डिततासे इन्द्र को सूना कर दिया है, अनभ्यास हो जानेके कारण इन्द्रने धनुर्विद्या पाण्डित्यसे सम्बन्ध छुड़ा लिया है,

---

१. 'सोत्प्रासस्मितम्' इति । २. सखे इत्यस्मादग्रे 'दशरथ' इति ।

किं चाजस्रमखार्पितेन हविषा संफुल्लमांसोल्लस-
त्सर्वाङ्गीणवलीविलुप्तनयनव्यूढः कथं वर्तते ॥ २८ ॥

[1]वामदेवः—महाराज भूकश्यप, [2]यथाह भगवान्कौशिकः। स्वय-मनेकधा सुधर्मायामध्यक्षीकृतमहमपि ब्रवीमि।

त्वय्यर्धासनभाजि किंनरगणोद्गीतैर्भवद्विक्रमै-
रन्तःसंभृतमत्सरोऽपि भगवानाकारगुप्तौ कृती।
उन्मीलद्भवदीयदक्षिणभुजारोमाञ्चवि[3]द्धोच्चर-
द्बाष्पैरेव विलोचनैरभिनयत्यानन्दमाखण्डलः ॥ २९ ॥

या सर्वाङ्गीणा सर्वाङ्गव्यापिनी वली स्थूलता तया विलुप्तः समाच्छन्नः नयनव्यूहः सहस्रं नयनानि यस्य तथाभूतः सन् कथं महता कष्टेन वर्त्तते जीवति। त्वया सततं यज्ञानुष्ठानेऽनवरतहविर्भोजनावसरप्राप्त्या शरीरस्थौल्ययोगादावृतनयनोऽसाविन्द्रः कृच्छ्रं जीवतीति तात्पर्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २८ ॥

भूकश्यपेति दशरथस्य नामान्तरमिति रुचिपतिः। यथाह भगवान् कौशिकः विश्वामित्रोक्तं सत्यमित्यर्थः। स्वयम् आत्मना। सुधर्मायाम् देवसभायाम्। अध्यक्षीकृतम् प्रत्यक्षीकृतम्।

त्वय्यर्धेति। त्वयि दशरथे अर्धासनभाजि इन्द्रस्यासनार्धमलङ्कुर्वति सति किन्नरगणोद्गीतैः किन्नरा देवयोनिभेदास्तेषां गणैरुद्गीतैः उच्चैः स्तुतैः भवद्विक्रमैः त्वदीयपराक्रमैः अन्तर्मनसि संभृतमत्सरः सञ्जनितद्वेषोऽपि (कथं किन्नरा मामपहाय मनुष्यमपीममित्थं स्तुवन्तीति ईर्ष्याकलुषमानसः सन्नपि) आकारगुप्तौ मत्सरादिचिह्नगोपने कृती निपुणः आखण्डलः उन्मीलद्भिः भवदीयगुणगीतश्रवणात्

सतत यज्ञमें समर्पित हव्यभागसे इन्द्रकी देहमें मांस बहुत बढ़ गया है, उसीमें उनके सारे नयन छिप गये हैं, न जाने वह कैसे रहते हैं? ॥ २८ ॥

वामदेव—महाराज भूकश्यप, कौशिकने ठीक ही कहा है। मैंने भी जो वस्तु देवसभामें अनेक बार देखी है, वह कहता हूँ—

आप जब इंद्रके साथ अर्धासन पर विराजमान रहते हैं, उस समय जब किन्नरगण आपकी कीर्तिका गान करते हैं, तब इन्द्रको मात्सर्य होता है परन्तु वह आकार गोपनमें बहुत चतुर होनेके कारण फड़कने वाले आपके दक्षिण बाहु में वर्त्तमान रोमाञ्चसे विद्ध उनके नयनोंसे निर्गत बाष्पों द्वारा आनन्दका अभिनय करके रह जाते हैं ॥ २९ ॥

---

१. 'वामदेवः' इत्यस्मादग्रे 'विहस्य' इति। २. 'यदाह' इति।
३. 'बन्धोच्चरत्' इति।

दशरथः—(सस्मितम् ।) [1]वामदेव, त्वमपि भगवन्तं गाधिनन्दनमनुप्रविष्टोऽसि ।

एतस्मै समराङ्गणप्रणयिने तिष्ठेत कः प्रज्वल-
दम्भोलिद्युतिमण्डलोद्भटभुजस्तम्भाय जम्भारये ।
निर्यद्भिर्बहिरेष रोषदहनज्योतिःस्फुलिङ्गैरिव
स्वै रज्यद्भिरपीक्षणैः समतनोदाग्नेयमस्त्रं द्विषाम् ॥३०॥

विश्वामित्रः—(सगौरवं दशरथबाहुमामृशन् ।) राजर्षे वसिष्ठशिष्य,

संवृत्तोऽयं यदि तव भुजच्छायया सम्प्रतीन्द्रो

विकसद्भिः भवदीयदक्षिणभुजायाः तव दक्षिणबाहोः रोमाञ्चैः रोमकण्टकैः विद्धानि अत एव च उच्चरन् उद्गच्छन् बाष्पं जलं येभ्यः तथाभूतैः इव विलोचनैः स्वनयनैः आनन्दम् अभिनयति नाटयति । दक्षिणभागस्थितस्य तव बाहौ जायमानेन रोमाञ्चेन तदक्षिभेदे जाते प्रवृत्ते च बाष्पे आनन्दाश्रुप्रवाहोऽयमित्यभिनयन्निन्द्रः अमर्षप्रभवमश्रु गोपयतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ २९ ॥

गाधिनन्दनम्—विश्वामित्रम् । अनुप्रविष्टः अनुसृतवान् । यथाऽसौ मां स्तौति तथैव स्तुवँस्त्वमपि तदनुसारी जात इत्यर्थः ।

एतस्मै इति । प्रज्वलता दीप्यमानेन दम्भोलिद्युतिमण्डलेन उद्भटौ भीषणौ भुजावेव स्तम्भौ यस्य तथाभूताय प्रकाशमानवज्रभीषणभुजशालिने एतस्मै जम्भारये *समराङ्गणप्रणयिने संग्रामभूमाववतीर्णाय कः तिष्ठेत आत्मानं प्रकाशयेत्?* न कोऽपि शक्राभिमुखं रणे स्थातुमीश इत्यर्थः । एषः इन्द्रः बहिः निर्यद्भिः रोषदहनस्फुलिङ्गैरिव कोपाग्निकणैरिव रज्यद्भिः रक्तीभवद्भिः स्वैः निजैः ईक्षणैः नयनैः द्विषां शत्रूणाम् आग्नेयम् अस्त्रम् समतनोत् विस्तारितवान्, कोपरक्तानि तदीयनयनान्येव शत्रूणां मनसि दहनास्त्रभयमादधानास्तान्निवारयन्तीति भावः । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्नि कणः' 'दम्भोलिरशनिर्द्वयोः' इत्युभयत्रामरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३० ॥

दशरथ—(हँसकर) वामदेव, तुम भी भगवान् विश्वामित्रसे मिल गये हो ।

इन्द्र जब युद्धक्षेत्रोन्मुख हो जाते हैं तब वज्रप्रभाभासित भुजदंडशाली इन्द्रके सामने कौन ठहर सकता है ? उनकी रक्त आंखें ऐसी प्रतीत होती हैं मानों रोषवह्निकी स्फुलिङ्गावलियां हों, उन रक्त आंखोंसे उनके शत्रु आग्नेय अस्त्रकी तरह भीत हो उठते हैं ॥ ३० ॥

विश्वामित्र—(आदरपूर्वक दशरथके हाथको पकड़कर) हे वशिष्ठके शिष्य राजर्षे ?

---

१. 'सखे वामदेव' इति ।

निर्विघ्नश्रीरियमभिनवा कीदृशी ते प्रशस्तिः ।
इक्ष्वाकूणां लिखितपठिता स्ववधूगण्डपीठ-
क्रीडापत्रप्रकरमकरीपाशुपाल्यं हि वृत्तिः ॥ ३१ ॥

दशरथः—भगवन्सर्वाद्भुतनिधे, भगवन्तमनुगन्तुमुक्तिप्रत्युक्तिकया के वयम्। एवं किल त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्तनोपाख्यानपारदृश्वानः पौराणिकाः कथयन्ति—

त्रासोत्कम्पत्रिदशपरिषन्मौलिमाणिक्यमाला-
बालादित्यप्रकरकिरणस्मेरपादारविन्दे ।

संवृत्तोऽयमिति । यदि अयमिन्द्रस्तव भुजच्छायया बाहुबलाश्रयेण सम्प्रति निर्विघ्नश्रीः अबाधलक्ष्मीकः संवृत्तः इयं ते कीदृशी अभिनवा नूतना प्रशस्तिः ख्यातिः, नेयं तवाभिनवा प्रशस्तिरपि तु कुलक्रमागतैवेति भावः । हि यतः इक्ष्वाकूणाम् त्वद्वंशभवानाम् नृपाणाम् स्ववधूनाम् स्वर्गवासिनीनां रमणीनां गण्डपीठेषु कपोलाभोगेषु यः क्रीडापत्रप्रकरः। विलासार्थं विरचितः पत्रावलीसमूहः तत्र चित्रिता या मकरी मकराख्यजलजन्तुस्त्री तस्याः पाशुपाल्यं रक्षावृत्ति व्यापारः लिखितपठिता लिखिता पठिता च लोकोक्तिरियं लिखितपठितेति त्वत्कुलजाः प्राचीनकालादेव देवानां रक्षास्वासक्ता अतस्त्वया शक्रो निर्बाधलक्ष्मीकतां गमित इति तव प्रशंसा न नूतनाऽपि तु कुलक्रमागतैवेति तात्पर्यम् । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ३१ ॥

सर्वाद्भुतनिधे सकलाश्चर्यनिधान । उक्तिप्रत्युक्तिकया कथनोपकथनद्वारा । भगवन्तमनुगन्तुम् त्वां तुलयितुम् । के वयम् न समर्था इत्यर्थः । त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्तनोपाख्यानपारदृश्वानः–त्रिशङ्कुकथाज्ञातारः ।

त्रासोत्कम्पेति— त्रासेन भयेन उत्कम्पा वेपथुशालिनी या त्रिदशपरिषत् देवमण्डली तस्य मौलिषु किरीटेषु या माणिक्यमाला माणिक्याख्यरत्नविशेषस्रजः एव बालादित्यप्रकरकिरणाः नवोदितसूर्यसमूहप्रभाः तैः स्मेरं विकासशालिपादारविन्दं

आपके भुजोंको आश्रय बनाकर सम्प्रति इन्द्र निर्विघ्न हो रहे हैं, इसमें आपकी कौनसी नवीन प्रशंसा होती है ? इक्ष्वाकुवंशियोंको देवाङ्गनाओंके कपोलस्थलपर वर्त्तमान क्रीड़ापत्र मकरीके पालनका भार लिखा-पढ़ी करके सौंपा गया है ॥ ३१ ॥

दशरथ—हे सभी आश्चर्योंके निधि विश्वामित्र, कथोपकथनमें आपकी बराबरी हम कहां तक कर सकते हैं ? त्रिशंकुकी कथाको जानने वालोंका कहना है कि—

भयभीत देवगणके मस्तकोंपर वर्त्तमान माणिक्यमालाकी किरणस्वरूप बालरवियोंसे

प्राचीमेतां भुवनरचनामन्यथा निर्मिमाणे
कार्पण्योक्तीस्त्वयि रचितवानन्तरायं महेन्द्रः ॥ ३२ ॥

(विहस्य ।)

जवादाराद्धुं त्वामुपनमति वर्गे दिविषदा-
[1]मपध्यस्तो मन्दैरजनि रथहंसैः कमलभूः ।
नियच्छामो जिह्वां न तव चरितेभ्यः किमुत ते
सुधासध्रीचीनामतिपतति[2] वाचामवसरः ॥ ३३ ॥

यस्य तादृशे त्वयि विश्वामित्रे एतां प्राचीं भुवनरचनाम् विश्वसृष्टिम् अन्यथा प्रकारान्तरेण निर्मिमाणे रचयति सति महेन्द्रः शक्रः कार्पण्योक्तीः दीनतासूचकवचनानि अन्तरायं रचितवान् विघ्नतयोपस्थापितवान् । भयभीतदेवगणशिरोरत्नमालाकान्तिसूर्यप्रभासमुदयविकासितचरणकमलस्त्वमिमां प्राचीनां सृष्टिरचनामन्यथाकर्त्तुं प्रवृत्त एव दीनवचनानि प्रयुञ्जानेनेन्द्रेण न्यवार्यथा इत्याशयः । पुरा द्वितीयां सृष्टिं कर्त्तुमुद्यतं विश्वामित्रं भयोद्विग्ना देवाः समुपेत्य पादपतनेन दैन्यवचसा च निवारयामासुरिति पुराणकथात्रानुसन्धेया । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ३२ ॥

जवादिति । दिविषदां देवानां वर्गे समुदाये त्वाम् नूतनसृष्टिप्रवृत्तं विश्वामित्रं नामर्षिम् जवात् वेगात् उपनमति प्रवृत्ते सति कमलभूः ब्रह्मा मन्दैर्मन्थरगामिभिः रथहंसैः स्वरथनियुक्तैर्हंसैः अपध्यस्तः विसंस्थुलः अजनि जातः, देवेषु त्वां प्रसादयितुमहमहमिकावेगेन परापतत्सु स्वरथस्थहंसगतिमान्द्याद् ब्रह्मापश्चात्पदे भूत्वाऽपत्रपित इवाजायतेत्यर्थः । तव चरितेभ्यो जिह्वां न नियच्छामः निवारयामः त्वच्चरितस्तुतेर्जिह्वां न निवारयामो वयम्, किमुत किन्तु सुधासध्रीचीनाम् अमृतसहचरीणां तव वाचामवसरः कालः अतिपतति अतिक्रामति, अतः परमपि यद्यह-

---

जब आपका चरणकमल खिल उठा था, और जब आप इस भुवनकी रचनापद्धतिको पलट देना चाहने लगे थे, तब इन्द्र आपके सामने गिड़गिड़ा रहे थे ॥ ३२ ॥

(हंसकर) जब समस्तदेवगण तेजीसे आपकी आराधनाके लिए दौड़कर आने लगे थे तब रथमें जुते हुए हंसोंकी मन्दगतिसे ब्रह्माको पिछड़ जाना पड़ा था, मैं आपके चरितकीर्त्तनसे अपनी जिह्वाको विरत नहीं करूंगा, किन्तु सुधासदृश आपके वचनोंका अवसर बीता जा रहा है ॥ ३३ ॥

---

१. 'अपध्वस्तः' इति । २. 'अभिपतति' इति ।

(अञ्जलिं बद्ध्वा ।) भगवन्, [1]प्रसीद तावत्। उत्तरोत्तरेषां महोत्सवानां कदाचिदपि न तृप्यन्ति पुंसां हृदयानि, यदियं त्वदुपस्थानसुलभसम्भावनातिप्रसङ्गसङ्गीतनर्तकी मे चित्तवृत्तिर्नियो[2]गानुग्रहाय स्पृहयति। अपि च।

एताभिस्तव कौतुकोक्तिभिरपि त्रैविद्यमूर्तेरिव
त्वष्टस्यामरशिल्पिना दिनकृतोऽवच्छेदवेदाक्षरैः।
पूताः स्मो वयमद्य यद्यपि [3]तदप्याज्ञामपि स्यामहो
वोढुं विष्टिरनर्घता रघुकुले कल्पान्तमुन्मीलतु ॥ ३४ ॥

मेव तव स्तुतिं प्रवृत्तां रचयेयं तदा तवोक्तयः कदा श्रूयेरन्निति विचार्यैव जिह्वां स्वीयां तव स्तुतेर्निवर्तयामि न तृप्तयेति भावः॥ शिखरिणी वृत्तम्॥ ३३॥

उत्तरोत्तरेषाम्—अग्रिमाग्रिमाणाम्। महोत्सवानाम्—भद्राणाम्। तृप्यतियोगे भद्राणामिति करणे षष्ठी। त्वदुपस्थानेन तवोपस्थित्या सुलभः स्वयमुपनतो यः सम्भावनातिप्रसङ्गः त्वद्विषयकादरातिशयस्तस्य सङ्गीते कीर्त्तने नर्त्तकी नटी (भवदागमने भवदादरबुद्ध्या स्तुतिपरायणा) मम चित्तवृत्तिः मनोदशा नियोगानुग्रहाय आज्ञाप्रदानरूपाय भवतोऽनुग्रहाय स्पृहयति स्पृहां करोति।

एताभिस्तवेति। यद्यपि वयम् तव एताभिः पूर्वनिर्दिष्टाभिः कौतुकोक्तिभिः परिहासवचनैः अमरशिल्पिना विश्वकर्मणा त्वष्टस्य यन्त्रोल्लिखितस्य त्रैविद्यमूर्तेः वेदत्रयीमयशरीरस्य दिनकृतः सूर्यस्य अवच्छेदाः खण्डा एव वेदाक्षराणि तैरिव पूताः स्मः पवित्रीकृताः स्मः, तदपि तथापि आज्ञाम् भवदीयमादेशं वोढुं सम्पादयितुम् विष्टिः कर्मकरः स्याम्, इयम् अनर्घता असाधारणता रघुकुले रघुवंशे कल्पान्तं

(हाथ जोड़कर) भगवन्, कृपा कीजिये। उत्तरोत्तर महोत्सवसे पुरुषोंके हृदयोंकी तृप्ति नहीं होती है, देखिये आपके आगमनसे गौरवशालिनी हमारी यह चित्तवृत्ति आपके आगमनप्रयोजनको पूछनेकी स्पृहा कर रही है।

और—आपने जो यह वचन परिहासमें कहे हैं—यह वेदत्रयमूर्त्तिधारी सूर्यके विश्वकर्माद्वारा खण्डित होने पर उनके अंशभूत वेदाक्षरोंके समान है, यद्यपि हम आपके शुभागमनसे ही पवित्र हो गये हैं तथापि आपकी आज्ञाके पालनका अवसर मुझे मिले और यह गौरव रघुवंशके लिये प्रलयकाल तक वर्त्तमान रहे ॥ ३४ ॥

---

१. प्रसीदतामुत्तरोत्तरेषाम्' इति। २. 'नियोगानुयोगाय' इति।
३. 'तथाप्याज्ञामपि स्यामहम्' इति।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) ऐन्दुमतेय, किमन्यन्नियोज्यम् ।

निर्मुक्तशेषधवलैरचलेन्द्रमन्थ-
संक्षुब्धदुग्धमयसागरगर्भगौरैः ।
राजन्निदं बहुलपक्षदलन्मृगाङ्क-
च्छेदोज्ज्वलैस्तव यशोभिरशोभि विश्वम् ॥ ३५ ॥

पुनरिदानीमपि—

यशःस्तोमानुच्चैरुपचिनु चकोरप्रणयिनी-

समुन्मीलतु प्रसरतु । अयमाशयः—परिहासरूपतयोदीरिताभिरपि वेदत्रयमूर्त्ते-र्विश्वकर्मणा परितक्ष्य कृशीकृतस्य सूर्यस्य खण्डभूतैर्वेदाक्षरैरिव पूताभिस्तव वाग्भि-र्वयं पूतीकृतास्तथापि तावकमादेशं पालयितुमवसरं लभेय, इयमसाधारणता मम कुले जायतामेतदर्थं तवादेशं श्रोतुं कामये इति । पुरा सौरं तेजोऽसहमानया संज्ञानामिकया सूर्यपत्न्याऽभिहितः पिता विश्वकर्मा सूर्यं यन्त्रमारोप्योल्लिख्य चैष-द्धीनतेजसमकरोदिति पुराणवार्त्ताऽत्रानुसन्धेया । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

ऐन्दुमतेय–इन्दुमतीतनय । नियोज्यम्–आदेष्टव्यम् ।

निर्मुक्तेति । निर्मुक्तः निर्मोकरहितः यः शेषः शेषनागस्तद्वद्धवलैः श्वेतवर्णैः, अचलेन्द्रः मन्दरगिरिः तेन यः मन्थः विलोडनम् तेन संक्षुब्धः चालितो यो दुग्ध-मयसागरः क्षीरसमुद्रस्तस्य गर्भो मध्यभाग इव गौरैः धवलवर्णैः, बहुलपक्षे कृष्णपक्षे दलन् उन्मीलन् यः मृगाङ्कच्छेदश्चन्द्रखण्डम् तद्वदुज्ज्वलैस्तव यशोभिः कीर्त्तिभिः, हे राजन् इदं विश्वम् अशोभि शोभाशालि कृतम् । अत्र यशस उपमान-त्रयमुक्तम्, निर्मोकरहितः शेष एकम्, मन्दरमथनचालितक्षीरसागरमध्यभागो द्वितीयम्, कृष्णपक्षप्रकाशमानम् चन्द्रखण्डं तृतीयम्, तदेवमियं मालोपमा नामा-लङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

यशःस्तोमानिति । चकोरप्रणयिनीनां चकोरीणां या रसज्ञा जिह्वा तस्याः पाण्डित्यं चन्द्रिकापानचातुर्यं तस्य छिदुरं भेदकं यत् शशिधाम चन्द्रतेजः तस्य

विश्वामित्र—(हंसकर) हे इन्दुमतीनन्दन, और क्या कहना है ?

हे राजन्, केंचुल छूटे हुए शेष नागकी तरह धवल, तथा मन्दराचलद्वारा मथे गये क्षीरसागरके अभ्यन्तर भागकी तरह स्वच्छ तथा कृष्णपक्षके चन्द्रखण्डोंकी तरह स्वच्छ आपके यशसे सारा विश्व शोभित हो रहा है ॥ ३५ ॥

अब भी आप—

चकोरीगणकी रसज्ञाको भ्रममें डालनेवाले स्वच्छ चन्द्रकरोपम यशको आप

रसज्ञापाण्डित्यच्छिदुरशशिधामभ्र[1]मभरान्।
अपि त्वत्तेजोभिस्तमसि शमिते रक्षतु दिशा-
मसौ यात्रामैत्रीं नभसि नितरामम्बरमणिः ॥ ३६ ॥

किं तु [2]कतिपयरात्रमायुधसध्रीचा रामभद्रेण संनिहितवैतानव्रताना-मस्माकमाश्रमपदं सनाथीकरिष्यते। अपि च—

मध्येकृत्य घनं धिनोति जलधिः स्वैरम्बुभिर्मेदिनीं
हन्ति स्वैः किरणैस्तमिस्रमरुणं कृत्वान्तराले रविः।

भ्रमभरः सन्देहप्राचुर्यं यत्र तादृशान्—चकोर्यो हि चन्द्रकरान् रसयन्ति, तासां रसज्ञायाः पाण्डित्यं चन्द्रकरान् पीत्वा तृप्यति, यशसि तादृशानां चन्द्रकराणां भ्रमो जायत इति तादृशान् यशःस्तोमान् उच्चैरुपचिनु वृद्धिं नय। तथा तव तेजोभिः प्रतापैः किरणैश्च तमसि अन्धकारे दुःखे च शमिते सति शान्तिं गमितेऽपि सति असौ अम्बरमणिः सूर्यः नभसि आकाशे दिशां यात्रामैत्रीं गमनेन मित्रतां नितरां रक्षतु। तवैव तेजसा सूर्यसाध्ये तमोनाशे साध्यमाने तदुदयस्य निरर्थकतया सूर्यस्य दिक्षु भ्रमणमिदानीं केवलं पूर्वतनमैत्रीरक्षणार्थमिति तात्पर्यम्। शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

कतिपयरात्रम्—कतिपयरात्रिपर्यन्तम्, आयुधसध्रीचा—धृतास्त्रेण, रामभद्रेण—रामचन्द्रेण, सन्निहितवैतानव्रतानाम्—सन्निहितयज्ञानुष्ठानानाम्। आश्रमपदम्—आश्रमः, सनाथीकरिष्यते—पालयिष्यते। कतिपयदिवसपर्यन्तं रामो धृतास्त्रः सन् यज्ञपराणामस्माकमाश्रमं परिपालयत्वित्यर्थः।

मध्येकृत्येति। जलधिः सागरः घनं मेघं मध्येकृत्य द्वारीकृत्य स्वैः अम्बुभिः पानीयैः मेदिनीं पृथ्वीं धिनोति तर्पयति, रविः सूर्यः अरुणं नाम स्वं सूतमन्तराले मध्ये कृत्वा स्वैः किरणैः स्वप्रभाभिः तमिस्रं तमः हन्ति क्षपयति। त्वं च दशरथः

विस्तारित करें, आपके तेजसे अन्धकारके नष्ट हो जाने पर सूर्य भगवान् आकाशमें यात्राको अनायास सम्पन्न करें ॥ ३६ ॥

किन्तु—कुछ दिनोंके लिये आयुधके साथ राम हमारे आश्रमोंको सनाथ करेंगे, क्योंकि हमारे यज्ञका समय समीप आ गया है। और—

समुद्र मेघको बीचमें करके अपने जलसे पृथ्वीको आप्लावित करता है, सूर्य अरुणको मध्यवर्त्ती बनाकर अपनी किरणोंसे अन्धकारका उन्मूलन करता है, आप रामको मध्यवर्त्ती

---

१. 'भ्रमकरान्' इति। २. 'कतिपयमहोरात्रम्' इति।

त्वं रामान्तरितश्च पालय निजैरेव [1]प्रतापैः प्रजा-
मीदृक्कोऽपि परोपकारसुहृदामेष स्वभावो हि वः ॥ ३७ ॥

किं च—

दृष्टः साक्षादसुरविजयी नाकिनां चक्रवर्ती
मात्स्यो न्यायः कथयति यथा वारुणी दण्डनीतिः ।
पातालेन्द्रादहिभयमथास्त्येव नित्यानुषक्तं
तन्नः पुण्यैरजनि भवता वीर राजन्वती भूः ॥ ३८ ॥

रामान्तरितः रामं मध्ये कुर्वन् निजैः एव प्रतापैः प्रजाम् पालय, परोपकारसुहृदाम् परोपकारकर्मणि दत्तचित्तानाम् वः युष्माकम् कोऽपि विशिष्य निर्वक्तुमनर्हः ईदृक् स्वभावः प्रकृतिः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३७ ॥

दृष्ट इति । नाकिनां देवानां चक्रवर्त्ती सम्राट् इन्द्रः असुरविजयी असुराणां विजेता साक्षाद् दृष्टः प्रत्यक्षमालोकितः, इन्द्रो ह्यसुराणामेव जेता नाधर्मस्येति प्रत्यक्षमेवेक्षितम् असुरविजयीत्यनेन तस्य भ्रातृभ्रातृपुत्रादिवधप्रवृत्त्युक्त्या दुष्कृति-नस्तस्य राज्ये वासो नोपयुक्त इति व्यञ्जितम् । असुरविजयीत्यस्य असुरकर्तृक-जयविषय इत्यर्थस्यापि सम्भवेन तस्यासुरैर्जितत्वमित्यप्यर्थो ध्वनितः । वारुणी वरुणप्रवर्त्तिता दण्डनीतिः शासनपद्धतिर्यथा यादृशी, तत् मात्स्यो मत्स्येषु प्रसृतः न्यायः कथयति निवेदयति, जलाधिपस्य वरुणस्य राज्ये प्रजारूपा मत्स्याः स-जातीयदुर्बलभक्षका इति तत्रत्यो मात्स्यो न्याय एव वरुणस्य दण्डनीतौ साधू-नामल्पसामर्थ्यानां महाधनैर्बलवद्भिर्निग्रहं प्रकाशयन् तदीयराज्यस्य वासक्षमतां निषेधति । अथ किञ्च पातालेन्द्रात् वासुकेः अहिभयं सर्पाणां भयं नित्यानुषक्तं

बनाकर अपने प्रतापसे प्रजाका पालन करें, परोपकार–रसिकोंका कुछ ऐसाही स्वभाव हुआ करता है ॥ ३७ ॥

इन्द्र सदा असुरोंसे उलझे रहते हैं, उनके राज्यमें रहना स्वस्थतासे पूर्ण नहीं है, वरुणकी नीति कैसी है ? इस बातको मात्स्य–न्याय ही बता देता है–अर्थात् बड़े मत्स्य छोटे मत्स्योंको निगल जाते हैं इसीसे वरुणका शासन दुष्ट सिद्ध होता है, वासुकिनागके राज्यमें रहनेवाले सर्पोंको सदा भय बना रहता है अतः उनका भी राज्य अच्छा नहीं समझा जा सकता है, अतः हमारे सौभाग्यसे ही यह पृथ्वी आप सदृश राजाको पा सकी है ॥ ३८ ॥

---

१. 'प्रभावैः' इति ।

दशरथः—(सविषादमात्मगतम् ।) कथमिदमस्माकं सकललोकशोकशङ्कूद्धरणशीलशीतलेभ्यः कौशि[1]कप्रसादेभ्यो रामभद्रप्रवासवैमनस्य[2]मुत्पत्स्यते । दृष्टं वा निःशेषानन्दनिःस्यन्दिनीनामपीन्दुकरकन्दलीनां [3]कमलवनीमीलनं कल[4]ङ्कस्थानम् । (विहस्य ।) का गतिः ।

कूर्मराजभुजगाधिपगोत्रग्रावदिक्करिभिरेकधुरीणः ।

सततसम्बद्धसस्त्येव, पाताले राजा वासुकिस्तत्प्रजाश्च सर्पाः तैः सह वासो मृत्युरेव, सर्पवद्देशे वासस्य 'ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः' इति निन्दितत्वात् तदित्थं स्वर्गजलपातालानां वासानर्हतोक्ता । तत् तस्मात् हे वीर नः अस्माकं पुण्यैः सुकृतैः भूः इयं पृथिवी भवता राजन्वती शोभनराजयुक्ता अजनि जाता । तव राज्ये प्रजानां नास्ति क्लेश इति भाग्यमस्माकमिति भावः ॥ ३८ ॥

सकललोकशोकशङ्कूद्धरणशीलशीतलेभ्यः । सर्वजनदुःखकण्टकोद्धरणशीलेभ्यः कोमलप्रकृतिभ्यः । कौशिकप्रसादेभ्यो विश्वामित्रानुग्रहेभ्यः । रामभद्रप्रवासवैमनस्यम्—रामभद्रस्य प्रवासरूपं दुःखम् । उत्पत्स्यते—भविष्यति । यो विश्वामित्रः सकललोकदुःखशल्योद्धर्त्ता स एव कुतो मम पुत्रं प्रवास्य मह्यं क्लेशं प्रदास्यतीति भावः । निःशेषानन्दस्य—सर्वानन्दस्य । निष्यन्दिनीनाम्—वर्षिणीनाम् । इन्दुकरकन्दलीनाम्—चन्द्रकिरणनिचयानाम् । कमलवनीमीलनम् कमलाकरसङ्कोचनम् । कलङ्कस्थानम् अपकीर्त्तिनिदानम् । सकललोककल्याणकरस्य मुनेर्विश्वामित्रस्य मत्पुत्रप्रवासजननद्वारा मद्दुःखप्रदत्वं सकलानन्ददायिनश्चन्द्रस्य कमलकुलसङ्कोचकत्वमिव कलङ्कपदमिति तात्पर्यम् ।

कूर्मराजेति । कूर्मराजः कमठः (शेषस्य धर्त्ता,) भुजगाधिपः शेषनागः, गोत्रग्रावाणः कुलाचलाः, दिक्करिणो दिग्गजाश्च तैः एकधुरीणः समानधुरन्धरः रघुवंशो मां दशरथं प्रसूय जनयित्वा कथं केन प्रकारेण परार्थविमुखः परकीयार्थ-

---

दशरथ—(विषादके साथ स्वगत) समस्त लोकके दुःखको दूर करने वाले विश्वामित्रके अनुग्रहसे ही हमको राम-प्रवासरूप कष्ट क्यों होने जारहा है ? अथवा समस्त प्रजाजनको आनन्द देने वाले चन्द्रमाका कमलवन-संकोचन देखा ही हुआ है । (हंसकर) क्या उपाय है ? कूर्मराज, भुजगराज, गोत्राचल तथा दिग्गजोंके साथ समान

---

१. 'कौशिकपादेभ्यः' इति पाठान्तरम् । २. 'अप्युत्पत्स्यते' इति पाठान्तरम् ।
३. 'कमलिनीमीलनम्'; 'कमलवनीविनिमीलनम्' इति च ।
४. 'अङ्कस्थानम्' इति ।

मां प्रसूय कथमस्तु विगीतो हा परार्थविमुखो रघुवंशः ॥३९॥

विश्वामित्रः—(सस्मितम् ।) राजर्षे, ममकारो हि राजपुत्रेषु राज्ञामुपलालनक्लेशाय केवलम् । उपयोगस्तु प्रजानाम् । यथैतत् ।

कष्टा वेधव्यथा कष्टो नित्यमुद्वहनक्लमः ।
श्रवणानामलंकारः कपोलस्य तु कुण्डलम् ॥ ४० ॥

दशरथः—भगवन्, परमनुगृहीता वयमेवं तत्रभवता सम्भाव्य-

साधनपराङ्मुखः सन् विगीतः निन्दितः अस्तु । कूर्मराजः शेषं धत्ते स कुलाचलान्, ते दिग्गजान्, ते च भुवं धारयन्ति, तदित्थमेते यथा परार्थसाधनलग्नाः तथैव सदा परार्थसाधनधुरीणतां प्राप्तो रघुवंशः सम्प्रति मां प्रसूय मया परार्थे पराङ्मुखीभूयोपेक्ष्यमाणे कथं निन्दितत्वं व्रजतु नैतन्मया कथमपि कर्त्तुमुचितमिति भावः ॥ ३९ ॥

ममकारः—ममत्वबुद्धिः । उपलालनम् पालनपोषणादि । उपयोगः उपकारः । राजानः स्वं पुत्रं ममत्वेन केवलं पालयन्ति, नहि तेन स्वार्थमपेक्षन्ते, राजपुत्रस्योपयोगं तु स्वपालनद्वारा प्रजा एव लभन्त इति भावः ॥

कष्टेति । श्रवणानाम् श्रोत्राणाम् वेधव्यथा वेधजनिता पीडा कष्टा क्लेशदा, तथा नित्यं सततम् उद्वहने कुण्डलधारणे श्रोत्राणां क्लमः श्रमः, तु किन्तु कुण्डलम् कपोलस्य गण्डदेशस्य अलङ्कारः भूषणम् । यथा श्रोत्राणि वेधव्यथामनुभवन्ति कुण्डलानां वहने श्राम्यन्ति च परं तैः कपोलप्रदेशा भूषिता भवन्ति, तद्वद्राजानः स्वपुत्राणां लालनपालनादौ क्लिश्यन्ते, परन्तैरुपक्रियन्ते प्रजा एव न जनकास्तेषामिति भावः ॥ ४० ॥

परम् अनुगृहीताः—अत्यर्थमनुकम्पिताः तत्रभवता—पूज्येन त्वया । एवं

रूपसे पृथ्वीके भारको वहन करने वाले रघुवंशको मेरे द्वारा परार्थविमुखताजन्य अयश कैसे प्राप्त होगा ? ॥ ३९ ॥

विश्वामित्र—(हंसकर) राजर्षे, राजपुत्रोंपर राजोंका ममत्व केवल लालन-पालनके समय क्लेशके लिये होता है, उनसे लाभतो प्रजाओंको ही होता है । जैसे—

कानोंको विंधना पड़ता है, नित्य ढोनेका कष्ट उठाना पड़ता है, परन्तु इतना होने पर भी कुंण्डल कानोंसे अधिक कपोलोंकी शोभा–वृद्धि करते हैं ॥ ४० ॥

दशरथ—भगवन्, आपके इस आदरसे हम अनुगृहीत हो गये हैं, किन्तु इस

मानाः । किं पुनरकृतास्त्रः क्षीर[1]कण्ठो वत्सोऽयमिति [2]मुग्धोऽस्मि ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) सखे, तत्रभवन्तं मैत्रावरुणिमृषिं पुरोधाय चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य धनुर्वेदसंस्कारास्तावदस्य कृशाश्वप्रसादाद-स्मास्वायतन्ते ।

दशरथः—(सविनयोपरोधम् ।) भगवन्, उच्छ्वसितमपि रघुराज-बीजिनां त्वदायत्तमेव, किमु[3]त कार्मुकविद्यासम्प्रदायः । शङ्के सहस्रकि-रणकुलैकपक्षपातेनैव सहस्रं [4]वत्सरान्भगवन्तं कृशाश्वमुपासीनो दिव्या-स्त्रमन्त्रोपनिषदमध्यगीष्ठाः ।

सम्भाव्यमानाः–इत्थमाद्रियमाणाः । अकृतास्त्रः—अगृहीतधनुर्वेदशिक्षः । क्षीरकण्ठः–दुग्धमुखः । मुग्धः—किङ्कर्त्तव्यताज्ञानशून्यः ।

मैत्रावरुणिम्—वसिष्ठम् । पुरोधाय—पुरोहितं कृत्वा । चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य–धृतब्रह्मचर्यस्य । धनुर्वेदसंस्काराः—अस्त्रविद्याशिक्षाः । कृशाश्वप्रसादाद्—भगवतो मम गुरोः कृशाश्वस्यानुग्रहात् । आयतन्ते—आयत्ताः । ब्रह्मचर्यमनेन साधु निरूढं सम्प्रति कृशाश्वान्मया लब्धा धनुर्वेदविद्या मयैव रामः शिक्षणीय इति तदर्थचिन्तयाऽलं भवताऽऽस्मानमायास्येति भावः ।

रघुराजबीजिनाम्—रघुराजः बीजी आदिपुरुषो येषां तेषाम् रघुवंश्यानाम् । उच्छ्वसितम्—जीवनम् । त्वदायत्तम्—त्वदधीनम् । कार्म्मुकविद्यासम्प्रदायः–धनुर्वेदोपदेशः । शङ्के—संभावयामि । सहस्रकिरणकुलैकपक्षपातेन—सूर्यवंशानुग्रह-बुद्ध्या । उपासीनः—सेवमानः । दिव्यास्त्रमन्त्रोपनिषदम्—दिव्यास्त्रमन्त्ररहस्यम् । अध्यगीष्ठाः–अधीतवान् ।

दुधमुहे रामने अभी अस्त्रविद्या नहीं सीखी है अतः मूढ़ हो रहा हूँ ।

विश्वामित्र—(हंसकर) वसिष्ठके तत्त्वावधानमें रामने ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कर लिया है, अब इसके धनुर्वेद-संस्कारका भार कृशाश्वके प्रसादसे हमारे ऊपर रहता है ।

दशरथ—(विनय और अनुरोधके साथ) भगवन्, रघुवंशियोंका उच्छ्वास भी आप पर ही निर्भर है, फिर धनुर्वेदकी क्या बात ? मैं समझता हूँ सूर्यवंश पर पक्षपात होनेके ही कारण आपने सहस्र संवत्सर पर्यन्त कृशाश्व मुनिसे अस्त्रविद्या सीखी थी ।

---

१. 'क्षीरकण्ठश्च' इति । २. 'प्रमुग्धोऽस्मि' इति ।
३. 'किं पुनः' इति । ४. 'परिवत्सरान्' इति ।

विश्वामित्रः—अलं च ते रामभद्रेऽपि बालोऽयमित्यलीकसम्भावनया। दिव[1]स्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्करिणीं तरणिरणुतरोऽपि तेजसा तिरस्करोति।

दशरथः—(सस्मितम्।) भगवन्कुशिकवंशकेतो, कस्य तलिनी तादृशी जिह्वा यस्त्वामपि ब्रुवाणम[2]धरोत्तरेणाभिसन्धत्ते। (अपवार्य।) वामदेव, स्वमत्रभवान् कौशिको ब्रवीति।

वामदेवः—राजर्षे, किमत्र प्रष्टव्या वयम्।

कौशिकोऽर्थी भवान्दाता रक्षणीयो महाक्रतुः।
रक्षिता रामभद्रश्चेदनुमन्यामहे वयम्॥ ४१॥

अलीकसम्भावनया—मिथ्याकल्पनया। दिवस्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्करिणीम्—द्यावाभूम्योरावरणकारिणीम् (अन्धकारसन्ततिम्)। अणुतरः—स्वल्पाकारः। तरणिः—सूर्यः। तिरस्करोति—विनाशयति।

कुशिकवंशकेतो—कुशिकवंशप्रदीप। तलिनी—स्वच्छा (तलिनं विरले स्तोके स्वच्छेऽपि वाच्यवत्) अधरोत्तरेण—उत्तरोत्तरमुक्तिप्रत्युक्तिकया।

कौशिक इति। कौशिको विश्वामित्रोऽर्थी याचकः, महाक्रतुः यागः रक्षणीयः पालनीयः, भवान् दाता, रामभद्रश्च रक्षिता मद्यागपालकः ;चेत् वयम् तव शुभैकध्यानपराः अनुमन्यामहे, रामस्य विश्वामित्रकर्तृकयागरक्षार्थं गमनमनुमोदामहे इत्यर्थः॥ ४१॥

विश्वामित्र—आपका यह समझना कि राम बालक हैं सर्वथा व्यर्थ है। पृथ्वी तथा आकाशमें भरेहुए अन्धकारको छोटासा सूर्य ही अपने करोंसे दूर कर देता है।

दशरथ—(हंसकर) हे कुशिक वंशके केतुरूप महाराज विश्वामित्र, किसकी जिह्वामें इतनी शक्ति है जो आपको उत्तर देसके? (छिपाकर) वामदेव, कौशिकतो ऐसा कहते हैं।

वामदेव—राजर्षे, इसमें मुझसे क्या पूछना है?

कौशिक याचक हैं, आप दाता हैं, यज्ञकी रक्षा करनी है, राम रक्षक हैं, इस हालतमें मैं अपनी सम्मति देता हूँ॥ ४१॥

---

१. 'द्यावापृथिव्योः'; 'दिवस्पृथिव्योरन्तराले' इति च। २. 'अधरोत्तरैः' इति।

अपि च—

जगतीभारखिन्नानां विश्रामो भवतामयम् ।
यद्यथाकामसंपत्तिप्रीतार्थिमुखदर्शनम् ॥ ४२ ॥

किं च विशेषेण ।

पूरयितुमर्थिकामान्मैत्रावरुणेन गोत्रगुरुणा ते ।
संदिशता संदिष्टः समाधिदृष्टोऽयमेवार्थः ॥ ४३ ॥

दशरथः—वामदेव, एवमेतत् ।

[1]ध्यानमयदृष्टिपातप्रमुषितकालाध्वविप्रकर्षेषु ।

जगतीति । जगत्याः पालनीयायाः पृथिव्याः भारेण पालनवहनादिश्रमेण खिन्नानाम् क्लिश्यमानानाम् भवतां महाराजानाम् अयम् विश्रामः कियतांशेन निर्वृतिः यत् यथाकामसम्पत्त्या यथेष्टवस्तुलाभेन प्रीतानां सन्तुष्टानामर्थिनां याचकानां मुखस्य दर्शनमवलोकनम् पृथ्वीपालनक्लिष्टा भवादृशा महाराजा यथेष्टलाभसन्तुष्टयाचकमुखावलोकनेन—विश्रामसुखमनुभवन्ति, तद् विश्वामित्रं याचमानं प्रसाद्य भवानपि तत्सुखं आप्तुं प्रयततामिति भावः ॥ ४२ ॥

पूरयितुमिति ते तव दशरथस्य गोत्रगुरुणा कुलगुरुणा वसिष्ठेन अर्थिकामान् पूरयितुं याचकमनोरथान् संपादयितुं सन्दिशता मन्मुखेन वाचिकं प्रेषयता समाधिदृष्टः प्रणिधानसाक्षात्कृतः अयमेवार्थः सन्दिष्टः कथितः । समाधिद्वारा विश्वामित्रेण करिष्यमाणां रामभद्रस्य याच्ञामेव मनसिकृत्य भवतः कुलगुरुर्वसिष्ठो भवन्तं याचकानां मनोरथान् पूरयितुं सन्दिष्टवांस्तदित्थमत्र विश्वामित्रानुरोधे पाल्यमाने फलतो गुरोरपि सन्देशः पालितो भवतीत्यवश्यपालनीयोऽयमनुरोध इत्याशयः ॥ ४३ ॥

ध्यानमयेति । नैष्ठिकानाम् निष्ठाशालिनां सिद्धिमताम् सर्वपथीना सर्वमार्ग-

और—

ससारके भारसे थके हुए आप लोगोंके लिये यही विश्राम है कि यथाकाम याचना करने वाले याचकोंकी इच्छा पूरी करके उनके प्रसन्नमुखका दर्शन करें ॥ ४२ ॥

याचकोंके मनोरथको पूर्ण करनेका सन्देश देकर आपके गुरु वसिष्ठने भी समाधिदृष्ट इसी अर्थकी ओर इशारा किया था ॥ ४३ ॥

दशरथ—वामदेव, ठीक यही बात है,

ध्यानमय दृष्टिमें देश तथा कालका व्यवधान नहीं रहता है, अतः सिद्ध पुरुषोंकी

१. 'ज्ञानमय' इति ।

विषयेषु नैष्ठिकानां सर्वपथीना मतिः क्रमते ॥ ४४ ॥

(विमृश्य ।)

क्रियाणां रक्षायै दशरथमुपस्थाय विमुखे
मुनौ विश्वामित्रे भगवति गते संप्रति गृहान् ।
तपोलेशक्लेशादुपशमितविघ्नप्रतिभये
प्रवृत्ते यष्टुं वा रघुकुलकथैवास्तमयते ॥ ४५ ॥

(मुनिं प्रति ।) जगद्गुरो गाधिनन्दन,
त्वं चेद्दीक्षिष्यमाणो मे रामभद्रं प्रतीक्षसे ।

सञ्चारिणी मतिः बुद्धिः ध्यानमयेन दृष्टिपातेन ज्ञानयोगेन प्रमुषितः अपसारितः कालस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानरूपस्य समयस्य अध्वनो देशस्य च विप्रकर्षो दूरत्वं येषु तथोक्तेषु विषयेषु क्रमते प्रवर्त्तते । सिद्धिमन्तो मुनयो ज्ञानदृष्टया अतीतानागतादिकं दूरस्थं च विषयजातं बुद्धौ प्रत्यक्षीकुर्वन्ति, तत्सम्भवति कुलगुरुर्मम विश्वामित्राभिप्रायं मनसि निधायैव तथा सन्दिष्टवान् स्यादिति भावः ॥ ४४ ॥

'क्रियाणामिति । क्रियाणां यागानुष्ठानानाम् रक्षायै रक्षाविधये दशरथम् उपस्थाय दशरथं प्रार्थ्य तदीयं पुत्रं रक्षकं याचित्वा विमुखे प्रार्थितार्थमलब्ध्वा सम्प्रति मुनौ विश्वामित्रे गृहान् स्वाश्रमान् गतवति सति तपोलेशस्य स्वतपस्यैकदेशस्य क्लेशात् व्ययात् उपशमितम् शान्तीकृतं विघ्नप्रतिभयं प्रतिबन्धभयं येन तस्मिन् स्वतपःप्रभावेण विघ्नं शमयित्वा यष्टुं यागं कर्त्तुं वा प्रवृत्ते सति रघुकुलकथा रघुवंश्यानाम् दानजनिता कीर्त्तिकथा एव अस्तमयते समाप्नोति । यज्ञरक्षार्थं विश्वामित्रो दशरथमुपेतः, स हि प्रार्थितार्थमलब्ध्वा यदि परावर्त्तते, गत्वा च स्वतपोलेशस्य व्ययेन यज्ञप्रतिबन्धकं शमयित्वा यागं कर्त्तुमुपक्रमते तदा रघुकुलस्य दानशूरता समाप्तिं गच्छति, तदलं मुनिं विमुखीकृत्येति भावः । शिखरिणीवृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्र दर्शितम् ॥ ४५ ॥

त्वं चेदिति । दीक्षिष्यमाणः यागदीक्षां ग्रहीतुकामः त्वं विश्वामित्रः चेत् यदि

दृष्टियाँ अतीत, अनागत विषयोंके भी साक्षात्कारमें समर्थ रहती हैं ॥ ४४ ॥

(विचारकर) यज्ञकी रक्षाके लिये दशरथसे याचना करके विमुख होकर यदि विश्वामित्र अपने आश्रमको लौट जाते हैं और तपस्याके थोड़े अंशको खर्च करके यज्ञ करना आरम्भ कर देते हैं, तबतो रघुकुलकी कीर्त्ति-कथा ही समाप्त हो जाती है ॥ ४५ ॥

(मुनिसे) जगद्गुरो विश्वामित्र, आप यज्ञ करेंगे इसलिये रामको याचना करते हैं

तन्नः पतिव्रतावृत्तमियं चरतु मेदिनी ॥ ४६ ॥

(नेपथ्याभिमुखः ।) कः कोऽत्र भोः ।

(प्रविश्य ।)

दौवारिकः—किमाज्ञापयति देवः ।

दशरथः—आहूयतां रामभद्रः ।

वामदेवः—लक्ष्मणश्च ।

दशरथः—(सस्मितम् ।) ऋषे, पृथक्प्रयत्नापेक्षी नायमर्थः । न खलु प्रकाशमन्तरेण तुहिनभानुरुज्जिहीते ।

(दौवारिको निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशतो रामलक्ष्मणौ ।)

रामं प्रतीक्षसे स्वयागरक्षकतया रामं नेतुमिच्छसि, तदा नः अस्माकमियं मेदिनी धरा पतिव्रतावृत्तम् मालिन्यादिप्रोषितभर्तृकवधूचिह्नम् चरतु करोतु । राम एवास्या धरायाः पतिः, तस्मिन् त्वया नीयमाने धरेयं प्रोषितभर्तृकतया मालिन्यं वहतामिति । अतश्च रामस्याचिरप्रत्यावर्त्तनीयता द्योतिता ॥ ४६ ॥

पृथक्प्रयत्नापेक्षी—अतिरिक्तप्रयासकरः । अयमर्थः—लक्ष्मणाह्वानम् । रामे आहूयमाने लक्ष्मणः स्वयमागमिष्यति, तदाह्वानं नापेक्ष्यत इत्यर्थः । प्रकाशमन्तरेण प्रभां विना । तुहिनभानुःचन्द्रः । उज्जिहीते-उदयते । यथा प्रभामतिरिच्य चन्द्रो न तिष्ठति तथैव लक्ष्मणं विना रामोऽतो रामाह्वानेनैव लक्ष्मणोऽप्याहूतो भवतीति भावः ॥

तो यह हमारी पृथ्वी कुछ दिनों तक प्रोषितपतिका पतिव्रताकी स्थितिको प्राप्त करे, (नेपथ्यकी ओर) कोई है ? ॥४६॥

[प्रवेश करके]

दौवारिक—महाराजकी क्या आज्ञा है ?

दशरथ—रामभद्रको बुला लाओ ।

वामदेव—लक्ष्मणको भी बुलाते आना ।

दशरथ—(हंसकर) मुनिवर, इसके लिये अलग यत्नकी आवश्यकता नहीं है । प्रकाशको छोड़कर चन्द्रमा उदित नहीं होता है ।

[दौवारिक जाता है]

[राम तथा लक्ष्मण का प्रवेश]

रामः—(सहर्षम् ।)

सुराधीशक्रोधाज्जगदपरथा कर्तुमपरे
पुराणब्रह्माणो भुवनपितरः सप्त च कृताः ।
धृतास्तुष्टेनामी बहिरपि च वैश्वानरपथा-
त्कथा पौराणी यच्चरितमितिह स्म प्रथयति ॥ ४७ ॥

कथं सोऽपि भगवान्विश्वामित्रः [1]स्वयमस्माभिरुपचरिष्यते ।

सुराधीशेति । सुराणाम् अधीश इन्द्रस्तस्मिन् क्रोधः त्रिशङ्कोरिन्द्रेण स्वर्गाद् भ्रंशनजन्मा कोपः तस्मात् हेतोः जगत् अपरथा भिन्नप्रकारकं कर्तुम् अपरे अग्निष्वात्ताद्यपेक्षया भिन्नाः सप्त भुवनपितरः मरीच्यत्रिप्रभृतयः सप्तर्षयः कृताः । ततो नानादेवप्रणिपातात्तुष्टेन प्रसीदता अमी स्वरचिताः भुवनपितरो ब्रह्माणः वैश्वानरपथात् बहिः पृथग् धृताः आकाशस्थस्थानविशेषे स्थापिताः । यद्वा वैश्वानरपथाद्धविर्दानात् बहिरेव धृताः दानाहुतिभागिनो न कृताः, इति एतादृशी पौराणी पुरातनी कथा यच्चरितं यस्य विश्वामित्रस्य चरित्रं प्रकाशयति स्म। यदा शक्रस्त्रिशङ्कोः स्वर्गप्रवेशं नानुमन्यतेस्म तदा स्वापमानकुपितो विश्वामित्रोऽपरसृष्टिनिर्मित्सया सप्तापरान् ब्रह्मणः कृतवान्, अथ देवैः पादपतनादिना प्रसादितोऽसौ स्वकृतांस्तान् ब्रह्मणोऽन्तरिक्षे सप्तर्षिभावेनास्थापयदिति पौराणी वार्त्ता यस्य विश्वामित्रस्य चरितं प्रथयति स कथमस्माभिः सेव्य इति वक्ष्यमाणेनान्वये वाक्यार्थविश्रान्तिः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

उपचरिष्यते सेविष्यते । सौभाग्येन तादृशपुण्यप्रकर्षशालिनो मुनेः सेवाया अवसरो लभ्यत इति स च लब्धोऽस्माभिरित्यहो भाग्यमस्माकमिति ध्वनिः ।

राम—(सहर्ष) इन्द्रपर कुपित होकर जिस विश्वामित्र ने सात पुराण ब्रह्मा तथा भुवनपितरोंकी सृष्टि कर डाली थी, और देवोंकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर जिस विश्वामित्रने उन स्वरचित ब्रह्मा आदिको वैश्वानरपथसे बाहर रख दिया, इस प्रकारसे जिनकी कीर्त्ति-कथा प्रथित है ॥ ४७ ॥

वही भगवान् विश्वामित्र हमें अपनी सेवाका अवसर प्रदान करेंगे ?

---

१. 'स्वयमुपचरिष्यतेऽस्माभिः' इति ।

(इति परिक्रामन्पुरोऽ[1]वलोक्य हर्षातिशयं रूपयन् ।) नूनं विनयनम्रयोस्तातवामदेवयो[2]स्तृतीयः प्रशान्तपावनीयाकृतिः स भगवान्विश्वामित्रो भविष्यति ।

लक्ष्मणः—(साश्चर्यस्मितम् ।) आर्य,

अयमयमीदृशप्रशमविश्वसनीयतनु-
भुवनभयंकरीः कथमधत्त रुषोऽपि मुनिः ।
स्थितमिदमेव वा मृदुमनोज्ञतुषारतमा-
स्तमसि सति ज्वलन्ति सहसैव महौषधयः ॥ ४८ ॥

नूनम् निश्चयेन । विनयनम्रयोः प्रणतयोः प्रह्वयोश्च । प्रशान्ता सौम्या पावनीया पवित्रताजननी चाकृतिर्यस्य तथोक्तः ।

अयमयमिति । अयमयमिति संभ्रमे द्विरुक्तिः, अयम् ईदृशेन दर्शनमात्रप्रत्ययेन प्रशमेन प्रकृष्टया शान्त्या विश्वसनीया अशङ्कनीया तनुः शरीरं यस्यासौ अपि मुनिर्विश्वामित्रः भुवनभयङ्करीः विश्वत्रासजननीः रुषः कोपान् कथम् अधत्त धृतवान् (जगतो ध्वंसनं नवां सृष्टिं च कर्तुं प्रवृत्तो भूत्वा कथं विश्वभयमजनयत्) वा अथवा इदमेव स्थितं स्थितिर्मर्यादा यत् मृदव्यः कोमलाः मनोज्ञाः मनोहारिण्यः तुषारतमाः अतिसौम्याः महौषधयः तमसि सति जाते अन्धकारे सहसैव एक पद एव ज्वलन्ति प्रकाशन्ते । यथा कोमलानां शीतवीर्याणां चौषधीनां सत्यन्धकारे दीपनं तथैव शान्तसौम्यस्यापि मुनेः परेण पराभवे दीपनं स्वभाव इति अयमपि शान्तस्वभावो मुनिर्भुवनभयङ्करीः क्रियाः कृतवान्स्यादिति तात्पर्यम् । कोकिलकं वृत्तम्, 'हयऋतुसागरैर्यतियुतं यदि कोकिलकम्' इति तल्लक्षणम् ॥ ४८ ॥

(आते हुए सामने विश्वामित्रको देखकर प्रसन्नतासे) पिताजी तथा वामदेव विनयसे नम्र हो रहे हैं, उनके साथ बैठे हुए यह प्रशान्त पावन आकारधारी भगवान् विश्वामित्र होंगे ।

लक्ष्मण—(आश्चर्य तथा हँसीके साथ) इस तरहकी शान्तिसे जिनकी देह अति विश्वसनीय लग रही है वही यह विश्वामित्र उस तरहके कोपको किस प्रकार धारण कर सके थे ? अथवा यही विश्वमर्यादा है, जो लतायें अति कोमल सुन्दर तथा शीतल लगती हैं वेही अन्धकार होनेपर सहसा जल उठती हैं ॥ ४८ ॥

---

१. 'विलोक्य'; 'अवलोक्य' इति च ।
२. 'तृतीया प्रशान्तपावनीयमाकृतिः' इति ।

रामः—वत्स लक्ष्मण, एवं दुरवगाहग[1]म्भीराश्चित्रीयन्ते महान्तः।

अपि च—

व्रतविहतिकरीभिरप्सरोभिः सह जगदस्य निगृह्णतो गृणन्ति।
नमदमरशिरःकिरीटरोचिर्मुकुलितरोषतमांसि चेष्टितानि॥ ४९॥

वामदेवः—([2]सहर्षं दृष्ट्वा।) कथमागतो रामभद्रः। (मुनिं प्रति।) भगवन्,

ब्रह्मज्योतिर्विवर्तस्य चतुर्धा देहयोगिनः।
ऋष्यशृङ्गचरोरंशः प्रथमोऽयं महाभुजः॥ ५०॥

दुरवगाहगम्भीराः दुर्धर्षाः गम्भीरमतयश्च। चित्रीयन्ते—आश्चर्यं कर्म कृत्वा विश्वं चमत्कुर्वते।

व्रतविहतीति। व्रतस्य तपसो विहतिं विघ्नं कुर्वन्ति यास्तास्ताभिः अप्सरोभिः सह जगत् भुवनं निगृह्णतः भस्मीकर्त्तुमुद्यच्छतः अस्य विश्वामित्रस्य मुनेः चेष्टितानि चरितानि नमतां पादयोः पततां प्रसादनार्थं विनीतानाम् अमराणां शिरःकिरीटानि मौलिमुकुटानि तेषां रोचिर्भिः प्रभाभिः मुकुलितम् उपशमितं रोष एव तमोऽन्धकारो येषु तथाभूतानि गृणन्ति पुराणविदः कथयन्ति। तपस्याविघ्नकरीभिरप्सरोभिः सहैव लोकान्दग्धुं प्रवृत्तोऽयं मुनिः पादप्रणतैः देवैः प्रसादितः स्वं कोपं निवारयामासेति पुराणविदोऽस्य चरितानि कथयन्तीति भावः। पुष्पिताग्रावृत्तं, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात्॥ ४९॥

ब्रह्मज्योतिरिति। ब्रह्मज्योतिर्विवर्त्तस्य ब्राह्मतेजः परिणामस्य चतुर्धा प्रकारचतुष्टयेन देहयोगिनः रामादिराजपुत्रचतुष्टयतया धृतदेहस्य ऋष्यश्रृङ्गचरोः मुनि-

---

राम—वत्स लक्ष्मण, दुरवगाह तथा गभीर आशयवाले महान् जन इसी तरह आश्चर्यजनक कार्य किया करते हैं। और—

तपस्या भङ्ग करनेवाली अप्सराओंके साथ ही जब आपने संसारको समाप्तकर देनेकी तैयारी की थी, तब इनके चरणोंपर देवगण गिरे उनके किरीटस्थमणि-प्रकरकी प्रभासे विश्वामित्रके कोपरूप तमकी शान्ति हुई, यही इनके चेष्टित हैं॥ ४९॥

वामदेव—(देखकर हर्षसे) क्यों, रामभद्र आगये? (मुनिसे) भगवन्, चार भागोंमें बंटे ब्रह्मतेज-परिणामस्वरूप ऋष्यशृङ्ग—चरुके प्रथम अंश यही महाभुज राम हैं॥५०॥

---

१. 'गम्भीरचरिताः' इति। २. 'रामं दृष्ट्वा सहर्षम्' इति।

विश्वामित्रः—(सहर्षसम्भ्रमम[1]वलोक्य ।) वामदेव, किमुच्यत आरण्यकेषु किमपि [2]प्रकृष्टतमं ब्राह्मण्यमृष्यश्रृङ्गस्य । न केवलममुना वत्सेन ब्रह्मर्पिर्विभाण्डकः पुत्रवतां धुरमारोपितः, [3]दशरथोऽपि ।

[4]दशरथः—भगवन्, एवमेवैतत् ।

ये मैत्रा[5]वरुणिं पुरोहितवतो वंशे मनोर्जज्ञिरे
तास्ता वैनयिकीः क्रिया विदधिरे येषां च युष्मादृशाः ।

विशेषहव्यान्नस्य प्रथमोऽशः आद्यो भागः अयं महाबाहू रामः, ऋष्यश्रृङ्गो नाम मुनिर्यद्-ब्राह्मतेजःपरिणामभूतं चरुनामकं यद् हवनीयद्रव्यं चतुर्धा व्यभजत ततो ये देहधारिणो नृपात्मजाश्चत्वारोऽजनिषत तेष्वाद्योऽयं महाभुजो राम इति । 'अथ चरुः पुमान् हव्यान्नभाण्डयोः' इति धरणिः ॥ ५० ॥

आरण्यकेषु वनवासिमुनिषु । प्रकृष्टतमम् अत्युत्कृष्टम् । अमुना वत्सेन ऋष्यश्रृङ्गेण । पुत्रवतां धुरमारोपितः—पुत्रवत्सु मूर्धन्यः कृतः । दशरथोऽपि पुत्रवतां धुरमारोपित इति योजना । अयमृष्यश्रृङ्गो निजेन ब्राह्मण्येन न केवलं स्वजनकं विभाण्डकमेव पुत्रवतां धुरमारोपितवानपि तु स्वतपसा दशरथमपि पुत्रवतां धुरमारोपितवान् । स्वयं तपस्तप्त्वा स्वपितरं धन्यतामनयत् स्वतपःप्रभावेण दशरथमपि प्रशंसाशालिपुत्रभाजनमकार्षीदिति धन्यत्वमृष्यश्रृङ्गस्येति भावः ॥

ये मैत्रावरुणिमिति । ये राजानः मैत्रावरुणिं वसिष्ठं पुरोहितवतः पुरोहितत्वेन वृतवतो मनोः वंशे जज्ञिरे जनिमलभन्त, येषां राज्ञां मध्ये युष्मादृशः त्वादृशाः पुण्यपरिपाकशालिनः तास्ताः प्रसिद्धाः वैनयिकीः विनयपूर्णाः क्रियाः व्यापार-

---

विश्वामित्र—(सहर्ष, अकचकाकर देखकर) वामदेव, क्या कहा जाय, वनवासियोंमें ऋष्यश्रृङ्गका कुछ अद्भुत ब्राह्मण्य है, उसने केवल विभाण्डकको पुत्रवानोंका मूर्धन्य नहीं बनाया है, दशरथको भी पुत्रवानोंका मूर्धन्य बनाया है ।

दशरथ—हाँ महाराज, ठीक है,

वसिष्ठ जिनके पुरोहित हैं, जो मनुवंशमें उत्पन्न हुए, जिन्होंने विनयपूर्ण सारी क्रियायें की, जिनको आप सरीखे ऋषियोंने सम्पन्न कराया, उन रघुवंशियोंमें दशरथ

---

१. 'आलोक्य' इति ।		२. 'प्रकृष्टतमं किमपि' इति ।
३. 'राजर्पिर्दशरथोऽपि' इति ।		४. 'वामदेवः' इति ।
५. 'मैत्रावरुणम्' इति ।

तेषाम[1]ञ्चलमेष ते दशरथः संप्रत्यमी ये पुन-
र्जातास्ते ध्रुवमृष्यशृङ्गतपसामैश्वर्यमिक्ष्वाकवः ॥ ५१ ॥

(रामलक्ष्मणावुपसर्पतः ।)

[2]दशरथः—वत्सौ, भगवानेष निःशेषभुवनमहनीयो महामुनिः कौशिकः प्रणम्यताम् ।

रामलक्ष्मणौ—(उपसृत्य ।) भगवन्विश्वामित्र, सावित्रौ रामलक्ष्मणावभिवादयेते ।

विश्वामित्रः—वत्सौ, आयुष्मन्तौ भूयास्ताम् । (इति भुजाभ्यां गृहीत्वा रामं नि[3]र्वर्ण्य च सबहुमानम् । आत्मगतम् ।)

वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रैर्दधति जगतामाभ्युदयिकीं
धुरं संप्रत्येते दिनकरकुलीनाः क्षितिभुजः ।

कलापान् विदधिरे कृतवन्तः, तेषाम् राज्ञाम् एष ते तव दशरथः अञ्चलम् प्रान्तदेशः, अन्तिमो राजा, सम्प्रति ये अमी इक्ष्वाकवः रामादयो जातास्ते ध्रुवम् ऋष्यशृङ्गतपसाम् ऐश्वर्यम् प्रभावः। वसिष्ठेन पुरोहितयोगिनो मनोर्वंशे जातानां विनयपूर्णाः क्रियाः कृतवतां राज्ञामहमन्तिमो राजा, अमी रामादयस्तु ऋष्यशृङ्गतपसां प्रभावेण जाता इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

निःशेषभुवनमहनीयः समस्तलोकपूजनीयः ।

सावित्रौ सवितुः सूर्यस्य वंशे लब्धजन्मानौ । अभिवादयेते भवन्तं प्रणमतः ।

वसिष्ठोक्तैरिति । एते दिनकरकुलीनाः सूर्यवंशोद्भवाः क्षितिभुजो राजानः वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रैः वसिष्ठव्याहृताभिर्मन्त्रणाभिः जगताम् आभ्युदयिकीम् जगन्मङ्गल-

---

अन्तिम हैं, अब जो पैदा हुए हैं वह इक्ष्वाकुवंशी ऋष्यशृङ्गके तपके प्रभावसे पैदा हुए हैं ॥ ५१ ॥

(राम-लक्ष्मण समीप आते हैं)

दशरथ—बेटे, यह हैं अशेष भुवनगीतकीर्त्ति महामुनि विश्वामित्र, इन्हें प्रणाम करो,

राम-लक्ष्मण—(समीप जाकर) महाराज विश्वामित्र, सूर्यवंशी राम-लक्ष्मण प्रणाम करते हैं ।

विश्वामित्र—बच्चे, आयुष्मान् हो । (हाथोंसे रामको पकड़कर) (देखकर सादर स्वगत) इस समय यह सूर्यवंशी राजागण वसिष्ठोक्त मन्त्रों द्वारा संसारके अभ्युदयका भार

---

१. 'अञ्चलः' इति । २. 'वामदेवः' इति । ३. 'च निर्वर्ण्य' इति ।

गृहे येषां रामादिभिरपि कलाभिश्चतसृभिः
स्वयं देवो लक्ष्मीस्तनकलशवारीगजपतिः ॥ ५२ ॥

अपि च—

त्वं तास्ताः स्मृतवानृचो दशतयीस्त्वत्प्रीतये यज्वभिः
स्वाहाकारमुपाहितं हविरिह त्रेताग्निराचामति ।
त्वां क्षीरोदजलेशयं [1]क्रतुलिहः पृथ्वीमवातीतर-
न्नुद्वृत्ता दशकंधरप्रभृतयो निग्राहितारस्त्वया ॥ ५३ ॥

साधनीम् धुरं राज्यभारं दधति धारयन्ति । येषां सूर्यवंश्यानां राज्ञां गृहे सम्प्रति लक्ष्म्याः स्तनकलश एव कुचकुम्भ एव वारी गजबन्धनयन्त्रविशेषः (तत्र बद्धः) गजपतिर्गजेन्द्रो भगवान् विष्णुर्देवो नारायणः रामादिभिश्चतसृभिः कलाभिः जात इति शेषः । अयमाशयः—सूर्यवंश्या अमी राजानो वसिष्ठोक्तमन्त्रणासखाः सन्तो जगन्मङ्गलसाधनीः क्रियाः कृतवन्तः, सम्प्रत्येषां गृहेषु लक्ष्मीकुचकलशरूपबन्धने बद्धः (तत्रासक्तः) भगवान् विष्णुः रामादिभिश्चतसृभिः कलाभिरवतीर्ण इति भावः । 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यमरः । लक्ष्म्याः स्तनावेव कलशौ तावेव वारीति रूपकगर्भं रूपकम् । दण्डीदं रूपकरूपकनाम्ना व्याजहार—भ्रूलतानर्त्तकीतिवदिदं रूपकरूपकम् ॥ ५२ ॥

23953

त्वं तास्ता इति । त्वं तास्ताः प्रसिद्धाः दशतयीनामधेयाः ऋग्वेदान्तर्वर्त्तिनीः ऋचः मन्त्रान् स्मृतवान् स्मृत्वा प्रकाशितवान् । त्वत्प्रीतये त्वदीयसन्तोषाय स्वाहाकारम् स्वाहाशब्दोच्चारणपूर्वकम् उपाहितम् दत्तं हविर्घृतादिहवनीयद्रव्यम् त्रेताग्निः अग्नित्रयी आचामति आस्वादयति । क्रतुलिहो देवाः क्षीरोदजलेशयं क्षीरसागरशायिनं त्वाम् पृथ्वीम् अवातीतरन् पृथिव्यामवतारयामासुः, त्वया च उद्वृत्ताः समुद्धता दशकन्धरप्रभृतयो रावणादिका राक्षसा निग्राहितारः निगृहीता भविष्यन्ति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५३ ॥

उठाये हुए हैं, जिनके वंशमें स्वयं लक्ष्मीके स्तनरूप गजबन्धन स्थानके हाथीरूप भगवान् विष्णु रामादिरूप चारों कलाओंसे प्रकट हुए हैं ॥ ५२ ॥

आप स्वयं ब्रह्मरूप होनेके कारण दशतयी नामक ऋचाओंको स्मरण करके प्रकाशित किया, आपको प्रसन्न करनेके लिए ऋत्विग्गण स्वाहाकारपूर्वक हवि आगमें डालते हैं आप क्षीर समुद्रमें थे, देवोंने आपको पृथ्वीपर अवतारित किया, अब आप दुराचारी रावणादिका निग्रह करेंगे ॥ ५३ ॥

१. 'क्रतुभुजः' इति ।

वामदेवः—([1]सस्मितम् ।) वत्सौ, अयमत्रभवान्भवन्तौ नेतुमागतः ।

रामलक्ष्मणौ—यदभिरुचितं भवते [2]ताताय च ।

(दशरथस्तौ सस्नेहमादाय 'भगवन्कौशिक' इत्यर्धोक्ते मन्यूत्पीडनिगृह्यमाणकण्ठो वामदेवस्य मुखमीक्षते ।)

वामदेवः—इमौ तौ रामलक्ष्मणौ । (इत्यर्पयति ।)

(विश्वामित्रः सादरं गृह्णाति ।)

(नेपथ्ये [3]शङ्खध्वनिः ।)

(वामदेवो निमित्तमनुमोदमानो दशरथमुल्लासयति ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

वैतालिकः—सुखाय माध्यन्दिनी सन्ध्या भवतु देवस्य । संप्रति हि—

किरति मिहिरे विष्वद्रीचः करानतिवामनी

भवन्तौ युवां रामलक्ष्मणौ ।

मन्यूत्पीडनिगृह्यमाणकण्ठः शोकवेगावरुद्धकण्ठः ॥

वैतालिकः वन्दी, 'वैतालिका बोधकरा वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः ।

माध्यन्दिनी मध्याह्नकालिकी । देवस्य भवतो दशरथस्य ॥

किरतीति । मिहिरे सूर्ये विष्वद्रीचः सर्वतः सञ्चरणशीलान् करान् मयूखान् किरति क्षिपति सति जनस्य लोकस्य अतिवामनी अतिखर्वा देहच्छाया स्थल-

---

वामदेव—(हंसकर) वत्सो, यह तुम लोगोंको लेने आये हैं ।

राम-लक्ष्मण—आपका तथा पिताजीका जो विचार हो ।

[दशरथ राम-लक्ष्मणको स्नेहपूर्वक पकड़कर—'भगवन् कौशिक' इतना कहते ही शोकावेगसे रुद्धकण्ठ होकर वामदेवका मुख देखते हैं]

वामदेव—यही हैं राम-लक्ष्मण । (सौंपते हैं)

(विश्वामित्र सादर स्वीकार करते हैं)

(नेपथ्यमें शङ्खध्वनि)

(वामदेव निमित्त देखकर दशरथको उल्लासित करते हैं, फिर नेपथ्यमें)

वैतालिक—यह मध्यन्दिनकी सन्ध्या आपके सुखके लिये हो । इस समय—

सूर्य चारो तरफ अपनी किरण फेंक रहे हैं, अतिशय छोटी यह जन-जनकी छाया

---

१. क्वचित् 'सस्मितम्' इति नास्ति ।	२. 'ताताय भवते च' इति ।

३. 'शङ्खध्वनिर्मङ्गलगीतिश्च' इति ।

स्थलकमठवद्देहच्छाया जनस्य विचेष्टते।
गजपतिमुखोद्गीर्णैराप्यैरपि त्रसरेणुभिः
शिशिरमधुरामेणाः कच्छस्थलीमधिशेरते॥ ५४॥

अपि चेदानीं पटीरतरुकोटरकुटीर[1]मध्यासीनाः—

प्रत्यक्षरस्रुतसुधारसनिर्विषाभि-
राशीभिरभ्यधिकभूषितभोगभाजः।
गायन्ति कञ्चुकविनिह्नुतलोमहर्ष-
स्वेदोर्मयस्तव गुणानुरगेन्द्रकन्याः॥ ५५॥

कमठवद् भूमिस्थितकूर्मवत् विचेष्टते प्रतीयते। मध्याह्ने सूर्यकरेषु सर्वतः प्रसृमरेषु च्छायाऽतिलघ्वी सती स्थलकमठवत् प्रतिभासत इत्यर्थः। एणाः हरिणाः गजपतिमुखोद्गीर्णैः करिशुण्डादण्डाभिवृष्टैः आप्यैः जलीयैरपि त्रसरेणुभिः सूक्ष्मकणैः शिशिरां मधुरां मनोहारिणीं च कच्छस्थलीं जलप्रायां भूमिमधिशेरते आश्रित्य स्वपन्ति। हरिणीवृत्तम्—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति तल्लक्षणात्॥५४॥

पटीरतरुः चन्दनवृक्षः, तस्य कोटरं गह्वरमेव कुटीरं स्वल्पगृहं तद् अध्यासीनाः आश्रिताः, 'चन्दनतरुकोटरगृहे वसन्त्य उरगकन्या इति विशेष्यमध्याहर्तव्यं भवति। 'पटीरश्चन्दनतरौ' इति मेदिनी॥

प्रत्यक्षरेति। प्रत्यक्षरं त्वद्गुणगानस्य अक्षरेऽक्षरे स्रुतः क्षरितो यः सुधारसः अमृतद्रवः तेन निर्विषाभिः विषशून्याभिः आशीभिः दंष्ट्राभिः अभ्यधिकम् भूयसा भूषितम् अलङ्कृतम् भोगम् फणादेशं भजन्ति ताः तथोक्ताः प्रत्यक्षरस्रुतामृतनिर्विषीभूतदंष्ट्राभूषितफणादेशशालिन्यः इत्याद्यपादद्वयलभ्यं विशेषणम्। किञ्च कञ्चुकैः निर्मोकैः विनिह्नुताः गोपिताः लोमहर्षाः गानरसास्वादजन्यरोमाञ्चाः स्वेदोर्मयः गानश्रमजन्मानः घर्मनिचया यासां तास्तथोक्ताश्च उरगेन्द्रकन्याः

स्थल-कमठकी तरह लगती है, गजपतियोंके मुखसे निर्गत जलविन्दुओंसे शीतल तथा सुखद जलसमीपस्थ देशमें रहे हरिणगण सो रहे हैं॥ ५४॥

और इस समय चन्दन तरुके कोटरमें स्थित—

प्रत्यक्षरमें निकलनेवाले सुधारससे निर्विष स्वदंष्ट्राओंसे अपने भोग-मण्डलको भूषित करनेवाली नागकन्यायें आपके गुणोंको गा रही हैं, उनके रोमाञ्च तथा स्वेद-प्रवृत्ति उनके कञ्चुकमें गुप्त हैं॥ ५५॥

1. 'मध्यमध्यासीनाः' इति।

विश्वामित्रः—सखे दशरथ, प्रियमपि तथ्यमाह वैतालिकः।

मन्दोद्धूतैः शिरोभिर्मणिभरगुरुभिः प्रौढरोमाञ्चदण्ड-
स्फायन्निर्मोकसंधिप्रसरदविगलत्संमदस्वेदपूराः।
जिह्वायुग्माभिपूर्णाननविषमसमुद्गीर्णवर्णाभिरामं
वेलाशैलाङ्कभाजो भुजगयुवतयस्त्वद्गुणानुद्गृणन्ति ॥ ५६ ॥

([1]सविनयविलक्षस्मितं च।) राजर्षे, प्रत्यासीदति दीक्षाप्रवेशसमयः।

भुजङ्गकुमार्यः तव दशरथस्य गुणान् शौर्यौदार्यादीन् धर्मान् गायन्ति 'आशीरुरगदंष्ट्रायाम्' इत्यमरः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इति च। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

मन्दोद्धूतैरिति। वेला समुद्रतीरम् तत्र यः शैलः पर्वतः तस्य अङ्कभाजः उत्सङ्गवर्त्तिन्यः भुजगयुवतयः नागललनाः मणिभरेण शिरोरत्नभारेण गुरुभिः दुर्वहैः शिरोभिः (उपलक्षिताः) प्रौढः दीर्घः यो रोमाञ्चः रोमहर्षः स एव दण्डः तेन स्फायन् स्फीततामाप्नुवन् यः निर्मोकः सर्पकञ्चुकः तस्य ग्रन्थेः बन्धनदेशात् प्रसरन् विस्तारं गच्छन् अविगलन् अच्यवमानश्च सम्मदः हर्षः स्वेदपूरः गानश्रमजनितस्वेदभरश्च यासां तथाभूताः, जिह्वायुग्मेन रसनाद्वितयेन अभिपूर्णं भृतं यदाननं मुखं तेन विषमं विपर्यस्तवर्णं यथा स्यात्तथा उद्गीर्णैः उच्चारितैः वर्णैः अभिरामं मनोज्ञं यथा स्यात्तथा तव गुणान् उद्गृणन्ति गायन्ति। समुद्रतटस्थपर्वताङ्कवर्त्तिन्यो मणिभरनमन्मूर्धानश्च नागयुवतयः प्रकटरोमाञ्चदण्डव्यत्यस्तनिर्मोकसन्धिबन्धनतया पुञ्जीभूतानन्दस्वेदाः सत्यो मुखानां जिह्वाद्वयशालितया विषमसमुच्चार्यमाणवर्णं यथा स्यात्तथा तव गुणान्गायन्तीति भावः। 'वेला तत्तीरनीरयोः', 'प्रमोदामोदसम्मदाः' इत्युभयत्रामरः। स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५६ ॥

प्रत्यासीदति समीपमुपैति। दीक्षाप्रवेशसमयः यागसङ्कल्पसमयः।

विश्वामित्र—प्रिय मित्र दशरथ, प्रिय होनेपर भी इस वैतालिककी उक्तिमें सत्य है।

वेला-शैलके अङ्कमें वर्तमान नागललनायें तुम्हारे गुण गाती हैं, उनके सिर मन्द-मन्द डोल रहे हैं, जिनपर मणिगणका भार विद्यमान है, अधिक रोमाञ्च होनेसे उनके केंचुलमें छिद्र हो आये हैं और उन्हीं मार्गों से उनके स्वेद प्रवाहित हो रहे हैं, दो जिह्वायें होनेके कारण पूर्ण मुखसे आवाज विषम भावसे निकल रही है जो बड़ी सुन्दर लगती है ॥ ५६ ॥

(नम्रता तथा लज्जाके साथ) यज्ञदीक्षा लेनेका समय निकट आ रहा है, अतः इस

---

१. 'दशरथः—(सविनयविलक्षस्मितम्।); विश्वामित्रः—'राजर्षे' इति।

तदेवंविधमधुरगोष्ठीभङ्गनिष्ठुराणां प्रथमे [1]तावद्वयमेव भवितुमिच्छामः ।

(दशरथो रामलक्ष्मणाववलोक्य बाष्पभरो[2]त्तरङ्गितलोचनो मुनिं प्रति 'भगवन्' इत्यर्धोक्ते वाचःस्तम्भं नाटयति ।)

वामदेवः—(ससंभ्रमम् ।) भगवन्कौशिक, साधय । शिवाः सन्तु पन्थानो वत्सयो रामलक्ष्मणयोः ।

(इत्युत्थाय सर्वे यथोचितमाचरन्ति ।)

विश्वामित्रः—एवमास्यतां भवद्भिः । (इति राजपुत्राभ्यामनुगम्यमानो निष्क्रान्तः ।)

दशरथः—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) वामदेव, नूनमिदानीमस्मानिव भगवन्तमपि कौशिकमकारणवत्सलं वत्सो मे रामभद्रः ।

तदेवंविधमधुरगोष्ठीभङ्गनिष्ठुराणाम् एतादृशरोचककथागोष्ठीविघटकानाम् । प्रथमे आद्याः । यज्ञकालातिपातभयादिमां सभां प्रथममहमेव हातुमिच्छामीति क्षमन्तां मां भवन्त इति भावः ।

साधय गच्छ, 'साधयेति च गत्यर्थः' इति भरतः । शिवाः कल्याणपूर्णाः ।

अकारणवत्सलम् निरुपाधिप्रेमशालिनम् । दुःखाकरिष्यतीत्यादि वक्ष्यमाणक्रियापेक्षं कर्मत्वम् ।

मधुर गोष्ठीको तोड़कर कठोर बनने वालों में ही प्रथम बनना चाहता हूँ ।

(राम-लक्ष्मणको ओर देखकर दशरथकी आँखें सजल हो आती हैं, मुनिके प्रति— 'भगवन्' इतना कहते ही उनकी आवाज रुक जाती है)

वामदेव—(घबड़ाकर) भगवन् कौशिक, आप जाइये, राम-लक्ष्मणके मार्ग मङ्गलमय हों,

(उठकर सभी यथोचित आचार करते हैं)

विश्वामित्र—आप विराजें । (राजपुत्रोंके साथ जाते हैं)

दशरथ—(लम्बी तथा उष्ण सांस लेकर) निश्चय हमारी ही तरह सहजस्नेही विश्वामित्रको भी रामभद्र—

---

१. तावद्भवितुम्' इति ।　　२. 'उत्तम्भितलोचनः' इति ।

क्वचिदस्मद्वियोगार्तिदुःखी दुःखाकरिष्यति ।
अपूर्वविषयालोकसुखी च सुखयिष्यति ॥ ५७ ॥

वामदेवः—(विहस्य ।) राजर्षे, वयं वा कौशिको वेति क पुनरेष कक्षाविभागो रामभद्रमाधुर्यस्य । पश्य ।

यदिन्दोरन्वेति व्यसनमुदयं वा निधिरपा-
मुपाधिस्तत्रायं जयति जनिकर्तुः प्रकृतिता ।

क्वचिदिति । अस्मद्वियोगार्त्तिदुःखी अस्मद्वियोगपीडया खिन्नः सन् वत्सो रामः विश्वामित्रमपि दुःखाकरिष्यति खेदयिष्यति, अपूर्वस्य अदृष्टपूर्वस्य विषयस्य तपोवनादेर्देशस्य आलोकेन दर्शनेन सुखी प्रसन्नश्च सुखयिष्यति आनन्दयिष्यति । यथा वयं रामस्य दुःखेन दुःखिनः तदीयसुखेन सुखिनश्च भवामस्तथैव सम्प्रति विश्वामित्रोऽपि भविष्यति तस्यापि रामेऽकारणवत्सलत्वादिति भावः ॥ ५७ ॥

कक्षाविभागः आश्रयविवेकः, रामभद्रमाधुर्यस्य रामसौशील्यस्य । रामस्य स्वभावगतं माधुर्यं सर्वस्मिन् समानमिति भावः ।

यदिन्दोरिति । अपां निधिः समुद्रः यत् इन्दोः शशिनः व्यसनम् विपदं कलाक्षयम् उदयं कलासमग्रत्वं वा अन्वेति अनुगच्छति, तत्र तदनुगमे अयम् उपाधिः कारणं जनिकर्त्तुः जनकस्य प्रकृतिता स्वभावः । शशिनि क्षीणे सागरः क्षीयते वर्धमाने च वर्धते, तत्र सागरस्य जनकस्य स्वभाव एव पुत्रसुखदुःखानुगमने व्यवस्थापकत्वं भजत इति भावः । सम्भवति शक्यमिदं यज्जनकः सागरः स्वभावेन पुत्रस्य चन्द्रस्य व्यसनोदयावनुगच्छतीति, परन्तु अथ कः सम्बन्धः अत्र कीदृशो जन्यजनकभावादिरूपः सम्बन्धो यत्तस्य चन्द्रस्य (व्यसनोदयौ) कुमुदम् अनुहरते अनुसरति ? समुद्रेण चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे जन्यजनकभाव उपाधिरास्तां नाम, परन्तु कुमुदेन चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे कोऽपि

कभी हमारे वियोगके दुःखसे दुखी होकर दुखी बनावेगा, और कभी नये स्थानों के देखनेसे प्रसन्न होकर सुखी बनावेगा ॥ ५७ ॥

वामदेव—(हसकर राजर्षे, हम या विश्वामित्र यह श्रेणी विभाग तो रामभद्रकी मधुरतामें है ही नहीं । देखिये—

समुद्र जो चन्द्रमाके उदयमें उदय और व्यसनमें व्यसन प्राप्त करता है इसका तो कारण स्पष्ट है कि वह चन्द्रमाका जनक है और जनकका यही स्वभाव होता है, परन्तु

अयं कः सम्बन्धो यदनुहरते तस्य कुमुदं
विशुद्धाः शुद्धानां ध्रुवमनभिसन्धिप्रणयिनः ॥ ५८ ॥

दशरथः—([1]विमृश्य ।) एवमेतत् ।

रत्नाकरो जनयिता सहजश्च वर्गः
किं कथ्यतामम्‍तकौस्तुभपारिजाताः ।
किं तैरचिन्त्यमिह तत्पुनरन्यदेव
तत्त्वान्तरं कुमुदबन्धुरसौ यदिन्दुः ॥ ५९ ॥

नास्ति तादृश उपाधिरिति मन्ये—विशुद्धाः निर्मलस्वभावाः शुद्धानां निर्मलप्रकृतीनां जनानाम् अनभिसन्धिप्रणयिनः अकारणस्नेहिनो भवन्तीति शेषः । अतश्च रामस्य विश्वामित्रे स्नेहो नासंभवीति भावः उत्प्रेक्षाऽलंकारः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५८ ॥

रत्नाकर इति । जनयिता उत्पादको रत्नाकरः सागरः, सहजश्च सोदरश्च वर्गः समानोदरजातगणाश्च अमृतकौस्तुभपारिजाताः किं कथ्यताम् तद्विषये किमुच्यताम्, पितरि सागरे सोदरेष्वमृतकौस्तुभपारिजातेषु वा चन्द्रस्य तादृशोऽनुरागो नास्ति यादृशः कुमुदेऽस्ति, तदाह–किन्तैरिति । तत् प्रेमबीजमिह जगति अचिन्त्यम् अविभाव्यकारणकमेव भवति तद्धि तत्त्वान्तरं किमप्यन्यदेव जन्यजनकभावसमानगर्भजातत्वादिभ्यः, अतएव इन्दुरसौ कुमुदबन्धुरिति कथ्यते, कुमुदस्य चन्द्रेण कोऽपि सम्बन्धो नास्ति, तथाप्यसौ तत्रानुरक्ततम इति प्रेमबीजमनिर्धार्यस्वरूपमिति भावः वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५९ ॥

चन्द्रमाका अनुसरण कुमुद करता है इसमें कौनसा सम्बन्ध है । अतः स्पष्ट है कि विशुद्ध विशुद्धके साथ विना किसी कारण ही प्रेम करते हैं ॥ ५८ ॥

दशरथ—(विचारकर) यह ठीक है—

सागर पिता हैं और अमृत, कौस्तुभ और पारिजात सोदर हैं इनके सम्बन्धमें क्या कहना है । उनके सम्बन्धमें कुछ भी अचिन्त्य है परन्तु चन्द्रमाके लिये कुमुद कुछ अद्भुत तत्त्व है, जिससे वह कुमुद वन्धुही पुकारा जाता है अमृतवन्धु या कौस्तुभवन्धु नहीं ॥ ५९ ॥

---

१. 'विमृश्य' इति क्वचिन्नास्ति ।

(¹पुनरवलोक्य ।) कथं लोचनपथमतिक्रान्तः सरामलक्ष्मणो भगवान् । तद्वयमपि वत्सप्रवासदुर्मनायमानां दक्षिणकोसलेश्वरसुतां देवीमुपेत्य सान्त्वयामः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति मुनीन्द्रसंवादो नाम प्रथमोऽङ्कः ।



लोचनपथमतिक्रान्तः दृष्टिवर्त्मबहिर्गतः । वत्सप्रवासदुर्मनायमानाम् रामलक्ष्मणयोः प्रवासेन खिद्यमानाम् । दक्षिणकोसलेश्वरसुताम् कौसल्याम् ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते

अनर्घराघवप्रकाशे'

प्रथमाङ्क 'प्रकाशः' ॥



(फिर देखकर) राम–लक्ष्मणके साथ विश्वामित्र आँखोंसे ओझल हो गये । अतः हम भी बच्चेके प्रवाससे खिद्यमानहृदया कौसल्याके पास जाकर उसे सान्त्वना प्रदान करते हैं ।

[सबका प्रस्थान]

प्रथम अङ्क समाप्त ॥



१. 'पुरोऽवलोक्य' इति ।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति यजमानशिष्यः ।)

शिष्यः—अये, प्रभातप्रायैव रजनी । तथा हि ।

तमोभिः पीयन्ते गतवयसि पीयूषवपुषि
ज्वलिष्यन्मार्तण्डोपलपटलधूमैरिव दिशः ।
सरोजानां कर्षन्नलिमयमयस्कान्तमणिवत्
क्षणादन्तःशल्यं तपति पतिरद्यापि न रुचाम् ॥ १ ॥

यजमानशिष्यः सोमयागदीक्षितस्य गुरोर्विश्वामित्रस्य शिष्यः शुनःशेपः । प्रभातप्राया प्रभातकल्पा, तत्र हेतुमाह—

तमोभिरिति । पीयूषवपुषि अमृतमयपिण्डे चन्द्रे गतवयसि क्षीणायुषि अस्तंगते सति ज्वलिष्यतः सूर्यकिरणसंयोगेन तेजः प्रकटयिष्यतः मार्त्तण्डोपलपटलस्य सूर्यकान्तमणिसमुदयस्य धूमैः इव तमोभिः अन्धकारैः दिशः पीयन्ते आच्छादिताः क्रियन्ते, अद्यापि सम्प्रत्यपि रुचांपतिः सूर्यः अयस्कान्तमणिवत् अलिमयं भ्रमररूपम् सरोजानाम् कमलानाम् अन्तःशल्यं हृदयगतं लौहनिर्मितास्त्रविशेषम् कर्षन् बहिर्नयन् न तपति न दीप्यते । अयमाशयः—चन्द्रेऽस्तंगते धूमपटली दिश आवृणोति मन्ये सूर्यकान्तमणीनामनतिचिरकालेन सूर्यतेजसा प्रज्वलिष्यतां धूमस्तोम इव प्रकटति, कस्यापि वह्नेर्ज्वलिष्यतः पूर्वं धूमस्तोम उद्गच्छति किञ्चास्तङ्गतेऽपि विधौ सूर्यो नोदितो, यस्मिन्नुदिते सति विकसत्सु कमलेषु तदन्तर्गता बद्धा अलयो वारिजान्तःशल्यानीव रविरूपायस्कान्तेनाकृष्यमाणानि प्रलीयन्ते, अयस्कान्तमणिसन्निधाने सत्यन्तर्गतमप्ययःशल्यं बहिरेति, तत एवेयमुत्प्रेक्षा । अत्र धूमेषु ज्वलिष्यन्मार्त्तण्डोपलपटलधूमत्वम्, सूर्ये चायस्कान्तमणि-

---

[यजमान विश्वामित्र के शिष्यका प्रवेश]

शिष्य—अरे, रात्रि समाप्त-प्राय हो गई । क्योंकि

चन्द्रमाके क्षीण हो जानेके कारण ज्वलित होनेवाले सूर्यकान्त मणिके धूमकी तरह प्रतीत होनेवाले अन्धकारोंसे दिशायें घिरती जा रही हैं, अयस्कान्तमणिवत् कमलोंके अन्दर छिपे भ्रमररूप अन्तःशल्यको बाहर खींचनेवाले प्रभानायका अभी उदय नहीं हो रहा है ॥ १ ॥

अपि च—

जाताः पक्वपलाण्डुपाण्डुमधुरच्छायाकिरस्तारकाः
प्राचीमङ्कुरयन्ति किंचन रुचो राजीवजीवातवः ।
लूतातन्तुवितानवर्तुलमितो बिम्बं दधच्चुम्बति
प्रातः प्रोषितरोचिरम्बरतलादस्ताचलं चन्द्रमाः ॥ २ ॥

(सर्वतोऽवलोक्य च ।)

दिङ्मण्डलीमुकुटमण्डनपद्मराग-
रत्नाङ्कुरे किरणमालिनि गर्भितेऽपि ।

स्वोत्प्रेक्षया च कमलान्तर्गतभ्रमरराशावयःशल्यत्वम् , तद्बहिर्गमे च तत्कृतं कर्षण-मुत्प्रेक्ष्यमाणं बोध्यम् । शिखरिणीवृत्तम्—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिख-रिणी' इति च तल्लक्षणम् ॥ १ ॥

जाता इति । पक्वः परिणतो यः पलाण्डुः 'पेयाज' पदख्यातो मूलविशेषस्त-द्वन्मधुरा पाण्डुश्च च्छाया यासां तास्तथोक्ताः जाताः पलाण्डुपाण्डुमधराकृतयो जातास्तारकाः नक्षत्राणि प्राचीम् पूर्वदिशम् अङ्कुरयन्ति ईषत् प्रकाशयन्ति, किञ्च राजीवजीवातवः कमलजीवनौषधिभूताः रुचः अरुणकिरणाः प्राचीम् न अङ्कुरयन्ति प्रकाशयन्ति, चन्द्रेऽस्तंगते क्षीणप्रभतया पलाण्डुवद् भासमानानि नक्षत्राणि पूर्वस्यां दिशि स्वल्पं प्रकाशं विस्तारयन्ति, सम्प्रति कमलविकासकारणीभूता अरुणरुचयो न प्राचीमुद्द्योतयन्तीति प्रथमपादद्वयस्यार्थः । इतश्च पश्चिमदिग्विभागे लूतातन्तु-वितानवर्तुलम् कीटभेदसम्बन्धिसूत्रविस्तारसमानाकारम् बिम्बं मण्डलं दधत् धारयन् प्रातः प्रोषितरोचिः प्रातःकाले गतप्रभश्चन्द्रः अम्बरतलात् आकाशमण्डलात् अस्ताचलम् चुम्बति स्पृशति । प्रभाते कलुषीभूतकान्तिरयं चन्द्रमा लूतातन्तु-वितानवत् प्रतीयमानोऽस्ताचलमुपसर्पतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

दिङ्मण्डलीति । दिङ्मण्डली दिक्समुदायस्तस्य मुकुटं प्रधानम् प्राची दिशा तस्य मण्डनम् भूषणं यत् पद्मरागरत्नम् सूर्यबिम्बरूपम् तदङ्कुरे प्राचीदिगलङ्काररूपे

तारे पके हुए प्याजकी तरह पीताभ मधुर कान्तिवाले हो गये और कमलोंको जीवित करनेवाली कान्तियाँ प्राची दिशामें अङ्कुरित हो रही हैं। मकड़ेकी जालके समान गोल बिम्बको धारण करनेवाला चन्द्रनिस्तेज होकर प्रातः कालमें अस्ताचलको छू रहा है ॥ २ ॥

(चारो ओर देखकर) दिशाओंके मुकुटमें शोभा पानेवाले पद्मरागके सदृश भगवान्

सौखप्रसुप्तिकमधुव्रतचक्रवाल-
वाचालपङ्कजवनीसरसाः सरस्यः ॥ ३ ॥

अपि च—

प्राचीविभ्रमकर्णिकाकमलिनीसंवर्तिका संप्रति
द्वे तिस्रो रमणीयमम्बरमणेर्द्यामुच्चरन्ते रुचः ।
सूक्ष्मोच्छ्वासमपीदमुत्सुकतया संभूय कोषाद्वहि-
र्निष्क्रामद्भ्रमरौघसंभ्रमभरादम्भोजमुज्जृम्भते ॥ ४ ॥

किरणमालिनि सूर्ये गर्भिते आकाशगर्भस्थिते अनुदिते अपि सौखप्रसुप्तिकाः सुखशयनप्रश्नकर्त्तारः ये मधुव्रताः भ्रमराः तेषां चक्रवालेन मण्डलेन वाचाला सशब्दा या पङ्कजवनी कमलाकरस्तया सरसाः रमणीयाः सरस्यः सरांसि जाता इत्यवगन्तव्यम् । प्राचीदिगलङ्काररूपे सूर्येऽनुदितेऽपि कमलानां सुखशयनप्रश्नपरायणैः शब्दायमानैर्भ्रमरैर्वाचालाभिः पद्मवनीभिः सरांसि मनोहरतां प्रपद्यन्त इत्यर्थः । रूपकमलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३ ॥

प्राचीति । सम्प्रति प्राच्याः पूर्वदिशानायिकायाः विभ्रमकर्णिकाः विलासार्थकर्णाभरणभूताः कमलिनीसंवर्त्तिकाः पद्मिनीनवदलानि (तत्स्वरूपाः) अम्बरमणेः सूर्यस्य द्वे तिस्रो रुचः प्रभाः द्यामुच्चरन्ते आकाशे उद्गच्छन्ति सूर्यस्य द्वित्राः प्रभा वियति प्रकाशन्ते याः प्राचीदिङ्नायिकायाः कर्णाभरणीभूतकमलिनीपत्राणीव प्रतीयन्त इत्यर्थः । सूक्ष्मोच्छ्वासम् अल्पकिरणसंपर्कात् स्वल्पप्रकाशमपि इदम् अम्भोजम् पद्मम् उत्सुकतया उत्कण्ठया संभूय मिलित्वा कोषात् कुड्मलाद् वहिर्निष्क्रामतः निर्यतः भ्रमरौघस्य संभ्रमभरात् आवेगातिशयात् उज्जृम्भते सातिशयं विकसति । सूर्यप्रकाशस्याल्पतया स्वल्पविकाशमपि कमलं त्वरया वहिर्गच्छतां भ्रमराणां संभ्रमेण सातिशयं विकसतीत्यर्थः । 'कर्णिका कर्णभूषणे' इत्यमरः । 'संवर्त्तिका नवदलम्' इति च । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति हारावली । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

सूर्यके गर्भित हो जानेपर भी सुखशयनकी जिज्ञासा करनेवाले भ्रमरसे सरोवरके पङ्कजवन वाचाल हो रहे हैं ॥ ३ ॥

प्राची दिशाके विलासार्थ कर्णाभरणके नवदलतुल्य सूर्यकी दो-तीन किरणें आकाशमें विचर रही हैं, थोड़ा-थोड़ा खिलनेवाले यह कमल उत्सुकतावश कोषसे वाहर निकलनेवाले भ्रमरोंके संभ्रमसे खिल रहे हैं ॥ ४ ॥

अपि च—

एकद्विप्रभृतिक्रमेण गणनामेषामिवास्तं यतां
　　कुर्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसंवर्तिकाः ।
भूयोऽपि क्रमशः प्रसारयति ताः संप्रत्यमूनुद्यतः
　　संख्यातुं सकुतूहलेव नलिनी भानोः सहस्रं करान् ॥ ५ ॥

अपि च—

प्रत्यासन्नसुरेन्द्रसिन्धुरशिरःसिन्दूरसान्द्रारुणा
　　यत्तेजस्त्रसरेणवो वियदितः प्राचीन[१]मातन्वते ।

एकद्विप्रभृतीति । अस्तंयताम् अस्तंगच्छताम् एषां भानुकिरणानाम् एकद्विप्रभृतिक्रमेण एकोऽयमस्तंगतो द्वितीयोऽयमयं तृतीय इति क्रमेण गणनां संख्यानमिव कुर्वाणा इयं कमलिनी दशशतानि तावत्संख्याः अम्भोजसंवर्त्तिकाः पद्मनवदलानि समकोचयत् संकोचितवती, भूयः पुनरपि ताः दशशतानि संवर्त्तिकाः उद्यतः उद्गच्छतः भानोः सहस्रं करान् कौतुकेनेव संख्यातुं गणयितुं क्रमशः प्रसारयति । सायंकाले कमलस्य पत्राणि निमीलन्ति मन्ये—कमलिनी सहस्रं स्वदलानि एकैकशोऽस्तंगच्छतां रविकराणां गणनामिव कुर्वती समकोचयत्, प्रातःकाले च तानि विकसिन्ति तन्मन्ये पुनरुद्यतस्तत्संख्यकान् भानुकरान् गणयतीवेति संकोचविकासकाले पत्रसंख्यया रविकरगणनोत्प्रेक्ष्यते । यतामिति इणः शतरि रूपम् । यद्यपि दशशतशब्दः नपुंसकलिङ्गस्तथापि संवर्त्तिकाशब्देन स्त्रीलिङ्गेनान्वयो विशेषणतया जायत एव, 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः' इत्युक्तेः, विशेष्यविशेषणभावश्चार्थयोरिति लिङ्गविशेषोपस्थाप्यताया अतन्त्रत्वाच्च । सहस्रं करानित्यत्र करगतं बहुत्वं सहस्रगतं चैकत्वं विवक्षितमिति भिन्नवचनत्वेऽपि सामानाधिकरण्यम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः स्फुटः ॥ ५ ॥

प्रत्यासन्नेति । प्रत्यासन्नः पूर्वदिगधीशतया समीपस्थितो यः सुरेन्द्रो देवराजस्तस्य सिन्धुरो गज ऐरावतस्तस्य शिरःसिन्दूरेण मस्तकलिप्तसिन्दूरेण सान्द्रारुणाः सातिशयरक्ताः यत्तेजस्त्रसरेणवः यस्य तेजसः अणुपरमाणुविशेषाः इतः

नलिनीने एक-दो करके अस्त होनेवाली सूर्य-किरणोंको गिनती हुई अपने सहस्र-संख्यक पत्रोंको समेट लिया था, अब फिर क्रमशः उदित होनेवाली सूर्यकिरणोंको गिनती हुई वही नलिनी अपने दलोंको प्रसारित करती जा रही है ॥ ५ ॥

समीपस्थित इन्द्रगज ऐरावतके शिरः-सिन्दूरसे सान्द्र रक्तवर्ण जो तेजःकण प्राची

---

१. 'आचिन्वते' इति ।

शङ्के संप्रति यावदभ्युदयते तत्तर्कुटङ्कोन्मृजा-
रज्यद्बिम्बरजश्छटावलयितो देवस्त्विषामीश्वरः ॥ ६ ॥

(पुरोऽवलोक्य ।) कथमिदमुदयाचलमौलिमाणिक्यमर्कमण्डलमद्यापि न वि[1]हायस्तलमलंकरोति । तदस्मद्गुरोर्वितायमानयज्ञस्य कुलपतेः कौशिकस्यादेशात्समिदाहरणाय प्रस्थितोऽस्मि । [2]तत्त्वरितं गच्छामि । (इति परिक्रामति ।)

(प्रविश्य संभ्रान्तो वटुः ।)

वटुः—अज्ज सुणस्सेह, किं वि अच्चरिअं भीसणं च वट्टदि । [आर्य शुनःशेप, किमप्याश्चर्यं भीषणं च वर्तते ।]

शुनःशेपः—(सचमत्कारं परिवृत्य ।) सखे पशुमेढ्र, किमाश्चर्यं भीषणं च वर्तते ।

प्राचीनं वियत् पूर्वाकाशम् आतन्वते व्याप्नुवन्ति, यस्य सूर्यस्य तेजःपरमाणवो निकटस्थैरावतसिन्दूररक्ता इव प्राच्यां प्रसरन्तीत्याद्यपादद्वयार्थः, तत् शङ्के संभावयामि, तर्कुः विश्वकर्मणो गोलाकारो यन्त्रभेदस्तत्र यष्टङ्कः पाषाणदारणसाधनास्त्रविशेषस्तेन या उन्मृजा शुद्धिः संस्कारः ततो रज्यत् रक्तीभवत् यत् बिम्बं मण्डलं तस्य रजसाम् रेणूनाम् छटाभिः, समूहैर्वलयितो वेष्टितः देवस्त्विषामीश्वरः प्रभानाथः सूर्यः सम्प्रति यावदभ्युदयते त्वरितमुदयमवाप्स्यति । आकाशस्य रक्ताभतया सूर्योदयः सन्निहिततयोत्प्रेक्ष्यते । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यति लट् । 'टङ्को नीलकपित्थे च खनित्रे टङ्कणे स्त्रियाम्' इति मेदिनी । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥६॥

उदयाचलमौलिमाणिक्यम् उदयाचलशिरोभूषणम् । अर्कमण्डलम् सूर्य-

दिशाके आकाशमें फैलते जा रहे हैं वह ऐसा लगता है—विश्वकर्माकी खरादपर चढ़ाकर खरादे गये—अतएव तेजःपुञ्जसे वेष्टित भगवान् सूर्य उदय प्राप्त कर रहे हों ॥ ६ ॥

(आगेकी ओर देखकर) क्यों उदयाचलके मस्तकके अलङ्कारस्वरूप सूर्यमण्डल अभी भी नहीं आकाशमें आ रहा है ? यज्ञमें संलग्न स्वगुरु कौशिकके आदेशानुसार मैं समिधा लाने चला हूं, इसलिये शीघ्र जाता हूं । (जाता है)

(घबड़ाये हुए वटुका प्रवेश)

वटु—आर्य शुनःशेप, कुछ अद्भुत तथा भीषण बात हुई है ।

शुनःशेप—(अकचकाया हुआ लौटकर) सखे पशुमेढ्र, क्या अद्भुत तथा भीषण हुआ है ?

---

१. 'नभःस्थलम्' इति । २. 'त्वरितम्' इति ।

पशुमेढ्रः—अज्ज रामो त्ति को वि खत्तिअकुमारो आअदो त्ति सुणिअ कोदूहलेन धावन्तस्स [1]तवोवणपेरन्तपरिट्ठिदा पत्थरपुत्तलिआ सच्चमाणुसीभविअ मम ज्जेव्व संमुहं परावडिदा। तं पेक्खिअ उत्तरासङ्गवक्कलं वि उज्झिअ पलायिदो म्हि। ['अद्य राम इति कोऽपि क्षत्रियकुमार आगत इति श्रुत्वा कुतूहलेन धावतस्तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता प्रस्तरपुत्रिका सत्यमानुषीभूय ममैव संमुखं परापतिता। तां प्रेक्ष्य उत्तरासङ्गवल्कलमप्युज्झित्वा पलायितोऽस्मि'।]

शुनःशेपः—(विहस्य।) सखे, साधु कृतम्। दिष्ट्या हि जीवतः पुनरावृत्तिः।

पशुमेढ्रः—ता रक्खदु मं अज्जो इमाए दुट्ठरक्खसीए मुहादो। (इति वेपमानः पादयोः पतति।) ['तद्रक्षतु मामार्य एतस्या दुष्टराक्षस्या मुखात्'।]

शुनःशेपः—(सस्मितमुत्थाप्यालिङ्गय च।) [2]वयस्य, शृणोषि भगवतो गोतमस्य महर्षेरहल्यां नाम धर्मदारान्।

त्रिस्वम्। विहायस्तलम् आकाशम् वितायसानयज्ञस्य प्रारब्धयागक्रियस्य। कौशिकस्य विश्वामित्रस्य। समिदाहरणाय काष्ठान्याहर्तुम्, त्वरितम् शीघ्रम्।

तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता तपोवनोपकण्ठवर्त्तिनी। प्रस्तरपुत्रिका प्रस्तरमयी स्त्रीमूर्त्तिः। सत्यमानुषीभूय—वास्तवमनुष्यरूपं प्रपद्य। उत्तरासङ्गवल्कलम् उत्तरीयरूपं वल्कलम्। उज्झित्वा विहाय।

पशुमेढ्र—आज रामनामक कोई क्षत्रियकुमार आया है—ऐसा सुनकर मैं उत्सुकतावश दौड़ा हुआ उसे देखने गया, जाते ही तपोवनकी सीमापर वर्त्तमान पत्थरकी शिला सचमुच औरत बनकर मेरे सामने आ खड़ी हुई। उसे देखकर मैं उत्तरीय-वल्कल छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

शुनःशेप—(हंसकर) अरे मित्र, तुमने बहुत भला किया। भाग्यवश तुम जीते लौट आये।

पशुमेढ्र—अब आप मुझे उस दुष्टराक्षसीके मुखसे बचावें। (डरसे काँपता हुआ चरणोंपर गिरता है)

शुनःशेप—(हंसते हुए उठाकर गले लगाकर) मित्र, गौतमकी स्त्री अहल्याके विषयमें तुमने सुना होगा।

---

१. 'गोदमतवोवण' इति। २. 'वत्स, शृणोषि'; 'वयस्य, न भेतव्यम्। शृणोषि' इति।

पशुमेढ्ः—जा जणअवंसपुरोहिदस्स तत्थभवदो सदाणन्दस्स जणणी। 'तदो तदो। ['या जनकवंशपुरोहितस्य तत्रभवतः शतानन्दस्य जननी। 'ततस्ततः'।]

शुनःशेपः—सेयं पुरा पुरुहूतखण्डितचरित्रा तस्य दीर्घतपसो मुनेर्मन्युना निजमेव तदिन्द्रियदौर्बल्यमेवं विवर्तमानमनुभवन्ती संप्रत्यस्य रघुराजपुत्रस्य तेजसा तस्मादन्धकारान्निरमुच्यत। तदलमावेगेन।

पशुमेढ्ः—(उन्मील्य चक्षुषी सर्वतोऽवलोक्य।) अहो अच्चरिअं। अज्जस्य पसादेण पुणोवि जीअलोए पविट्ठो म्हि। तह वि सङ्कज्जरो अज्ज वि ण मं परिच्चअदि। ता अज्ज सुणस्सेह, मुहुत्तअं विसमीअदु। ['अहो आश्चर्यम्। आर्यस्य प्रसादेन पुनरपि जीवलोके प्रविष्टोऽस्मि। तथापि शङ्काज्वरोऽद्यापि न मां परित्यजति। तदार्य शुनःशेप, मुहूर्तं विश्रम्यताम्'।]

शुनःशेपः—सखे, भयमिति किमेतद् ब्राह्मणस्य। तत्पर्यवस्था[2]पयात्मानम्।

पुरुहूतखण्डितचरित्रा इन्द्रभ्रंशितसतीत्वा। दीर्घतपसः महातपस्विनः। मन्युना कोपेन। इन्द्रियदौर्बल्यम् मनोविकारम्। विवर्तमानम्—चरित्रदोषरूपतया परिणममानम्। तस्मादन्धकारात् शिलाभावापत्तिरूपात्। अलमावेगेन वृथा तवायं संभ्रम इति भावः।

पर्यवस्थापय स्थिरीकुरु।

पशुमेढ्—जो जनकवंशके पुरोहित पूज्य शतानन्दकी माता थी। तब…।

शुनःशेप—इन्द्रने उसका पातिव्रत्य खण्डित कर दिया, महातपा मुनिके कोपसे अपने इन्द्रिय-दौर्बल्यका वह फल भोग रही थी, आज रघुराजपुत्रके प्रतापसे उस प्रस्तरभावरूप अन्धकारसे मुक्त हुई है। घबड़ानेकी जरूरत नहीं है।

पशुमेढ्—(आँखें खोलकर चारो ओर देखकर) अहो, आश्चर्य! आपके अनुग्रहसे मैं फिर जीवलोकमें लौट आया। फिर भी शङ्काज्वर मुझे नहीं छोड़ रहा है, अतः आर्य शुनःशेप, थोड़ी देर विश्राम कर लें।

शुनःशेप—ब्राह्मणको भय किस बातका? अपनेको धीरज बंधाओ।

---

१. 'शुनःशेपः—अथ किम्। पशुमेढ्ः—तदो' इति।

२. 'पर्युपस्थापय'; 'पर्यवष्टम्भय' इति।

(इत्युपविशतः ।)

पशुमेढ्रः—(चिरं विमृश्य[1] निःश्वस्य च सविस्मयम् ।) कधं विसयमिअतिण्हासलज्झलाए भअवदो हरिणो वि हरिणदा विटप्पीअदि । [कथं विषयमृगतृष्णासलज्जलया भगवतो हरेरपि हरिणता विटप्यते ।]

शुनःशेपः—(विहस्य ।) साधु [2]ब्रवीषि । अल्पीयान्खल्वयं लोकः । [3]कथमैहिक[4]सुखाध्यवसायाद्वै अमूर्भूयस्यो रात्रयः पराहण्यन्ते । किं तु मनोहारिभिराहार्यैराह्रियमाण[5]लोचनद्वि[6]तयस्यापि न जनो विवेकमङ्कुशयितु[7]मधीष्टे । किं पुनर्नयनसहस्रतयस्य तादृशि विभवे मरुतां पतिः । चक्षुःप्रीतिमुद्भवन्तीमनूद्भवन्ति चापराणि कुसुमचापचापलानि ।

विषयमृगतृष्णासलज्जलया वैषयिकसुखोपभोगरूपतृष्णाया आस्फालनेन । हरिणता पशुभावः । विटप्यते अर्ज्यते, कथमयं देवेन्द्रोऽपि विषयाकृष्टः सन् तादृशं कुकर्म करोतीति भावः । 'स्यादास्फाले सलज्जला' इति हारावली ।

अल्पीयान् क्षुद्रो मन्दमतिः । ऐहिकसुखाध्यवसायात् ऐहिकसुखप्राप्तिप्रयासात्, अमूः एताः । भूयस्यो रात्रयः पारलौकिकसुखसमयाः, रात्रेः सुखकालतयेत्थमुक्तम् । पराहण्यन्ते विनाश्यन्ते । क्षुद्रो हि लोको यदैहिकसुखलिप्सापारवश्येन पारलौकिकानि सुखानि विनाशयितुमुद्यच्छतीति तात्पर्यम् ॥ मनोहारिभिः हृदयावर्जकैः । आहार्यैः बाध्यमानतायामपि सुखसाधनत्वेनाभिमन्यमानैः स्त्रीधनादिभिः । आह्रियमाणलोचनद्वितयस्य आकृष्यमाणस्य नयन-

---

[दोनों बैठते हैं]

पशुमेढ़—(देर तक सोचकर दीर्घश्वास लेकर आश्चर्यसे) क्यों, विषय–मृगतृष्णासे इन्द्र भी हरिणकी तरह वञ्चित हो जाते है ?

शुनःशेप—(हंसकर) ठीक कहते हो । यह संसार बहुत छोटा है, ऐहिक सुखकी प्रत्याशासे दीर्घकालिक सुखका नाश क्यों किया जाय ? किन्तु हृदयको हरण करनेवाले मिथ्या सुखोंसे लोगोंकी आँखें इस तरह बन्द होती हैं कि लोग विवेकसे काम लेना छोड देते हैं । फिर इन्द्रकी क्या बात ? जिनके हजार नयन वैसे हों । आँखके लड़ते ही कामदेवके और हथकण्डे शुरू हो जाते है ।

---

१. 'विश्रम्य विमृश्य च' इति । २. 'ब्रवीति भवान्' इति ।
३. 'अन्यथा कथम्' इति । ४. 'सुखाध्यवसायलुब्धैः'; 'सुखाध्यवसायात्'.इति ।
५. 'आह्रियमाणस्य' इति । ६. 'द्वयस्य' इति । ७. 'ईष्टे' इति ।

पशुमेढ्रः—(विहस्य ।) मण्णे एदाए एव्व मुणिघरणीए पुण्णपरिणामो एत्थ रामभद्दस्स पवासे कारणम् । ['मन्ये एतस्या एव मुनिगृहिण्याः पुण्यपरिणामोऽत्र रामभद्रस्य प्रवासे कारणम्' ।]

शुनःशेपः—इदं तावत्प्रथमम् ।

पशुमेढ्रः—(साभ्यर्थनम् ।) अज्ज, दुदीअं वि सुणिदुं इमिणा दे वअणेण पज्जुस्सुओ म्हि । ['आर्य, द्वितीयमपि श्रोतुमनेन तव वचनेन पर्युत्सुकोऽस्मि' ।]

शुनःशेपः—सखे, त्वयि किमकथनीयं नाम । अस्ति किष्किन्धायां पुरंदरस्य नन्दनो वालिर्नाम प्लवगराजः तं च रजनीचरचक्र-

---

द्वयस्य । विवेकम् ज्ञानम् । अङ्कशयितुम् अङ्कुशीकर्त्तुम् । न अधीष्टे न पारयति । विषयाणामयं महिमा यत्तैराहार्यैरपि आकृष्टस्य स्वस्य नयनद्वयस्य निरोधाय जनः स्वं विवेकं प्रयोक्तुं न शक्नोति, यदि लोको विषयाकृष्टस्य स्वनयनद्वयस्य विवेकद्वारके निरोधे न क्षमो भवति, तदा तावत्यां सम्पदि विद्यमानायां यदिन्द्रो निजं नयनसहस्रं विषयप्रसक्तं न प्राभवद्वारयितुं न तदाश्चर्यमिति भावः ।

मरुतांपतिः देवेन्द्रः । चक्षुःप्रीतिम् चक्षूरागम् । उद्भवन्तीम् जायमानाम् । अनूद्भवन्ति पश्चाज्जायन्ते । कुसुमचापचापलानि कन्दर्पविकाराः । चक्षूरागे जाते तदनन्तरमपरे कामविकाराः समुद्भवन्ति, दुर्निरोधश्च चक्षुर्गणो, नहि लोको नेत्रद्वयमपि निरोद्धुं शक्नोति, कथं शक्रः शक्यतां स्वं नेत्राणां सहस्रं निरोद्धुं 'यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमि'ति सर्वस्यानर्थवीजतायाः प्रसिद्धेरिति भावः ॥

मुनिगृहिण्याः गौतमस्त्रियोऽहल्यायाः । पुण्यपरिणामः सुकृतपरिपाकः । अत्र वने । रामप्रवासे रामस्यागमने । अत्र वने यद्राम आगतस्तत्राहल्यासुकृतपरिपाक एव हेतुरिति तत्तर्कः ।

प्रथमम् रामप्रवासकारणम् । द्वितीयम् अन्यदपि कारणम् ।

अकथनीयम् गोपनीयम् । पुरन्दरस्य इन्द्रस्य । नन्दनः पुत्रः । प्लवगराजः

पशुमेढ्—(हंसकर) मालूम होता है इस मुनि-पत्नीका पुण्य-परिपाक ही रामके इस प्रवासमें प्रधान कारण बना है ।

शुनःशेप—यह पहली बात है ।

पशुमेढ्—(प्रार्थनाके स्वरमें) आपके इस वचनने दूसरी बात सुननेकी उत्कण्ठा जागृत कर दी है ।

शुनःशेप—मित्र, तुझे कौन बात नहीं बताई जा सकती है ? किष्किन्धामें इन्द्रका

वर्तिना दशकंधरेण सह [1]प्रवृत्तमैत्रीकमवलोक्य तु वानराच्छभल्लगोलाङ्गूलप्रभृतीनामाचार्यः सर्वा[2]मात्यानुमतो जाम्बवानवादीत् ।

पशुमेढ्रः—(सकौतुकम्[3] ।) तदो तदो । [ततस्ततः]

शुनःशेपः—(विहस्य) ततश्च राजन्मायाविनी खल्वियं राक्षसजातिः । विशेषेण महेन्द्रावस्कन्दकन्दलितविक्रमः पितृवैरी तवायं रावणः । अपि च त्वदीयदोर्मूलसंपीडनगलितपौरुषो न विश्वविजयीति स्वयमाशङ्कनीयः । नापि सामन्तान्तरजिघृक्षायामन्तरावर्तिनि समुद्रे लघु-

वानरराजः । रजनीचरचक्रवर्त्तिना राक्षसराजेन । दशकन्धरेण रावणेन प्रवृत्तमैत्रीकं प्राप्तसौहृदम् । वानराः जातिभेदाः, अच्छभल्लाः भल्लूकाः, गोलाङ्गूलाः कृष्णमुखाः मर्कटाः । सर्वामात्यानुमतः सर्वैरमात्यैः सम्प्रार्थितः । जाम्बवान् नाम वालिमन्त्री ।

मायाविनी छलनापरा । महेन्द्रावस्कन्देन शक्रपराभवेण कन्दलितः नवीभूतो विक्रमो यस्य तथाभूतः, इन्द्रदमनप्रवृद्धोत्साह इत्यर्थः । पितृवैरी पितुर्वालिजनकस्य शत्रुः । त्वदीयेन त्वत्सम्बन्धिना दोर्मूलेन बाहुना यत् सम्पीडनम् आस्कन्दनम् तेन गलितपौरुषः खण्डितपराक्रमः । पितुस्तव शत्रुस्त्वया चापि दान्तो रावण इति स त्वया शङ्कनीय इति भावः । सामन्तान्तरजिघृक्षायाम् राजान्तरस्वीकारे करणीये । अन्तरावर्त्तिनि मध्यस्थिते । समुद्रे सागरे । लघुसमुत्थः शीघ्रमुत्थातुं शक्तः । विराद्धमण्लेन सर्ववैरिणा । मैत्रम् सख्यम् अनर्थानुबन्धि अहितकरम् । अनुपकारिणी

बेटा वालि नामक वानरराज रहता है । राक्षसराज रावणके साथ उसकी मैत्री बढ़ती देख वानर, अच्छभल्ल, गोलांगूल वगैरह पशुओंके गुरु जाम्बवान्ने सभी अमात्योंकी अनुमतिसे कहा ।

पशुमेढ्र—(उत्सुकतासे) तब ?

शुनःशेप—तब जाम्बवानने कहा कि—महाराज, राक्षसजाति बड़ी मायाविनी होती है । विशेषतः यह रावण आपका पितृवैरी है क्योंकि इसके विक्रमका उदय इन्द्रके अपमानसे ही अंकुरित हुआ है । फिर यह रावण विश्वविजयी है ऐसी शङ्का मत करना, क्योंकि वह तुम्हारी काँखमें अपनी शक्तिको खो चुका है । समुद्रके बीचमें होनेके कारण वह दूसरे सामन्तपर चढ़ाईके समय शीघ्र सहायतार्थ आ भी नहीं सकता है ।

१. 'प्रवृद्ध' इति । २. 'अनुगतः' इति । ३. 'विहस्य' इति ।

समुत्थः । तदनेन विरा[1]द्धमण्डलेन सहासु[2]रविजयिना मैत्र[3]मनर्थानुबन्धि । किं च सर्वथेयमनुपकारिणी पुलस्त्यापत्येषु प्रीतिरिति भगवानिहोदाहरणं हरिणाङ्क[4]शेखरः ।

तथा हि—

उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्म वासः ।
एकालयस्थेऽपि धनाधिनाथे सख्यौ दशेयं त्रिपुरान्तकस्य ॥ ७ ॥

पशुमेढ्ः—(सहासम् ।) अहो ठेरभल्लुअस्स मन्तोवण्णासो परिहासकुसलदा अ । तदो तदो । ['अहो स्थविरभल्लूकस्य मन्त्रोपन्यासः परिहासकुशलता च । ततस्ततः' ।]

शुनःशेपः—ततश्च तद्वचनं जराप्रलपितमित्युपहसति हरीश्वर

अहिताधायिका । पुलस्त्यापत्येषु रावणादिषु । उदाहरणं निदर्शनम् । हरिणाङ्कशेखरः शशिशेखरः शिवः ।

उक्षा रथ इति । उक्षा वृषः रथः यानम् , अस्थिमाला भूषणम् अलङ्कारः, भस्म विभूतिः अङ्गरागः अनुलेपनम् , गजचर्म हस्तिकृत्तिः वासः वसनम् , धनाधिनाथे कुवेरे एकालयस्थे कैलासरूपैकपर्वतवासिनि सख्यौ मित्रे वर्त्तमानेऽपि त्रिपुरान्तकस्य शिवस्य इयम् पूर्वोक्तरूपा दशा स्थितिः अतश्च पुलस्त्यापत्यमैत्री न युक्ता, कुवेरस्यापि पुलस्त्यापत्यतयेत्थमुक्तिः ॥ ७ ॥

स्थविरभल्लूकस्य वृद्धऋक्षस्य । मन्त्रोपन्यासः मन्त्रचिन्ता । परिहासकुशलता विनोदप्रियता च ।

जराप्रलपितम् वार्धककृतमनर्थकत्वदोषयुक्तम् । हरीश्वरे वानरराजे वालिनि ।

अतः समस्त भूमण्डलके अपकारी उस रावणके साथ मित्रता करना अनर्थप्रद होगा । और सबसे बड़ी बात तो यह है कि पुलस्त्यापत्योंके साथ प्रीति करनेमें अपकार ही होता है जिसके उदाहरण रूपमें शिव प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

बैलकी सवारी है, अस्थिमाला भूषण है, भस्म चन्दन है, वस्त्रकी जगह हस्तिचर्म है, मित्र कुवेरके साथ कैलासरूप एक घरमें रहनेपर भी शिवकी यह दरिद्र दशा है ॥ ७ ॥

पशुमेढ्—(हसकर) अजी, यह बूढ़ा रीछ तो मन्त्रणा तथा परिहास दोनोंमें दक्ष है ।

शुनःशेप—जाम्बवान्‌की बातको वालिने वृद्ध-प्रलाप कहकर टाल दिया । अनन्तर

---

१. 'विराद्धभुवनमण्डलेन' इति । २. 'सुरासुरविजयिना' इति ।
३. 'अनर्थानुबन्धि भविता' इति । ४. 'शेखरोऽपि' इति ।

उपांशु तदनुमत्या महामात्यस्य केसरिणः[1] पुत्रो हनुमान्कुमारं[2] सुग्रीवमादाय ऋष्यमूकं नाम [3]पर्वतदुर्गमनुप्रविष्टः।

पशुमेढः—(साकूतम्।) अज्ज, जो सो मारुदी तेदामल्लो त्ति सुणीअदि। ['आर्य योऽसौ मारुतिस्त्रेतामल्ल इति श्रूयते'।]

शुनःशेपः—अथ किम्।

पशुमेढः—(सविचिकित्सम्।) अज्ज, जधा तधा भोदु। सामी सामी जेव्व। तं परिच्चइअ तत्सरिसो तारिसस्स महाणुभाअस्स पडिऊलपरिग्गहो। ['आर्य, यथा तथा भवतु। स्वामी स्वाम्येव। तं परित्यज्य तत्सदृशस्तादृशस्य महानुभावस्य प्रतिकूलपरिग्रहः'।]

उपांशु एकान्ते 'उपांशु तूपभेदे स्यादुपांशु विजनेऽव्ययम्' इति विश्वः। तदनुमत्या जाम्बवत्संमत्या। केसरिणः पुत्रः अञ्जनायां वायोर्जायमानः क्षेत्रजः केसरिपुत्रः। सुग्रीवम् वालिनोऽनुजं तन्नामानम्। आदाय सह नीत्वा, मारुतिः वायुसुतः हनूमान्। त्रेतामल्लः द्वितीययुगे प्रख्यातो वीरः।

अथकिम् स्वीकारार्थकमव्ययम् 'अथकिं स्वीक्रियार्थकम्' इति भरतः। सविचिकित्सम् संशयेन सह यथा तथा भवतु यादृशस्तादृशो जायताम् स्वामिना मन्त्रिकथनोल्लङ्घनेऽपि कृते मन्त्रिणस्तत्परित्यागो नोचित इति कथयति—

स्वामी स्वाम्येवेति। तं वालिनम्। तादृशस्य त्रेतामल्लतया ख्यातस्य। प्रतिकूलपरिग्रहः वैरिणा संधानम्, वालिनं परित्यज्य तद्रिपुणा सुग्रीवेण सह तादृशस्य हनूमतः सन्धानं किमुचितमिति तदाशयः।

जाम्बवान्की अनुमतिसे महामात्य केसरीके पुत्र हनुमान् कुमार सुग्रीवको लेकर ऋष्यमूक नामक दुर्गमें चले गये।

पशुमेढ—(साभिप्राय) वही मारुति, जो त्रेतामल्लके रूपमें सुने जाते हैं।

शुनःशेप—और क्या?

पशुमेढ—(सन्देहके साथ) आर्य, जो हो। स्वामी आखिर स्वामी ही है। उसे छोड़कर दूसरेका आश्रयण करना क्या उनके योग्य कार्य हुआ?

---

१. 'केसरिनाम्नः' इति। २. 'आदाय सुग्रीवम्' इति। ३. 'पर्वतं सदुर्गम्' इति।

शुनःशेपः—(विहस्य ।) [1]पुरैव किलायमाञ्जनेयो भगवतः सहस्रकिरणाद्[2]व्याकरणविद्यामधीयानस्तदात्मजन्मनो वानरयोनेः सुग्रीवस्य साहायकमभिप्रायज्ञो गुरुदक्षिणीचकार ।

पशुमेढ्रः—([3]सानन्दम् ।) हुं । ता उचिदं जेव्व गुरुपुत्तो सब्बह्मचारी वा अणुवट्टीअदि । तदो तदो । ['हुं । तदुचितमेव गुरुपुत्रः सब्रह्मचारी वानुवर्त्यते । ततस्ततः' ।]

शुनःशेपः—ततश्चाहिभयोपजापजर्जरं [4]सुहृद्गृहमुपश्रुत्य राक्षसराजः

पुरैव वालिनोऽसन्मार्गग्रहणात् पूर्वत एव । आञ्जनेयः हनूमान् । सहस्रकिरणात् सूर्यात् व्याकरणविद्याम् व्याकरणम् शास्त्रं तदात्मजन्मनः सूर्यपुत्रस्य । वानरयोनेः वानरजातौ गृहीतजन्मनः साहायकम् सहायभावम् सख्यं मैत्रीञ्च । अभिप्रायज्ञः सूर्याशयवेदी । गुरुदक्षिणीचकार गुरुदक्षिणारूपेण दातुं मनसि निश्चितवान् । यदायं हनूमान् सूर्याद् व्याकरणमधीतेस्म तदैव गुरोरभिप्रायमवेत्य तत्पुत्रस्य मन्त्रित्वं कर्त्तुं गुरोः समीपे तदिच्छया प्रतिज्ञातवान्, अतश्च न वालिनोऽसन्मार्गग्रयत्नत्वात्परित्यागः, किन्तु गुरोरिच्छया सुग्रीवानुवृत्तिरिति भावः ॥

सब्रह्मचारी सहाध्यायी । अनुवर्त्यते सेव्यते ।

अहिभयम् स्वपक्षप्रभवं भयम्, उपजापः प्रकृतिप्रकोपः, ताभ्यां जर्जरं जीर्णम्, दुरवस्थमित्यर्थः । 'महीभुजामहिभयं स्वपक्षप्रभवं भयम्', 'समौ भेदोपजापौ च' इत्युभयत्रामरः । सुहृद्गृहम् वालिभवनम् । रावणो वालिमित्रमसौ वालिनो भ्राता विरुद्धस्तत्सहचराश्च कतिपये तथेति मित्रस्य दुरवस्थतां विभाव्येत्यर्थः ।

शुनःशेप—(हसकर) पूर्वकालमें ही जब मारुति भगवान् सूर्यके पास व्याकरण विद्या पढ़ रहे थे तभी सूर्यने वानरयोनिमें उत्पन्न अपने पुत्र सुग्रीवकी सहायता हनुमान्‌से गुरुदक्षिणामें स्वीकृत करा ली थी ।

पशुमेढ्र—(सानन्द) हाँ, तब तो ठीक ही है कि गुरुपुत्र तथा सहपाठीका आश्रयण किया । फिर क्या हुआ ?

शुनःशेप—इसके बाद रावणने देखा कि मेरे मित्र वालिके गृहमें स्वपक्ष-सम्मत

---

१. 'सखे, पुरैवाञ्जनेयो' इति । २. 'व्याकरणम्' इति ।
३. 'सानन्दम्' इति क्वचिन्नास्ति । ४. 'सुहृत्कुलम्' इति ।

खरदूषणत्रिशिरोभिर्महामात्यैरधिष्ठितमात्मबलैकदेशं सिन्धोरुदीचि कूले वालिप्रतिग्रहाय प्राहिणोत् ।

पशुमेढ्रः—कधं अपरिहीणमित्तधम्मो वि सो रक्खसो । ['कथमपरिहीनमित्रधर्मोऽपि स राक्षसः ।]

शुनःशेपः—सखे, किमुच्यते । रावणः खल्वसौ ।

प्रियाकर्तुं त्वस्मै नवनिजशिरःकर्तनरस-
प्रहृष्यद्रोमा यः स परमिह लङ्कापरिवृढः ।
विलक्षव्यापारं किमपि ददृशुर्यस्य दशमं
शिरस्ते मूर्धानः क्षणधृतपुनर्जन्मसुभगाः ॥ ८ ॥

महामात्यैः प्रधानैः स्वसचिवैः । अधिष्ठितम् नियन्त्रितम्, आत्मबलैकदेशम् स्वसैन्यावयवम् उदीचि कूले उत्तरतटे । वालिप्रतिग्रहाय वालिरक्षायै । प्राहिणोत् प्रहितवान् ।

१ अपरिहीनमित्रधर्मः—अत्यक्तमित्रसहायतः ।

किमुच्यते राक्षसराजोऽसौ अपरिहीनमित्रधर्म इति किमुच्यते, अर्थात् रावणो मित्रकार्यं न विस्मरतीति किं वक्तव्यम्, असौ राक्षसः सन्नपि सर्वमपि व्यवहारं मानवोचितं ततोऽपि वा विलक्षणं बिभर्त्तीति तात्पर्यम्, स्फुटीभविष्यति च तदग्रेतनश्लोकेन ।

प्रियाकर्त्तुमिति । नवनिजशिरःकर्त्तने नवसंख्यकस्वशिरश्छेदने यो रसो रागस्तेन प्रहृष्यद्रोमा रोमाञ्चितसमग्रदेहः स लङ्कापरिवृढः रावणस्तु अस्मै वालिने प्रियाकर्त्तुं हितं सम्पादयितुं परम् प्रधानम्, अस्मै वालिने रावण एव सर्वाधिकप्रियकर्त्तृतयोपकारक्षम इति । यस्यास्य रावणस्य क्षणधृतपुनर्जन्मसुभगाः क्षणेन कर्त्तनक्षणमात्रेण धृतं पुनर्जन्म तेन सुभगाः कर्त्तनमात्र एव पुन तजन्मान इत्यर्थः । ते शिवायोपहृताः मूर्धानः शिरांसि किमपि विलक्षव्यापारं सलज्जव्यापारं दशमं

भयकी स्थिति है तब उसने खरदूषण और त्रिशिरा नामक अपने महात्माओंकी देख-रेखमें अपनी सेनाकी एक टुकड़ी समुद्रके उत्तर तटपर वालिकी सहायताके लिये भेजी ।

पशुमेढ्र—क्यों, राक्षस होकर उसने धर्मका त्याग नहीं किया ।

शुनःशेप—मित्र, क्या कहना है, वह रावण है ।

वह रावण ही वालिकी प्रसन्नताके लिये पर्याप्त हो सकता है जिसने अपने नव मस्तकोंको काटकर भक्तिप्रसूत रोमाञ्च धारण किया था तथा जिसके सद्यःप्रसूत नव-मस्तकोंने उसके दशम सिरको अखण्डित रह जाने के कारण लज्जित होते देखा था ॥८॥

पशुमेढ्रः—(सकौतुकम् ।) तदो तदो । [ततस्ततः ।]

शुनःशेपः—ततः सुकेतुसुता नागसहस्रबलधारिणी ताडका नाम राक्षसी तस्मादनीकादागत्य मनुष्यमण्डलविहारकौतुकादिमामस्मदीयां भूमिमधिवसति ।

पशुमेढ्रः—(सकौतुकम् ।) णाअसअस्सबला इत्थी अत्ति त्ति अस्सुदपुव्वं क्खु एदं । तदो तदो । ['नागसहस्रबला स्त्री अस्तीत्यश्रुतपूर्वं खल्वेतत् । ततस्ततः' ।]

शुनःशेपः—ततश्च श्रौतस्य विधेः प्रत्यूहमस्याः शङ्कमानः कुलपतिरिमौ दाशरथी रामलक्ष्मणावानीतवान् ।

पशुमेढ्रः—जाणे रामभद्दो त्ति को वि रक्खसाणं उवरि अवइण्णो क्खु एसो । ['जाने रामभद्र इति कोऽपि राक्षसानामुपर्यवतीर्णः खल्वसौ' ।]

शिरो ददृशुः दृष्टवन्तः । नवसु शिरस्सु छिद्यमानेषु पुनः प्ररोहत्सु च दशमं शिरो लज्जितमिव स्थितमिति भावः, एतादृशाद्भुतप्रभावो रावणो वालिनः सर्वाधिकप्रिय इत्याशयः ॥ ८ ॥

नागसहस्रबलधारिणी सहस्रसंख्यकगजबलसम्मितबला । तस्मात् वालिरक्षार्थं रावणेन प्रहितात् । अनीकात् सैन्यात् । मनुष्यमण्डलविहारकौतुकात् मनुजसमाजमध्यविहारकौतूहलात् । अस्मदीयाम् अस्मदुषिताम् । अधिवसति अधितिष्ठति । अश्रुतपूर्वम् अन्यस्यां कस्यांचन स्त्रियामनाकर्णितम् , अपूर्वमित्यर्थः ।

श्रौतस्य विधेः यज्ञकर्मणः । प्रत्यूहम् विघ्नम् । कुलपतिः विश्वामित्रः । आनीतवान् तपोवने नीतवान् ।

राक्षसानाम् उपरि अवतीर्णः सकलराक्षसविजयितया भुवमागतः ।

पशुमेढ्—(कौतुकसे) फिर क्या हुआ ?

शुनःशेप—अनन्तर सुकेतुकी पुत्री हजार हाथियोंके तुल्यवलवाली ताड़का राक्षसी उस सैन्यसमूहसे निकलकर मनुष्य-मण्डलमें विहारकी उत्कण्ठासे हमारी भूमिमें आ गई ।

पशुमेढ्—(कौतुकसे) हजार हाथियोंके तुल्य वलवाली स्त्री होती है, यह वात पहले मैंने नहीं सुनी थी । फिर क्या हुआ ?

शुनःशेप—अनन्तर उससे यज्ञका विघ्न समझकर हमारे कुलपतिने रामलक्ष्मणको यहां ला रखा है ।

पशुमेढ्—मैं समझता हूँ रामभद्र मानों राक्षसोंके ऊपर (लिये) अवतीर्ण हुए हैं ।

शुनःशेपः—सखे, एवमेतत् । रामभद्र इति कोऽप्ययं चतुरक्षरो राक्षसरक्षासिद्धमन्त्रः । विशेषेण पुनरिदानीं भगवता कौशिकेन ब्रह्मज्योतिषस्तादृशं विवर्तमाश्चर्यं दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापितः ।

पशुमेढ्रः—मण्णे मन्तमईहिं अत्थदेवदाहिं समं बलादिबलाओ सत्तीओ वि रामे संकमिस्सन्ति । ['मन्ये मन्त्रमयीभिरस्त्रदेवताभिः समं बलातिबले शक्ती अपि रामे संक्रमिष्यतः' ।]

शुनःशेपः—अथ किम् । तदपि [1]वृत्तमेव ।

पशुमेढ्रः—अज्ज, णं भणामि जइ णिआओ जेव्व सत्तीओ णिआओ जेव्व अत्थविज्जाओ, ता किं त्ति अत्तणो विग्घोवसमे राहवस्स गोरअमुप्पादेदि तत्थभवं कोसिओ । [2]अहवा पाहुणहत्थेण सप्पमारणं

रात्तसरत्तासिद्धमन्त्रः रामभद्रस्य नाममात्रे गृहीते रात्तसापादानकं भयं निवर्त्तत एवेति रामनाम्नो रात्तसरत्तासिद्धमन्त्ररूपत्वमुक्तम् । ब्रह्मज्योतिषः वेदरूपस्य तेजसः । विवर्त्तम् स्वरूपभेदम् । वेदस्यांशभूतमित्यर्थः । दिव्यास्त्रपारायणम दिव्यास्त्रोपस्थितिकारणीभूतम् । रामो हि स्वत एव रात्तसेभ्यस्त्राता विशेषतः सम्प्रति विश्वामित्रेण दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापित इति तन्नाममात्रे गृह्यमाणे रात्तसभयं निवर्त्तत एवेति भावः ॥

मन्त्रमयीभिः मन्त्रोच्चारणमात्रसमुपस्थायिनीभिः । बलातिबले शक्ती तदाख्यविद्याभेदौ । संक्रमिष्यतः समुपस्थास्यतः । बलातिबलाविद्यायां लब्धायां पुमान्मासमेकं तृप्तस्तिष्ठतीति तद्विद्याप्रभावः ।

वृत्तमेव बलातिबलयोर्विद्ययोः रामे संक्रमो जात एवेति भावः ।

शुनःशेप—सखे, यही बात है । रामभद्र यह चार अक्षरोंका राक्षससे रक्षार्थ सिद्ध मन्त्र है, खास करके अब जबकि हमारे कुलपतिने रामभद्रको ब्रह्मज्योतिके परिणामरूप दिव्यास्त्र मन्त्रकी शिक्षा उन्हें दे दी है ।

पशुमेढ्र—मालूम पड़ता है मन्त्रमयी देवताओंके साथ बलातिबला नामक शक्तियाँ भी रामभद्रको प्राप्त हो गई हैं ।

शुनःशेप—और क्या ? वह भी हो चुका है ।

पशुमेढ्र—मैं कहता हूँ, यदि अपनी ही शक्तियाँ हैं और अपनी ही अस्त्रविद्यायें हैं

१. 'संवृत्तमेव' इति । २. (विहस्य ।) 'अहवा' इति ।

क्खु एदम् । ['आर्य, ननु भणामि यदि निजा एव शक्तयो निजा एवास्त्रविद्याः, तत्किमित्यात्मनो विघ्नोपशमे राघवस्य गौरवमुत्पादयति तत्रभवान्कौशिकः' । अथवा प्राघुर्णकहस्तेन सर्पमारणं खल्वेतत् ।]

शुनःशेपः—सखे, अनभिज्ञोऽसि । स्वयं प्रयोगादन्तेवासिभिर्विहितः प्रयोगो महिमानमाचार्याणामुपचिनोति । पश्य

स्थानेषु शिष्यनिवहैर्विनियुज्यमाना
विद्या गुरुं हि गुणवत्तरमातनोति ।
आदाय शुक्तिषु वलाहकविप्रकीर्णै
रत्नाकरो भवति वारिभिरम्बुराशिः ॥ ९ ॥

किं च दीक्षि[1]ष्यमाणा न क्रुध्यन्तीति रक्षितारं क्षत्रियमुपाददते ।

निजा एव शक्तयो निजा एव—यदि विश्वामित्रस्य हृदि तास्ताः शक्तयोऽस्त्रविद्याश्च सन्ति तदा रामानयनं किमर्थमिति प्रघट्टकार्थः ।

स्वयंप्रयोगात् आत्मना कृतात् अस्त्रप्रयोगात् । यद्याचार्यः स्वयं प्रयुङ्क्ते ततो यावद्यशः तदपेक्षया विद्यार्थिविहिते प्रयोगे आचार्यस्याधिकं यशो जायत इत्यर्थः ।

स्थानेष्विति । स्थानेषु उपयुक्तकालपात्रादिषु शिष्यनिवहैः छात्रसमुदयैः विनियुज्यमाना प्रयुज्यमाना विद्या गुरुम् आचार्यम् गुणवत्तरम् सातिशयगुणशालिनम् आतनोति प्रख्यापयति । आदाय सागरात् गृहीत्वा वलाहकविप्रकीर्णैः मेघगणविक्षिप्तैः वारिभिः जलैः अम्बुराशिः सागरः शुक्तिषु रत्नाकरो भवति । सागरादेव पानीयमादाय स्वातीनक्षत्रयोगाद् मेघैः शुक्तिषु क्षिप्तैरम्बुभिः मुक्ताभावं गतैः सागरो रत्नाकरपदं प्राप्नोति, तथैव स्थाने शिष्यैर्विनियुज्यमानया विद्ययाऽऽचार्यो गुणवत्तरताख्यातिं लभत इति । प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः ॥ ९ ॥

दीक्षिष्यमाणाः यज्ञं करिष्यन्तः । उपाददते आश्रयन्ति ॥

तब भगवान् विश्वामित्र अपने विघ्नोंकी शान्तिमें रामको क्या गौरव प्रदान कर रहे हैं ? अथवा, यह अतिथिके हाथसे साँपका मरवाना ही है ।

शुनःशेप—मित्र नहीं जानते हो । अपने द्वारा किये प्रयोगकी अपेक्षा विद्यार्थियों द्वारा किया गया प्रयोग आचार्योंकी महिमाको अधिक बढ़ाता है । देखो—स्थानपर शिष्यों द्वारा प्रयुक्त विद्या गुरुकी गुणवत्तरताको द्योतित करती है मेघों द्वारा शुक्तियोंमें डाले गये जलोंसे ही सागर रत्नाकर कहलाता है ॥ ९ ॥

और यह भी बात है कि यज्ञमें दीक्षितोंको कोप नहीं करना होता है इसलिये रक्षार्थ क्षत्रियको नियोजित करते हैं ।

---

१. दीक्षमाणा इति ।

पशुमेढ्रः—अज्ज, सोहणं मन्तेसि । अण्णं वि किं वि पुच्छिदुकामो ह्मि । [अन्यदपि किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि ।]

शुनःशेपः—किं तत् ।

पशुमेढ्रः—सव्वधा णिगूढं वि वाणराणं छग्गुणत्थं कधं अज्जेण पडिवण्णम् । [सर्वथा निगूढमपि वानराणां षाड्गुण्यं कथमार्येण प्रतिपन्नम् ।]

शुनःशेपः—सखे, सर्वमेतदयोध्यायात्रायां समाधिमयेन चक्षुपा साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य तातविश्वामित्रस्य मुखादश्रौषम् । (सर्वतोऽवलोक्य ।) [1]अये, प्राभातिकी [2]भुवनस्य लक्ष्मीः । तथा हि ।

प्रत्यग्रज्वलितैः पतङ्गमणिभिर्नीराजिता भानवः
सावित्राः कुरुविन्दकन्दलरुचः प्राचीमलंकुर्वते ।

निगूढम् गुप्तम् । षाड्गुण्यम् सन्ध्यादिषड्गुणप्रयोगचिन्तारूपमन्त्रणा । आर्येण त्वया शुनःशेपेन । प्रतिपन्नम् ज्ञातम् ॥

अयोध्यायात्रायाम् यज्ञरक्षार्थं राममानेतुमयोध्यागमनसमये । समाधिमयेन ध्यानरूपेण । चक्षुपा नेत्रेण । साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य लोकत्रयवृत्तं जानतः, ज्ञानदृष्ट्या सर्वमपि वृत्तं प्रत्यक्षमीक्षमाणस्य । प्राभातिकी प्रातःकालिकी ।

पत्यग्रेति । प्रत्यग्रज्वलितैः सूर्यकरस्पर्शेन तत्कालप्रदीप्तैः पतङ्गमणिभिः सूर्यकान्तोपलैः नीराजिताः समुत्तेजिताः अतएव कुरुविन्दकन्दलरुचः पद्मरागनवाङ्कुरसमानकान्तयः सावित्राः सूर्यसम्बन्धिनो भानवः प्राचीम् पूर्वदिशम् अलङ्कुर्वते भूषयन्ति । सपदि जायमाने सूर्यप्रकाशे सद्यः प्रज्वलद्भिः सूर्यकान्तकिरणैः समुत्तेजिताः सूर्यकराः प्राचीं दिशमलङ्कुर्वते, ये पद्मरागनवाङ्कुरवत् प्रतीयन्ते । इत्याद्य-

---

पशुमेढ्र—आर्य, ठीक कहते हो, और भी कुछ मुझे पूछना है ।

शुनःशेपः—वह क्या है ?

पशुमेढ्र—सर्वथा छिपे इस वानरोंके रहस्यको आपने कैसे समझा ?

शुनःशेप—सखे ! अयोध्यायात्रामें आचार्य विश्वामित्रके मुखसे ही यह सारी बात मैंने सुनी थी, उन्होंने समाधिदृष्टिसे त्रिभुवनवृत्तान्तका ज्ञान किया था (चारों ओर देखकर) अहा ! प्रभातकालकी कैसी शोभा है ?

तत्काल प्रज्वलित सूर्यकान्तमणियोंसे नीराजित सूर्यकिरणें विद्रुमदण्डकी तरह

---

१. 'अहो' इति । २. 'भुवनलक्ष्मीः' इति ।

प्रौढध्वान्तकरालितस्य वपुषश्छायाच्छलेन क्षणा-
दप्रक्षालितनिर्मलं जगदहो निर्मोकमुन्मुञ्चति ॥ १० ॥

अपि च—

पीत्वा भृशं कमलकुड्मलशुक्तिकोषा
दोषातनीं तिमिरवृष्टिमथ स्फुटन्तः ।
निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषाद्वमन्ति
बिभ्रन्ति कारणगुणानिव मौक्तिकानि ॥ ११ ॥

अपि च—

विकसितसंकुचितपुनर्विकस्वरेष्वम्बुजेषु दुर्लक्ष्याः ।

पादद्वयस्यार्थः । अहो आश्चर्यम् जगत् संसारः छायाच्छलेन अनातपव्याजेन प्रौढध्वान्तेन गाढान्धकारेण करालितस्य आच्छादितस्य वपुषः स्वशरीरस्य अप्रक्षालितनिर्मलम् अक्षालितमपि स्वच्छम् निर्मोकम् कञ्चुकम् उन्मुञ्चति त्यजति । छायारूपतमोवृतमिदं जगत् प्रकाशमासादयत् निर्मोकमिव जहातीत्यर्थः । अपह्नुतिरत्रालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

पीत्वेति । कमलानां पद्मानां कुड्मलानि कलिकाः एव शुक्तिकोषाः मुक्तास्फोटाः ते दोषातनीं रात्रिसमयसञ्जाताम् तिमिरवृष्टिम् अन्धकारम् भृशम् अत्यर्थम् पीत्वा निगीर्य अथ प्रभाते निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषात् निर्यद्भ्रमरसमूहव्याजात् कारणगुणान् बिभ्रन्ति धारयन्ति इव मौक्तिकानि वमन्ति आविर्भावयन्ति । निशि कमलानि यावन्तमन्धकारं पीतवन्ति, तान्येव तत्र कोषे मुक्ताभावमापद्य कारणगुणानुबन्धित्वात्कार्याणां श्यामानि मौक्तिकानीव भ्रमरान्प्रातर्वमन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । अत्र कमलकोषा एव मुक्ताशुक्तयः, निशि पीतोऽन्धकार एव जलभरो यो मुक्ताभावं प्राप्तः, कारणस्य श्यामतया मौक्तिकानामपि श्यामता, भ्रमरा एव मौक्तिकानीति च यथायथमवसेयम् ॥ ११ ॥

विकसितेति । मधुलिहां भ्रमराणाम् अर्घः आदरातिशयः विकसितानि पूर्वदिने

रक्ताभ दीखती तथा प्राची दिशाको अलंकृत करती हैं, प्रौढ़ अन्धकारसे आवृत अपने शरीरकी छायाके रूप में यह जगत् अन्धकाररूप अपना निर्मोक त्याग कर रहा है ॥ १० ॥

कमल-कोषरूप शुक्तियोंने रात्रिके अन्धकाररूप जलको पी लिया और निकलते हुए भ्रमर-समुदायरूप मुक्ताको निकाल रहे हैं, अन्धकाररूप जलसे बननेवाले भ्रमररूप मुक्तागण कारणगुण-समान कार्य होते हैं—इसलिये काले हैं ॥ ११ ॥

कमल शीघ्र-शीघ्र विकसित संकुचित तथा पुनर्विकसित हो रहे हैं इनमें कौन

कलिकाः कथयति नूतनविकासिनीर्मधुलिहामर्घः ॥ १२ ॥

(आदित्य[1]मण्डलं निर्वर्ण्य ।)

कटुभिरपि कठोरचक्रवाकोत्करविरहज्वरशान्तिशीतवीर्यैः ।
तिमिरहतमयं महोभिरञ्जयति जगन्नयनौघमुष्णभानुः ॥ १३ ॥

प्रफुल्लानि सङ्कुचितानि पुनर्निशि निमीलितानि पुनर्वर्त्तमानदिने विकस्वराणि विकासशीलानि यानि कमलानि तेषु दुर्लक्ष्याः परिचेतुमशक्याः नूतनविकासिनीः अद्यैव प्रथमवारं प्रस्फुटिताः कलिकाः कथयति बोधयति । विकसितेषु बहुषु कमलेषु कतिचित् कमलानि दिनत्रयाद्विकसन्ति कानिचिद्दिनद्वयात् कानिचिच्चाद्य प्रथममेव विकसितानि, तेषु का कलिका नूतनविकासिनी का च प्राचीनेति विवेकस्यान्यथाकर्त्तुमशक्यतया भ्रमरादरातिशयदर्शनमेव विवेकहेतुः, यत्र भ्रमराणामादराधिक्यं सा कलिका प्रत्यग्रविकसिता, या च प्राचीनविकासा तस्या मन्दमधुत्वात्, प्रत्यग्रविकसितायाश्चाक्षतमधुतया समधिकादरभाजनत्वमिति बोध्यम् । 'पूजायां मकरन्देऽपि भवेदर्घस्तथाऽऽदरे' इति विश्वः ॥ आर्यावृत्तम् ॥ १२ ॥

कटुभिरपीति । अयम् उष्णभानुः सूर्यः कटुभिः ईषत्तीक्ष्णैः अपि कठोरो दारुणः यः चक्रवाकोत्कराणां चक्रवाकवृन्दानां विरहः तेन यो ज्वरः सन्तापः तस्य शान्तौ शमने शीतवीर्यैः शीतलस्वभावैः महोभिः स्वकिरणैः तिमिरहतम् अन्धकारक्षपितम् आन्ध्यरूपरोगनष्टञ्च जगताम् नयनौघम् नेत्रचयम् अञ्जन् अञ्जितं कुर्वन् जयति । यथा कटुशीतलं पिप्पल्यादिद्रव्यं तिमिरहतदृष्टीनां जनानामञ्जनकर्मणि उपकारकं भवति तथैव कटवोऽपीमे भानुभानवो विरहपराभूतचक्रवाकतापशमने दृष्टशीतवीर्यताभाजो लोकलोचनानि तमःपराहतानि स्वसम्पर्कात् रूपग्रहणसमर्थानि कृत्वाऽञ्जनवन्तीव कुर्वत इति भावः । पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणम् ॥ १३ ॥

कलिकायें हैं और कौन कमल ? इस बातका निर्णय भ्रमरों द्वारा किये गये आदरसे ही होता है ॥ १२ ॥

(सूर्यमण्डलको देखकर)

कटु होनेपर भी चक्रवाक-समुदायके कठोर विरह-ज्वरको शान्त करनेमें शीतवीर्य प्रमाणित होनेवाले अपने तेजसे संसारकी आंखोंको अञ्जित करनेवाले भगवान् सूर्यकी जय हो ॥ १३ ॥

---

१. 'आदित्यं निर्वर्ण्य च' इति ।

तदनुजानीहि मां समिदाहरणाय।

पशुमेढ्रः—अहं वि खत्तिअकुमाराणं दंसणे उक्कण्ठिदोह्मि। ता कधेहि कहिं पेक्खामि। [अहमपि क्षत्रियकुमारयोर्दर्शने उत्कण्ठितोऽस्मि। तत्कथय कुत्र प्रेक्षे।]

शुनःशेपः—(विहस्य।) नन्वेतावेव यज्ञवाटमुत्तरेण विहारभूमिषु क्रीडतः। तदुपेत्य निःशङ्कमवलोकय।

(इति निष्क्रान्तौ।)

विष्कम्भकः।

(ततः प्रविशतो रामलक्ष्मणौ।)

रामः—अहो विचित्रमिदमायतनं सि[1]द्धाश्रमपदं नाम भगवतो गाधिनन्दनस्य।

अनुजानीहि अनुमन्यस्व। समिदाहरणाय काष्ठान्याहर्तुम्॥

यज्ञवाटम् यज्ञभूमेरुत्तरस्यां दिशि। 'एनपा द्वितीया' इति यज्ञवाटस्य कर्मता। विहारभूमिषु विचरणप्रदेशेषु।

विष्कम्भकः 'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। सङ्क्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः। मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः॥

स चायं मिश्रविष्कम्भकः, मध्यमोत्तमपात्रप्रयोजितत्वात्॥

आयतनम् स्थानम्। सिद्धाश्रमपदम् वामनमूर्तेर्भगवतो हरेः स्थानम्। गाधिनन्दनस्य विश्वामित्रस्य।

अच्छा तो अब मुझे लकड़ी लानेके लिये जानेकी अनुज्ञा दो।

पशुमेढ़—मैं भी क्षत्रिय कुमारोंको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहा हुँ, अतः यह तो बताओ कि वे हैं कहाँ?

शुनःशेप—(हंसकर) यही तो यज्ञस्थलकी उत्तर ओर विहारभूमिमें खेल रहे हैं, जाओ निःशङ्क होकर देखो। (दोनोंका प्रस्थान)

(विष्कम्भक)

(राम और लक्ष्मणका प्रवेश)

राम—अहा! गाधिनन्दनका यह सिद्धाश्रम नामक आश्रम बड़ा विचित्र है।

---

१. 'सिद्धाश्रमं नाम' इति।

तत्तादृक्तृणपूलकोपनयनक्लेशाच्चिरद्वेषिभि-
र्मेध्या वत्सतरी विहस्य वटुभिः सोल्लुण्ठमालभ्यते ।
अप्येष प्रतनूभवत्यतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटै-
रापीतो मधुपर्कपाकसुरभिः प्राग्वंशजन्मानिलः ॥ १४ ॥

लक्ष्मणः—आर्य, किलात्रैव

देवः कौस्तुभकिंजल्कनीलोत्पलमसौ हरिः ।
स्वयं किमपि तत्तेपे तपः कपटवामनः ॥ १५ ॥

तत्तादृगिति । तत्तादृक् दुःखजनकं यत्तृणपूलकोपनयनम् तृणमुष्ट्युपहरणम् तत्क्लेशात् चिरद्वेषिभिः बहुदिवसधृतशत्रुभावैः (सर्वदा तासां गवां कृते तैर्वटुभिः तृणपूलकानामानयनं क्रियते, तत्र कर्मणि क्लेशं वहन्तो वटवो गवां द्वेषिणः सन्ति) वटुभिः विहस्य प्रसन्नहसितैः मेध्या सर्वलक्षणपवित्रा वत्सतरी द्विवर्ष-वयस्का गौः सोल्लुण्ठम् सोपहासम् आलभ्यते मार्यते । 'महोक्षं वा वत्सतरीं दद्यादतिथये गृही'ति स्मृतेर्गोवधस्य शास्त्रोक्ततया वटवो गवां वधं कुर्वन्तीति भावः । अपि एषः मधुपर्कपाकसुरभिः हूयमानमधुपर्कस्य पाकेन सुगन्धितः अत एव अतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटैः आपीतः सादरं विकसितघ्राणेन्द्रियमाघ्रातः प्राग्वंशजन्मानिलः हविर्गेहवातः प्रतनूभवति क्षीयते ॥ आङ्पूर्वो लभिर्मारणार्थः, 'श्वेतं छागमालभेत' इत्यत्र यथा । 'आलम्भपिञ्जविशरघातोन्माथवधा अपि' इत्य-मरः । 'प्राग्वंशः प्राग्घविर्गेहात्' इति च ॥ १४ ॥

देव इति । कौस्तुभो नारायणवक्षःस्थितो मणिविशेषः स एव किञ्जल्कः केसरो यस्य तादृशम् नीलोत्पलम् नीलकमलम् असौ देवो हरिः कपटवामनः स्वेच्छा-गृहीतवामनरूपः स्वयं किमपि अनिर्वचनीयरूपमविभाव्यफलं च तपः (अत्र) तेपे अनुष्ठितवान् । अतोऽस्य स्थानस्य महत्त्वम् । इह भगवतोऽतिश्यामत्वान्नीलो-त्पलत्वेन रूपणम् , कौस्तुभस्य च भगवतो हृन्मध्यस्थितत्वाद्दीप्तिमत्त्वाच्च किञ्जल्क-त्वेन रूपणं बोध्यम् । हरिणा त्रिविक्रमेण किल बलिच्छलनार्थं वामनरूपं कृत्वा तत्र

वटुओंको घास खिलाना पड़ता था इसी द्वेषसे वे उलाहना देकर मैध्यवत्सतरीका वध करते हैं, मधुपर्क-पाकसे सुगन्धित प्राग्वंश वेदीकी यह आग अतिथियों द्वारा विस्तारित नासापुटसे पीयमान होनेके कारण क्षीण होती जाती है ॥ १४ ॥

लक्ष्मण—आर्य, यहीं पर—

कौस्तुभरूप जिनका किञ्जल्क है ऐसे नीलकमलस्वरूप भगवान् विष्णुने कपट वामना-वतारमें कुछ अद्भुत तप किया था ॥ १५ ॥

इत्थमेतन्महातीर्थमध्यासीना द्विजातयः।
अकुतोभयसंचाराः षट्कर्माणि प्रयुञ्जते॥ १६॥

([1]अन्यश्च दृष्ट्वा।) आर्य,

पश्यैते पशुबन्धवेदिवलयैरौदुम्बरीदन्तुरै-
र्नित्यव्यञ्जितगृह्यतन्त्रविधयो रम्या गृहस्थाश्रमाः।
यत्रामी गृहमेधिनः प्रचलितस्वाराज्यसिंहासना
वैतानेषु कृपीटयोनिषु पुरोडाशं वषट्कुर्वते॥ १७॥

सिद्धाश्रमे तपस्तप्तमिति कथात्रानुसन्धेया। 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्', 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्युभयत्रामरः॥ १५॥

इत्थमेतदिति। इत्थम् वामनकृततपस्याधिकरणतया एतत् सिद्धाश्रमनाम महातीर्थम् अतिपावनं स्थानमध्यासीनाः आश्रिताः द्विजातयो ब्राह्मणाः अकुतोभयसञ्चाराः सर्वतो निर्भयसञ्चाराः सन्तः षट्कर्माणि दानादिषट्शास्त्रोक्तकर्माणि प्रयुञ्जते अनुतिष्ठन्ति। 'दानमध्यापनं पितृतर्पणातिथिपूजनम्। होमो बलिश्च विप्राणां षट् कर्माणि दिने दिने' इति। यद्वा यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहाः षट् कर्माणि॥ १६॥

पश्यैत इति। पश्येत्यस्य वाक्यार्थः कर्म। पशुबन्धो यागभेदस्तस्य वेदयः परिष्कृता भूमयस्तासां वलयैः समूहैः औदुम्बरीदन्तुरैः उदुम्बरकाष्ठकृतस्थूणायुक्तैः नित्यव्यञ्जितः सततप्रकाशितो गृहतन्त्रविधिः गृह्योक्तकर्मजातानि येषु तादृशाः रम्याः गृहस्थाश्रमाः सन्तीति शेषः। यत्र गृहस्थाश्रमेषु अमी गृहमेधिनः सदारा गृहिणः प्रचलितस्वाराज्यसिंहासनाः प्रचलितम् 'मामयमधिकरिष्यती'ति हेतोः कम्पितं स्वर्गराज्यासनं येभ्यस्तादृशाः वैतानेषु यज्ञसंबन्धिषु कृपीटयोनिषु अग्निषु वषट्कुर्वते जुह्वति। पशुबन्धयागे हि पशुर्वध्यते औदुम्बरीस्पर्शश्च क्रियते, 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति स्मरणात्। यद्वा औदुम्बरी सर्पफणाकारः काष्ठभेदो यः खलु

इस प्रकार इस महातीर्थमें रहनेवाले ब्राह्मणगण निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य यजन-याजनादि षट्कर्मका प्रयोग किया करते हैं॥ १६॥

आप देखें—यह हैं यहाँके रमणीय गृहस्थाश्रम, जिनमें पशु-बन्धन-वेदीके वेष्टन स्वरूप औदुम्बरकाष्ठ उच्च-नीचता उत्पन्न कर रहे हैं, और जहाँपर स्वर्ग राज्यके सिंहासनको प्रचलित कर देनेवाले गृहमेधीगण यज्ञिय वह्निमें पुरोडाशका होम किया करते हैं॥ १७॥

---

१. 'अन्यत्र च' इति।

रामः—([1]सहर्षस्मितम् ।) [2]वत्स, इतोऽपि [3]तावत्कृतार्थयावश्चक्षुषी । प्रसन्नपावनोऽयमृषीणां समवायः । इदममीषाम्

पूरयित्वेव सर्वाङ्गमतिरिक्ताः शिराततीः ।
जटारूपेण बिभ्राणैः शिरोभिर्गहनं सदः ॥ १८ ॥

किं च—

तपःकृशतरैरङ्गैः स्रष्टुमाकारितैरिव ।
सायं प्रातरमी पुण्यमग्निहोत्रं [4]प्रयुञ्जते ॥ १९ ॥

(इति परिक्रमतः ।)

पशुबन्धार्थं निखात्य ध्रियते । 'दन्तुरस्तून्नते दन्ते तथोन्नतनतेऽपि च' इति मेदिनीकारः । 'कृपीटयोनिर्ज्वलनः' इत्यमरः ॥ १७ ॥

कृतार्थयात्रः सार्थकीकुर्वः । चक्षुषी नयने । प्रसन्नपावनः सुन्दरः पवित्रश्च । समवायः समुदायः ।

पूरयित्वेति । अमीषाम् ऋषीणाम् सदः सभा गोष्ठीत्यर्थः, सर्वाङ्गम् पूरयित्वा व्याप्य इव अतिरिक्ताः उर्वरिताः शिराततीः शिरासमुदयान् जटारूपेण जटास्वरूपेण बिभ्राणैः शिरोभिः गहनम् व्याप्तम् अस्तीति शेषः । एषां मुनीनां शिरस्सु वर्त्तमानाः जटाः सर्वाङ्गव्याप्तासु शिरासु अवशिष्टाभिः शिराभिरिव घटिताः प्रतीयन्त इत्यर्थः ॥१८ ॥

तपःकृशेति । स्रष्टुम् निर्मातुम् आकारितैः कल्पिताकारैः अपूरितैरिव तपःकृशतरैः तपस्याक्षामैः अङ्गैः करचरणादिभिः उपलक्षिताः अमी ऋषयः पुण्यम् पवित्रताकरम् अग्निहोत्रम् यागविशेषम् प्रयुञ्जते कुर्वते । अन्यत्रापि चित्रलिखितादौ प्रथमं रेखा क्रियते ततो वर्णैः पूर्यते, तथैवैषां तपःकृशानामृषीणामङ्गानि रेखाभिरिव रचितानि प्रतिभान्ति । अस्थिपुञ्जनिभा इमेऽग्निहोत्रमाचरन्तीति भावः ॥ १९ ॥

राम—(हर्षसे हंसकर) वत्स, इधर भी अपनी आंखें कृतार्थ करें, प्रसन्न तथा पावन यह है ऋषियों का समुदाय । यह है इनकी गोष्ठी,

सिरा-समुदायोंसे ही इनके सर्वाङ्ग बनाये गये हैं और जो सिरायें बचगई हैं उन्हें ये जटा रूपमें शिरोदेशमें रक्खे हुए हैं ॥ १८ ॥

तपस्यासे कृश इनके अङ्ग ऐसे दीखते हैं मानो बनानेके लिये खाके तैयार किये गये हों । यह मुनिगण सायं-प्रातः पवित्र अग्निहोत्र किया करते हैं ॥ १९ ॥

---

१. 'सहर्षम्' इति । २. 'वत्स, लक्ष्मण' इति ।
३. 'तावत्कृतार्थय' इति । ४. 'उपासते' इति ।

लक्ष्मणः—(सहासम् ।) आर्य, रमणीयमितो वर्तते ।

बालेयतण्डुलविलो[1]पकदर्थिताभि-
रेताभिरग्निशरणेषु सधर्मिणीभिः ।
[2]तत्त्रासहेतुमपि दण्डमुदस्यमान-
माघ्रातुमिच्छति मृगे मुनयो हसन्ति ॥ २० ॥

रामः—(परिक्रामन्सकौतुकानुरागम् ।) वत्स, [3]इतस्तावत् ।

आर्द्रप्रसूतिरियमङ्गनयज्ञवेदि-
नैदिष्ठमेव हरिणी तृणुते [4]तृणं च ।
वत्सीयतापसकुमारकरोपनीत-
नीवारनिर्वृतमपत्य[5]मवेक्षते च ॥ २१ ॥

बालेयेति । बलिः पूजोपहारः तस्मै हितं बालेयम् तादृशस्य तण्डुलस्य विलोपेन भक्षणद्वाराऽपहरणेन कदर्थिताभिः क्लेशिताभिः सधर्मिणीभिः स्त्रीभिः अग्निशरणेषु होमगृहेषु तत्त्रासहेतुम् तण्डुलकणापहारिमृगभयजनकतयोदस्यमानम् उत्थाप्यमानम् दण्डम् मृगे आघ्रातुमिच्छति सति मुनयो हसन्ति । अग्न्यगारे बलिकर्मणे तण्डुलन्यासः कृतः, आश्रयमृगास्तान्भक्षयन्ति, तेषामनया चेष्टया मुनिललनाः कदर्थिताः सत्यो मृगांस्तान् भीषयितुं दण्डमुदस्यन्ति, मृगाश्च भयापरिचिततया तमपि दण्डमाघ्रातुमिच्छन्ति, तदिदं सर्वमालोकमाना मुनयो हसन्तीति भावः । स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ २० ॥

आर्द्रप्रसूतिरिति । आर्द्रप्रसूतिः अभिनवप्रसूता इयम् हरिणी अङ्गनयज्ञवेदिनेदिष्ठम् अजिरस्थितयज्ञवेदिसन्निहितम् एव तृणम् तृणुते कवलयति, वत्सीयाः वत्सहिताः

लक्ष्मण—(हसकर) इधर बड़ा रमणीय है ।

अग्निगृहमें बलिके लिये रखे गये तण्डुलोंको हरिण खाजाते हैं, इसपर मुनिस्त्रियाँ खीझकर उनको डरानेके लिये दण्ड उठाती हैं, परन्तु हरिण इतने हिलेमिले हैं कि वे उस दण्डको सूँघने की इच्छा करने लगते हैं, जिसे देखकर मुनिगण उन मृगोंकी ढिठाई पर हंस देते हैं ॥ २० ॥

राम—(चलते हुए कौतुक तथा प्रेमसे) अङ्गनमें वर्त्तमान यज्ञवेदीके समीपस्थ तृण नई व्याई हुई हरिणी चर रही है, उसके बच्चे जिसे तपस्वी-कुमार अपने हाथोंसे नीवार खिलाते हैं, उन्हें वह स्वस्थ भावमें देख भी रही है ॥ २१ ॥

---

१. 'विलेप' इति । २. 'उत्त्रास' इति । ३. 'इदं तावत्' इति ।
४. 'तृणानि' इति । ५. 'अपेक्षते' इति ।

अपि च—

विष्वक्तपोधनकुमारसमर्प्यमाण-
श्यामाकतण्डुलहृतां च पिपीलिकानाम् ।
श्रेणीभिराश्रमपथाः प्रथमानचित्र-
पत्त्रावलीवलयिनो मुदमुद्वहन्ति ॥ २२ ॥

[1]लक्ष्मणः—अहो पशूनाम[2]प्यपत्यवात्सल्यम् । अहो शिशूनामपि सत्कर्मताच्छील्यम् ।

[3]रामः—(अन्यतोऽवलोक्य ।)

मुनिविनियोगविलूनप्ररूढमृदुशाद्वलानि बर्हींषि ।

ये तापसकुमाराः तपस्विजनबालाः तेषां करैः हस्तैः उपनीतैः समर्पितैः नीवारैः धान्यविशेषैः निर्वृतम् तृप्तम् अपत्यम् बालकम् हरिणम् अवेक्षते पश्यति च । सद्यः, प्रसूता हरिणी दूरगमनाक्षमतया समीपस्थाङ्गनवेदिप्ररूढं तृणमभ्यवहरति, तथा कुर्वत्येव च वत्सप्रियतापसकुमाराहृतनीवारलाभतृप्तं स्वमपत्यं प्रेक्षते चेति भावः ॥

विष्वगिति । आश्रमपथाः तपोवनमार्गाः तपोधनाः ऋषयस्तेषां कुमारैः बालैः समर्प्यमाणान् दीयमानान् श्यामाकतण्डुलकणान् तदाख्यतण्डुलांशान् हरन्ति तासाम् पिपीलिकानाम् श्रेणीभिः विष्वक् समन्तात् प्रथमानाः विस्तारं गच्छन्त्यः पत्त्रावल्यः रचनाविशेषास्तासां वलयाः सन्त्येषु ते तथोक्ताः मुदम् दर्शकानामानन्दम् उद्वहन्ति प्रादुर्भावयन्ति । आश्रममार्गेषु मुनिकुमारोपहृतश्यामाकतण्डुलकणहारिपिपीलिकाततिः पत्त्रावलीरिव विरचयन्ती दर्शकानानन्दयति । वसन्ततिलकमेव वृत्तम् । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः ॥२२॥

अपत्यवात्सल्यम्—सन्ततिस्नेहः । सत्कर्मताच्छील्यम् शुभकर्मप्रवृत्तिः ॥

मुनिविनियोगेति । अयं गोकर्णतर्णकः मृगशावकः उपकण्ठकच्छेषु समीपस्थित-

---

चारोओर ऋषि कुमार श्यामाकतण्डुल देरहे हैं और चीटियाँ उन्हें ले जारही हैं उनकी पङ्क्तियाँ विस्तीर्ण पत्रावलीकी वलयसी दीखती हैं जो आनन्द प्रदान कर रही हैं ॥ २२ ॥

लक्ष्मण—अहा ! पशुओंमें भी बड़ी अपत्यप्रीति हुआ करती है, और शिशुओंमें भी सत्कर्म प्रवृत्ति होती है ।

राम—(दूसरी ओर देखकर) मुनिकी आज्ञासे जिनके नये कोमलपत्ते खण्डित कर

---

१. 'लक्ष्मणः—(दृष्ट्वा)' इति । २. 'प्रसव' इति । ३. 'रामः' इति क्वचिन्नास्ति ।

गोकर्णतर्णकोऽयं तर्णोत्त्युपकण्ठकच्छेषु ॥ २३ ॥

([1]इति परिक्रामतः ।)

लक्ष्मणः—आर्य,

इयमेभिरालवालैः पदे पदे ग्रन्थिलासु कुल्यासु ।
[2]तीव्रतमा जलवेणिः प्रवहति विश्रम्य विश्रम्य ॥ २४ ॥

रामः—वत्स, साधु [3]दृष्टम् ।

आलवालवलयेषु भूरुहां मांसलस्तिमितमन्तरान्तरा ।

नदीतीरेषु मुनीनां विनियोगार्थं यज्ञकर्मणि व्यवहारार्थम् विलूनानि उत्पाटितानि पुनः प्ररूढानि च मृदुशाद्वलानि कोमलहरितानि वर्हींषि कुशान् तर्णोति खादति । 'गोकर्णोऽश्वतरेऽपि स्यान्मृगसर्पविशेषयोः', 'तर्णको वालकः समौ' इत्युभयत्रामरः ॥ २३ ॥

इयमेभिरिति । इयम् तीव्रतमा अतिवेगवती जलवेणिः वेणीरूपं जलम् जलप्रवाहः आलवालैः पयोदानाय वृक्षाधोदेशे निर्मितैः स्थलैः पदे पदे स्थाने स्थाने ग्रन्थिलासु स्रोतोविघ्नकरीषु पार्वतीषु कुल्यासु कृत्रिमसरित्सु विश्रम्य विश्रम्य प्रवहति सञ्चरति । प्रवाहस्य वेगवत्त्वेऽपि मध्ये मध्ये स्थितैरालवालैः प्रतिरुद्धसञ्चारतया मन्दसञ्चारिता वर्ण्यते । जलस्य सूक्ष्मप्रवाहतया स्रोतोविघ्नाधायककुटिलवेगतया च वेणीरूपत्वम् । 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः ॥ आर्यावृत्तम् ॥ २४ ॥

आलवालेति । भूरुहाम् वृक्षाणाम् आलवालवलयेषु वृक्षमूलस्थजलाधारेषु अन्तरा अन्तरा मध्ये मध्ये मांसलस्तिमितम् प्रचुरं निश्चलञ्च, पुनः एवम्

लिये गये हैं ऐसे कुशों को जलप्राय देशके पास यह हरिण विशेषका वालक सानन्द चर रहा है । २३ ॥

[दोनों चलते हैं]

लक्ष्मण—आर्य, पग-पगपर आलवालोंसे ग्रन्थियुक्त कुल्यावोंमें तीव्रगामिनी होकर भी यह जलधारा रुक-रुककर प्रवाहित होती है ॥ २४ ॥

राम—वत्स, तुमने ठीक देखा है,

वृक्षोंके आलवालोंमें पानी गम्भीर तथा मन्दप्रवाह दीखता है, परन्तु वही पानी

---

१. 'इत्युभौ' इति । २. 'तीव्रतरा जलवेणी' इति । ३. 'दृष्टम् । अहो' इति ।

केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरं सारणीषु पुनरम्बु दृश्यते ॥ २५ ॥

तदेहि । [1]भगवतीं कौशिकीमालोकयन्तौ मुहूर्तमात्रमात्मानं [2]पुनीवहे । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) क्वचित्सांक्रामिकोऽपि विशेषो [3]नैसर्गिकमतिशेते । [4]तथा हि ।

जडस्वच्छस्वादुप्रकृतिरुपहूतेन्द्रियगणो
गुणो यद्यप्यासामयमयुतसिद्धो विजयते ।
तथाप्युत्कर्षाय [5]स्फुरति सरितामाश्रमसदा-
मिदानीं वानीरद्रुमकुसुमजन्मा परिमलः ॥ २६ ॥

सारणीषु जलप्रवाहिकासु केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरम् केरलदेशस्थवनिताकेशपाशकुटिलम् अम्बु दृश्यते । 'आलवालः स्थितो मूले वृक्षस्य जलधारके' इत्यमरः ॥२५॥

भगवतीं कौशिकीम्, तदाख्यां पुण्यां नदीम् । मुहूर्त्तम् क्षणम् । पुनीवहे पवित्रीकुर्वः । साङ्क्रामिकः संसर्गजन्यः । विशेषः गुणोदयः । नैसर्गिकम् स्वाभाविकम् । अतिशेते अतिक्रामति । स्वाभाविकगुणापेक्षयापि संसर्गजन्यो गुणो मुख्यतां भजत इत्यर्थः ।

जडेति । जडा शीता स्वच्छा निर्मला स्वादुः सुस्वादा प्रकृतिः स्वभावो यस्य तथाभूतः उपहूतेन्द्रियगणः आकृष्टकरणवर्गः, अयम् अयुतसिद्धः गुणान्तरामिश्रणजन्मा स्वाभाविकः आसाम् सरितां गुणः यद्यपि विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते तथापि इदानीम् आश्रमसदाम् आश्रमवासिनाम् उत्कर्षाय परितोषाय वानीरद्रुमाणां नदीतीरवर्त्तिनां वेतसतरूणां कुसुमेभ्यः पुष्पेभ्यो जन्म यस्य तादृशः परिमलः सुगन्धः स्फुरति प्रसरति । यद्यप्यासां नदीनां स्वाभाविकी स्वच्छशीतलस्वादुजलता प्रसिद्धा, तथापि सम्प्रति तटस्थवानीरकुसुमप्रभवः परि-

---

नालियोंमें पहुँचकर केरली स्त्रियोंके केशपाशकी तरह टेढ़ा-मेढ़ा दीख पड़ता है ॥ २५ ॥

चलो, थोड़ी देर भगवती कौशिकीके दर्शनोंसे अपनेको पवित्र करलें । (चलकर तथा देखकर) कहीं-कहीं संक्रमण करके होनेवाली विशेषतायें स्वाभाविक गुणको जीत लेती हैं ।

यद्यपि जलका स्वाभाविक शीत स्वच्छ सुस्वादुगुण इन्द्रियोंको आकृष्ट करनेवाला है, तथापि आश्रमवाहिनी सरिताओंका यह वानीरकुसुमजन्मा परिमल उनके उत्कर्षको बढ़ा रहा है ॥ २६ ॥

---

१. 'कौशिकीभगवतीमवलोकयन्तौ मुहूर्तम्' इति । २. 'पुनीमहे' इति ।
३. 'नैसर्गिकमधिकम्' इति । ४. 'पश्य' इति । ५. 'श्रयति' इति ।

लक्ष्मणः—आर्य, पुरस्तादनुकौशिकीतीरमालोकय ।

तैर्मेधाजननव्रतप्रणयिभिर्व्यूहैर्वटूनामियं
सिक्ता नित्यवसन्तविभ्रमवती रम्या पलाशावली ।
एतस्यां हरिणारिपाणिजसृणिश्रेणिश्रियः कोरका
गोपायन्ति तपोवनं वनकरिक्रीडाकराकर्षणात् ॥ २७ ॥

(नेपथ्ये ।)

मलः समीपस्थाश्रमवासिनां विशेषतृप्तये जायत इत्याशयः । 'शीतवानीरवञ्जुलाः' इत्यमरः । 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धमात्रेऽपि दृश्यते' इति विश्वः । शिखरिणी-वृत्तम् ॥ २६ ॥

पुरस्तात् अग्रतः । अनुकौशिकीतीरम् कौशिकीनद्यास्तीरदेशसमीपे ।

तैर्मेधेति । मेधा धारणावती बुद्धिस्तस्या जननाय उत्पादनाय यत् व्रतम् नियमः पलाशमूले जलदानरूपस्तत्प्रणयिभिस्तदासक्तैः वटूनां मुनिबालकानां व्यूहैः समुदयैः सिक्ता जलैरार्द्रीकृता नित्यवसन्तविभ्रमवती सदावासन्तिक-विलासधारिणी इयं रम्या सुन्दरतमा पलाशावली दृश्यतामिति शेषः, एतस्यां पलाशावल्यां हरिणारेः सिंहस्य पाणिजाः नखा एव सृणिश्रेणयः अङ्कुशावल्यः तासां श्रीरिव श्रीर्येषां ते तथोक्ताः कोरकाः कलिकाः वनकरिभिः वनगजैः क्रीडया अनायासचेष्टया करैः शुण्डादण्डैः आकर्षणात् नमनात् लवनाच्च तपोवनं रक्षन्ति । मेधाजननाय छन्दोगब्रह्मचारिणः पलाशमूलं सिञ्चन्तीति वैदिक-प्रसिद्धया तस्य व्रतस्य पूर्त्तये मुनिबालकैः सिक्तमूला पलाशवनी सततानुभूय-मानवसन्तविलासा नित्यकुसुमिता च दृश्यते, किञ्चास्यां पलाशवन्यां सिंहनखा-ङ्कुशाकाराणि फुल्लानि कुसुमानि वनकरिणां हृदयेषु सिंहनखभ्रममुत्पादयन्ति तद्भयजननद्वारा वनकरिकराकर्षणापदस्तपोवनं रक्षन्तीति भावः । 'व्यूहस्तु बल-विन्यासे निर्माले वृन्दतर्कयोः', 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्', 'कलिका कोरकः पुमान्' इति सर्वत्र विश्वामरौ । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आगेकी ओर कौशिकीके तटमें देखो—

बुद्धिवर्धन-निमित्तक व्रतमें संलग्न वटुओंका समुदाय सींच-सींचकर इस पलाशवनको नित्य वसन्त-विभ्रमशाली बनाये रहता है, इस पलाशवनमें सिंहके नखकी तरह दीखने-वाली पलाशकलिकायें वनगजोंके आकर्षणसे इस वनकी रक्षा किया करती हैं ॥ २७ ॥

(नेपथ्यमें)

रामभद्र, कियच्चिरमवलोकनेन कृतार्थीक्रियन्ते तपोवनविहारभूमयः। संप्रति हि

परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूंषि रुचां पतिः
किमपि [1]शमिनः सावित्राख्यं रहस्यमुपासते।
गुरुरय[2]मनुष्ठास्यन्माध्यन्दिनीं सवनक्रिया-
मिह मखविधौ नेदीयांसं भवन्तमपेक्षते ॥ २८ ॥

रामः—([3]अश्रुतमभिनीय सानुरागम्।)

[4]वारांस्त्रीनभिषुण्वते विदधते वन्यैः शरीरस्थिती-

कियच्चिरम् कियन्तं कालं यावत्। अवलोकनेन दर्शनेन। कृतार्थीक्रियन्ते सनाथ्यन्ते। तपोवनविहारभूमयः तपोवनचत्वराणि।

परिणमयतीति। रुचांपतिः प्रभाकरः ज्योतिर्वृत्त्या तेजोरूपेण यजूंषि यजुर्वेदान् परिणमयति परिणतानि करोति, यजूरूपं धारयति, मध्याह्ने सूर्यस्य यजूरूपतयेत्थमुक्तम्, तथाच पुराण उक्तम्—'ऋङ्मयः प्रातरादित्यो मध्याह्ने च यजुर्मयः। सायं साममयश्चेति त्रयीमय उदाहृतः'। शमिनः शमनिष्ठाः मुनयः किमपि अनिर्वचनीयं सावित्राख्यं सावित्रनामधेयं रहस्यं तत्त्वम् उपासते। अयं गुरुः आचार्यो विश्वामित्रः माध्यन्दिनीं मध्याह्नकालिकीं सवनक्रियाम् स्नानविधिम् अनुष्ठास्यन् करिष्यन् इह मखविधौ यज्ञानुष्ठाने भवन्तं नेदीयांसम् निकटवर्त्तिनम् अपेक्षते इच्छति। स्नानाय प्रस्थितो गुरुर्मखरक्षायै भवन्तं वेदिसमीपे स्थापयितुमिच्छतीत्यर्थः, अतश्च विहारभूमिविलोकने विलम्बं मा कृथा इत्याशयः॥ 'सवनं त्वध्वरे स्नाने' 'रहस्तत्त्वे रसे गुह्ये' इत्युभयत्र विश्वः॥ हरिणीवृत्तं, तल्लक्षणं यथा 'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ २८ ॥

वारांस्त्रीनिति। (धन्या इमे मुनयः) त्रीन् वारान् त्रिधा अभिषुण्वते

रामभद्र, तपोवनकी विहारभूमियोंको कितना देर तक आप देखते रहेंगे ? अब सूर्य अपनी किरणोंको यजुर्वृत्तिमें परिणत कर रहे हैं—अर्थात् मध्याह्न हो रहा है, शमीजन सावित्री मन्त्रका जप कर रहे हैं, हमारे गुरुदेव माध्यन्दिन यज्ञको करनेके लिए यज्ञभूमिमें आपको उपस्थित देखना चाहते है ॥ २८ ॥

---

१. 'यमिनः' इति। २. 'अधिष्ठास्यन्' इति।
३. 'अश्रुतिम्' इति। ४. 'त्रीन्वारान्' इति।

रैणेय्यां त्वचि संविशन्ति वसते चापि [1]त्वचस्तारवीः।
तत्पश्यन्ति च धाम नाभिपततो यच्चार्मणे चक्षुषी
धन्यानां विरजस्तमा[2] भगवती चर्येयमाह्लादते ॥ २९ ॥

(नेपथ्ये पुनस्तदेव[3] पठ्यते ।)

रामः—(श्रुत्वा ससंभ्रममूर्ध्वमवलोक्य च ।) कथं [4]गगनमध्यमध्यारूढो निदाघदीधितिः। [5]वत्स, तदेहि । यज्ञवाटमधिष्ठाय क्रमेण कृताह्निकस्य भगवतः कौशिकस्य प्रत्यनन्तरीभवावः।

(इति परिक्रामतः ।)

स्नान्ति, वन्यैः वनजातैः फलमूलादिभिः शरीरस्थितीः प्राणयात्राः विदधते कुर्वते, ऐणेय्यां त्वचि मृगचर्मणि संविशन्ति स्वपन्ति, अपिच तारवीः त्वचः तरुवल्कलानि वसते परिदधते । यत् धाम ब्रह्ममयं तेजः चार्मणे चर्मरचिते लौकिके चक्षुषी नाभिपततः नालोकयतः, तत् धाम पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति, अतः धन्यानां पुण्यात्मनामेषामृषीणाम् भगवती सर्वसामर्थ्यशालिनी विरजस्तमाः रजस्तमोभ्यामस्पृष्टा सात्त्विकी चर्या अनुष्ठानविधिः आह्लादते दर्शकजनमनांसि सुखयतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

गगनमध्यमध्यारूढः—आकाशमध्यमागतः । निदाघदीधितिः—उष्णकरः । यज्ञवाटम् यागाग्निम् यज्ञमार्गं वा, अधिष्ठाय—आश्रित्य । कृताह्निकस्य—कृतदिनकृत्यस्य । प्रत्यनन्तरीभवावः—सन्निहितौ भवावः ॥

राम—(अनसुनीका अभिनय करके) तीन बार स्नान करते हैं, वनके कन्दमूलोंसे शरीरयात्रा चलाते हैं, मृगचर्मपर सोते तथा वृक्षकी त्वचा पहनते हैं, चर्मचक्षुओंसे नहीं दीखनेवाले ब्रह्मतेजका प्रत्यक्ष करते हैं, इस तरहकी दिनचर्या किन्हीं रजोगुण-तमोगुणसे हीन धन्य पुरुषोंकी ही हुआ करती है ॥ २९ ॥

(नेपथ्यमें फिर वही बात दुहराई जाती है)

राम—(सुनकर घबड़ाहटके साथ ऊपर देखकर) क्यों, भगवान् सूर्य आकाशके मध्यमें आ गये । भाई चलो, यज्ञस्थलमें आह्निककृत्य सम्पन्न करके बैठे हुए भगवान् कौशिकके समीप चलें ।

(दोनों जाते हैं)

---

१. 'त्वचं तारवीम्' इति । २. 'विरजन्तमा' इति । ३. 'तथैव' इति ।
४. 'गगनमध्यारूढः'; 'गगनमध्यमारूढः' इति । ५. 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति ।

लक्ष्मणः—(सर्वतो दृष्ट्वा ।) आर्य,

उद्दामद्युमणिद्युतिव्यतिकरप्रक्रीडदर्कोपल-
ज्वालाजालजटालजाङ्गलतटीनिष्कूजकोयष्टयः ।
भौमोष्मप्लवमान[2]सूर्यकिरणक्रूरप्रकाशा दृशो-
राविष्कर्म समापयन्ति धिगमूर्मध्याह्नशून्या दिशः ॥३०॥

अन्तिकतमा चेयं [3]यज्ञवाटभूमिः । तदेतदेव न्यग्रोधच्छायामण्डप-

उद्दामद्युमणीति । उद्दामा प्रबला या द्युमणिद्युतिः सूर्यप्रभा तस्या व्यतिकरेण सम्बन्धेन प्रक्रीडन् ज्वलन् यः अर्कोपलः सूर्यकान्तमणिस्तस्य ज्वालाजालेन तेजःसमूहेन जटालासु व्याप्तासु जाङ्गलतटीषु निर्जलभूमिषु निष्कूजाः अशब्दाः कोयष्टयः टिट्टिभा यासु तास्तथोक्ताः, उद्दण्डसूर्यकरसम्बन्धप्रज्वलदर्कोपलज्वालाव्याप्तनिर्जलदेशमूकीभूतटिट्टिभा इत्यर्थः । किञ्च भौमे पार्थिवे प्लवमानाः सन्तरन्तो ये सूर्यकिरणास्तैः क्रूरप्रकाशाः पार्थिवोष्मसमेधितसूर्यकरसम्बन्धादतिक्रूरप्रकाशा अमूर्दिशः दृशोः मम नयनयोः आविष्कर्म आविष्कारं समापयन्ति, दृक्शक्तिं प्रतिबध्नन्ति, अमूः मध्याह्नशून्याः दिशो धिक् ? मध्याह्ने क्रूरप्रकाशशालिनीषु दिशास्वातपभयाज्जनसञ्चाराभावेन तासां शून्यतयाऽत्र धिक्कार उक्तः । सर्वास्वपि दिशासु सूर्यकरातिशयप्रकाशसमिद्धार्कोपलप्रभासु सतीषु जाङ्गलभूमिषु टिट्टिभामूकीभूय समयं यापयन्ति, दृक्सामर्थ्यमपेतं, लोकसञ्चारश्चातपभयादवसितप्रायस्तदमूर्मध्याह्नसूर्यकरातपेन शून्यतां गमिता दिशो धिगिति भावः । 'द्युमणिस्तरणिर्मित्रः' इत्यमरः । 'जङ्गलं निर्जलस्थानम्' इतिधरणिः ॥ ३० ॥

अन्तिकतमा अतिसमीपस्था । यज्ञवाटभूमिः—यज्ञाग्निवेदिः । न्यग्रोधच्छाया-

लक्ष्मण—(चारों ओर देखकर) आर्य,

उद्दाम सूर्यकर-सम्पर्कसे चमकनेवाले सूर्यकान्त उपलोंकी ज्वालाजालसे व्याप्त निर्जलप्रदेशोंमें टिट्टिभ पक्षिगण निःशब्द बैठे हुए हैं; और पृथ्वीकी गर्मीसे बढ़े हुए सूर्यकरोंसे क्रूर प्रकाशवाली दिशायें मध्याह्नमें शून्यसी प्रतीत होकर दृष्टिशक्तिका लोप सी कर रही हैं ॥ ३० ॥

समीपमें ही तो यज्ञशाला है । अतः इसी न्यग्रोधवृक्षकी छायावाले मण्डपमें बैठकर

१. 'निरूप्य' इति । २. 'सूर्यकिरण' इति ।
३. 'यज्ञभूमिः । तदेतन्न्यग्रोध' इति ।

[1]मध्यासीना ऋत्विजः प्रत्यवेक्षामहे। गलितयौवने पुनरहनि भगवन्तं द्रक्ष्यावः।

रामः—एवमस्तु।

(इति परिक्रम्य नाट्येनोपविशतः।)

लक्ष्मणः—(पार्श्वतोऽवलोक्य।) आर्य,

मध्येव्योम क्रीडयित्वा मयूखान्भानोर्बिम्बे लम्बमाने क्रमेण।
स्वैरं स्वैरं मूलतः पादपानां पश्य च्छायाः कश्चिदाकर्षतीव ॥ ३१ ॥

रामः—(समन्तादवलोक्य।) वत्स, मध्यन्दिनमतिक्रान्तमिति दिनमप्यतिक्रान्तमेव। [2]पश्य।

गगनशिखरमुदयाद्रेरधिरूढाः कष्टमर्करथहरयः।

मण्डपम् न्यग्रोधतरुतलम्। अध्यासीनाः-आश्रिताः। ऋत्विजः-यज्ञाधिकृतान्। प्रत्यवेक्षावहे-पश्यावः।

मध्येव्योमेति। मध्येव्योम आकाशमध्ये मयूखान् स्वकरान् क्रीडयित्वा सञ्चार्य भानोः सूर्यस्य बिम्बे मण्डले क्रमेण लम्बमाने पश्चिमाचलगामिनि सति (कश्चिज्जनः) पादपानां वृक्षाणां छायाः मूलतः मूलदेशात् स्वैरम् स्वैरम् यथेच्छम् मन्द-मन्दञ्च आकर्षतीव आकृष्य नयतीव। इति पश्य अवलोकय। 'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' इति लक्षिता मालिन्यत्र वृत्तम् ॥ ३१ ॥

मध्यन्दिनम् मध्याह्नः। अतिक्रान्तम् व्यतीतम्।

गगनेति। उदयाद्रेः उदयाचलात् गगनशिखरम् अन्तरिक्षस्योर्ध्वदेशम् कष्टम् क्लेशपूर्वकम् अधिरूढाः आरूढवन्तोऽर्करथहरयः सूर्यरथाश्वाः अधुना (ततो

ऋत्विजोंकी रखवाली करते हैं, दिनके ढलनेपर कौशिकके दर्शन करेंगे॥

राम—ऐसा ही होवे।

(चलकर दोनों बैठते हैं)

लक्ष्मण—(पार्श्वदेश देखकर) आर्य, आकाशके मध्यमें किरणोंसे खेलकर क्रमशः सूर्य-बिम्बके लम्बित होनेपर वृक्षोंके नीचेसे कोई छायाको धीरे-धीरे खींच सा रहा है ॥३१॥

राम—(चारो ओर देखकर) मध्याह्न बीत गया तो दिन भी बीत ही गया। देखो—जो सूर्य-रथके अश्व उदयाचलसे गगन शिखरपर बड़ी कठिनाईसे चढ़ सके थे, वही

---

१. 'अध्यासीनानृत्विजः' इति। २. 'तथाहि' इति।

अस्तमहीधरमधुना झटिति सुखेनावरोहन्ति ॥ ३२ ॥

[1]लक्ष्मणः—आर्य, नूनमद्य रक्षांसि परापतिष्यन्ति। यदयमध्वर-वेदिकासंनिधानं ते शुनःशेपमुखेन भगवानुपाध्यायः प्रशास्ति।

रामः—(सरोषाहंकारम्।) वत्स, यद्येवं स्यात्

कल्पान्तकर्कशकृतान्तभयंकरं मे
निष्प्रघ्नतः क्रतुविघातकृताममीषाम्।
नीराक्षसां वसुमतीमपि कर्तुमद्य
पुण्याहमङ्गलमिदं [2]धनुरादधातु ॥ ३३ ॥

व्योमशिखरात्) झटिति सुखेन अक्लेशेन अस्तमहीरुहम् अस्ताचलम् अवरोहन्ति। उपर्यारोहणस्य क्लेशसाध्यत्वेऽपि अधोवरोहणस्य सुखसाध्यतया ये सूर्याश्वा उदयाचलाद् गगनशिखरारोहणे क्लेशमापुस्त एवाधुनागगनशिखरात्ततोऽस्ताचलावरोहणमनायासेनाचरन्तीति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

परापतिष्यन्ति यज्ञविघ्नमुत्पादयितुमागमिष्यन्ति। यत् यस्मात्। अध्वरवेदिकासन्निधानम् अध्वरवेदिपार्श्वेऽवस्थानम्। शुनःशेपमुखेन तद्द्वारा। प्रशास्ति आदिशति, यतो यज्ञवेदिपार्श्वे विश्वामित्रस्त्वदीयामुपस्थितिं कामयते तन्मन्ये तेन राक्षसानामागमनं सम्भाव्यते, न च तदनुमानमसङ्गतं संभवति, तदवश्यमद्य ते राक्षसाः समागमिष्यन्तीति मम विश्वास इति भावः॥

यद्येवं स्यात् यदि राक्षसा आगच्छेयुः।

कल्पान्तेति। कल्पान्ते प्रलयकाले कर्कशोऽतिभीषणो यः कृतान्तो यमस्तद्वद् भयङ्करम् भीषणम्, क्रतुविघातकृताम् यज्ञविध्वंसकानाम् निष्प्रघ्नतः विनाशयतः मे मम रामस्येदं धनुः अद्य वसुमतीं पृथ्वीं नीराक्षसाम् समाप्तसकलयातुधानां कर्तुं पुण्याहमङ्गले पवित्रे दिने स्वकर्त्तव्यप्रारम्भम् आदधातु करोतु। यदि राक्षसा आगमिष्यन्ति, तदाहमपि राक्षसनाशप्रारम्भं करिष्यामीति भावः ॥ ३३ ॥

सूर्यरथाश्व इस समय आसानीसे अस्ताचलपर उतर रहे हैं ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, निश्चय आज राक्षस आवेंगे, क्यों कि शुनःशेपके द्वारा भगवान् कौशिक आज आपको यज्ञवेदीके पास रहनेका आदेश दिया है।

राम—(कोप तथा अहङ्कारसे) वत्स, यदि ऐसा हुआ, तब,

कल्पान्तकालमें कुपित यमराजकी तरह भयङ्कर तथा यज्ञ-विघ्नकारी राक्षसोंको पीस देनेवाला यह मेरा धनुष इस पृथ्वीको नीराक्षस करनेका पुण्याह मङ्गल प्रारम्भ करे ॥३३॥

---

१. 'लक्ष्मणः—(सहर्षम्।)' इति।　　२. 'आदधाति' इति।

लक्ष्मणः—(विहस्य ।) कथं रजनीचरचक्र[1]विनाशोत्कण्ठाविसंस्थुलमार्यहृदयमदीर्घदर्शिनं [2]भगवन्तं कौशिकमपि संभावयति ।

अविद्याबीजविध्वंसादयमार्षेण चक्षुषा ।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत् ॥ ३४ ॥

रामः—किमुच्यते[3] तत्रभवान्विश्वामित्रः ।

प्रज्ञातब्रह्मतत्त्वोऽपि स्वर्गीयैरेष खेलति ।
गृहस्थसमयाचारप्रक्रान्तैः सप्ततन्तुभिः ॥ ३५ ॥

रजनीचराणाम् राक्षसानाम्, चक्रस्य समूहस्य, विनाशाय या उत्कण्ठा व्यग्रता, तया विसंस्थुलम् विवशम्, आर्यहृदयम् तव चेतः, अदीर्घदर्शिनम् अपुरःशोचिनम् । अयम् भावः—यदि भवान् राक्षसविनाशार्थमुत्कण्ठते तदा मन्ये भवान् विश्वामित्रमदीर्घदर्शिनमाह, यतः स हि राक्षसनाशं भवता कार्यं निश्चयेन मनुते, ततस्तत्रोत्कण्ठाप्रकाशनं तददीर्घदर्शिताप्रत्यायकम्, तद्दीर्घदर्शिताविश्वासे राक्षसवधस्य तद्विश्वासानुसारेणासिद्धकल्पतया तद्विषये उत्कण्ठाया अनौचित्यादिति भावः ॥

अविद्येति । अयं विश्वामित्रः अविद्याबीजविध्वंसात् अविद्यारूपाज्ञानकारणस्य ज्ञानेन विनाशनात् आर्षेण चक्षुषा ध्यानदृष्ट्या भूतभविष्यन्तौ नाम कालौ वर्त्तमानं नाम कालम् अवीविशत् प्रवेशितवान् । तावपि कालभेदौ वर्त्तमानकालमिव प्रत्यक्षमीक्षमाणः प्रत्यक्षविषयत्वाविशेषात्तयोरपि वर्त्तमानकाल एव प्रवेशं कारितवानिति भावः ॥ ३४ ॥

प्रज्ञातेति । प्रज्ञातब्रह्मतत्त्वः आसादितब्रह्मतत्त्वावबोधोऽपि एषः विश्वामित्रः स्वर्गीयैः स्वर्गसाधनीभूतैः गृहस्थसमयाचारप्रक्रान्तैः गृहस्थजनोचिताचारप्राप्तैः गृहस्थजनसाध्यैः सप्ततन्तुभिः यज्ञैः खेलति क्रीडति । आत्मतत्त्वविदो मुक्ततया

लक्ष्मण—(हंसकर) राक्षसोंको मारनेकी उत्कण्ठासे तरल आपका यह हृदय भगवान् कौशिकको अदूरदर्शी समझ रहा है ।

अविद्या-बीजको विनष्ट करके आर्षचक्षुके सहारे भगवान् कौशिकने भूत-भविष्यकालको वर्त्तमानमें ही समाविष्ट कर दिया है ॥ ३४ ॥

राम—पूज्य विश्वामित्रके विषयमें क्या कहना है ?

ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके भी यह कौशिक स्वर्गसाधक तथा गृहस्थोचिताचार प्राप्त यज्ञोंसे खेला करते हैं ॥ ३५ ॥

---

१. 'चक्र' इति क्वचिन्नास्ति ।　　२. 'भगवन्तम्' इति क्वचिन्नास्ति ।
३. 'वत्स, किमुच्यते तत्रभवान्कौशिकः । तथा हि' इति ।

अपि च—

आर्द्रीकृतो विनयनम्रमहेन्द्रमौलि-
मन्दारदाममकरन्दरसैरिवायम् ।
प्रक्रान्तकुण्डलितनूतनभूतसर्ग-
स्त्रैशङ्कवं चरितमद्भुतमाततान ॥ ३६ ॥

लक्ष्मणः—(पुरोऽवलोक्य । [1]सहर्षम् ।)

[2]आभिरध्वरचर्याभिः श्रौतमर्थं कृतार्थयन् ।
अये कुलपतिः सोऽयमित एवाभिवर्तते ॥ ३७ ॥

स्वर्गसाधकयज्ञप्रवृत्तिर्वृथा, तत्र हि अनात्मविदो गृहस्थाः प्रवर्त्तेरन्, तेषामेव स्वर्गे साभिलाषत्वौचित्यात्, नहि मुक्त्यधिकारिणः स्वर्गे प्रवृत्तिरुचिता, आत्मज्ञानितया मोक्षाधिकृतस्यापि विश्वामित्रस्येयं यागप्रवृत्तिः क्रीडा एव, तत्साध्यस्वर्गरूपफलनिराकाङ्क्षत्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

आर्द्रीकृत इति । विनयेन पादप्रणिपातेन नम्रस्य विनतस्य महेन्द्रस्य मौलिमन्दारदाम्नः शिरःस्थितमन्दारकुसुममालाया रसा मकरन्दाः तैः आर्द्रीकृतः शैत्यं प्रापित इव अयम् विश्वामित्रः प्रक्रान्तकुण्डलितः पूर्वं प्रक्रान्तः प्रारब्धः पश्चात् कुण्डलितः प्रतिबद्धः समाहृतः नूतनभूतसर्गः नवीनसृष्टिर्येन तथाभूतः सन् अद्भुतं विस्मयावहम् त्रैशङ्कवम् त्रिशङ्कुसम्बद्धम् चरितम् आततान कृतवान् । महेन्द्रप्रणिपातेन तच्छिरःस्थितमन्दारमकरन्दैरिवार्द्रीकृतोऽयं विश्वामित्रः प्रशान्तकोपो भूत्वा सद्यः प्रारब्धां निजां भूतसृष्टिं निरुद्धवानित्थमत्यद्भुतमिदमीयं त्रैशङ्कवं चरितमिति बोध्यम् । आर्द्रीकृत इवेति हेतूत्प्रेक्षा । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

आभिरिति । सोऽयं कुलपतिः आचार्यो विश्वामित्रः आभिः प्रत्यक्षमीक्षणीयाभिः अध्वरचर्याभिः यज्ञकर्मभिः श्रौतम् अर्थम् वेदस्य रहस्यं तत्त्वम् कृतार्थयन् चरितार्थ-

---

पादप्रणत इन्द्रके शिरोमन्दार-पुष्परससे जिनका चरण भिगाया जा चुका है ऐसे भगवान् विश्वामित्रने त्रिशङ्कुके चरितसम्बन्धमें नवीनविश्वकी सृष्टिका प्रारम्भ तथा परित्यागरूप आश्चर्य कार्य कर दिखाया ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण—(आगे देखकर) (सहर्ष) इन यज्ञक्रियाओं द्वारा श्रौत अर्थको कृतार्थ करनेवाले यह विश्वामित्र इधर ही आ रहे हैं ॥ ३७ ॥

---

१. 'सकौतुकम्' इति । २. 'स्वाभिः' इति ।

(ततः प्रविशति दीक्षितवेषो विश्वामित्रः ।)

रामः—(निर्वर्ण्य । सबहुमानम् ।) वत्स लक्ष्मण, पश्य—

कर्मणः श्रूयमाणस्य व्यञ्जनैरधिकोज्ज्वलाम् ।
तपस्तेजोमयीं लक्ष्मीमद्य पुष्णाति मे गुरुः ॥ ३८ ॥

विश्वामित्रः—(परिक्रामन्सहर्षम् ।) हन्त । [1]कृतकृत्यप्रायमात्मानं पश्यामः । [2]यतः—

निर्वृत्तो बहु तावदध्वरभुजामातर्पणोऽयं विधि-
र्दायादेन समं सुकेतुदुहिता चाद्यैव घानिष्यते ।

यन् इत एवाभिवर्त्तते इत एवायाति । एतदनुष्ठितयज्ञादिक्रियाभिर्वेदार्थः सत्यापितो भवति शिष्टाचारप्रमाणकत्वाद् वेदस्येति भावः ॥ ३७ ॥

कर्मण इति । अद्य मे मम गुरुः विश्वामित्रः श्रूयमाणस्य वेदप्रतिपाद्यस्य कर्मणः क्रियाकलापस्य व्यञ्जनैः प्रकाशकैः (तत्तद्यज्ञीयपरिच्छदैः) अधिकोज्ज्वलाम् समधिकदीप्तिमतीम् तपस्तेजोमयीं तपस्यातेजःसम्पत्सम्पन्नाम् लक्ष्मीम् श्रियम् पुष्णाति । यज्ञपरिच्छदैरस्य शोभाऽधिकीक्रियत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

कृतकृत्यप्रायम् सफलीभूतम् । स्वकर्त्तव्यं सिद्धमिव प्रतीम इत्यर्थः ।

निर्वृत्त इति । अध्वरभुजाम् देवानाम् आतर्पणः समन्तात् तृप्तिजनकः अयं विधिः यज्ञः तावत् साकल्येन निर्वृत्तः सम्पूर्णः, अद्य सुकेतुतनया ताडका दायादेन पुत्रादिना समं सह घानिष्यते मारयिष्यते । पुनः अग्रे च वृषभध्वजस्य शिवस्य धनुषो भङ्गो भञ्जनमेव एकः पणो निबन्धनं शुल्कं यस्यास्तां तथोक्तां वधूं सीतां नाम

(दीक्षित-वेषमें विश्वामित्रका प्रवेश)

राम—(देखकर सादर) वत्स लक्ष्मण देखो—

श्रुत्युक्त उपवासादि कर्मोंके आचरणसे अधिक दीप्तिशाली तपस्या तथा तेजसे पूर्ण शोभाको आज हमारे आचार्य विशेषरूपसे धारण कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र—(चलते हुए-सहर्ष) मैं अब अपनेको कृत्यकृत्य सा समझता हूं ।

क्योंकि—यज्ञभागभोक्ता देवोंको सन्तुष्ट करनेवाला यह यज्ञ पूरा हो गया है, बान्धवों के साथ ताड़का आज मारी जायेगी । शिवधनुष भङ्ग ही जिसे पानेकी बाजी है ऐसी

---

१. 'कृतकृत्यमिवात्मानं पश्यामि' इति । २. 'यतः' इति क्वचिन्नास्ति ।

पाणीकृत्य पुनर्वृषध्वज[1]धनुर्भङ्गैकशुल्कां वधू-
मैक्ष्वाके सुरकार्यदिक्षु चलति स्वास्थ्यं विधातास्महे ॥ ३९ ॥

(रामलक्ष्मणावुत्थायोपसर्पतः ।)

विश्वामित्रः—([2]राममतिचिरं निर्वर्ण्य सस्नेहकौतुकम् ।)

एष वैहारिकं वेषमादधानो धनुर्धरः ।
तत्त्वमान्तरमस्माकममृतैरिव लिम्पति ॥ ४० ॥

उभौ—(उपसृत्य ।) भगवन्, दाशरथी रामलक्ष्मणावभिवादयेते ।

विश्वामित्रः—([3]आलिङ्ग्य ।) वत्सौ, किमन्यदाशास्महे ।

पाणीकृत्य विवाह्य ऐक्ष्वाके रामे सुरकार्यदिक्षु देवकार्यसम्पादिकासु दक्षिणदिशासु चलति प्रतिष्ठमाने सति स्वास्थ्यम् निर्वृतिं विधातास्महे कलयिष्यामः । देवतातृप्तिजनको यागो जातकल्पः, अद्य रामेण ससुता ताडका हनिष्यत एव, इतः परं रामो हरधनुर्भङ्गशुल्कां सीतां परिणीय यदा दक्षिणाशास्थितानि तत्तद्राक्षसवधात्मकानि देवकार्याणि सम्पादयितुं तस्यां दिशि प्रचरिष्यति, तदाहं निर्वृतिं कलयितास्मीति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

एष इति । एषः धनुर्धरो रामः वैहारिकं क्रीडाकालोपयुक्तं वेषम् रूपम् आदधानः धारयमाणोऽस्माकं दर्शनकृतार्थानाम् आन्तरं तत्त्वम् अन्तःकरणम् अमृतैः सुधाभिः सिञ्चतीव । वैहारिकं वेषमाधाय भ्रमतो धनुर्धरस्य रामस्य दर्शनेनास्माकमन्तःकरणानि सुधायां मज्जनमिवाचरन्तीति भावः ॥ ४० ॥

दाशरथी दशरथपुत्रौ । रामलक्ष्मणौ नाम । अभिवादयेते भवन्तं प्रणमतः ।

सीताको ब्याहकर रामचन्द्र जब देवकार्यार्थ प्रस्थान कर देंगे तब मैं स्वस्थ हो जाऊंगा ॥३९॥

(राम-लक्ष्मण उठकर समीप आते हैं)

विश्वामित्र—(रामको देरतक देखकर) यह विहारवेषधारी धनुर्धर राम हमारे हृदयको अमृतसे लिप्त कर दे रहा है ॥ ४० ॥

दोनों—(समीप जाकर) महाराज, दशरथके पुत्र राम, लक्ष्मण आपको प्रणाम करते हैं ।

विश्वामित्र—(गले लगाकर) बच्चों, और क्या आशीर्वाद दें ।

---

१. धनुर्ध्वंसैक-' इति । २. 'अतिचिराय' इति । ३. 'पिहृस्य' इति ।

युवाभ्यामभिनिर्वृत्तयोगक्षेमस्य वज्रिणः ।
ऐश्वर्यप्रक्रियामात्रकृतार्थाः सन्तु हेतयः ॥ ४१ ॥

(उभौ तूष्णीमधोमुखौ स्तः ।)

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) वत्सौ, समन्तादुपशीलितोऽयं संनिवेशः । [1]कच्चिदस्मदीयास्तपोवनभूमयो रमयन्ति वामुपस्नेहयति वा गार्हस्थ्यमृषीणाम् ।

उभौ—(सप्रश्रयम् ।) भगवन्,

रम्यमेतदरम्यं वा कः परिच्छेत्तुमर्हति ।
किं तु द्वयातिगं चित्तमद्य नौ पश्यतोरभूत् ॥ ४२ ॥

युवाभ्यामिति । युवाभ्यां भवद्भ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम् अभिनिवृत्ते सम्पादिते योगक्षेमे यस्य तथोक्तस्य, अलब्धलाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमम्, ते प्राप्तवतः सम्पादितसकलाभीष्टस्येति यावत् वज्रिणः इन्द्रस्य हेतयः अस्त्राणि ऐश्वर्यप्रक्रिया सम्पत्प्रतिष्ठा तन्मात्रकृतार्थाः सम्पत्प्रतिष्ठामात्राधायिकाः सन्तु जायन्ताम् । भवद्भ्यामेव सर्वेष्वभीष्टार्थेषु साध्यमानेषु शक्रः प्रतिष्ठामात्रप्रयोजनकमस्त्रचयं धारयत्वित्यर्थः ॥ ४१ ॥

समन्तात् सर्वतः । उपशीलितः दृष्टः । सन्निवेशः ऋष्यावासभूमिः । वाम्-रमयन्ति प्रसन्नतां प्रापयन्ति । इमां भुवं दृष्ट्वा वां हृदयं प्रसीदति ? अत्रत्यानां गार्हस्थ्यं वा दृष्ट्वा मनः स्निह्यतीत्यर्थः ॥

रम्यमिति । एतत्तपोवनं रम्यम् हृदयावर्जकम् अरम्यम् अतथाभूतं वा इति कः परिच्छेत्तुं ज्ञातुम् अर्हति ? न कोऽपि वनमिदं रम्यतयाऽरम्यतया वा ज्ञातुं

तुम दोनों इन्द्रके योग-क्षेमकी चिन्ता करते रहो और इन्द्रके अस्त्र उनके ऐश्वर्यके प्रतीक मर बने रहें ॥ ४१ ॥

(दोनों चुप रहते हैं)

विश्वामित्र—(हंसकर) वत्स, तुम दोनोंने तो इस प्रदेशको अच्छी तरह देख लिया है । क्या हमारा यह तपोवन तुम्हें अच्छा लगता है और क्या हमारा यह गार्हस्थ्य तुम्हें अच्छा लगता है ? ।

दोनों—(नम्रतासे) भगवन्, यह रमणीय है या अरमणीय, इसका निर्णय कौन कर सकता है, किन्तु इसे देखकर हमारे हृदय रजतमसे रहित हो गये हैं ॥ ४२ ॥

---

१. 'क्वचित्' इति ।

([1]इति सर्वे यथोचितमुपविशन्ति ।)

विश्वामित्रः—(साकूतस्मितम् ।) वत्सौ,

इह वनेषु स कौतुकवामनो मुनिरतप्त तपांसि पुरातनः ।
तमिव वामवलोक्य तपस्विनो नयनमद्य मनागु[2]दमीमिलन् ॥४३॥

(उभौ मुहूर्तमुन्मनसौ भवतः ।)

विश्वामित्रः—(स्वगतम् ।) अये, किमप्युत्साहवर्धनाय प्राग्भवीयमनुस्मारितमन्तःकरणमनयोः । तदेतावदस्तु । अन्यतः [3]प्रक्षिपामि । (प्रत्यगवलोक्य प्रकाशं [4]ससंभ्रमम् ।) कथमुदयगिरिकाश्मीरकुङ्कुमकेदारस्य

शक्नोतीत्यर्थः, एवं सामान्यतो वनस्यावर्णनीयतामुक्त्वा स्वानुभवमाह—किन्तु रम्यतयाऽरम्यतया वाऽस्य वनस्य ज्ञानं कर्तुमशक्तत्वेऽपि पश्यतोः वनमिदं साक्षात्कुर्वतोः नौ आवयोः चित्तम् द्वयातिगम् रजस्तमसी अभिभूय स्थितम् अभूत् ॥४२॥

इह वनेष्विति । सकौतुकं वामनः कपटवामनमूर्त्तिः पुरातनो मुनिर्भगवान् इह एषु वनेषु तपांसि अतप्त कृतवान् । तपस्विनो मुनयः अद्य तमिव वामनावतारं भगवन्तमिव अवलोक्य नयनं स्वं नेत्रम् मनाक् ईषत् उदमीलयन् उन्मीलितवन्तः, ज्ञानदृष्ट्या मुनयो भगवन्तं वामनमिव युवां दृष्टवन्त इत्यर्थः । द्रुतविलम्बितं 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति च तल्लक्षणम् ॥ ४३ ॥

उत्साहवर्धनाय उत्साहं वर्धयितुम् । अनयोः रामलक्ष्मणयोः । अन्तःकरणम् चित्तम् । प्राग्भवीयम् पूर्वजन्मगतम् वृत्तम् । अनुस्मारितम् स्मृतिपथं नीतम्, तदेतावदस्तु अधिकं पूर्ववृत्तं मा वादि । अन्यतः प्रक्षिपामि प्रसङ्गं परिवर्त्तयामि । उदयगिरेरुदयाचलस्य यत्काश्मीरकुङ्कुमम् तत्केदारस्य तत्क्षेत्रस्य । प्रभातसन्ध्या

(सभी यथोचित रूपमें बैठते हैं)

विश्वामित्र—(हंसकर साभिप्राय) वत्स, इसी वनमें पुरातन वामनावतार विष्णुने तपस्या की थी, उन्हींकी तरह तुम्हें देखकर यहाँके तपस्वियोंने आज अपनी आँखें उन्मीलित करली हैं ॥४३॥

(दोनों थोड़ी देरके लिये अनमने रहते हैं)

विश्वामित्र—(स्वगत) उत्साह बढ़ानेके लिये मैंने इन्हें कुछ पूर्वजन्मवृत्त स्मरण करा दिया है । इतना ही रहे, अब दूसरी कथा चलाता हूं । (पश्चिमकी ओर देखकर, घबड़ा-

---

१. 'इति यथोचितमुपविशन्ति'; 'इति यथोचितमुपविशन्ति सर्वे' इति च ।

२. 'उदमीलयन्' इति । ३. 'क्षिपामि' इति । ४. 'ससंभ्रमम्' इति कचिन्नास्ति ।

प्रभातसंध्यालतायाः प्रथमस्तबको गभस्तिमाली हस्तहस्तिकया कुतूहलिनीभिर्दिगङ्गनाभिर्वारुणीं यावदुपनीतः । (सनिर्वेदं च ।)

[1]यातोऽस्तमेष चरमाचल[2]चूडचुम्बी
पङ्केरुहप्रकरजागरणप्रदीपः ।
आः [3]सर्वतः स्फुरतु कैरवमाः पिबन्तु
[4]ज्योत्स्नाकरम्भमुदरंभरयश्चकोराः ॥ ४४ ॥

(सर्वतोऽवलोक्य[5] ।)

अयमपि खरयोषित्कर्णकाषायमीष-
द्विसृमरतिमिरोर्णाजर्जरोपान्तमर्चिः ।

प्रातःकाल एव लता वल्ली तस्याः प्रथमस्तवक आद्यगुच्छः । गभस्तिमाली सूर्यः । कुतूहलिनीभिः सूर्यमायत्तीकर्तुमुत्काभिः । दिगङ्गनाभिः दिशारूपाभिर्वनिताभिः । वारुणीम् पश्चिमाशाम् ।

यातोऽस्तमिति । पङ्केरुहप्रकरस्य कमलकुलस्य जागरणाय प्रबोधाय प्रदीपः एषः सूर्यः चरमाचलचूडचुम्बी अस्ताचलशिखरस्पर्शी सन् यातः अस्तंगतः, आ इत्यनास्थासूचकमव्ययम् , कैरवं कुमुदम् सर्वतः समन्तात् स्फुरतु विकसतु, आः चकोराः पक्षिभेदाः उदरम्भरयः उदरभरणार्थिनः ज्योत्स्नाकरम्भम् दधिसक्तुसमानां चन्द्ररुचं पिबन्तु आस्वादयन्तु । 'करम्भा दधिसक्तवः' इत्यमरः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

अयमिति । अयम् भानुमान् सूर्यः अपि मदकलानाम् मत्तानाम् कलविङ्कीनां चटकीनाम् काकुः ध्वनिभेद एव नान्दी स्तुतिवादस्तत्करेभ्यः क्षितिरुहशिखरेभ्यः वृक्षाग्रभागेभ्यः खरयोषितः गर्दभ्याः कर्णवत् काषायम् कषायवर्णम् ईषत् अल्पम् यथा तथा विसृमरम् प्रसरणशीलम् यत् तिमिरं तदेव ऊर्णा मेषादिलोम तया

हटके साथ) उदयाचलरूप केसरकी क्यारीके केसरस्वरूप तथा प्रभातसन्धियोंके प्रथम स्तवक स्वरूप इस सूर्यको दिशाओंने हाथों-हाथ पश्चिम दिशामें पहुँचा दिया ।

पश्चिमाचलके शिखरपर वर्त्तमान यह कमलकुलको जगानेवाला दीप सूर्य अस्त हो गया, अब सर्वतः कुमुद विकसित होंगे, तथा चकोरगण भरपेट ज्योत्स्नारूप दधि-सक्तुका भक्षण करें ॥ ४४ ॥

(चारों ओर देखकर-) गर्दभके कानकी तरह कषायवर्ण तथा फैलनेवाले अन्धकाररूप

१. 'जातः स एष' इति । २. 'चूललम्बी' इति । ३. 'संप्रति' इति । ४. 'ज्योत्स्नां कषायमधुरामधुना चकोराः' इति । ५. 'दृष्ट्वा' 'अवलोक्य च' इति ।

मदकलकलविङ्कीकाकुनान्दीकरेभ्यः
क्षितिरुहशिखरेभ्यो भानुमानुच्चिनोति ॥ ४५ ॥

अपि च—

मन्त्रसंस्कारसंपन्नास्तन्वदौदन्वतीरपः ।
एतत्त्रयीमयं ज्योतिरादित्याख्यं निमज्जति ॥ ४६ ॥

रामः—(सर्वतो [1]निरूप्य ।) वत्स लक्ष्मण,

तापनैरेव तेजोभिः [2]प्लुष्टनिर्वाणमेचकाः ।
दिशो जाताः प्रतीची तु समुदाचरति क्रमात् ॥ ४७ ॥

जर्जरम् ग्रस्तम् उपान्तं यस्य तत् अर्चिः तेजः उच्चिनोति आकर्षति । अयमस्तं व्रजन्भानुः खरयोपित्कर्णवर्णम् ईषत्प्रकाशप्रसारान्धकारस्पृश्यमानञ्च निजमर्चिः मत्तचटकीकुलकाकुध्वनिरूपस्तुतिवाक्यान्युद्घोपयद्भ्यो वृक्षाग्रभागेभ्यः समाकर्षतीत्यर्थः । 'भवेन्मदकलो मत्ते', 'चटकः कलविङ्कः स्यात्तस्य स्त्री कलविङ्किका', 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकहर्षादिभिर्ध्वनेः', 'ऊर्णा मेषादिलोम स्यात्' इति सर्वत्रामरः । मालिनीवृत्तम् 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इतितल्लक्षणम् ॥४५॥

मन्त्रसंस्कारेति । औदन्वतीः उदन्वतः सागरस्येमा औदन्वतीः अपः जलानि मन्त्रसंस्कारसम्पन्नाः अपः जलानि मन्त्रसंस्कारसम्पन्नाः मन्त्रजनितसंस्कार शुद्धाः तन्वत् कुर्वत् आदित्याख्यम् सूर्यनामकम् एतत्त्रयीमयम् वेदत्रयस्वरूपम् ज्योतिस्तेजो निमज्जति जले मज्जति । सूर्योऽयं वेदत्रयमूर्त्तिरात्मसम्बन्धेन सागरगतानि जलानि पावयन्नम्भसि निमज्जति, सूर्योऽस्तंगत इति ॥ ४६ ॥

तापनैरिति । दिशः प्रतीच्यतिरिक्ताः पूर्वोत्तरदक्षिणाः दिशः तापनैः सूर्यसम्बन्धिभिः तेजोभिः प्लुष्टाः दग्धाः निर्वाणाः शान्ताश्च अत एव मेचकाः श्यामा जाताः, प्रतीची तु क्रमात् समुदाचरति पूर्वरूपं प्राप्नोति । प्रतीच्यतिरिक्ता दिशः प्रागेव

ऊर्णासे जर्जर अपने तेजको भगवान् सूर्य मदमत्त-चटकस्त्रीको सशब्द करनेवाले वृक्ष शिखरोंसे समेट रहा है ॥ ४५ ॥

समुद्रके जलको मन्त्रसंस्कार सम्पन्न करनेवाला यह वेदत्रयमूर्त्ति आदित्य नामक ज्योति सागरमें डूब रहा है ॥ ४६ ॥

राम—(चारो ओर देखकर) वत्स लक्ष्मण, अन्य दिशायें सूर्य-तेजसे जल-बुतकर काली पड़ गई हैं, केवल प्रतीचीमें अभी कुछ तेज विद्यमान है, वह क्रमसे शान्त हो रहा है ॥४७॥

---

१. 'अवलोक्य' इति । २. 'दग्ध–' इति ।

किं च—

> काञ्चिद्बिभ्रति भूतिमाश्रमभुवो वैतानवैश्वानर-
> ज्वालोपप्लवमानधूम[1]वलभीविभ्रान्तदिग्भित्तयः ।
> श्रूयन्ते वटवस्तृयीयसवनस्वाध्यायदीर्घानपि
> स्पर्धाबन्धमनोहरं प्रति मुहुः स्वान्द्राघयन्तः स्वरान् ॥४८॥

विश्वामित्रः—वत्स [2]राघव,

सौरतेजोहीना इति सूर्यदग्धश्यामलतया संभाव्यन्ते, प्रतीची त्वस्तमनकालेऽपि यत्किञ्चित्तेजोयुक्ततया क्रमात्समुदाचरतीत्युच्यते । 'समुदाचरस्तु शोभायां पूर्वरूपे भयेऽपि च' इति विश्वः । 'निर्वाणमस्तंगमने', 'कालश्यामलमेचकाः' 'प्रुष्टप्लुष्टोषिता दग्धे' इति सर्वत्रामरः ॥ ४७ ॥

काञ्चिदिति । वितानो यज्ञस्तत्सम्बन्धी यो वैश्वानरो वह्निस्तस्य ज्वालया उपप्लवमानः अधिकतां गच्छन् यो धूमः स एव वलभी सौधोपरिगृहम् तत्र विभ्रान्ताः विशेषतः भ्रमं प्राप्ताः दिग्भित्तयो दिक्प्रदेशा यत्र तादृश्यः आश्रमभुवः काञ्चित् अनिर्वचनीयाम् भूतिं शोभां बिभ्रति धारयन्ति स्पर्धा परस्परजिगीषा तस्याः बन्धेन अनुबन्धेन मनोहरं यथा स्यात्तथा मुहुः वारंवारं तृतीयसवने सायंकालिकस्नाने स्वाध्याये जपे दीर्घान् अपि स्वान् स्वरान् द्राघयन्तः दीर्घतां प्रापयन्तः वटवः श्रूयन्ते । यज्ञवह्निज्वालादीर्घीकृतो धूमस्तोमो वलभीवत् प्रतीयमानो दिग्भ्रमं जनयति, तेनाश्रमभूमयो नितान्तमनोहराः प्रतीयन्ते, किञ्च वटवः सायंस्नानं समाप्य स्वाध्यायमारभमाणाः परस्परस्पर्धया स्वान् स्वरान् प्लुतान् कुर्वत इत्यर्थः । 'वितानो यज्ञविस्तारः' इति विश्वः । 'वटवः श्रूयन्ते' इत्यत्राधाराधेययोरभेदोपचाराद् ध्वनिश्रवणमेव विवक्षितम्, यथा प्रयुक्तं कविभिः—'अश्रूयत पाञ्चजन्यः' 'विलपन्तं कपिञ्जलमश्रौषम्' इतिमाघकादम्बर्योः । 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः' इति न्यायाद् विशेषणलाभः ॥ ४८ ॥

आश्रम-भूमिकी कुछ अद्भुत शोभा हो रही है, क्योंकि वहाँ पर यज्ञाग्नि-धूमरूप वलभियाँ दिशाओंका भ्रम उत्पन्न कर रही हैं, वटुलोक सायं सन्ध्या-स्नानसे स्वतो दीर्घस्वरको और भी दीर्घ इसलिये कर रहे हैं कि उनमें जोरसे पढ़नेमें होड़सी लग गई है ॥ ४८ ॥

विश्वामित्र—वत्स राघव,

१. 'वडभीविश्रान्त-' इति ।　　२. 'रामभद्र' इति ।

उन्मुक्ताभिर्दिवसमधुना सर्वतस्ताभिरेव
स्वच्छायाभिर्निचुलितमिव प्रेक्ष्यते विश्वमेतत् ।
पर्यन्तेषु ज्वलति जलधौ रत्नसानौ च मध्ये
चित्राङ्गीयं रमयति [1]तमःस्तोमलीला धरित्री ॥ ४९ ॥

लक्ष्मणः—(सनिर्वेदम् ।)

तेजोमयं तमोमयमन्यतरस्यां तदेव दिक्चक्रम् ।
किमपि विचित्रा [2]धात्रा सृष्टिरियं भुवनकोषस्य ॥ ५० ॥

उन्मुक्ताभिरिति । एतत् विश्वं जगन्मण्डलम् दिवसम् अखिलमपि दिनम् उन्मुक्ताभिः परित्यक्ताभिः सूर्यतेजःसान्निध्यात् तिरोहिताभिः ताभिः प्राचीनाभिः एव स्वच्छायाभिः अधुना अस्तमनकाले सर्वतः समन्तात् निचुलितम् आवृतम् इव प्रेक्ष्यते दृश्यते । अस्य विश्वस्य या च्छाया सूर्यतेजःसान्निध्यात्तिरोहितेवासीत्साधुना तदस्तमने सति पुनरपि सन्निधाय जगदावृणोतीवेति पूर्वार्द्धार्थः । तमसां स्तोमस्य समुदयस्य लीला विलासो यस्यां सेयं तमःस्तोमसमाकुला, धरित्री धरणी पर्यन्तेषु प्रान्तेषु जलधौ समुद्रे रत्नसानौ सुमेरुपर्वते च ज्वलति दीप्यमाने सति चित्राङ्गी विविधवर्णरञ्जिता सती रमयति विलोककानां मनः प्रमोदयति । क्वचित् तमःस्तोमनीला, क्वचिदुच्चतमस्थलेषु सद्यः सूर्यस्पृष्टत्यक्तेषु च प्रदेशेषु सावशेषसूर्यकरद्योतिता चेयं नानावर्णतां भजन्ती पृथिवी प्रमोदयति मानसानि दर्शकानामित्यर्थः । तमःस्तोमसुमेरुरत्नसमुद्रसलिलसम्बन्धवशाच्छ्यामरक्तश्वेततया भुवश्चित्राङ्गीभाव उक्तः । 'रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः ॥ मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ४९ ॥

तेजोमयमिति । तदेव दिक्चक्रम् दिङ्मण्डलम् पश्चिमायां तेजोमयम् सूर्यकरयुक्तम्, अन्यतरस्यां प्राच्यादौ दिगवकाशे तमोमयम् अन्धकारपूर्णञ्च इति विधात्रा ब्रह्मणा कर्त्रा इयं भुवनकोषस्य ब्रह्माण्डस्य विचित्रा सृष्टिः, एकतः प्रकाशपूर्ण-

---

जो छाया दिन भर सूर्यकरोंसे अभिभूत होकर परित्यक्त सी बनी रही, उसी छायाने इस समय विश्वको व्याप्त कर रखा है । प्रान्तदेश, सागर, सुमेरु और मध्यदेशके चमकते रहनेके कारण चित्राङ्गी यह पृथिवी बहुत आनन्द दे रही है ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण—(उदास भावसे) यही दिङ्मण्डल एक भागमें तेजोमय तथा अपर भागमें तमोमय है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्माने इस संसारको विचित्र बनाया है ॥ ५० ॥

---

१. 'तमःस्तोमनीला' इति । २. 'धातुः' इति ।

(सर्वतोऽवलोक्य ।)

चूडारत्नैः स्फुरद्भिर्विषधरविवराण्युज्ज्वलान्युज्ज्वलानि
　प्रेक्ष्यन्ते चक्रवाकीमनसि निविशते सूर्यकान्तात्कृशानुः ।
किं चामी शल्ययन्तस्तिमिरमुभयतो निर्भराहस्तमिस्रा-
　संघट्टोत्पिष्टसंध्याकणनिकरपरिस्पर्धिनो भान्ति दीपाः ॥५१॥

रामः—(विलोक्य ।)

विश्वं चाक्षुषमस्तमस्ति हि तमःकैवल्यमौपाधिक-

मन्यतश्च सान्धकारमिदमद्भुतं विश्वं ब्रह्मणा कृतमिति भावः । 'धात्रा भुवनकोपस्य सृष्टिः' अत्र 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति सूत्रेण कर्मणि षष्ठी नियम्यतेऽतः कर्त्तरि तृतीया ॥ ५० ॥

चूडारत्नैरिति । विषधराणां भुजङ्गानां विवराणि बिलानि स्फुरद्भिः तिमिरव्यापनात् प्रकाशं विस्तारयद्भिः चूडारत्नैः शिरोमणिभिः उज्ज्वलानि उज्ज्वलानि प्रेक्ष्यन्ते, प्रतिविवरं सर्पफणामणयः प्रकाशं विस्तारयन्तीति तानि प्रकाशोज्ज्वलानि दृश्यन्त इत्यर्थः । कृशानुः सन्तापरूपो वह्निः सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तमणिं विहाय चक्रवाकीमनसि तदाख्यपक्षिजातिभेदहृदये निविशते प्रवेशं करोति, सूर्येऽस्तमिते सूर्यकान्तमणयः शान्ता अजनिषत, मन्ये तत्रत्यस्तापो भानुकिरणेष्वस्तं गतेषु रात्रिवियोगिनीनां चक्रवाकीणामन्तर्निविशते, तत्र सन्तापो वर्द्धत इत्याशयः । किञ्च अमी प्रत्यग्रोज्वालिताः दीपाः तिमिरम् अन्धकारं शल्ययन्तः खण्डयन्तः उभयतः उभयोः पार्श्वयोः निर्भरम् अत्यर्थम् योऽहस्तमिस्रयोर्दिनरात्र्योः सङ्घट्टो मिलनं तेनोत्पिष्टायाः चूर्णितायाः सन्ध्याया ये कणसमूहास्तेषां परिस्पर्धिनः तुल्याः भान्ति शोभन्ते, उभयतो मिलत्योर्दिनरात्र्योर्मध्ये चूर्णितायाः सन्ध्यायाः कणा इव प्रतीयमाना ध्वान्तमपघ्नन्तोऽमी दीपाः प्रतिभान्तीति भावः । 'तमिस्रा तामसी रात्रिः', 'आशीविषो विषधरः' इत्युभयत्रामरः ॥ ५१ ॥

विश्वमिति । चाक्षुषं चक्षुर्ग्राह्यं प्रत्यक्षम् विश्वम् जगत् अस्तम् तिरोहितम्,

---

(चारो ओर देखकर) प्रकाशित होनेवाले मस्तकस्थ रत्नोंकी कान्तिसे सर्पोंके बिल चमक रहे हैं, सूर्यकान्तमणिकी ज्वाला चक्रवाकियोंके हृदयमें प्रवेश कर रही है, दिन और रात्रिके संघर्षसे पिसी गई सन्ध्याके कणसे समता रखनेवाले यह दीप अन्धकारको उभय भागसे छेद रहे हैं ॥ ५१ ॥

राम—(देखकर)

संसारकी दृक्-शक्ति समाप्त हो गई है, सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है, औपाधिक

प्राच्यादिव्यवहारबीजविरहाद्दिङ्मात्रमेव स्थितम् ।
गृह्यन्ते भयहेतवः पटुभिरप्यक्षान्तरैर्भाति च
ध्वान्तेनातिघनेन वस्तु वचसा ज्ञातः स्वरेणामुकः ॥ ५२

किं च—

घनतरतिमिरघुणोत्करजग्धानामिव पतन्ति काष्ठानाम् ।
छिद्रैरमीभिरुडुभिः किरणव्याजेन चूर्णानि ॥ ५३ ॥

चक्षुरिन्द्रियग्राह्यं समस्तमपि वस्तुजातमदृश्यमजायत तमोऽभिभवात्, तमःकैवल्यम् केवलोऽन्धकारः अस्ति, सर्वतः केवलं तमो व्याप्तमस्तीति शेषः। उपाधिर्विशेषणं तत्संबन्धी औपाधिकः यः प्राच्यादिव्यवहारः, तस्य बीजं सूर्यः, तत्सम्बन्धादेव हि प्राच्यादिव्यवहारः प्रथते, सूर्योदयसम्बन्धवती प्राचीत्यादिव्यवहारो हि सूर्यजनित इति तेषां व्यवहाराणां बीजं सूर्यस्तस्य विरहात् अस्तंगमनात् दिङ्मात्रम् निरुपाधिका केवला दिक् एव स्थितम् वर्त्तमानमस्ति। पटुभिः दृश्यग्रहणसमर्थैः अपि अक्षान्तरैः अविभिन्नैस्त्वगादीन्द्रियैः भयहेतवः भीतिकारणानि गृह्यन्ते रज्जवः स्पृष्टाः सत्यः सर्पतया ज्ञायन्ते इत्येवं प्रकारेणान्येऽपि पदार्थाः प्रतिभासमासादयन्तीत्यर्थः। अतिघनेन सान्द्रेण ध्वान्तेन तमसा वस्तु घटपटादिकम् वचसा आप्तवाक्येन भाति प्रकाशते, स्वरेण परिचितशब्दोच्चारणध्वनिना च अमुकः अयमसाविति विदितो भवतीत्यर्थः। अतिगाढे तमसि सन्तते चक्षुर्ग्राह्यं जगदस्तमेति, तमःकैवल्यं विजृम्भते, सूर्यरूपोपाधिविगमे प्राच्यादिव्यवहारस्य तदायत्तस्यानुदयाद्दिक्सामान्यमात्रं प्रतीयते, वस्तुग्रहणसमर्थान्यपीन्द्रियाणि भीतिकारणानि वस्तूनि गृह्णन्ति, वस्तूनां च प्रत्ययः केवलमाप्तवाक्यायत्तः व्यक्तिपरिचयश्च स्वराधीन इति सर्वतः प्रसृतं गाढं तम इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५२ ॥

घनतरेति। घनतरं सातिशयसान्द्रं यत् तिमिरम् अन्धकारः स एव घुणोत्करः काष्ठकीटसमूहस्तेन जग्धानाम् कवलीकृतानाम् काष्ठानाम् दिशां दारूणाञ्च चूर्णानीव अमीभिः उडुभिः नक्षत्रैः छिद्रैः नक्षत्ररूपकीटनिष्कासितकाष्ठविवरैः इव

प्राच्यादि व्यवहारके बीज सूर्यके नहीं रह जानेसे एक मात्र दिशा सामान्यतः रह गई। समर्थ इन्द्रियगण भी तमोमाहात्म्यसे भयजनक वस्तुओंका ज्ञान करा दे रहे हैं, किसी वस्तुका ज्ञान शब्दसे होता है प्रत्यक्षसे नहीं एवं व्यक्ति का भी ज्ञान उसके स्वरसे ही होता है, रूपसे नहीं ॥ ५२ ॥

अति घने अन्धकार रूप घुनों द्वारा भक्षित काष्ठों (दिशाओं) का चूर्ण उडुगण रूप छिद्रोंसे उनकी किरणोंके व्याजसे गिर रहा है ॥ ५३ ॥

(नेपथ्ये कलकलः ।)

(सर्वे ससंभ्रममा[1]कर्णयन्ति ।)

(पुनस्तत्रैव[2] ।)

निर्मज्जच्चक्षुरन्तर्भ्रमदतिकपिशक्रूरतारा नरास्थि-
ग्रन्थिं दन्तान्तरालग्रथितमविरतं जिह्वया घट्टयन्ती ।
ध्वान्तेऽपि व्यात्तवक्त्रज्वलदनलशिखाजर्जरे व्यक्तकर्मा
निर्मान्ती गृध्ररौद्रीं दिवमुपरि परिक्रीडते ताडकेयम् ॥५४॥

किरणव्याजेन मयूखमिषेण पतन्ति । अन्येषां घुणभक्षितकाष्ठानां चूर्णानि पतन्ति, तथैव दिशामपि काष्ठापदाभिलप्यानां तिमिरैरिव घुणैर्भक्षितानां सतीनां किरणानीव चूर्णानि पतन्तीति भावः । 'काष्ठं दार्विन्धनं समम्', 'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः', 'तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्' इति सर्वत्रामरः ॥ ५३ ॥

निर्मज्जदिति । निर्मज्जत् निमग्नीभवत् कोटररूपं यच्चक्षुः तस्य अन्तः मध्ये भ्रमन्ती अतिकपिशा पिङ्गलाभा क्रूरा भयजनकतया दुर्दर्शा च तारा कनीनिका यस्याः सा तादृशी तथोक्ता, दन्तान्तराले दशनपङ्क्तिमध्ये ग्रथितं लग्नं नरास्थिग्रन्थिं मनुष्यास्थ्नो ग्रन्थिम् अविरतम् सततम् जिह्वया घट्टयन्ती चालयन्ती, व्यात्तं विवृतं यन्मुखं वक्त्रं तत्र ज्वलन्ती प्रकाशमाना या अनलशिखा वह्निदीधितिः तया जर्जरे ध्वान्तेऽपि व्यक्तकर्मा दृश्यमानव्यापारा दिवम् आकाशम् , गृध्ररौद्रीम् गृध्रस्येव रौद्रं तीव्रक्रूरत्वं यस्यास्तां तथोक्तां निर्मान्ती कुर्वती सती इयं ताडका उपरि ऊर्ध्वदेशे परिक्रीडते । कोटरनिमग्ननयना पिङ्गलतारा नरास्थिमालां दन्तलग्नां चालयन्ती मुखस्थिताग्निज्वालया तमसि भिद्यमाने सति व्यक्तरूपा दिवं भीषणां कुर्वतीयं ताडकोपरि भ्रमतीत्यर्थः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५४ ॥

(नेपथ्यमें कलकल)

(सभी घबड़ाहटसे सुनते हैं)

(फिर वहीं पर)

आँखें भीतर पैठी हैं, जिनके भीतर अतिकपिशवर्णा भयङ्कर कनीनिका घूम रही है, दन्तान्तराल-ग्रथित नरास्थि-ग्रन्थिको बराबर जीभसे चला रही है, फैलाये हुए मुखके भीतर जलने वाली आगसे अन्धकारके जर्जर होनेके कारण उसका कर्तव्य स्पष्ट दीख रहा है, ऐसी आकाशमें गृध्रकी तरह मंडरानेवाली ताड़का क्रीडा कर रही है ॥ ५४ ॥

---

१. 'आकलयन्ति' इति । २. 'तत्रैव भोः'; 'भोः भोः' इति च ।

अपि च—

त्रेताग्निकुण्डपूरं च वर्षन्तो रुधिरच्छटाः ।
हिंस्राः सुबाहुमारीचमिश्रा नः परिवृण्वते ॥ ५५ ॥

विश्वामित्रः—([1]साकूतम् ।) कथं ताडका । वत्स रामभद्र,

विधानमानुश्रविकं गृहेषु नः प्रतिस्किरन्ती किमियं प्रतीक्ष्यते ।
सुबाहुमुख्यैः सममाततायिभिर्गृहाण चापं निगृहाण ताडकाम् ॥५६॥

रामः—(सघृणातिरेकम् ।) भगवन्, [2]स्त्रियमिमाम् ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

त्रेतेति । हिंस्राः क्रूरकर्माणः सुबाहुमारीचमिश्राः सुबाहुमारीचसहितास्तत्प्रधाना वा राक्षसाः त्रेताग्निः अग्नित्रयं तस्य कुण्डं पूरयित्वा इति त्रेताग्निकुण्डपूरं रुधिरच्छटाः वर्षन्तः नः अस्मान् यज्ञव्यापृतान् परिवृण्वते अवरुन्धन्ति । दक्षिणाग्निर्गार्हपत्यो हवनीयस्त्रयोऽग्नयः । 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' । 'त्रेताग्निकुण्डपूरम्' इत्यत्र 'चर्मोदरयोः पूरेः' इत्यनुवर्त्तमाने 'वर्षप्रमाणे ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति णमुल् ॥ ५५ ॥

विधानमिति । नः अस्माकम् तपस्विनाम् गृहेषु आनुश्रविकं वैदिकम् विधानम् यज्ञानुष्ठानविधिम् प्रतिस्किरन्ती नाशयन्ती इयं ताडका किं कुतः प्रतीक्ष्यते? अस्या विनाशे समयप्रतीक्षा व्यर्थेति भावः । तत् अस्या विनाशस्य सद्यः सम्पाद्यतया चापं धनुर्गृहाण धारय, 'आततायी वधोद्यतः' इति लक्षितैः आततायिभिः सुबाहुमारीचमुख्यैः समम् ताडकां निगृहाण घातय । 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥ ५६ ॥

स्त्रियमिमाम् स्त्रियं ताडकां हन्तुं कथमाज्ञापयन्ति भवन्त इति भावः ॥

अग्निहोत्रके कुण्डोंको भर देनेवाली रुधिरवृष्टि करते हुए सुबाहु मारीच आदि हिंस्र राक्षस हमें घेर रहे हैं ॥ ५५ ॥

विश्वामित्र—क्यों ताड़का है ? वत्स रामभद्र,

हमारे घरोंमें प्रस्तुत वैदिक विधानोंको नष्ट-भ्रष्ट करती हुई इस ताड़काकी प्रतीक्षा क्या करते हो ? अब तुम धनुष धारण करो और उपद्रवकारी सुबाहु आदिकोंके साथ इस ताड़काको मारो ॥ ५६ ॥

राम—(दयापूर्वक) महाराज, इस स्त्रीको ?

---

१. 'साशङ्कमिव'; 'ससंभ्रममिव' इति ।

२. 'स्त्रियमिमां कथं हनिष्ये'; 'स्त्रियमिमां कथं निगृह्णामि' इति च ।

[1]अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । भोस्तात विश्वामित्र, परिभूयामहे । प्रहीयतामधिज्यधन्वा दाशरथिः ।

रामः—(विहस्य । नेपथ्यावलोकितकेन ।) बालर्षे शुनःशेप, मुहूर्तं धीरो भव ।

अलं क्लिशित्वा गुरुमल्पकोऽयं विधिस्त्वदाज्ञैव गरीयसी नः ।
न कौशिकस्य त्वयि धर्मपुत्रे पुत्रे मधुच्छन्दसि वा विशेषः ॥ ५७ ॥

विश्वामित्रः—वत्स, [2]कृतमुत्तरोत्तरेण । नन्वयं नेदीयानाश्रमोपघातः ।

लक्ष्मणः—(सव्यथमिव । स्वगतम् ।)

अब्रह्मण्यम् 'अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ' महद्भयमुपस्थितमित्यर्थः । परिभूयामहे वयं शुनःशेपादयोऽमीभिर्यातुधानैरनादृता भवामः । प्रहीयताम् प्रेष्यताम् । अधिज्यधन्वा धृतचापः । दाशरथिः रामः ॥

अलमिति । गुरुं विश्वामित्रं क्लिशित्वा अलम् वृथा गुरुर्न क्लेशनीय इत्यर्थः । अयं ताडकावधरूपो विधिः व्यापारोऽल्पकः अत्यल्पः, नः अस्माकं तवैवाज्ञा गरीयसी, तवैवाज्ञया मया ताडकावधो विधेय इति भावः । धर्मपुत्रे धर्मतः पुत्रवत्पाल्यमाने त्वयि शुनःशेपे पुत्रे औरसे तनये मधुच्छन्दसि वा तन्नामके कौशिकस्य विश्वामित्रस्य वा विशेषः तारतम्यमस्ति ॥ ५७ ॥

कृतमुत्तरोत्तरेण वाक्ये वाक्यं कृत्वाऽलम् । नेदीयान् समीपस्थितः । आश्रमोपघातः आश्रमबाधा ।

(अब्रह्मण्य—अनर्थ हो रहा है, हे तात विश्वामित्र, हम सताये जारहे हैं, धनुषधारी रामभद्रको भेजिये)

राम—(हंसकर) अजी बाल ऋषि शुनःशेप, थोड़ी देर ठहरो ।

इस संबन्धमें गुरुको क्लेश देना व्यर्थ है, यह बहुत छोटा कार्य है, इसके लिये आपकी ही आज्ञा पर्याप्त है, विश्वामित्रके लिये धर्मयुक्त शुनःशेप तथा पुत्र मधुच्छन्दस्में कोई अन्तर नहीं है ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र—उत्तर-प्रत्युत्तर व्यर्थ है, आश्रमका उत्पीडन समीप आता जारहा है ।

लक्ष्मण—(व्यथासे स्वगत) जब कौशिक आज्ञा दे ही रहे हैं तब आर्य रामचन्द्र

---

१. 'अब्रह्मण्यं भोः' इति ।　　२. 'कृतं कृतमुत्तरेण'; 'कृतं कृतमुत्तरोत्तरेण' इति ।

मीमांसते किमार्योऽयं कौशिकेऽप्यनुशासति ।
वाचमेषामृषीणां हि शास्त्रमेवानुवर्तते ॥ ५८ ॥

रामः—(स्वगतम् ।)

गुर्वादेशादेव [1]निर्मीयमाणो नाधर्माय स्त्रीवधोऽपि स्थितोऽयम् ।
अद्य स्थित्वा श्वो गमिष्यद्भिरल्पैर्लज्जास्माभिर्मीलिताक्षैर्जितैव ॥५९॥

किं तु—

दीर्घं प्रजाभिरतिकौतुकिनीभिराभि-
रस्मिन्नकीर्तिपटहे मम ताडयमाने ।

मीमांसत इति । अयम् आर्यः पूजनीयो रामः कौशिके विश्वामित्रेऽपि अनुशासति आज्ञां ददति सति किं मीमांसते विचारयति (कथमहं स्त्रियं हनानीति विभावयति ?) हि यतः शास्त्रं कर्तृ एषां मुनीनाम् एव वाचमनुवर्त्तते अनुधावति । मुनिवचसामेव शास्त्ररूपत्वे एतदीयस्त्रीवधाज्ञाया अपि शास्त्ररूपतया तत्र विचारावसरस्याभाव इति भावः ॥ ५८ ॥

गुर्वादेशादिति । गुरोः विश्वामित्रस्य आदेशात् आज्ञया एव निर्मीयमाणः क्रियमाणः अयम् स्त्रीवधः अधर्माय पापाय न स्थितः समर्थः, गुर्वाज्ञयाऽनुष्ठीयमानोऽयं स्त्रीवधो मम पापमुत्पादयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । ननु मास्तु पापमथापि लज्जा त्ववश्यं भाविनी, तत्राह—अद्येति । अद्य अस्मिन् दिने अत्र स्थित्वा श्वः परदिने इतो गमिष्यद्भिः प्रस्थास्यमानैः अल्पैः वालैः अस्माभिः मीलिताक्षैः मुद्रितलोचनैः लज्जा जिता एव, नयननिमीलनजेतव्याया लज्जायाः किं भेतव्यमित्यर्थः । निमीलितनयनेनास्मादकार्यस्थानात् सत्वरप्रस्थाने केनापि दुष्कृतस्याज्ञानान्नास्ति लज्जाप्रसर इत्याशयः ॥ शालिनीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

दीर्घमिति । अतिकौतुकिनीभिः कथं रघुवंशीयेनापि सन्तानेन स्त्रीवधः कृत इत्याश्चर्यचकिताभिः आभिः प्रजाभिः जनैः अस्मिन् मम अकीर्त्तिपटहे स्त्रीवधरूपा-

---

क्या विचार करते हैं, इन ऋषियोंके वचन शास्त्रका ही अनुसरण करते हैं ॥ ५८ ॥

राम—(स्वगत) गुरुदेवकी आज्ञासे किये गये इस स्त्री-वधमें भी अधर्म तो होगा नहीं, रही लाजकी बात, आज हम हैं कल चले जायेंगे, तब तक आंखें बन्द करके लज्जाको भी परास्त कर दे सकते हैं ॥ ५९ ॥

किन्तु यहाँकी यह उत्कण्ठित प्रजा मेरी इस स्त्री-वध रूप दुर्यशका जब कीर्त्तन करेगी

---

१. 'निर्मायमाणः' इति ।

ज्योतिर्मयेन वपुषा जगदन्तसाक्षी
लज्जिष्यते कुलगुरुर्भगवान्वसिष्ठः ॥ ६० ॥

(नेपथ्ये ।)

अलमिष्ट्वा मखान्मूर्खाः खड्गधारेयमस्ति नः ।
अदवीयानयं पन्थाः स्वर्लोकमुपतिष्ठते ॥ ६१ ॥

रामः—(श्रुत्वा [1]सरोषं ससंभ्रमं चोत्थाय सविनयमञ्जलिं बद्ध्वा ।) [2]भगवञ्जगत्त्रयगुरो गाधिनन्दन,

---

यशोडिण्डिमे ताड्यमाने वाद्यमाने सति ज्योतिर्मयेन ज्ञानात्मकेन वपुषा जगदन्तसाक्षी संसारविनाशप्रत्यक्षकर्त्ता सर्वद्रष्टा कुलगुरुः मदीयवंशगुरुः भगवान् वसिष्ठः दीर्घं चिराय लज्जिष्यते त्रपामनुभविष्यति, मद्गुरुकेऽपि रघुकुले कथमेतादृशः कलङ्की जातो यो वधूमवधीत् इति त्रपामनुभविष्यतीत्यर्थः। साक्षीशब्दे 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इतीनिः ॥ ६० ॥

अलमिति । हे मूर्खाः अज्ञानवन्तो यागपरायणाः, मखान् तांस्तान्यागानिष्ट्वा सम्पाद्य अलम्, इयमस्माकम्, खड्गधारा अस्ति विद्यते, यागसम्पाद्यस्वर्गस्यानया खड्गधारयैव लभ्यत्वे अनेकविधप्रयाससम्पाद्ययागप्रवृत्तिर्वृथेति भावः । ननु स्वर्गफलस्य यागखड्गधारोभयमार्गसाध्यत्वे किमिति स्वर्गसाधनाय याग एव नोपादीयतां तत्राह—अदवीयानिति । अयं खड्गधारारूपः पन्थाः अदवीयान् सन्निहिततमः, स्वर्गलोकमुपतिष्ठते याति । नानाविधैर्व्रीहिप्रोक्षणावघातफलीकरणपुरोडाशहोमप्रभृतिभिः क्रियाकलापैर्यागः सम्पाद्यते तेनापूर्वं जन्यते, तेन च स्वर्गलाभ इत्येष यागात्मकः पन्था वक्रो विप्रकृष्टश्च, ममं तु खड्गधारापातेन युद्धहतस्य सद्यः स्वर्गलाभनियमेन सपदि स्वर्गलाभ इत्ययं नेदीयान्मार्गस्तदलं यागं कृत्वाऽऽयात युद्धे मृत्वा शीघ्रं स्वर्गं लभध्वमिति भावः ॥ ६१ ॥

तव ज्ञानदृष्टिसे समस्त विश्वकी घटनाओंको देखनेवाले मेरे कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ लज्जित हो उठेंगे ॥ ६० ॥

मूर्खो, यज्ञ करना व्यर्थ है, हमारी तलवारकी धार तो है ही, यह तलवाररूपी सीधा रास्ता स्वर्गको चला गया है ॥ ६१ ॥

राम—(सुनकर तेजीसे उठकर हाथ जोड़कर) हे जगत्त्रय गुरो विश्वामित्र,

---

१. 'ससंभ्रममुत्थाय'; 'सरोषसंभ्रममुत्थाय' इति च । २. 'भगवन्गुरो' इति ।

दशरथगृहे संभूतं मामवाप्य धनुर्धरं
दिनकरकुलास्कन्दी कोऽयं कलङ्कनवाङ्कुरः ।
इति [1]न वनितामेतां[2] हन्तुं मनो विचिकित्सते
यदधिकरणं [3]धर्मस्थीयं तवैव वचांसि नः ॥ ६२ ॥

(प्रणिपत्य [4]नेपथ्याभिमुखम् ।) [5]भोस्तपोधनाः, मा भैष्ट ।

रजनिचरचमूरमूरपास्यन्नयमहमागत एव [6]रामचन्द्रः ।

दशरथेति । दशरथगृहे दशरथभवने दशरथस्य धर्मभार्यायां वा सम्भूतं जातं मां रामं धनुर्धरम् चापपाणिम् अवाप्य प्राप्य दिनकरकुलास्कन्दी सूर्यकुलापमानजनकः कलङ्कस्य अयं नवाङ्कुरः नवप्ररोहः कः इति एतां वनितां स्त्रियं ताडकां हन्तुं मारयितुं मम मनो न विचिकित्सते न सन्देग्धि, यद् यस्मात् अस्माकं नवानुशिष्याणां तवैव वचांसि धर्मस्थीयम् धर्मप्रवृत्तिजनकं धर्माधर्मव्यवस्थापकम् अधिकरणम् निर्णयवचनम् । यतस्तवैव वचांसि वयं क्षत्रिया धर्मनिश्चायकतयाऽऽद्रियामहेऽतोऽस्याः स्त्रियो वधे कथं प्रवर्त्यतामिति मम मनो न संदिग्धे, त्वदाज्ञामादाय प्रवृत्तेरित्यर्थः ॥ हरिणीवृत्तम्, 'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति च तल्लक्षणम् ॥ ६२ ॥

रजनिचरेति । अमूः सम्मुखस्थिताः रजनिचरचमूः राक्षससेनाः अपास्यन् समुत्क्षिपन् नाशयिष्यन् अयमहं रामचन्द्रः आगत एव आयात इव । पुरःस्थाया राक्षससेनाया अवश्यविनाशकोऽहं रामचन्द्रः समायात इति तपोधनैर्भवद्भिर्भयं न करणीयमित्यर्थः, ननु तवागममात्रेण कथं न भयं करणीयमेषां राक्षसानामति दुर्दान्तत्वादिति चेत्तत्राह—

दशरथके कुलमें उत्पन्न तथा धनुषधारी मुझको प्राप्त करके सूर्यके वंशको क्षोभरूपी यह नया कलङ्क लग रहा है, इसलिये मुझे हिचकिचाहट नहीं हो रही है क्योंकि धर्माधिकारमें हमारे लिये आपके ही वचन प्रमाण हैं ॥ ६२ ॥

(प्रणाम करके नेपथ्यकी ओर देखकर) तपस्वियो, डरिये मत,

इन राक्षस-सेनाओंको दूर भगानेवाला यह रामचन्द्र आगया है, विश्वामित्र करस्थ

---

१. 'हि' इति । २. 'एनाम्' इति । ३. 'धर्मस्थानम्' इति ।
४. 'नेपथ्याभिमुखमवलोक्य' इति । ५. 'मा भैष्ट तपोधनाः, मा भैष्ट'; 'मा भैष्ट भोस्तपोधनाः, मा भैष्ट' इति च । ६. 'रामभद्रः' इति ।

कुशिकसुतकुशाग्रतोयविन्दोरिदमनुकल्पमवेत कार्मुकं मे ॥ ६३ ॥

(इति धनुरारोपयन्निष्क्रान्तः ।)

लक्ष्मणः—([1]साशङ्कमात्मगतम् ।) दिष्ट्या क्षात्रेण धर्मेण कौमारमप्यशून्यमार्यस्यासीत् । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य हर्षं नाटयन्प्रकाशम्[2] ।) भगवन्कौशिक, [3]पश्य पुरस्तादार्ये [4]धृतधनुषि

वायव्यास्त्रव्यतिकरनिरालम्बनस्ताडकेयः
प्राप्तौ जीवन्मरणमसुभिर्विप्र[5]मुक्तः सुबाहुः ।

कुशिकसुतेति । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य यत्कुशाग्रतोयम् तस्य विन्दोः पृषतः अनुकल्पं गौणं रूपं मे कार्मुकं धनुः अवेत जानीत यथा विश्वामित्रकुशाग्रतोयविन्दोः प्रभावेण तच्छत्राः सर्वेऽपि शत्रवः सद्यो विपद्यन्ते तथैव मम धनुषाऽपि सर्वेऽपि राक्षसाः सद्यो विपादनीयाः, तदलं भयेनेति भावः । 'मुख्यः स्यात्प्रथमे कल्पेऽनुकल्पस्तु ततोऽधमे' इत्यमरः ॥ ६३ ॥

दिष्ट्या आनन्दप्रकाशकम् । क्षात्रेण धर्मेण वीरतया । कौमारम् बाल्यम् । अशून्यम् युक्तम् । यथाऽयं रामो यौवने विक्रमधरो भावी तथैव बाल्येऽपि विक्रमधरः संवृत्त इत्यानन्दविषय इत्यर्थः । आर्ये रामचन्द्रे । धृतधनुषि सज्यीकृतचापे जाते सति, पश्य तत्फलं पश्येत्यर्थः ।

वायव्यास्त्रेति । ताडकाया अपत्यं पुमान् ताडकेयः सुबाहुर्नाम वायव्यास्त्रस्य व्यतिकरेण सम्बन्धेन निरालम्बनः आश्रयरहितः सन् जीवन्मरणं प्राप्तः सन् असुभिः

कुशाग्र जल-विन्दुके तुल्य ही आप मेरे धनुषको समझ लें ॥ ६३ ॥

(धनुष लेकर चलते हैं)

लक्ष्मण—(साशङ्क स्वगत) सौभाग्यवश आर्य रामका बाल्य भी क्षात्रधर्मसे पूर्ण रहा । (नेपथ्यकी ओर देखकर हर्ष प्रकाशित करते हुए, प्रकट) भगवन् कौशिक, देखिये, रामके धनुष धारण करते ही—

वायव्यास्त्रके संपर्कसे निराश्रय होकर मारीच जीते ही मरा हुआ है, सुबाहुने प्राण त्याग कर दिया, यह ताड़का भी खण्डित होकर करुणा, आश्चर्य, त्रास तथा क्रोधसे ऋषियों द्वारा देखी जारही है ॥ ६४ ॥

---

१. 'सोत्साहशङ्कमात्मगतम्' इति । २. 'सप्रकाशम्' इति ।
३. 'पश्य पश्य' इति । ४. 'धनुषि धृते' इति । ५. 'विप्रयुक्तः' इति ।

कृत्तोन्मुक्ता भुवि च करुणाश्चर्यबीभत्सहास-
त्रासक्रोधोत्तरल[1]मृषिभिर्दृश्यते ताडकेयम् ॥ ६४ ॥

विश्वामित्रः—(विलोक्य ।) वत्स लक्ष्मण, विस्मयेन प्रमोदेन च परवन्तो वयं [2]न वाचामधीश्महे । वक्तव्यमेव वा किमस्ति । न खल्वियमद्यतनी वः प्रतिष्ठा ।

दिक्कूलंकषकीर्तिधौतवियतो निर्व्याजवीर्यो[3]द्धता-
स्ते यूयं रघवः प्रसिद्धमहसो यैः सोऽपि देवाधिपः ।

प्राणैर्विप्रमुक्तः परित्यक्तः । इयञ्च ताडका कृत्ता छिन्ना भुवि पृथिव्याम् उन्मुक्ता त्यक्ता सती करुणया स्त्रीत्वकृतया दयया आश्चर्येण कथं महाराक्षस्या अस्या बालेन पराजय इति विस्मयेन बीभत्सेन घृणया हासेन प्रसादजन्मना हसितेन त्रासेन कदाचिदियं पुनर्जीविता चेत्सातिशयमुपद्रवेदिति भयेन क्रोधेन तदुपद्रवस्मरण-जन्मना कोपेन च उत्तरलं यथा स्यात्तथा ऋषिभिः दृश्यते ॥ ६४ ॥

विस्मयेन आश्चर्येण, कथमयं बालो रामस्तथा भयङ्करीमिमां राक्षसीमहन् इति जायमानेनाश्चर्येण । प्रमोदेन विघ्नापगमजन्मना हर्षेण । परवन्तः पराधीनाः हृतचित्ता इत्यर्थः । न वाचामधीश्महे न किमपि वक्तुं पारयामः । अद्यतनी नवीना । प्राक्तनी एव युष्माकमियं प्रतिष्ठाऽतो नात्र किमपि विशिष्य वक्तव्यमव-शिष्यत इत्यर्थः ॥

दिक्कूलङ्कषेति । दिशां कूलङ्कषा दिगन्तव्यापिनी या कीर्त्तिस्तया धौतं क्षालितं वियत् आकाशं यैस्तथाभूता यूयं ते प्रसिद्धा रघवः रघुवंश्याः निर्व्याजवीर्योद्धताः अकपटपराक्रमदृप्ताः तथा प्रसिद्धमहसः प्रख्याततेजस्काश्च, स्थ इति शेषः । असुरा-

---

विश्वामित्र—(देखकर) वत्स लक्ष्मण, विस्मय तथा आनन्दसे हम पराधीन हो रहे है, हममें बोलनेकी शक्ति नहीं रह गई है। अथवा कहना ही क्या है, यह प्रतिष्ठा तुम्हारे कुलके लिये कुछ नई नहीं है।

दिगन्तव्यापी यशसे आकाशको धवल बना देने वाले तथा अकपट पराक्रमशाली तुम रघुवंशियोंका तेज प्रसिद्ध ही है, तुम रघुवंशियोंने तो इन्द्रकी जयके निदान अपने धनुष-धारणसे इन्द्रको पौलोमीके कुचमण्डल पर पत्रभङ्गरचना-निर्माणकी कला सिखला दी है,

---

१. 'असुभिः' इति । २. 'न च' इति । ३. 'वीरमताः' इति ।

विश्राणैरसुराधिराजविजयक्रीडानिदानं धनुः
पौलोमीकुच[1]पत्रभङ्गरचनाचातुर्यमध्यापितः ॥ ६५ ॥

लक्ष्मणः—भगवन्, पश्य ।

अद्य नैशाचरीं सेनामेनामुन्मूलयन्नयम्[2] ।
[3]आधानं वीरधर्मस्य [4]निर्माय त्वामुपस्थितः ॥ ६६ ॥

(प्रविश्य ।)

रामः—([5]सवैलक्ष्यस्मितम् ।)

पूषा वसिष्ठः कुशिकात्मजोऽयं त्रयस्त एते गुरवो रघूणाम् ।

धिराजविजयक्रीडानिदानम् असुरमुख्यपराजयसाधनं धनुर्विश्राणैर्यैः रघुवंश्यैः स देवाधिपः इन्द्रोऽपि पौलोमीकुचपत्रभङ्गरचनाचातुर्यम् शचीस्तनदेशाधिकरण-पत्रावलीविरचनकौशलम् अध्यापितः शिक्षितः । दिगन्तविख्यातकीर्त्तयोऽकपट-शौर्यशालिनश्च राघवाः प्रथिता एव, येषां राक्षसजैत्रधनुर्धराणां प्रभावेण जितेषु राक्षसेषु विजेतव्याभावेन शक्रः पुलोमात्मजाकुचपत्रभङ्गरचनायामेव समयं गमयती-त्याशयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६५ ॥

अद्येति । अयं रामः अद्य एनां नैशाचरीं राक्षसीं सेनाम् उन्मूलयन् विनाशयन् वीरधर्मस्य वीरचर्यायाः आधानं स्वस्मिन् संस्थितिं निर्माय कृत्वा त्वामुपस्थितः प्राप्तः । राक्षसबलमुन्मूलयन्नयं रामोऽद्य स्वस्मिन्वीरधर्ममाधाय भवदन्तिकमुप-पन्नस्ततस्सत्यं त्वदुक्तमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

सवैलक्ष्यस्मितम् सलज्जमन्दहासम् ।

पूषेति । पूषा सूर्यः, वसिष्ठः, अयं कुशिकात्मजश्च एते त्रयः ते प्रसिद्धाः रघूणां

अर्थात् उन्हें युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उनकी ओरसे तुम रघुवंशी ही लड़ा करते हो और वह अपनी स्त्रीके स्तनोंपर क्रीडापत्रभङ्ग बनानेमें लगे रहते हैं ॥६५॥

लक्ष्मण—भगवन् देखिये, आज यह रामचन्द्र राक्षससेनाका नाश करते हुए वीर-धर्मका आरम्भ करके आपके पास उपस्थित हो रहे हैं ॥ ६६ ॥

(प्रवेश करके)

राम—(लज्जाके साथ हंसकर) सूर्य, वसिष्ठ, तथा विश्वामित्र यही तीन रघुवंशके

---

१. 'पत्रभङ्गि' इति ।　२. 'इव' इति ।　३. 'आधारम्' इति ।
४. 'विधाय' इति ।　५. 'सवैलक्ष्यम्' इति ।

महामुनेरस्य[1] गिरा कृतोऽपि स्त्रैणो वधो [2]मां न सुखाकरोति ॥६७॥

(आश्रममवलोक्य ।)

प्रत्यासन्नतुषारदीधितिकरक्लिश्यत्तमोवल्लरी-
[3]वल्याभिर्मखधूमवल्लिभिरमी संमीलितव्यञ्जनाः ।
श्वः संवीवरयिष्यमाणवटुकव्याधूतशुष्यत्त्वचो
निद्राणातिथयस्त[4]पोधनगृहाः कुर्वन्ति नः कौतुकम् ॥६८॥

([5]पुरतोऽवलोक्य ।)

गुरवः कुलपूज्याः, तथापि अस्य महामुनेर्विश्वामित्रस्य गिरा वचसा कृतोऽनुष्ठितोऽपि स्त्रैणो वधः स्त्रीहत्या ताडकाविनिपातरूपा मां न सुखाकरोति प्रीणयति। गुरोरपि विश्वामित्रस्याज्ञामनुरुध्य यदहं स्त्रियं ताडकां हतवांस्तन्मे हृदये दुःखमुत्पादयतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

प्रत्यासन्नेति । प्रत्यासन्नस्य उदयोन्मुखस्य तुषारदीधितेश्चन्द्रस्य करैः किरणैः क्लिश्यन्त्यः नश्यन्त्यो यास्तमोवल्लर्यः अन्धकारश्रेणयस्तत्कल्पाभिः तत्तुल्याभिः मखधूमवल्लिभिः यज्ञोद्गतधूमलताभिः सम्मीलितानि तिरोहितानि व्यञ्जनानि द्वारकुड्यादिचिह्नानि येषु तादृशाः, तथा श्वः भाविदिने सञ्चीवरयिष्यमाणाः परिधास्यमानाः वटुकैः ब्रह्मचारिभिः व्याधूताः कम्पिताः शुष्यन्त्यश्च त्वचो वल्कलानि येषु तादृशाः, निद्राणाः शयिताः अतिथयः अभ्यागताः येषु तथोक्ताश्च तपोवनगृहाः नः अस्माकं कौतुकम् आनन्दातिरेकं कुर्वन्ति जनयन्ति । आसन्नोदयस्य चन्द्रस्य प्रकाशेन नश्यन्त्या तमोलेखया समानाकाराभिर्धूममालाभिस्तिरोहितानि

गुरु हैं, आज महामुनि विश्वामित्रके कहनेसे किया गया यह स्त्रीवध मुझे आनन्दित नहीं कर रहा है ॥ ६७ ॥

(आश्रमकी ओर देखकर)

अभी-अभी उदित होनेवाले चन्द्रमाकी किरणों से नष्ट होते अन्धकारकी तरह दीखनेवाले मखधूमोंसे आच्छादित तथा कल्ह पहने जानेवाले सूखनेको डाले गये वल्कलोंसे घिरे तथा जिनमें अतिथि गण सो रहे हैं ऐसे यह तपोधनोंके घर मेरे कुतूहलकी सृष्टि कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

(आगेकी ओर देखकर)

---

१. 'तस्य' इति । २. 'अयम्' इति । ३. 'कल्पाभिः' इति । ४. 'तपोवने' इति । ५. 'पुरोऽवलोक्य' इति ।

स्फुरति पुरतो माद्यन्माद्यच्चकोरविलोचन-
प्रकरकिरणश्रेणीदत्तस्वहस्तघनं महः ।
हृदय लघु मा भूः प्रेयोदर्शनप्रतिभूरयं
कुवलयदृशामिन्दुर्नेत्रे सुधाभिरनक्ति नः ॥ ६९ ॥

अपि च—

उन्मीलन्ति मृणालकोमलरुचो राजीवसंवर्तिका-

बाह्यचिह्नानि तपोवनगृहाणाम्, वटवश्च स्वः परिधेयानि वल्कलानि चालयित्वा शोषयन्ति, यत्र तत्रातिथयः सुखं शेरते, तदीदृशास्तपोवनगृहा अस्माकमन्तरानन्दातिशयं सृजन्तीति तात्पर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६८ ॥

स्फुरतीति । माद्यतां माद्यतां नितरां हृष्यतां चकोराणां ये विलोचनप्रकरास्तेषां किरणश्रेणीभिः मयूखनिचयैः दत्तेन स्वहस्तेन हस्तावलम्बनेन घनं सान्द्रं महः चान्द्रं तेजः स्फुरति राजते । चन्द्रोदये प्रसन्नतां प्रकाशयन्तश्चकोरा यच्चन्द्रोपरि-दृष्टिपातं कुर्वन्ति तन्नयनमयूखैस्समेधितं चान्द्रं तेजो राजते इत्याशयः । हे कुवलयदृशां हृदय, लघु मा भूः कातरं भास्म भवः, अयमिन्दुश्चन्द्रः प्रेयसोऽत्यन्त-प्रियजनस्य दर्शने प्रतिभूर्लग्नकः नः अस्माकं नेत्रे चक्षुषी सुधाभिरमृतैरनक्ति सिञ्चति । चन्द्रोदयस्य विरहिणां कृते कन्दर्पज्वरदायितया चन्द्रमुदितमवलोक्य स्वयमेव कुसुमबाणवशगः प्रियः समागमिष्यतीति हृदयमाश्वास्यते । कुवलय-दृशामप्रक्रान्ततयाऽसम्बद्धाभिधानमिदमिति मत्वा केचित्—भगवतो हि चेतस्यन्ध-कारे महद्दुःखमुत्पन्नमत आह हे मदीयहृदय, मा लघु उपतप्तं भूः, अयं कुवलय-दृशां प्रतिभूः प्रियदर्शने इन्दुः सुधाभिर्नेत्रे अनक्ति, अतोऽन्धकारापनोदः सन्निहितः इत्यर्थमाहुः । इतरे तु—प्राच्यां दिशि तेजःपटलमालोक्य किमयमन्य एव कश्चन मायावी राक्षसः समुपागत इति बुद्धिरुत्पन्ना, ततो निपुणं निरूप्याह—'हे मदीय-हृदय, मा लघु भूः मा त्वरिष्ठाः नासौ राक्षसः कश्चित्, किन्तु कुवलयदृशां प्रेयो-दर्शनप्रतिभूरिन्दुरयमिति वर्णयन्ति । न चातीतानागतज्ञतया रामस्य नेदृशी शङ्को-चितेति वाच्यम्, सर्वदा तस्य तथात्वानभ्युपगमात् । अन्यथा राक्षसमायादर्शने तस्य मोहाप्राप्तिप्रसङ्गेन तथावर्णनस्यासम्बद्धत्वप्रसङ्गात् । 'प्रतिभूर्लग्नकः पुमान्' इत्यमरः । हरिणीवृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ६९ ॥

उन्मीलन्तीति । मृणालकोमलरुचः मृणालधवलकान्तयः राजीवानां याः संव-

मतवाले चकोर नयनोंको अति बहुमूल्य आनन्द प्रदान करनेवाला यह तेज आगेकी ओर फैल रहा है, हृदय, घबड़ाओ मत. स्त्रियोंके हृदयोंमें प्रियतमोंके आनेका विश्वास दिलानेवाला यह चन्द्रमा अपनी किरणोंसे हमारी आँखोंको शीतलता प्रदान कर रहा है ॥

मृणालकी तरह स्वच्छ एवं कमलदलोंको सङ्कुचित करनेवाले यह चन्द्रमाके किरण

संवर्तव्रतवृत्तयः कतिपये पीयूषभानोः कराः ।
[1]अप्युस्रैर्धवलीभवत्सु गिरिषु क्षुब्धोऽयमुन्मज्जता
विश्वेनेव तमोमयो निधिरपामह्नाय फेनायते ॥ ७० ॥

(सनिर्वेदम् ।)

इन्दुर्यद्युदयाद्रिमूर्ध्नि न भवत्यद्यापि तन्मा स्म भू-
न्नासीरेऽपि तमःसमुच्चयममूरुन्मूलयन्ति त्विषः ।

र्त्तिकाः नवदलानि तासां संवर्त्ते प्रलये यत् व्रतं सङ्कल्पः तत्र वृत्तिर्व्यापारो यासां तास्तथोक्ताः कमलदलसङ्कोचनप्रवृत्ता इत्यर्थः । पीयूषभानोः चन्द्रमसः कतिपये असमस्ताः करा उन्मीलन्ति स्फुटीभवन्ति, उस्रैः चन्द्रकिरणैः गिरिषु पर्वतेषु धवलीभवत्सु श्वेततामञ्चत्सु उन्मज्जता उन्मज्जनं कुर्वता (प्रकटपृथग्भावमाप्नुवता) विश्वेन जगता क्षुब्धो मथित इवायम् तमोमयः अन्धकारस्वरूपः अपांनिधिः समुद्रः अह्नाय झटिति फेनायते फेनमुद्गमति । कमलदलसङ्कोचके शशिकरनिकरे किञ्चिदुन्मीलति सति प्रकाशीभवत्सु गिरिषु उन्मज्जता विश्वेन मथित इवायं तमोराशिरूपः सागरः प्रकाशरूपं फेनमुद्गमति, अन्योऽपि सागरः गिरिणा मन्दरेण मथ्यमानः फेनं त्यजतिस्मेति मनसिकृत्येत्थमुक्तम् । 'उत्प्रेक्षालङ्कारः स्पष्टः । 'संवर्त्तिका नवदलम्','द्रागझटित्यञ्जसाऽह्नाय','विश्वं जगति स्यान्नपुंसकम्' इति सर्वत्रामरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७० ॥

इन्दुरिति । अद्यापि सम्प्रत्यपि यदि इन्दुः चन्द्रः उदयाद्रेः उदयाचलस्य मूर्ध्नि शिरोदेशे न भवति नोदयते तत् मा स्म भूत् नोदयताम्, अमूः त्विषः अमी चन्द्रकराः नासीरे उदयादग्रेऽपि तमसामन्धकाराणाम् समुच्चयम् समुदायम् उन्मूलयन्ति निरवशेषमवसाययन्ति, चन्द्रसम्पाद्यस्य तमोनाशरूपकार्यस्य तदीयत्विड्भिरेव सम्पाद्यतया चन्द्रोदयापेक्षा नास्तीत्यर्थः । न केवलं तमोनाशरूपकार्यमेव त्विषः सम्पादयन्ति, किन्त्वन्यान्यपि नेत्रानन्दजननकुमुदविकासनादिकार्याणि ताः

प्रकटित हो रहे हैं, किरणोंसे पर्वत धवल हो रहे हैं, इससे सागर क्षुब्ध हो रहा है, यह संसार मानो सागरसे निकल रहा है और इसीलिये यह सागर फेनायमान हो रहा है ॥ ७० ॥

चन्द्रमा अभी भी उदयाचलकी चोटीपर भले ही न आया हो, परन्तु उसकी किरणें आगे-आगे ही अन्धकारराशिका नाश कर रही हैं, आंखोंको आह्लादित तथा

---

१. 'अप्युग्रैः' इति ।

अप्यक्ष्णोर्मुद[1]मुद्गिरन्ति कुमुदैरामोदयन्ते दिशः
संप्रत्यूर्ध्वमसौ तु लाञ्छनम[2]भिव्यङ्क्तुं प्रकाशिष्यते ॥७१॥

([3]सहर्षम् ।)

काश्मीरेण दिहानमम्बरतलं वामभ्रुवामानन-
द्वैराज्यं विदधानमिन्दुदृषदां भिन्दानमम्भःशिराः ।
प्रत्युद्यत्पुरुहूतपत्तनवधूदत्तार्घद[4]र्भाङ्कुर-
क्षीवोत्सङ्गकुरङ्गमैन्दवमिदं बिम्बं समुज्जृम्भते ॥ ७२ ॥'

कुर्वते, तदाह—अप्यक्ष्णोरिति । अक्ष्णोः दृशोः अपि मुदमानन्दमुद्गिरन्ति ददति, कुमुदैः विकासितैः कुमुदकुलैः दिशः आमोदयन्ते सुरभीकुर्वन्ति, असौ इन्दुस्तु सम्प्रति तमोनाशनेत्रानन्दनकुमुदद्वारकदिक्सुरभीकरणरूपकार्याणां त्विड्भिरेव कृतत्वे तु लाञ्छनं स्वं कलङ्कमभिव्यङ्क्तुं स्फुटावभासतां नेतुं प्रकाशिष्यते उदयिष्यते, सम्प्रति चन्द्रोदयस्य तत्कलङ्काभिव्यक्तिमतिरिच्य प्रयोजनान्तरं नावयाम इति भावः । स्वकीयैः सन्ति कार्याणि सम्पाद्यन्ते स्वयं तु कलङ्कमात्रं प्रकाश्यत इत्यहो शोच्यता शशिन इति ध्वनिः । शार्दूलविक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ ७१ ॥

काश्मीरेणेति । काश्मीरेण कुङ्कुमेन अम्बरतलम् आकाशदेशम् दिहानम् लिम्पत्, वामभ्रुवाम् सुन्दरीणां स्त्रीणाम् आननद्वैराज्यम् मुखप्रतिपक्षताम् (सादृश्यम्) विदधानम्, इन्दुदृषदाम् चन्द्रकान्तोपलानाम् अम्भःशिराः जलाधारभूतनाडीः भिन्दानम् खण्डयत्, (स्वेदयत्) प्रत्युद्यतीभिः प्रत्युद्गच्छन्तीभिः पुरुहूतपत्तनवधूभिः पुरन्दरपुरीललनाभिः दत्तो योऽर्घस्तस्य दर्भाङ्कुरेण (अतिभक्षितेन) क्षीवः मत्तः उत्सङ्गकुरङ्गः क्रोडस्थहरिणो यस्य तथाभूतम् इदमैन्दवं चन्द्रसम्बन्धि बिम्बं मण्डलं समुज्जृम्भते उदयते । प्रथमोदितकिरणानामतिरक्तत्वा-

-दिशाओंको कुमुदोंसे आमोदित कर रही हैं, फिर पीछे चन्द्रमा भी अपने कलङ्कको व्यक्त करनेके लिये उदित होंगे ही ॥ ७१ ॥

आकाशको केसरके रंगमें रंगनेवाला, स्त्रियोंके मुखकी समता करनेवाला, चन्द्रकान्तमणियोंकी जलवाहिनी सिराको प्रवाहित करनेवाला यह चन्द्रमाका बिम्ब उदित हो रहा है, इसके उदय होते ही स्वर्गकी स्त्रियों द्वारा दिये गये अर्घमें वर्तमान कुशाङ्कुरोंको खाकर इसका अङ्कस्थ हरिण अलसा गया है ॥ ७२ ॥

१. 'उद्वहन्ति' इति । २. 'अभिव्यक्तुम्' इति ।
३. 'सहर्षं च' इति । ४. 'दूर्वाङ्कुर—' इति ।

एताश्च—

पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजःस्वाजन्यजन्मोद्धताः
शीतांशोर्द्युतयः पुरन्दरपुरीसीम्नामुपस्कुर्वते ।
एताभिर्लिहतीभिरन्धतमसान्युद्ग्रथ्नतीभिर्दिशः
क्षोणीमास्तृणतीभिरन्तरतमं व्योमेदमोजायते ॥ ७३ ॥

अपि च—

नैवायं भगवानुदञ्चति शशी गव्यूतिमात्रीमपि
द्यामद्यापि तमस्तु कैरवकुलश्रीचाटुकाराः कराः ।
मथ्नन्ति स्थलसीम्नि शैलगहनोत्सङ्गेषु संरुन्धते

त्कुङ्कुमसादृश्यम्, 'काश्मीरं कुङ्कुमेऽपि स्यात्', 'नाडी तु धमनिः शिरा' इति मेदिन्यमरौ ॥ ७२ ॥

पौलोमीति । पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजसाम् इन्द्राणीस्तनकलशकुङ्कुमरजसां स्वाजन्ये समानकुले जन्मना उत्पत्त्या उद्धताः दृप्ताः, शीतांशोर्द्युतयः चन्द्रकराः पुरन्दरपुरीसीम्नाम् स्वर्गसीमादेशानाम् वियताम् उपस्कुर्वते गुणान्तराधानं कुर्वते । इन्द्रस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरजःसाजात्यसगर्वा अमी चन्द्रकराः व्योम्नि स्वंगुणमादधत इत्यर्थः । अन्धतमसानि गाढान्धकारान् लिहतीभिः आस्वादयन्तीभिः नाशयन्तीभिरित्यर्थः, दिशः प्राच्यादिदिग्विभागानुद्ग्रथ्नतीभिः प्रकटयन्तीभिः क्षोणीं पृथ्वीमास्तृणतीभिः आच्छादयन्तीभिरेताभिर्द्युतिभिः चन्द्रकान्तिभिः अन्तरतमम् मध्यगतम् इदं व्योम ओजायते उज्ज्वलीभवति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७३ ॥

नैवायमिति । अयं भगवान् शशी अद्यापि सम्प्रत्यपि गव्यूतिमात्रीम् क्रोशद्वयपरिमाणाम् अपि द्याम् आकाशम् नैव उदञ्चति नोत्तिष्ठते, तु पुनः कैरवकुलश्री—चाटुकाराः कुमुदवृन्दशोभाऽऽलोककर्त्तारः कराः चन्द्रकिरणाः स्थलसीम्नि स्थलदेशे तमः मथ्नन्ति विध्वंसयन्ति, शैलानाम् पर्वतानाम् गहनानाम् वनानाञ्चोत्सङ्गेषु

पौलोमी कुचकुम्भ पर वर्त्तमान कुङ्कुम-रजकी तुलना प्राप्त होनेसे गर्वित यह 'चन्द्रद्युतियाँ प्राचीदिशाको प्रकाशित कर रही हैं,' यह चन्द्रद्युतियाँ अन्धकारको चाटती जा रही हैं, दिशाओंको व्यक्त करती आरही हैं, पृथ्वीको विस्तीर्ण करती जा रही हैं, इनसे आकाश दीपित हो रहा है ॥ ७३ ॥

अभी भगवान् चन्द्रमा दो कोश ऊपर भी नहीं उठ सके हैं, तभी कैरवकुलकी श्रीवृद्धि करनेवाले यह चन्द्र-किरणें स्थल-स्थल पर अन्धकारोंको मथित कर रहे हैं, पर्वत

जीवग्राहमिव क्वचित्क्वचिदपि च्छायासु गृह्णन्ति च ॥७४॥

(ज्योत्स्नातिशयं [1]विभाव्य ।)

किं नु ध्वान्तपयोधिरेष कतकक्षोदैरिवेन्दोः करै-
रत्यच्छोऽयमधश्च [2]पङ्कमखिलं छायापदेशादभूत् ।
किं वा तत्करकर्तरीभिरभितो निस्तक्षणादुज्ज्वलं
व्योमैवेदमितस्ततश्च पतिताश्छायाच्छलेन त्वचः ॥ ७५ ॥

([3]परिक्रम्य पार्श्वतोऽवलोक्य ।)

अभ्यन्तरेषु संरुन्धते अवरुद्धं कुर्वन्ति, तथा क्वचित् क्वचित् छायासु जीवग्राहं गृह्णन्ति च । यथा राजभटाः शत्रून् स्वस्वामिनि दूरस्थेऽपि स्थलेषु विध्वंसयन्ति, पर्वतकाननमध्ये निरुध्य वशयन्ति, क्वचिज्जीवग्राहं गृह्णन्ति च, तद्वदमी चन्द्रकरा गव्यूतिमात्रीमपि दिवं समाक्रामति चन्द्रे स्थले तमांसि नाशयन्ति, पर्वतवनगतानि तु तानि निरुन्धन्ति, क्वचिच्छायासु जीवग्राहं गृह्णन्ति चेत्यर्थः । 'नृपादेर्वर्णने चाटुरालोके चाटुरिष्यते'; 'गव्यूतिः स्त्रीक्रोशयुगम्' इति धरण्यमरौ ॥ ७४ ॥

किन्नु ध्वान्तेति । अयं ध्वान्तपयोधिः अन्धकारसागरः कतकक्षोदैः जलस्वच्छताकारकौषधिविशेषचूर्णैरिव इन्दोश्चन्द्रस्य करैः किरणैः अत्यच्छः अतिनिर्मलः किन्तु ? अखिलं पङ्कं छायापदेशात् अधः च अभूत् । किंवा तस्य इन्दोः करा एव कर्त्तर्यः छेदनसाधनास्त्राणि ताभिरभितः समन्ततस्तक्षणात् खण्डनात् इदं व्योम आकाशम् उज्ज्वलम् भवति, छायाच्छलेन इतस्ततस्तस्य व्योम्न एव त्वचः पतिताः, अन्यस्यापि निकृत्तस्य वृक्षादेस्त्वचः इतस्ततः पतन्ति तद्वदित्यर्थः, उपरि प्रकाशोऽधश्छाया, तन्मन्ये ध्वान्तपयोधिः कतकक्षोदोपमैरेभिश्चन्द्रकरैरत्यच्छो जातोऽधश्च छायाच्छलात्पङ्कमवतिष्ठतेऽथवा चन्द्रकररूपकर्त्तरिकया व्योमवृक्षश्छिन्नस्तत्तस्योज्ज्वलता, छायाच्छलेन च तत्तरुत्वचां पात इति विवक्षितोऽर्थः । अत्र संदेहालङ्कारः स्पष्टः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

तथा वनोंमें घेर रहे हैं, कहीं-कहीं छायामें जीवित बन्दी बना रहे हैं ॥ ७४ ॥

(अधिक ज्योत्स्ना देखकर) क्या यह अन्धकार सागर ही चन्द्रकिरण रूप 'निर्मली' चूर्णके संपर्कसे ऊपरमें स्वच्छ तथा छायाके छलसे नीचे मलिन हो रहा है, अथवा चन्द्रकिरण रूप तीक्ष्ण अस्त्रसे यह आकाश रूप फल छील दिया गया है जिससे स्वच्छ आकाश निकल आया है और छायाके रूपमें उसका छिलका बिखर गया है ॥ ७५ ॥

(चलते हुए आगे देखकर)

१. 'विभाव्य च' इति । २. 'पङ्कपटलम्' इति ।
३. 'परिक्रम्यावलोक्य च' 'परिक्रम्य सर्वतोऽवलोक्य' इति च ।

दलविततिभृतां तले तरूणामिह तिलतण्डुलितं मृगाङ्करोचिः ।
मदचपलचकोरचञ्चुकोटीकवलनतुच्छमिवान्तरान्तराऽभूत् ॥७६॥

(विभाव्य च ।)

त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनामहो मिहिरत्विषा-
मभिविधिरसौ कोकश्रेणीमनस्यवशिष्यते[1] ।
क्षुधमपि तमः [2]कोपादन्तः प्रविश्य विनिघ्नतः[3]
शशधरकरानच्छिन्नाग्रांश्चरन्ति चकोरकाः ॥ ७७ ॥

दलेति । दलविततिभृताम् विस्तृतपत्राणाम् तरूणाम् वृक्षाणाम् इह तले अधःप्रदेशे मृगाङ्करोचिः चन्द्रद्युतिः तिलतण्डुलितम् तिलसङ्कीर्णतण्डुलवदाचरितम् अतएव अन्तराऽन्तरा मदचपलानाम् प्रमोदचटुलानां चकोराणां चञ्चुकोटिभिः कवलनेन आस्वादनेन तुच्छं शून्यमिवाभूत्, विस्तृतपत्रवृक्षाधोभागे सङ्कीर्णतिलतण्डुलसमानं छायामिलितमिन्दुरोचिः प्रमोदचपलचकोरचञ्चुपुटभक्षितरिक्तमिवावभासत इत्याशयः । उत्प्रेक्षालङ्कारः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ७६ ॥

त्रिभुवनेति । अहो आश्चर्यम्, त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनाम् लोकत्रयव्याप्ततमोविनाशिकानाम् मिहिरत्विषाम् सूर्यकान्तीनाम् असौ अभिविधिः अभिव्याप्तिः कोकश्रेणीमनसि चक्रवाककुलचेतसि अवशिष्यते, यः सूर्यतापो लोकत्रयं व्याप्तस्स सम्प्रति सन्तापरूपेण चक्रवाकचित्तमात्रेऽवशिष्यते, चक्रवाकचयो हि सूर्येऽस्तं गते सति वियोगव्यथया सन्तप्यते । चकोरकाः तन्नामानः पक्षिणः अन्तःप्रविश्य क्षुधं बुभुक्षां तमश्च विनिघ्नतः निवारयतः अच्छिन्नाग्रान् दूरप्रसारिणः शशधरकरान् चन्द्रकिरणान् चरन्ति भक्षयन्ति । चन्द्रोदये चक्रवाकाः सन्तप्यन्ते, चकोराश्च तत्करानाचामन्तीति प्रसिद्धिमनुरुध्येदमुक्तम् ॥ ७७ ॥

पत्र-समुदाय पूर्ण इन वृक्षोंके नीचे तिल-तण्डुलकी तरह मिलित तम तथा चन्द्रकर (किरण) ऐसा प्रतीत होता है मानो मदचपलचकोरोंने अपनी चञ्चुओं द्वारा बीच-बीचमें चन्द्रकरोंको निगल लिया है जिससे उसका स्थान रिक्त पड़ गया है ॥ ७६ ॥

(विचार करके)

त्रिभुवनके तमको नष्ट करनेवाले सूर्य-करोंके द्वारा भी कोकश्रेणीके हृदयमें वर्तमान वियोग-सन्तापरूप तमका लोप नहीं हो पाया था, इसीलिये इस समय यह चकोरगण भूखके साथ-साथ अन्तर्गत तमको भी दूर करनेवाले इन चन्द्रकरोंको समस्त रूपमें चर रहे हैं ॥ ७७ ॥

१. 'अवतिष्ठते' इति । २. 'साक्षादन्तः' इति । ३. 'निगृह्णतः' इति ।

अपि चेदानीं—

तथा पौरस्त्यायां दिशि कुमुदकेदारकलिका-
कपाटघ्नीमिन्दुः किरणलहरीमुल्ललयति ।
समन्तादुन्मीलद्बहलजलविन्दुस्तवकिनो
यथा पुञ्जायन्ते प्रतिगुडकमेणाङ्कमणयः ॥ ७८ ॥

(परिक्रामन्नूर्ध्वमवलोक्य ।)

तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं
कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते ।
तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्तपद-
व्रणविवरोपदर्शिनमिदं हि विभाति नभः ॥ ७९ ॥

तथेति । इन्दुः चन्द्रः पौरस्त्यायां प्राच्यां दिशि कुमुदानां कैरवाणां केदारः क्षेत्रम् तत्र याः कलिकाः मुकुलानि तासां कपाटघ्नीम् सङ्कोचविनाशिनीं विकासकरीम् किरणलहरीम् स्वकान्तिप्रवाहम् तथा उल्ललयति प्रसारयति, यथा समन्तात् सर्वतः उन्मीलद्भिः प्रसरद्भिः बहलैः प्रभूतैः जलविन्दुभिः स्तवकिनः सगुच्छाः जलविन्दुवर्षिणः एणाङ्कमणयः चन्द्रकान्ताः प्रतिगुडकम् सर्वासु गुटिकासु पुञ्जायन्ते राशीभवन्ति । कैरवकुलविकासकारिचन्द्रकान्तिसम्पर्कवशात् द्रवतां चन्द्रकान्तानाम् प्रतिगुटिकं पुञ्जीभावो जायते इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७८ ॥

तरुणेति । अयं चन्द्रमाः तरुणः प्रौढो यस्तमालस्तापिच्छस्तद्वत् कोमलं मलीमसं श्यामलं च (किञ्चन) कलयति धारयति, तत् लोकाः कलङ्कमिति अनृतमेव मिथ्यैव ब्रुवते कथयन्ति । इदं हि चन्द्रे दृश्यमानं श्यामलं वस्तु-निर्दयस्य अकृपस्य विधुन्तुदस्य राहोः दन्तपदे यद् व्रणविवरं तत्र दन्तक्षतस्थाने उपदर्शितं दृश्यं नभः विभाति । नेदं दृश्यमानं श्यामलं वस्तु कलङ्कात्मकमपि त्विदं राहुदन्तक्षतविवरदृश्यं नभ एवेति तात्पर्यम् । अपह्नुतिरलङ्कारः, प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य-

---

कुमुद वनकी कलिकाओंको विकसित करनेवाली अपनी कान्तियोंको चन्द्रमा प्राची दिशामें इस रूपमें फैलाता जा रहा है कि समन्ततः जलविन्दुपूर्ण होनेके कारण प्रति स्थानमें चन्द्रकान्त मणियोंके पुञ्ज बनते जा रहे हैं ॥ ७८ ॥

(घूमते हुए ऊपरकी ओर देखकर)

यह चन्द्रमा तरुण तमाल-पल्लवकी तरह श्याम वर्णका कलङ्क धारण करता है—यह कहना गलत है, यह तो अन्धकार है, राहुने जो निर्दयतापूर्वक दांत गड़ा दिये थे, उसीसे उत्पन्न छिद्रोंमें अन्धकार व्याप्त हो रहा है ॥ ७९ ॥

किं च—

रुचिभिरभितष्टङ्कोत्कीर्णैरिव त्रसरेणुभि-
र्यदुडुभिरपि च्छेदैः स्थूलैरिव भ्रियते नभः।
प्रकृतिमलिनो भास्वद्बिम्बोन्मृजाकृतकर्मण-
स्तदयमपि हि त्वष्टुः कुन्दे भविष्यति चन्द्रमाः॥ ८०॥

लक्ष्मणः—(सर्वतोऽवलोक्य।)

भूयस्तराणि यदमूनि तमस्विनीषु
ज्यौत्स्नीषु च प्रविरलानि ततः प्रतीमः।
संध्यानलेन भृशमम्बरमूषिकाया-

स्थापनात्। कोकिलकं वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—हयऋतुसागरैर्यतियुतं यदि कोकिल• कम्' इति॥ ७९॥

रुचिभिरिति। यत् अभितः समन्तात् टङ्कोत्कीर्णैः पाषाणदारणास्त्रविशेषोत्क्षिप्तैः त्रसरेणुभिरिव अत्यणुपरिमाणैर्वस्तुविशेषैरिव रुचिभिः मयूखैः तथा उडुभिः नक्षत्रैः छेदैः खण्डैरिव नभ आकाशं भ्रियते पूर्यते, तत् अयं प्रकृतिमलिनः स्वभावकलुषः चन्द्रमाः भास्वद्बिम्बस्य सूर्यबिम्बस्य उन्मृजायाम् तक्षणे कृतकर्मणः कृतव्यापारस्य त्वष्टुः विश्वकर्मणः कुन्दे यन्त्रविशेषे भविष्यति हि अवश्यमेव भविष्यति। नैताश्चन्द्ररुचयः किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णास्त्रसरेणव एते, नैतानि नक्षत्राणि किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णाश्छेदविशेषा एते, तस्मादवश्यमेव चन्द्रः प्रकृतिमलिनो विश्वकर्मणः कुन्दे तिष्ठतीत्युत्प्रेक्षा। पूर्वकाले सूर्यतेजांस्यसहमानया सूर्यपत्न्या संज्ञया प्रार्थितः पिता विश्वकर्मा सूर्यं यन्त्रारूढं कृत्वा हीनतेजसमकरोदिति पुराणवार्त्तां मनसिकृत्येयमुत्प्रेक्षा। हरिणीवृत्तम्॥ ८०॥

भूयस्तराणीति। यत् यतः अमूनि नक्षत्राणि तमस्विनीषु कृष्णनिशासु भूयस्तराणि अतिप्रचुराणि, ज्यौत्स्नीषु चन्द्रधवलासु च रात्रिषु च प्रविरलानि स्वल्पानि दृश्यन्ते, ततः तस्मात् प्रतीमः मन्यामहे यत् सन्ध्यानलेन सायङ्कालरूपेणाग्निना अम्बरमूषिकायाम् आकाशरूपसुवर्णादिद्रवीकरणपात्रभेदे आवर्त्तितैः द्रवीकृतैः

छेनीसे काटकर निकाले गये चन्द्रकरोंके समान दीखनेवाले इन दीर्घ-दीर्घ प्रतीत होनेवाले तारोंसे आकाश भरा हुआ है, क्या सूर्यको खरादपर चढ़ाकर स्वच्छ बना देनेवाले विश्वकर्माकी खरादपर इस चन्द्रमाको भी चढ़ना होगा? ॥ ८०॥

लक्ष्मण—यह तारे कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें अधिक तथा शुक्ल पक्षकी रात्रियोंमें कम होते हैं इससे समझमें आता है कि सन्ध्यानलके द्वारा आकाश रूप मूषा-यन्त्रमें

मावर्तितैरुडुभिरेव [1]भृतोऽयमिन्दुः ॥ ८१ ॥

([2]विहस्य च ।) हन्त, यथाधर्ममेतत् ।

यत्पीयूषमयूखमालिनि तमःस्तोमावलीढायुषां
नेत्राणामपमृत्युहारिणि पुरः सूर्योढ एवातिथौ ।
अम्भोजानि पराञ्चि तन्निजमघं दत्त्वेव तेभ्यस्ततो
गौराङ्गीवदनोपमासुकृतमादत्ते पतिर्यज्वनाम् ॥ ८२ ॥

उडुभिः नक्षत्रैः एव अयम् इन्दुः भृतः पूरितः । अतएव हि चन्द्रोदये नक्षत्राणां स्वल्पता, तेषां नक्षत्राणामेव द्रवीभावमापन्नानां पिण्डीभावेनायं चन्द्रो जात इति भावः । उत्प्रेक्षालङ्कारः स्फुटः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८१ ॥

यथाधर्मम् धर्मानुकूलम् ।

यत्पीयूषेति । तमःस्तोमेन अन्धकारनिकरेण अवलीढं समापितमायुर्येषां तेषां तमोहतानां नेत्राणाम् लोकनयनानाम् अपमृत्युहारिणि अकालमृत्युनिवारके नेत्राणां दर्शनक्षमतायाः समाधायके पीयूषमयूखमालिनि अमृतदीधितौ एव सूर्योढे अस्तमितसूर्यकालागते अतिथौ अभ्यागते समुपस्थिते सति यत् अम्भोजानि कमलानि पराञ्चि विमुखताभाञ्जि सङ्कुचितानि जायन्ते, तत् ततः तेभ्योऽम्भोजेभ्यः यज्वनांपतिः द्विजराजः (अतिथिः) निजमघं पापं तेभ्यः कमलेभ्यो दत्त्वा इव तेभ्यः कमलेभ्यः सकाशात् गौराङ्गीवदनोपमासुकृतम् सुन्दरीवदनसादृश्यपुण्यम् आदत्ते गृह्णाति । अयमाशयः—सूर्यास्तकाले समागतोऽतिथिर्यदि न सत्कृतो निवृत्तश्च तदाऽसौ गृहिणे स्वं पापं दत्त्वा तदीयं पुण्यमादाय च गच्छति, अयं चन्द्रमास्तादृश एवातिथिः कमलकुलान्युपागतः सङ्कुचद्भिः कमलैर्मन्ये निराकृत इव तेभ्यो मालिन्यरूपं स्वमघं प्रदाय तेषां पुण्यं रमणीवदनसादृश्यप्रयोजकमादत्त इति । उक्तं चात्र धर्मशास्त्रे—'अतिथिर्यस्य भग्नाशो

तवाकर तारों द्वारा ही यह चन्द्रमा प्रस्तुत किया जाता है ॥ ८१ ॥

(हंसकर) अहा ! यह ठीक ही है ।

अन्धकार द्वारा जिनकी आयु समाप्त कर दी गई थी ऐसा आंखोंको पुनरुज्जीवित करनेवाले सुधाकिरणशाली चन्द्रमा जब सूर्यास्तके बाद अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए तभी कमलोंने मुँह फेर लिया, अतः चन्द्रमाने अपना पाप कमलोंको दे दिया और कमलोंके पुण्य ले लिये जिससे चन्द्रमाको सुन्दरी स्त्रियोंके मुखकी समता प्राप्त हो रही है ॥ ८२ ॥

---

१. 'कृतः' इति । २. 'विहस्य यथाधममेतत्' इति ।

विश्वामित्रः—(सर्वतोऽवलोक्य । सस्मितम् ।) अहह [1]नामधेयमात्रमाधुर्यादपरमार्थदृश्वानो विप्रलभ्यन्ते । तथा हि ।

स्मेरा दिशः कुमुदमुद्भिदुरं पिबन्ति
ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोराः ।
आः कीदृगत्रिमुनिलोचनदूषिकायां
पीयूषदीधितिरिति [2]प्रथितोऽनुरागः ॥ ८३ ॥

(रामं च दृष्ट्वा । सहर्षस्मितम् ।) कथमयं [3]कुमाराङ्कविजयप्रत्यागतोऽपि

गृहात् प्रतिनिवर्त्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति । अतिथौ विमुखे प्रोक्तं गतं यत् पातकं नृणाम् । तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते ॥ इति ॥

नामधेयमाधुर्यात् नाममात्रस्य रमणीयत्वात् । अपरमार्थदृश्वानः अतत्त्वदर्शिनः । विप्रलभ्यन्ते प्रतार्यन्ते । नाममनोहरत्वे लोकाः प्रतारिता भवन्तीत्यर्थः ।

स्मेरा इति । दिशः स्मेराः विकासशीलाः, (नात्र चन्द्रापेक्षा, तासां स्वतोविकासशीलत्वात्) कुमुदमुद्भिदुरम् विकसितम् (अत्रापि न चन्द्रापेक्षा, तद्विकासस्य स्वतःसिद्धेः) उदरम्भरयः उदरपूर्त्तिलालसाशालिनः चकोराः ज्योत्स्नाकरम्भम् शशिकररूपं दधिसम्पृक्तं सक्तुम् पिबन्ति लिहन्ति, आः, अत्रिमुनिलोचनदूषिकायाम् अत्रिमुनेर्नेत्रविकाररूपे चन्द्रे पीयूषदीधितिः अमृतकर इति प्रथितोऽनुरागः कीदृक् ? कथमयं मुनिनेत्रोत्पन्नतया तन्मलरूपो विधुः सुधादीधितिपदेनोच्यते, कोपि तादृशोऽत्र विशेषो नालोक्यत इति भावः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८३ ॥

कुमाराङ्कः प्रथमं युद्धं तत्र यो विजयः शत्रुपराजयः ततः प्रत्यागतः शत्रून्-

---

विश्वामित्र—(चारो ओर देखकर, सस्मित) अहा ! नाममात्रकी समतासे वास्तविक वस्तुको नहीं जाननेवाले वञ्चित होते हैं ।

दिशायें प्रकाशित हो गईं, कुमुद खिल रहे हैं, चकोरगण पेट भरकर चन्द्रकर रूप दधिसक्तु खा रहे हैं, आः ! अत्रि मुनिकी आंखोंके मलस्वरूप इस चन्द्रमामें लोगोंको पीयूषदीधिति समझकर प्रेम क्यों है ? ॥ ८३ ॥

(रामको देखकर—हर्षसे हँसकर) प्रथम युद्धमें ही विजय प्राप्त करके भी ताड़काके

---

१. 'नामधेयमाधुर्यात' इति । २. 'प्रथितः' इति ।
३. 'कुमारोऽङ्कविजय'; 'कुमारो विजय—' इति च ।

ताडकानिग्रहेण [1]ह्रिणीयमानः सहसा नोपतिष्ठते [2]वत्सः। (लक्ष्मणं प्रति।) वत्स सौमित्रे, अस्माकमनेन वृत्तान्तेन प्रदोपलक्ष्मीरियमनूद्यते। पश्य।

निशाचराणां तमसां निहन्ता पुरोऽयमुद्गच्छति [3]रामचन्द्रः।
अथोल्लसद्भिर्नयनैर्मुनीनामयं कुमुद्वानजनि प्रदेशः॥ ८४॥

रामः—([4]विभाव्य।)

मदयति यदुत्पन्नो दुग्धाम्बुधेरयमम्बुधी-
न्नयति नयनादत्रेर्जातो मुदं नयनानि च।

विनाश्य समायातः, ह्रिणीयमानः लज्जमानः (स्त्रीवधस्याकार्यतया तथा) सहसा हठात्। नोपतिष्ठते न समीपमागच्छति। अनेन ताडकावधात्मना। वृत्तान्तेन समाचारेण। प्रदोपलक्ष्मीः रजनीमुखस्य शोभा। अनूद्यते पुनरुच्यते, यादृशी रजनीमुखस्य शोभा तादृश्येवास्मद्वृत्तान्तदशेति भावः॥

निशाचराणामिति। निशाचराणाम् तमसाम् रात्रौ प्रसरतामन्धकाराणां रक्षसाञ्च निहन्ता मारयिता अयं राम एव चन्द्रः पुर उद्गच्छति, प्रदोषस्य पुरतो यथा रात्रिप्रसारिणां तमसां निहन्ता चन्द्र उदयते तथैव निशाचराणां निहन्ताऽयं रामोऽस्माकं पुर उदयत इत्यर्थः। अथ जाते रामचन्द्रोदये उल्लसद्भिर्विकासं लभमानैः मुनीनां नयनैरयं प्रदेशः कुमुद्वान् अजनि सञ्जातः, चन्द्रोदये कुमुदानि विकसन्ति, रामस्य चास्मिन्नुदये प्रसन्नानि मुनीनां नयनानि कुमुदानीव जायन्ते इत्यर्थः। रूपकमलङ्कारः॥ ८४॥

मदयतीति। अयं सोमो विधुः यत् यस्मात् दुग्धाम्बुधेः क्षीरसागरात् उत्पन्नः सञ्जातः (अतः) अम्बुधीन् सागरान् मदयति हर्षयति, अत्रेः मुनिविशेषस्य नयनात् जात इति नयनानि त्रिलोकजनलोचनानि मुदं नयति हर्षं प्रापयति, अयमस्य विधोर्जन्यजनकभावसम्बन्धमूलः प्रमोदकत्वव्यवहारः सङ्कुचितः, सम्बन्धा-

---

मारे जानेसे यह राम लज्जित हो रहा है, अतः शीघ्र हमारे पास नहीं आरहा है। (लक्ष्मणके प्रति) वत्स लक्ष्मण, हम लोगोंकी इस घटनाने प्रदोष कार्यको दुहरा दिया है।

निशाचर-तमको दूर करनेवाले यह रामचन्द्र उदित हो रहे हैं, इन्हें देखकर विकसित होनेवाले मुनिजन-नयनोंसे यह देश कुमुदयुत हो रहा है॥ ८४॥

राम—(सोचकर) क्षीरसागरसे उत्पन्न यह चन्द्रमा सागरको प्रसन्न करता है और अत्रिनेत्रसे उत्पन्न होनेके कारण लोगोंके नयनोंको आनन्दित करता है, समस्त

---

१. 'घृणीयमानः' इति। २. 'वत्सः' इति क्वचिन्नास्ति।
३. 'रामभद्रः' इति। ४. 'विभाव्य च' इति।

तदखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया शची-
सहचरचरुस्थाली सोमः समञ्जसमीहते ॥ ८५ ॥

([1]सलज्जमुपसृत्य ।) भगवन्, अभिवादये ।

विश्वामित्रः—([2]सस्नेहबहुमानमालिङ्ग्य ।) वत्स रघुनन्दन, इत्थमेव

प्रकृष्टकर्त्रभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन् ।
प्रयुञ्जानास्त्वया वीर [3]परिपाल्यामहे वयम् ॥ ८६ ॥

रामः—([4]स्वगतम् ।) शिरसा गृहीतमाचार्यवचनम् ।

विश्वामित्रः—(समरधूलिधूसरं रामस्य [5]कपोलमुन्मार्जयन् ।) [6]यत्सत्य-

---

पेक्षित्वादिति भावः, यदियं शचीसहचरस्य इन्द्रस्य चरुस्थाली हवनीयद्रव्य-भाण्डभूता सोमलता अखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया सकलदेवताधृतप्रणया तत् समञ्जसम् युक्तम् ईहते चेष्टते । लतात्मकस्य सोमस्य सकलदेवप्रीणनपरायणतया युक्तव्यवहारिता, सम्बन्धनिरपेक्षत्वादिति सम्बन्धापेक्षोपकारिताया अपेक्षया सम्बन्धनिरपेक्षोपकारिता श्रेष्ठेति चन्द्ररूपसोमापेक्षया वरं लतात्मकः सोम इत्यभि-प्रायः । व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ८५ ॥

प्रकृष्टेति । प्रकृष्टं कर्त्तारमभिप्रैतीति प्रकृष्टकर्त्रभिप्रायं तादृशं यत् क्रियाफलं तद्वतो विधीन् यागादीन् उत्तमकोटिककर्तृसम्पाद्ययागादीन् प्रयुञ्जानाः अनुति-ष्ठन्तः वयं मुनयः त्वया परिपाल्यामहे रक्षेमहि साधीयसो यागाननुतिष्ठतोऽ-स्मानेवमेव रक्षितुं यतेथा इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

देवगणके समान प्रेमपात्र तथा इन्द्रके चरुस्थाली (भक्ष्यनिर्माणपात्र) रूप इस चन्द्रमाके लिये उचित ही है ॥ ८५ ॥

(लज्जाके साथ समीप जाकर) भगवन्, अभिवादन करता हूँ ।

विश्वामित्र—(सादर गले लगाकर) उत्तम कोटिक क्रिया-फलोंके देनेवाले यज्ञोंको करनेके समय आप इसी तरह हमारी रक्षा किया करें ॥ ८६ ॥

राम –(स्वगत) आचार्यके वचन सिरपर ।

विश्वामित्र—(समरधूलिधूसर रामके कपोलको पोंछते हुए)

---

१. 'रामः सलज्ज–' इति । २. 'सस्नेहमालिङ्ग्य' इति ।
३. 'प्रतिपाल्यामहे' इति । ४. 'स्वगतम्' इति क्वचिन्नास्ति ।
५. 'चुबुककपोल–' इति । ६. 'वत्स यत्सत्य–'; 'सत्य–' इति च ।

ममुना [1]नक्तंचरव्यतिकरेण प्रियसुहृदा सीरध्वजेन वितन्यमाने वैताने कर्मणि कम्पितमिव मे हृदयम् ।

रामः—(सगौरवम् ।) भगवन्, क एष सीरध्वजो नाम [2]यमद्य ते त्रिभुवनदुर्लभोऽयं प्रियसुहृच्छब्दप्रयोगः कमपि महिमानमारोपयति ।

विश्वामित्रः—वत्स, शृणोषि विदेहेषु मिथिलां नाम नगरीम् ।

रामः—यत्र पवित्रमाश्चर्यद्वयं जनाः कथयन्ति । सकलराज[3]दुराकर्षमैन्दुशेखरं धनुः, लाङ्गलमुखोल्लिखित[4]विश्वंभराप्रसूतिरगर्भसम्भवा [5]मानुषी ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) अथ किम् ।

नक्तञ्चरव्यतिकरेण निशाचरसम्पर्केण । वितन्यमाने क्रियमाणे वैताने कर्मणि यज्ञविधौ । यदि राक्षसा जनकस्य धनुर्यज्ञं दूषयेयुस्तदा कः प्रतिकुर्यादिति चिन्तया कम्पितमिव मम हृदयमित्यर्थः ।

कमपि महिमानमारोपयति कामपि प्रतिष्ठां प्रापयति ।

सकलराजकदुराधर्षम् सकलैरपि राजवर्गैर्दुर्नमनीयम् ।

लाङ्गलमुखोल्लिखितविश्वम्भराप्रसूतिः हलक्षुण्णपृथ्वीप्रभवा । अगर्भसम्भवा अनुदरजाता ।

इन राक्षसों द्वारा किये गये उपद्रवको देखकर सचमुच मेरा हृदय मेरे प्रियमित्र सीरध्वज द्वारा प्रक्रान्त यज्ञकी चिन्तासे काँप उठा है ।

राम—(गौरवसे) महाराज, यह सीरध्वज कौन हैं, जिन्हें आपके द्वारा प्रयुक्त प्रिय सुहृद् शब्द गौरव प्रदान कर रहा है ॥

विश्वामित्र—वत्स, तुमने विदेहदेशकी मिथिलाका नाम सुना होगा ।

राम—जहाँके विषयमें दो वस्तुयें पवित्र तथा आश्चर्यजनक प्रसिद्ध हैं, एक समी राजों द्वारा दुर्नमनीय शिवधनु, दूसरी हलके अग्रभागसे खुदी पृथ्वीसे उत्पन्ना पृथ्वीसमुद्भवा अयोनिजा कन्या ।

विश्वामित्र—और क्या ?

---

१. 'नक्तंचरचक्र–' इति ।　२. 'येनाद्य' इति ।　३. 'दुराधर्षम्' इति ।
४. 'उत्खातविश्वम्भरायाः' इति ।　५. 'मानुषी च' इति ।

रामः—(सकौतुकम् ।) ततः किं तस्याम् ।

विश्वामित्रः—

[1]असौ सीरध्वजो राजा यो देवाद्द्युमणेरपि ।
अध्यैष्ट याज्ञवल्क्यस्य मुखेन ब्रह्मसंहिताम् ॥ ८७ ॥

[2]तस्य संन्यस्तशस्त्रस्य पुराणराजर्षेर्जनकवंशजन्मनो दीक्षाविलोपशङ्कापर्याकुलयति माम् । [3]तदेतमायुष्मन्तौ, विधिशेष[4]मस्मदीयं समाप्य सहैव मिथिलामुपतिष्ठामहे ।

रामः—(सहर्षमपवार्य ।) वत्स लक्ष्मण, [5]ममापि तस्मिन्नतरुणरोहिणीरमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि [6]शरासने चिरस्य कौतुकमस्ति ।

असाविति । असौ राजा सीरध्वजः यः याज्ञवल्क्यस्य मुनेर्मुखेन याज्ञवल्क्यपरम्परया देवाद् द्युमणेः सूर्यात् ब्रह्मसंहिताम् वेदम् अध्यैष्ट अधिगतवान्, याज्ञवल्क्यः सूर्याद् वेदमधीत्य जनकमध्यापितवानिति मन्ये जनकः सूर्यादेव याज्ञवल्क्यमुखेन वेदमध्यैष्टेति भावः ॥ ८७ ॥

सन्न्यस्तशस्त्रस्य त्यक्तचापस्य । जनकवंशजन्मनः जनकगोत्रजस्य सीरध्वजनाम्नः । दीक्षाविलोपशङ्का यज्ञनाशभयम् ।

पर्याकुलयति-चिन्तां जनयति । विधिशेषम् कर्त्तव्यशिष्टम् । तरुणरोहिणीरमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि तरुणो बालो यो रोहिणीरमणश्चन्द्रमाः स चूडामणिः

राम—(कौतुकसे) वहाँ क्या हुआ है ।

वही सीरध्वज राजा हैं जिन्होंने याज्ञवल्क्यके मुखको माध्यम बनाकर भगवान् सूर्यसे ब्रह्मसंहिताका अध्ययन किया था ॥ ८७ ॥

जनकवंशज उस सीरध्वजने शस्त्रत्याग कर दिया है, अतः उनके यज्ञके लोपकी सम्भावना मुझे आकुल बनाये दे रही है । अतः हे चिरजीवियो, चलो, यहाँका कर्त्तव्य सम्पन्न करके मिथिला चलें ।

राम—(हर्षके साथ—लक्ष्मण मात्रसे) वत्स, मैं भी उस बालचन्द्रशेखरके हाथमें रहनेवाले धनुषको देखनेके लिए बहुत दिनोंसे उत्सुक हूँ ।

---

१. 'एष' इति । २. 'तस्य च न्यस्त–'; 'तस्य विन्यस्त–' इति च ।
३. 'तदेतस्मादादायायुष्मन्तौ'; 'तदेनमायु–' इति च ।
४. 'मखमस्मदीयं परिसमाप्य' इति । ५. 'ममाप्यतरुण–'; 'ममापि तरुण' इति च ।
६. 'बाणासने' इति ।

लक्ष्मणः—(सपरिहासम् ।) आर्यायामयोनि[1]जन्मनि राजकन्यकायामपि ।

रामः—([2]सरोषस्मितम् ।) [3]कथमन्यदेव किमपि प्रहसनं सूत्रयति भवान् । (मुनिं प्रति ।) भगवन् इक्ष्वाकुवंश[4]गुरो, [5]यदभिरुचितं भवते ।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति कौमारविक्रमो नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

शिरोभूषणं यस्य सः शिवस्तस्य पाणिप्रणयिनि महादेवकरलालिते शरासने चापे ।

अयोनिजन्मनि अगर्भजातायाम् ।

प्रहसनम् हाससाधनं रसान्तरम् । सूत्रयति अवतारयति ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते अनर्घराघवप्रकाशे
द्वितीयाङ्कः प्रकाशः ॥

लक्ष्मण—(परिहासके साथ) अयोनिजा राजकन्याके विषयमें भी ?

राम—(रोषसे हंसकर) क्यों तुम कुछ दूसरी ही दिल्लगी प्रारम्भ करते हो। (मुनिके प्रति) महाराज इक्ष्वाकुवंशगुरो, आपकी जैसी इच्छा ।

[चलकर सभी जाते हैं]

द्वितीय अङ्क समाप्त ॥

---

१. 'जन्मनि च राजकन्यायाम्' इति । २. 'सासूयस्मितम्' इति ।
३. 'अन्यदेव प्रहसनं सूत्रयसि'; 'सूचयति भगवान्' इति च ।
४. 'कुलगुरो'; 'गोत्रगुरो' इति च ।
५. 'यदभिरुचितं ते'; 'यदभिरुचितं भवते तत्क्रियताम्' इति च ।

अथ तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकी ।)

कञ्चुकी—(जरावैक्लव्यविसंस्थु[1]लानि कतिचित्पदानि [2]दत्त्वा आत्मानं प्रति सखेदोपालम्भम् ।)

गात्रैर्गिरा च विकलश्चटुमीश्वराणां
कुर्वन्नयं प्रहसनस्य नटः कृतोऽस्मि ।
[3]तत्त्वां पुनः पलितवर्णकभाजमेनं
नाट्येन केन नटयिष्यति दीर्घमायुः ॥ १ ॥

जरावैक्लव्यविसंस्थुलानि वार्द्धक्यकृताशक्तिस्खलितानि । कतिचित् पदानि दत्त्वा कियन्ति पदानि गत्वा । सखेदोपालम्भम् खेदेनात्मानं निन्दन् । वृद्धः कञ्चुकी वार्द्धककृतेन दौर्बल्येन स्वं निन्दन् वक्ष्यमाणप्रकारेणाहेत्याशयः ।

गात्रैरिति । गात्रैः शरीरावयवैः गिरा स्पष्टभाषया च विकलः अयुक्तः रहितः ईश्वराणां प्रभूणां चटुम् प्रियभाषितं कुर्वन् अयम् मल्लक्षणो जनोऽहम् प्रहसनस्य हास्यसाधनस्य नटः नर्त्तकः कृतोऽस्मि । विकलानि मदङ्गानि स्खलन्तीं मम वाचं च श्रुत्वा मम प्रभवो हसन्तीति मन्ये जरावस्थयाऽहं प्रभूणां प्रहासाय प्रहसननटः कृतोऽस्मीति भावः । एनम् पलितवर्णकभाजम् त्वाम् जराशौक्ल्यवन्तं त्वाम् एतत् दीर्घम् आयुः जीवितम् पुनः केन नाट्येन नटयिष्यति, चिरञ्जीवन्नहं केन केन प्रकारेण प्रभूणां मुदं जनयितुं चेष्टिताह इति नावगच्छामीत्यर्थः । अन्योऽपि प्रहसनप्रणेता नटः वर्णकेन हरितालादिना वपुरालिप्य धवलीकृतकेशः प्रभूणां प्रमोदाय नृत्यति, तद्वदहमपि दीर्घायुषा प्रवर्त्तितो बहूनि तानि तानि कार्याणि कर्त्तुं वाध्ये यैः प्रभवो मुदमनुभवन्तीति मदायुर्मां प्रहसनपात्रमिव नटयतीति तात्पर्यम् । रूप-

---

(कञ्चुकीका प्रवेश)

कञ्चुकी—(वार्धक्यके कारण लटपटी चालसे कुछ पग चलकर अपने प्रति उलाहने के स्वरमें)

शरीर तथा वचनके द्वारा मालिकोंका मनोविनोद करता हुआ मैं प्रहसनका नट बन गया हूं । इस पके बालोंवाले मुझ बूढ़ेको यह दीर्घ आयु न जाने कौन नाच और नचायेगा ? ॥ १ ॥

---

१. 'विसंष्ठुलानि' इति । २. 'गत्वा' इति । ३. 'न त्वाम्'; 'कृत्वा' इति ।

(पुरो विलोक्य[1] ।) अये [2]सीतापादमूलोपजीविनी कलहंसिका ।

(प्रविश्य ।)

कलहंसिका—अज्ज, पणमामि । [आर्य, प्रणमामि ।]

कञ्चुकी—वत्से, कल्याणिनी भूयाः ।

कलहंसिका—अज्ज, चिरेण कुदो तुह्मे । [आर्य, चिरेण कुतो यूयम् ।]

कञ्चुकी—([3]विमृश्य ।) तत्किं न कथ्यते । वत्से, विदितमेव भवत्याः, [4]यथा तत्तादृगद्भुतं [5]दारकद्वयमादाय भगवान्कौशिको यजमानं महाराजं सीरध्वजमुपस्थितः ।

कलहंसिका—अध इं । अज्ज, पहवं णामधेअं च ताणं सुणिदुं अत्थि मे कोदूहलम् । [अथ किम् । आर्य, प्रभवं नामधेयं च तयोः श्रोतुमस्ति मे कौतूहलम् ।]

केषु कञ्चुकी स्वां जरां निन्दतीति प्रसिद्धम् । कञ्चुकिलक्षणमुक्तं यथा—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते । जरावैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी' इति ॥ १ ॥

सीतापादमूलोपजीविनी सीतासमीपवर्त्तिनी ।

कल्याणिनी कुशलिनी ।

तादृगद्भुतम् तादृशमद्भुतप्रभावरूपम् । दारकद्वयम् कुमारयुगलम् । आदाय सहकृत्वा कौशिकः विश्वामित्रः । महाराजं सीरध्वजम् जनकम् । उपस्थितः प्राप्तः । प्रभवम् उत्पत्तिस्थानं वंशमित्यर्थः । नामधेयम् नाम, कौतूहलम् उत्कण्ठा ।

(आगेकी ओर देखकर) अरे, यह तो सीताके पास रहनेवाली कलहंसिका है ।

(प्रवेश करके)

कलहंसिका—आर्य, प्रणाम ।

कञ्चुकी—वत्से तुम्हारा कल्याण हो ।

कलहंसिका—आर्य, बहुत दिनोंके बाद किधरसे भटक पड़े हो ?

कञ्चुकी—(विचारकर) क्यों न कह दूँ ? वत्से, तुम्हें मालूम ही होगा कि अद्भुत रूप-गुणवाले दो बालकोंको साथ लेकर भगवान् कौशिक यजमान सीरध्वजके पास आये हैं ।

कलहंसिका—और क्या ? आर्य, मैं उन दोनोंका वंश तथा नाम सुनना चाहती हूं ।

---

१. 'विभाव्य च' इति । २. 'सीतापादोपजीविनी'; 'सीतापादोपसेविनी'; 'सीतापादपद्मोपजीविनी' च । ३. '(विमृश्य ।) तत्' इति कचिन्नास्ति ।

४. 'यत्तादृगद्भुतम्' । ५. 'कुमारद्वयमादाय कौशिकः' ।

कञ्चुकी—वत्से, कथयामि ।

त्रयस्त्रिंशत्कोटित्रिदशमयमूर्तेर्भगवतः
सहस्रांशोर्वंशे जयति [1]जगतीशो दशरथः ।
यदस्त्रैरस्निग्धैरसुरयुवतिश्वासपवन-
प्रकोपे सिद्धे न स्पृशति शतकोटिं शतमखः ॥ २ ॥

इमौ तस्य विशांपत्युरात्मजौ रामलक्ष्मणौ ।
ययोर्भरतशत्रुघ्नावनुजौ द्वन्द्वचारिणौ ॥ ३ ॥

त्रयस्त्रिंशदिति । त्रयस्त्रिंशत्कोटयो ये त्रिदशाः देवाः तन्मयी मूर्त्तिः शरीरं यस्य तस्य सर्वदेवमयस्य भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः सहस्रांशोः सूर्यस्य वंशे जगतीशः समग्रभुवनशासकः दशरथो नाम राजा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । त्रयस्त्रिंशत्कोटिसंमितदेवगणस्वरूपमूर्त्तेः सूर्यस्य वंशे दशरथो नाम चक्रवर्त्ती राजाऽस्तीति भावः । तमेव स्तौति—यदस्त्रैरिति । अस्निग्धैः कठोरैः यदस्त्रैः यस्य दशरथस्य अस्त्रैः असुरयुवतीनां देवाङ्गनानां श्वासपवनस्य प्रकोपे वृद्धौ सिद्धे जाते सति शतमखः इन्द्रः शतकोटिं वज्रं न स्पृशति । देवशत्रुषु राक्षसेषु हन्यमानेषु असुरयुवतयः श्वासं त्यजन्ति, तेनैव स्वसाध्यसुरयुवतिवन्दीभावमोक्षणे शक्रो निजं वज्रं न परामृशतीति भावः। दशरथस्य इन्द्रकार्यसम्पादकतया देवोपकारकताऽतिसामर्थ्यशालिता च व्यक्ता देवमयशरीरस्य सूर्यस्य वंशे जायमानतया च महाकुलप्रसूतता व्यञ्जिता । अस्त्राणामस्निग्धत्वविशेषणेन वायुप्रकोपकारणत्वं समर्थितम् , स्निग्धवस्तुभिर्वायुशमनं तद्भिन्नैश्च वायुवृद्धिरिति वैद्यकविद्याप्रसिद्धम् ॥ २ ॥

इमाविति । रामलक्ष्मणयोः प्रभवं नामधेयं च श्रोतुमिच्छन्त्याः कलहंसिकायाः कौतूहलमपनोदयितुं पूर्वश्लोकेन प्रभव उक्तः, सम्प्रति नामनी आह—इमाविति । तस्य विशांपत्युः लोकपालस्य दशरथस्य आत्मजौ पुत्रौ रामलक्ष्मणौ नाम इमौ विद्येते इति सम्बन्धः । ययोः रामलक्ष्मणयोः द्वन्द्वचारिणौ नित्यसहचरौ अनुजौ

कञ्चुकी—वत्से, बताता हूं । त्रयस्त्रिंशत(३३)कोटि देवमूर्त्तिधारी भगवान् सूर्यके वंशमें दशरथ नामके एक राजा हैं, जिनके खरे अस्त्रोंसे असुर युवतियोंके दीर्घनिश्वास पवनके प्रवर्त्तित हो जानेपर इन्द्र अपने वज्रका स्पर्श तक नहीं करते हैं ॥ २ ॥

उन्हीं राजप्रवरके यह दोनों राम-लक्ष्मण नामक पुत्र हैं, इनके छोटे भाइयोंका नाम भरत और शत्रुघ्न है जो सदा साथ रहते हैं ॥ ३ ॥

---

१. 'जगदीशः' ।

कलहंसिका—जधा अह्मघरे भट्टदारिआ सीदा उम्मिला अ मण्डवी सुदकित्ती अ। [यथास्मद्गृहे भर्तृदारिका सीता ऊर्मिला च माण्डवी श्रुतकीर्तिश्च।] (विचिन्त्य। ¹हर्षं निरूपयन्ती।) कथं महाकुलप्पसूदा एदे वि कुमारआ। [कथं महाकुलप्रसूता एतेऽपि कुमारकाः।] (मुहूर्तमिव स्थित्वा। दीर्घोष्णं च निःश्वस्य।) कुदो अह्माणं ईरिसो भाअधेओ। [कुतोऽस्माकमीदृशं भागधेयम्।]

कञ्चुकी—भवति, मा विषीद। सर्वं भविष्यति देवब्राह्मणा²नुग्रहात्।

कलहंसिका—तदो तदो। [ततस्ततः।]

कञ्चुकी—ततश्च वृद्धान्तःपुराणामभ्यर्थनया तौ³ विकर्तनकुल-

भरतशत्रुघ्नौ नाम। दशरथपुत्रौ रामलक्ष्मणावेतौ, तयोश्चानुजौ भरतशत्रुघ्नौ विद्येते इति सम्बन्धः। 'विशौ वैश्यमनुष्ययोः' इति विश्वः॥ ३॥

भर्तृदारिका राजपुत्री, 'राजा भट्टारको देवस्तत्सुता भर्तृदारिका' इत्यमरः।

कथमिति। इमे पूर्वं श्रुतनामानो रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाश्चत्वारोऽपीमे राजकुमारा महाकुलप्रसूताः सन्ति, तद्यदि तैः सह सीतोर्मिलामाण्डवीश्रुतकीर्त्तीनां मदीयराजकुमारिकाणां परिणयः सङ्घटेत, तदाऽतीव प्रमोदः स्यादिति तदाशयः। मा विषीद खेदं मा कुरु। देवब्राह्मणानुग्रहात् देवतानां विप्राणां च प्रसादात्। वृद्धान्तःपुराणाम् वयोवृद्धानां महादेवीनाम्। अभ्यर्थनया प्रेरणया। तौ रामलक्ष्मणौ। विकर्त्तनकुलकुमारौ सूर्यवंशीयौ राजपुत्रौ। निवर्त्तमानः परावर्त्तमानः।

कलहंसिका—जैसे हमारे यहाँ राजकुमारी सीता, ऊर्मिला, माण्डवी और श्रुतकीर्त्ति हैं, (विचार करके-हर्षके साथ) यह राजकुमार भी महाकुल-प्रसूत ही हैं। (थोड़ी देर सोचकर और लम्बी-सी गरम साँस लेकर) हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ?।

कञ्चुकी—अरी, विषाद मतकर, देवों और ब्राह्मणोंकी कृपासे सब हो जायगा।

कलहंसिका—उसके बाद क्या हुआ ?

कञ्चुकी—उसके बाद मैं अन्तःपुरकी बूढ़ी औरतोंके आदेशानुसार उन राजकुमारोंको

---

१. 'सहर्षम्'।　　२. 'अनुशासनात्'।

३. 'समागतौ तौ विकर्तनकुलकुमारौ। तौ किल'।

कुमारकौ दृष्ट्वा निवर्तमानः पुरोधसा गौतमेनाहमाहूय राजपुत्रीणां सौभाग्यदेवताराधनाय [1]संविहितोऽस्मि।

कलहंसिका—([2]सहर्षम्।) अज्ज, सव्वजणमणीसिदाणुऊलं विअ तत्थभवदो सदाणन्दस्स वअणम्। [आर्य, सर्वजनमनीषितानुकूलमिव तत्रभवतः शतानन्दस्य वचनम्।]

कञ्चुकी—वत्से, एवमेतत्। [3]न खल्वतथ्यमगम्भीरमाङ्गिरसो ब्रवीति।

कलहंसिका—ता किं मण्णेध संकरसरासणारोवणव्ववसाएण राएसिणो जणअस्स पडिण्णाहसं णिव्वाहेस्सदि राहवो। [तत्किं मन्यध्वे शंकरशरासनारोपणव्यवसायेन राजर्षेर्जनकस्य प्रतिज्ञासाहसं निर्वाहयिष्यति राघवः।]

पुरोधसा पुरोहितेन। गौतमेन शतानन्देन। आहूय आकार्य। सौभाग्यदेवताराधनाय गौरीशच्यादिसौभाग्यप्रदेवताप्रसादनाय। संविहितः आज्ञापितः। सर्वजनमनीषितानुकूलम् सर्वलोकाभिलाषानुवर्त्ति। यथा सर्वे कामयन्ते तथैव शतानन्दो मन्त्रयत इत्यर्थः।

अतथ्यगम्भीरम् अतथ्यमगम्भीरं च। आङ्गिरसः शतानन्दः। अङ्गिरोवंशोद्भवः शतानन्दो नालीकं भाषते नापि चागम्भीरमिति भावः।

मन्यध्वे विश्वासं कुरुथ। शङ्करशरासनारोपणव्यवसायेन हरधनुरारोपणचेष्टया। प्रतिज्ञासाहसम् प्रतिज्ञाप्रवृत्तिम्। निर्वाहयिष्यति सफलयिष्यति। येन साहसेन

देखकर लौटा आ रहा था कि पुरोहित शतानन्दने बुलाकर राजपुत्रियोंकी गौरीपूजाके लिये आज्ञा दे दी।

कलहंसिका—(सहर्ष) आर्य, सभी लोगोंके मनोरथके अनुकूल ही शतानन्दके वचन हैं।

कञ्चुकी—वत्से, बात ऐसी ही है कि अङ्गिरा गोत्रोत्पन्न शतानन्दजी झूठी तथा गम्भीरतासे रहित बातें नहीं कहते हैं।

कलहंसिका—तो क्या समझते हो कि राम शिवधनुषको आरोपित करनेकी चेष्टासे राजर्षि जनककी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे।

---

१. 'संप्रहितोऽस्मि' 'संप्रति प्रहितोऽस्मि'। २. 'हर्षं नाटयति'।

३. 'न खल्वयमतथ्यं वदति'; 'नखल्वगम्भीरमाङ्गिरसः'।

कञ्चुकी—वत्से, अस्मानपि तर्कोऽयं तरलीकरोति । तथाहि ।

पूर्णेऽपि कर्मणि हतेष्वपि राक्षसेषु
विज्ञाय मैथिलसुतामपि वीर्यशुल्काम् ।
बालं पितुः प्रियममुं रघुराजपुत्र-
मेतावतीं भुवमृषिः कथमानिनाय ॥ ४ ॥

कलहंसिका—(स्मरणमभिनीय । सविषादम् ।) अज्ज, पउत्तिविसे-

जनकः शिवशरासनारोपणं पणतयाऽस्थापयत्तत्साहसं रामः शिवधनुरारोप्य सफलीकरिष्यतीति भवन्तो मन्यन्त इत्याशयः ।

तर्कोऽयं तरलीकरोति चिन्तेयं व्याकुलयति । रामः शिवधनुरारोपयिष्यति न वेति विषये वयमपि सन्दिहाना एव वर्त्तामहे इत्याशयः ॥

पूर्णेऽपीति । कर्मणि यज्ञे पूर्णे सम्पन्ने अपि, राक्षसेषु यज्ञपरिपन्थिषु दैत्येषु हतेषु मारितेषु अपि मैथिलसुताम् सीताम् अपि वीर्यशुल्काम् शिवशरासनारोपण-रूपपराक्रमप्राप्याम् विज्ञाय ज्ञात्वा अपि ऋषिः विश्वामित्रः बालम् अल्पवयसम् पितुः प्रियम् पित्रा सविशेषं लाल्यमानम् अमुम् रघुराजपुत्रम् दशरथतनयम् रामम् एतावतीम् इयद्दूरवर्त्तिनीम् भुवम् मिथिलाभिधानां महीम् कथम् आनिनाय प्रापयामास । यज्ञे सम्पादिते राक्षसेषु हतेषु अपि सीताविवाहस्य पराक्रमसम्पाद्यतायां विश्वासं धारयन्नपि मुनिर्विश्वामित्रो दशरथस्य प्राणेभ्योऽपि प्रियं तनयं रामं यद्इयति दूरे स्थितां जनकराजधानीं प्रापितवानस्ति, तदत्र केनापि गूढेनाभिसन्धिना भवितव्यं, तेनाहं सीतापरिणयविषये रामस्य साफल्यं प्रति जनिताशतया न नितान्तं निराशः कष्टसाध्यतया शिवधनुरारोपणस्य न निश्चित-विश्वास इति सन्दिहानमना एवास्मीति भावः ॥ ४ ॥

स्मरणमभिनीय स्मरतीतिसूचकं चेष्टाविशेषं कृत्वा । सविषादम् सखेदम्, खेदश्च स्वस्वामिन्याः खेदस्य स्मरणेन । प्रवृत्तिविशेषलम्भेन कस्यचित्समाचार-

---

कञ्चुकी—वत्से, हम लोगोंको भी यह तर्क चञ्चल बना रहा है—क्योंकि यज्ञके पूर्ण हो जानेपर, राक्षसोंके मारे जानेपर, मैथिलीकी प्राप्ति पराक्रमाधीन है इस बातको जानकर भी बालक तथा अपने पिताके परमप्रिय इस राघवको विश्वामित्र इतने दूर तक क्यों ले आये हैं ? ॥ ४ ॥

कलहंसिका—(स्मरणका अभिनय करके–सखेद) कुछ खास समाचारसे सीता

सलम्भेण दुम्मणायमाणमत्ताणं पञ्चालिआकेलिवावारेण विणोदअन्तीं भट्टदारिअं पेक्खिअ उव्विण्णाए कारणं परिवज्जिदुं आगदाए अज्जस्स दंसणेन मए विसुमरिदं इमिणा उण दे रक्खसणामग्गहणेन सुमराविदह्मि। [आर्य, प्रवृत्तिविशेषोपलम्भेन दुर्मनायमानमात्मानं पाञ्चालिकाकेलिव्यापारेण विनोदयन्तीं भर्तृदारिकां प्रेक्ष्य उद्विग्नया कारणं प्रतिपत्तुमागतया आर्यस्य दर्शनेन मया विस्मृतमेतेन पुनस्ते राक्षसनामग्रहणेन स्मारितास्मि।]

कञ्चुकी—(सविषादम्।) वत्से, कीदृशी सा प्रवृत्तिः, या तव भर्तृदारिकामपि दुर्मनाययति।

कलहंसिका—सुणादु अज्जो। जधा किल सीदादेविं पत्थिदुं दसग्गीवपुरोहिदो आअदोत्ति। [यथा किल सीतादेवीं प्रार्थयितुं दशग्रीवपुरोहित आगत इति।]

कञ्चुकी—(तत्रावज्ञां नाटयन्सहर्षम्।) कथमेतावदपि कार्यं वत्सा

स्याद्वास्तथा। दुर्मनायमानम् खेदमनुभवन्तम्। पाञ्चालिकाकेलिव्यापारेण पाञ्चालिका'पुतलीति'ख्याता तत्केलिः तया क्रीडा तेन व्यापारेण 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृता' इत्यमरः। विनोदयन्तीम् प्रसन्नतां लम्भयन्तीम्। भर्तृदारिकाम् राजकुमारीम् सीताम् उद्विग्नया खिन्नया। कारणम् भर्तृदारिकादुर्मनायमानताहेतुम्। प्रतिपत्तुम् ज्ञातुम्। आर्यस्य पूज्यस्य तव कञ्चुकिनः। राक्षसनामग्रहणेन 'हतेष्वपि राक्षसेषु' इत्युक्तौ राक्षसपदप्रयोगेण।

प्रवृत्तिः वार्त्ता। 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। दुर्मनाययति खेदयति। प्रार्थयितुम् दशग्रीवः सीतां वरीतुमिच्छतीति बोधयितुम्।

तत्र दशग्रीवपुरोहितागमनवृत्तान्ते। अवज्ञां नाटयन् तिरस्कारबुद्धिमिव

उदास होकर कठपुतलीके खेल से दिल बहला रही थीं, उसे देखकर मैं कारण जानने चली थी, आपको देखकर मैं यह बात भूल गई थी, आपने राक्षसका नाम लिया तो फिर याद हो आई है।

कञ्चुकी—(सखेद) वत्से, वह कौन सी खबर है? जिससे तुम्हारी राजकुमारी भी उदास हो गई हैं

कलहंसिका—आर्य, सुनिये, सीता देवीकी मंगनीके लिए रावणका पुरोहित आया था।

कञ्चुकी—(उधर ध्यान न देकर) इन बातोंको भी सीता जानने लगी है कि इस

जानकी जानाति, यदनेनोदन्तेन [1]दुर्मनीभूयते । नूनमिदानीमस्याः कृतावतरणमङ्गलान्य[2]ङ्गकानि यौवनस्य पन्थानमीक्षन्ते ।

कलहंसिका—अज्ज, एवं ण्णेदम् । अज्जओसित्ति सिढिलीकिदलज्जा संपदि ज्जेव्व अणुहूदं किंपि णिवेदेमि । [आर्य, एवमेतत् । अर्जकोऽसीति शिथिलीकृतलज्जा संप्रत्येवानुभूतं किमपि निवेदयामि ।] (संस्कृतमाश्रित्य ।)

अनाकूतैरेव प्रियसहचरीणां शिशुतया
वचोभिः पाञ्चालीमिथुनमधुना संगमयितुम् ।
उपादत्ते नो वा विरमति न वा केवलमियं
कपोलौ कल्याणी पुलकमुकुलैर्दन्तुरयति ॥ ५ ॥

प्रकाशयन् । सहर्षम् हर्षश्चात्र सीताया अतिबालाया अपि तादृशज्ञानावगमकृतो बोध्यः । उदन्तेन वृत्तेन । दुर्मनीभूयते विपद्यते । कृतावतरणमङ्गलानि यौवनागमकालकर्त्तव्यमङ्गलक्रियासनाथानि । यौवनस्य पन्थानमीक्षन्ते यौवनाभिमुखानि जायन्त इत्यर्थः ।

अर्जकः पितामहः (पितामहतुल्यः) शिथिलीकृतलज्जा अपगतत्रपा । सम्प्रत्येवानुभूतम् अनतिचिरदृष्टम् । संस्कृतमाश्रित्य विदग्धताबोधनाय संस्कृतभाषाश्रयणम् , तदुक्तम्—'संस्कृतभाषाचाराः प्रायो नाटयेषु न स्त्रियः श्लाघ्याः । क्वचिदपि तपःप्रभावाद्विदग्धताबोधनाच्च शस्यन्ते' ॥

अनाकूतैरेवेति । इयम् कल्याणी सर्वावयवानवद्या सीता प्रियसहचरीणां सखीनां शिशुतया अप्राप्तयौवनतया हेतुना अनाकूतैः भावशून्यैः एव वचोभिः अधुना पाञ्चालीमिथुनम् कृत्रिमपुत्रिकायुगलम् सङ्गमयितुम् सह स्थापयितुम् नो वा उपादत्ते गृह्णाति नवा विरमति तद्विषयाद् व्यापारात् निवर्त्तते, केवलम् कपोलौ गण्डदेशौ पुलकमुकुलैः रोमाञ्चकलिकाभिः दन्तुरयति उन्नतानतौ करोति ।

समाचारसे वह उदासीन हो रही है । निश्चय अब इसके अङ्गोंमें यौवनका अवतार हो गया है, वह राह देख रही है यौवनके आनेकी ।

कलहंसिका—आर्य यही बात है । तुम पितामहकी तरह हो इसीलिए लज्जाका त्याग करके अभी-अभी अनुभूत कुछ बातें बता रही हूँ ॥ (संस्कृतके माध्यमसे)

विना किसी खास अभिप्रायसे प्रिय सखी द्वारा कहे जानेपर यह सीता कठपुतलीके जोड़ेको मिलानेके लिये न उठाती है न उस व्यापारसे विरत होती है, केवल उसके कपोलपर रोमाञ्च उग आते हैं ॥ ५ ॥

---

१. 'दुर्मनीभवति' । २. 'अङ्गानि' ।

कञ्चुकी—(सहर्षम् ।) दिष्ट्या चिरस्य जीवद्भिरस्माभिर्यौवनवती [1]वत्सा जानकी दृष्टा । (सस्मितम् ।) ततस्ततः ।

कलहंसिका—तदो अ पुणो पुणो वि ताहिं उज्जुआहिं णिब्बन्धिज्जमाणा लज्जिदुं वि लज्जेदि । [ततश्च पुनः पुनरपि ताभिः ऋजुकाभिर्निर्बध्यमाना लज्जितुमपि लज्जते ।]

कञ्चुकी—(विहस्य ।) वत्से, संकीर्णे [2]वयसि खल्वियं वर्तते । अत्र हि

[3]मनोऽपि शङ्कमानाभिर्बालाभिरुपजीव्यते ।

अयमाशयः—सीता सम्प्रति अज्ञातयौवना विद्यते, सखीनां सरलेनानुरोधेनापि सा कृत्रिमपुत्रिकायुगलं सङ्गमयन्ती स्त्रीपुंयोगं मनसि विभाव्य भाविनः स्वविवाहस्य ध्यायन्ती कपोलयोः सञ्जातरोमाञ्चतां भजत इति । शिखरिणीवृत्तम्, 'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'तिलक्षणात् ॥ ५ ॥

दिष्टया भाग्येन । चिरस्य जीवद्भिः चिरजीविभिः । यौवनवती युवती । यदि मया चिरं न जीवितं स्यात्तदा युवतिं राजपुत्रीं द्रष्टुमवसरो न लब्धः स्यादिति भावः ॥

ऋजुकाभिः सरलाभिः, बालभावादनुपजातकौशलाभिः, पुनः पुनः निबध्यमाना भूयो भूय आगृह्यमाणा । लज्जितुमपि लज्जते लज्जामपि प्रकटयितुं लज्जामनुभवति ।

सङ्कीर्णे वयःसन्धौ वयसि, बाल्ययौवनयोः सङ्गमे । इयं सीता ।

अत्र हीति । अत्र अस्मिन् वयःसन्धिकाले मनः स्वीयं चित्तम् अपि शङ्कमानाभिः मनो मदीयं भावं जानाति चेदनुचितं स्यादिति हृदयविषयेऽपि सतर्काभिः बालाभिः

कञ्चुकी—(सहर्ष) भाग्यवश बहुत दिनों तक जीवित रहनेके कारण मैं इस अवस्थामें सीताको देख सका । (हंसकर) उसके बाद ?

कलहंसिका—तदनन्तर सरला सखियों द्वारा बार-बार पूछी जानेपर सीता लज्जा करनेमें भी लज्जाका अनुभव करती है ।

कञ्चुकी—(हंसकर) वत्से, यह सीता वयःसन्धिकी स्थितिमें है । इस अवस्थामें

---

१. 'वत्सा वैदेही'; 'वत्सापि' । २. 'खल्वियं वयसि वर्तते'; 'वर्तते बाला' ।
३. 'मनो विशङ्कमानाभिः' ।

अषडक्षीणषाड्गुण्यमन्त्री मकरकेतनः ॥ ६ ॥

कलहंसिका—(सलज्जम् ।) अज्ज, रमणीअं मन्तेसि । सव्वस्स वि अणुहवसंवादिणी दे वाआ । [आर्य, रमणीयं मन्त्रयसे । सर्वस्याप्यनुभवसंवादिनी ते वाक् ।]

कञ्चुकी—किं च[1] वत्से,

तदात्वप्रोन्मीलन्म्रदिमरमणीयात्कठिनतां
निचित्य[2] प्रत्यङ्गादिव तरुणभावेन घटितौ ।
स्तनौ संविभ्राणाः क्षणविनयवैयात्यमसृण-

नवयौवनाभिः—अपडक्षीणषाड्गुण्यमन्त्री न सन्ति षट् अक्षीणि यत्र तत्तथोक्तम् अपडक्षीणम् , षड्गुणाः सन्ध्यादय एव षाड्गुण्यम् अपडक्षीणञ्च तत् षाड्गुण्यञ्चेति कर्मधारयः, अपडक्षीणषाड्गुण्यम् तदेव मन्त्री सचिवः कामः उपजीव्यते सेव्यते । अयमाशयः—मनसोऽपि भावप्रकाशभयाद् बिभ्यत्यो बालाः काममपि गोपाययित्वा सेवन्ते, कामविषयेऽपि अपडक्षीणं षाड्गुण्यं मन्त्रिणं कुर्वन्ति, अपडक्षीणं तृतीयजननेत्राविषयः, 'अपडक्षीणो यस्तृतीयाद्यगोचरः' इति अमरः । सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाः षड्गुणाः । कामः सेव्यते परं तत्केनापि न लक्ष्यते इति तदर्थः ॥ ६ ॥

मन्त्रयसे कथयसि । अनुभवसंवादिनी अनुभवानुसारिणी । वाक् वचनम् ।

तदात्वेति । तदात्वे यौवनोदयसमये प्रोन्मीलन् प्रादुर्भवन् यः म्रदिमा कोमलता तेन रमणीयात् मनोज्ञात् प्रत्यङ्गात् अङ्गात् अङ्गात् कठिनताम् कठोरभावं निचित्य समाहृत्य तरुणभावेन यौवनेन कर्त्रा घटितौ निर्मितौ स्तनौ कुचौ सम्बिभ्राणाः धारयन्त्यः क्षणे अल्पकाल एव विनयः शान्तभावः वैयात्यं चापल्यञ्च ताभ्यां क्षणे

बालवनितायें मनसे भी शङ्कित रहा करती हैं—तथा इन्द्रियोंके सम्पर्कसे रहित षाड्गुण्य-मन्त्री कामदेवकी मदद लिया करती हैं ॥ ६ ॥

कलहंसिका—(सलज्जभावसे) आर्य, आप ठीक कहते हैं, आपकी बात सभीके अनुभवोंसे मिलती है ।

कञ्चुकी—वत्से, यौवनमें उभरनेवाली रमणीयतासे भरे सारे अङ्गोंकी कठोरता एकत्रित करके यौवनद्वारा बनाये गये स्तनोंको धारण करनेवाली युवतियाँ नम्रता तथा

१. 'किं च' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'विचित्य' ।

स्मरोन्मेषाः केषामुपरि न रसानां युवतयः ॥ ७ ॥

कलहंसिका—(विहस्य ।) भोदु । ता ण किं पि तुह्मेहिं सुदम् । [भवतु । तत्र किमपि युष्माभिः श्रुतम् ।]

कञ्चुकी—वत्से, न [1]तावदर्थोऽयमद्यापि राजगोचरीभवति । यदि च स्यात्किमेतावता ।

कलहंसिका—तदा हदासो रावणो देवीं परिणेदि । [तदा हताशो रावणो देवीं परिणयते ।]

कञ्चुकी—(विहस्य ।)

हस्ते करिष्यति जगत्त्रयजित्वरोऽपि
[2]कस्तादृशो दुहितरं जनकेश्वरस्य ।

नम्रत्वं क्षणे चापलञ्चेति भावसाङ्कर्येणेत्यर्थः, मसृणः मधुरः स्मरोन्मेषः कामविकारो यासां तादृश्यो युवतयः केषाम् रसानाम् आस्वादविशेषाणाम् उपरि न वर्त्तन्ते ? सर्वेषामेवास्वादानामुपरि युवतयो वर्त्तन्ते यासां शरीरावयवगतं काठिन्यमाहृत्येव रचितौ स्तनौ कठोरतां भजतः, सर्वाणि चेतराण्यङ्गानि काठिन्यापगमेनेव कोमलतां भजन्तीत्यर्थः । प्रत्यङ्गात्कठिनतां निचित्येवेत्युत्प्रेक्षा । 'तत्कालस्तु तदात्वं स्यात्' इत्यमरः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ७ ॥

तत्र किमपि युष्माभिः श्रुतम् ? अत्र 'दशग्रीवपुरोहित आगतः' प्रागुक्तेतिवृत्तविषये तदीयावगमजिज्ञासा ।

अर्थोऽयम् दशग्रीवपुरोहितागमवृत्तान्तः । राजगोचरीभवति राज्ञा ज्ञायते । किमेतावता ज्ञात्वापि राजा किं करिष्यति इति तदाशयः ।

हताशः निन्दिताभिलाषः । देवीम् सीताम् । परिणयते विवाहयति ।

हस्ते इति । जगत्त्रयजित्वरः लोकत्रयजयशीलः कः जनकेश्वरस्य विदेहराजस्य दुहितरं कन्यां हस्ते करिष्यति परिणीय स्ववशं नेष्यति ? न कोपि लोकत्रितय-

---

धृष्टतासे मिले कन्दर्पसे युक्त होकर किन-किन रसोंकी सृष्टि नहीं करती हैं ॥ ७ ॥

कलहंसिका—(हंसकर) अच्छी बात है । तो क्या आपने कुछ नहीं सुना है ?

कञ्चुकी—वत्से, यह बात अभी राजा तक नहीं पहुँची है, यदि राजा सुन भी लें तो इससे क्या ?

कलहंसिका—तो अभागा रावण सीताको ब्याह लेगा ।

कञ्चुकी—(हंसकर) तीनों लोकको जीतकर वीर बननेवाला ऐसा कौन है जो

---

१. 'तावदयमर्थः' । २. 'यस्तादृशः'; 'कस्तादृशीम्' ।

प्राणाधिकं विपुलबाहुभृतामपीदं
त्रैयम्बकं किमपि कार्मुकमन्तरायः ॥ ८ ॥

नापि दशकन्धरानुरोधेन स्वयं प्रतिज्ञातमन्यथा करिष्यति महाक्षत्रियो विदेहराजः । तन्न किंचिदेतत् ।

कलहंसिका—([1]विहस्य ।) एवं भोदु । अज्ज, संपदि कहिं ते रामलक्खणा । [एवं भवतु । आर्य, संप्रति कुत्र तौ रामलक्ष्मणौ ।]

कञ्चुकी—नन्वेतावेव देवतागारवेदिकायां
मुनीन्कौशिकवैदेहगौतमानभिराध्यतः ।

विजयगर्वितोऽपि विदेहनृपपुत्रीं सीतां वशीकर्तुं समर्थ इत्यर्थः । सीतापरिणयस्यासाध्यतां प्रकाशयति—प्राणाधिकमिति० । विपुलबाहुभृताम् महाभुजानाम् अपि प्राणाधिकम् समधिकसारम् इदं त्रैयम्बकम् शिवसम्बन्धि धनुः कार्मुकम् किमपि अनपनेयम् अन्तरायः विघ्नः अस्तीति शेषः, महाभुजस्यापि राज्ञः बलापेक्षयाऽधिकबलमिदं शैवं धनुर्यावत् । विघ्नभावेनावस्थितं तदा कोऽपि लोकविजयी सीतां परिणेतुं न लभते, ततश्च दशग्रीवः सीतां परिणेष्यतीति चिन्तयाऽलमिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

दशकन्धरानुरोधेन रावणानुरोधं मत्वा । स्वयं प्रतिज्ञातम् आत्मना नियतम् । अन्यथा करिष्यति स्वयं शिथिलीकरिष्यति । स्वप्रतिज्ञातार्थान्यथाकरणस्याशक्यत्वे कारणमाह—महाक्षत्रिय इति । तन्न किञ्चिदेतत् दशग्रीवपुरोहितागमनं न चिन्ताविषय इत्यर्थः ॥

एतौ रामलक्ष्मणौ देवतागारवेदिकायाम् देवसदनासन्नपरिष्कृतभूमौ ।

मुनीनिति । ज्ञानकर्मभ्यां तत्त्वज्ञानयज्ञादिकर्मभ्याम् ढौकितौ प्रापितौ स्वयम्

जनकदुहिताका पाणिग्रहण कर ले, क्योंकि बाहुबलशाली वीरोंके द्वारा दुर्नमनीय यह अतिदुर्वह शिवधनु जो बीचमें विघ्न बनकर खड़ा है ॥ ८ ॥

'और यह भी बात है कि महाक्षत्रिय जनक रावणके अनुरोधसे स्वयं की गई प्रतिज्ञाको भी नहीं बदलेंगे । इसलिए यह कोई चिन्ताकी बात नहीं है ।

कलहंसिका—(हंसकर) ऐसा ही होवे । आर्य, इस समय वह राम-लक्ष्मण कहाँ हैं ?

कञ्चुकी—यही तो देवमण्डपवेदी पर ज्ञान-कर्मसे आवृत मोक्ष-स्वर्गकी तरह प्रतीत

---

१. '(निःश्वस्य ।)'

ढौकितौ ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षस्वर्गाविव स्वयम् ॥ ९ ॥

तदेहि । महच्चिर[1]मागतानामस्माकम् । कन्याऽन्तः[2]पुरमेव गच्छामः ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति जनको विश्वामित्रशतानन्दौ रामलक्ष्मणौ च ।)

जनकः—(सहर्षम् ।) भगवन्विश्वामित्र,

लुम्पन्नदृष्टजामातृसंपदां शुचमद्य नः ।
त्वदागमनजन्माऽयमानन्दः सुदिनायते ॥ १० ॥

मूर्त्तिमन्तौ मोक्षस्वर्गाविव वर्त्तमानौ एतौ रामलक्ष्मणौ कौशिकवैदेहगौतमान् विश्वामित्रजनकशतानन्दनामकान् मुनीन् तत्त्वचिन्तकान् ऋषीन् अभिराध्यतः निषेवेते । इमौ विश्वामित्रादिमुनिगणसेवासमासक्तावेतौ रामचन्द्रौ विश्वामित्रादिमुनिगणार्जितज्ञानकर्मोपनतमोक्षस्वर्गाविव प्रतीयेते इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ नन्वत्र 'मुनीनभिराध्यतः' इत्यनुपपन्नम्, राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेवेति नियतस्य श्यनोऽत्राप्रसक्तेः' इति चेदत्रोच्यते 'अभिरभागे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञकोऽभिरयम्, तद्योग एव चात्र द्वितीया, कौशिकादीनभिलक्षीकृत्येति तदर्थः, यद्वा मुनीन् 'ढौकितावाराध्यतः' ढौकितावित्यस्याभिवादनपरावित्यर्थः ॥ ९ ॥

महत् चिरम् अतिविलम्बः ।

विष्कम्भकः वृत्तवर्त्तिष्यमाणकथांशनिर्देशकरः ।

लुम्पन्निति । अद्य अदृष्टा नावलोकिता जामातृसम्पत् जामाता एव धनं यैः तेषाम् अदृष्टजामातृसम्पदाम् अप्राप्तजामातृधनानाम् नः अस्माकम् शुचम् शोकम् लुम्पन् विनाशयन् अयम् अनुभूयमानः त्वदागमनजन्मा त्वदागमनसंभवः आनन्दः

होनेवाले यह राम-लक्ष्मण कौशिक, जनक तथा गौतम प्रभृति मुनियोंकी सेवा कर रहे हैं ॥

चलो, हमको आये बहुत देर हो गई, कन्यान्तःपुर की ओर चलें ।

(जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(अनन्तर जनक, विश्वामित्र, शतानन्द तथा राम-लक्ष्मणका प्रवेश)

जनक—(सहर्ष) भगवन् विश्वामित्र, जामाताके नहीं मिलनेसे दुःखी रहनेवाले हमारे दुःखको दूर करता हुआ यह आपके आगमनसे जायमान आनन्द सुदिन बन रहा है ॥ १० ॥

---

१. 'आगतयोरावयोः' । २. 'पुर एव गच्छावः' ।

अपि च—

अद्य प्रदक्षिणशिखावलयः कृशानु-
रश्नाति मे जनपदेषु वषट्कृतानि ।
त्वत्तेजसि स्फुरति शान्तिकपौष्टिकेषु
स्वां च स्रुचं शिथिलमाङ्गिरसो बिभर्ति ॥ ११ ॥

विश्वामित्रः—सखे सीरध्वज, चिरस्य शान्तः पुष्टश्च तवायं जनपदः ।

यत्र त्वं ब्रह्ममीमांसातत्त्वज्ञो दण्डधारकः ।

प्रहर्षः सुदिनायते सुदिनं करोति । त्वदागमनेन अलब्धजामातृकतयाऽन्तर्दुःखशालिनोऽपि वयं सम्प्रति सानन्दाः सञ्जाता इत्याशयः । 'सुदिनायते' इत्यत्र 'सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च' इति क्यङ् ॥ १० ॥

अद्येति । अद्य त्वदागमनशुभदिने प्रदक्षिणशिखावलयः प्रदक्षिणार्चिः कृशानुः अग्निः मे मम जनपदेषु अधिकृतदेशेषु वषट्कृतानि हूयमानद्रव्यजातानि अश्नाति भुङ्क्ते । यज्ञवह्निः शुभसूचकं दक्षिणक्रमपरिवर्त्तनमाचरन् सानन्दं हुतमास्वादयतीत्यर्थः । त्वत्तेजसि त्वदीये तेजसि शान्तिकपौष्टिकेषु शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु च स्फुरति सति आङ्गिरसो गौतमः स्वां स्रुचं स्रुवभेदं शिथिलं निवृत्तव्यापारं बिभर्त्ति धारयति, त्वदीयेन तेजसैव शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु च सम्पाद्यमानेषु गौतमः शान्तये पुष्टये च न जुहोतीत्यर्थः । शान्तिः प्रयोजनमस्येति शान्तिकम्, पुष्टिः प्रयोजनमस्येति पौष्टिकम्, तेषु शान्तिकपौष्टिकेषु कर्मस्विति विशेष्यमध्याहार्यम् । 'अग्नौ तु हुतं त्रिषु वषट्कृतम्', 'स्रुवो भेदाः स्रुचः स्त्रियाम्' इत्युभयत्रामरः ॥ ११ ॥

'चिरस्य शान्तः' बहोः कालात्तवायं देशः शान्त्या पुष्ट्या चोपपन्नस्तन्न तत्र मदागमनं प्रशंसनीयमित्यर्थः । त्वदीयस्य देशस्य शान्तपुष्टत्वे हेतुं वदति—

यत्र त्वमिति । यत्र यस्मिन्देशे ब्रह्ममीमांसातत्त्वज्ञः वेदान्तविद्यासारवित् त्वं जनकः दण्डधारकः शासकः, यस्य च देशस्य त्वादृशो वीतरागः शासकः स्यात्तस्य

आज अग्निदेव हमारे देशमें प्रदक्षिणक्रमसे लपटें बढ़ाकर हव्य-ग्रहण करते हैं, शान्ति-पुष्टिकर्ममें आपके प्रतापके व्यापृत रहनेपर शतानन्दका यज्ञ स्रुक् मन्द पड़ रहा है ॥ ११ ॥

विश्वामित्र—आपके इस देशमें शान्ति तथा पुष्टि चिरकालसे विद्यमान है ।

जहाँपर आपके समान वेदान्तशास्त्रतत्त्वज्ञ दण्डधारी हैं, जिनके पुरोहित अङ्गिराके

पुरोधाश्चैव यस्यासावङ्गिरःप्रपितामहः ॥ १२ ॥

(स्मितं कृत्वा ।) जामातुर[1]दर्शनजन्मा शोकः पुनरस्माकमुपशमयितुमवशिष्यते । किं शोकहर्षौ नाम लोकयात्रेयं भवतः । तथाहि ।

यजूंषि तैत्तिरीयाणि मूर्तानि वमति स्म यः ।
स योगी याज्ञवल्क्यस्त्वां वेदान्तानध्यजीगपत् ॥ १३ ॥

देशस्य शान्तिपुष्टयोः का कथेतिभावः, नैतावदेव यत्त्वं वेदान्तविद् भूत्वा शासकः, अपितु विदुषा पुरोहितेन नियतोऽपीत्याह—पुरोधाश्चैवेति । यस्य तव अङ्गिरःप्रपितामहः अङ्गिरसः पौत्रः गौतमः पुरोधाः पुरोहितः, एतेन स्वतो विज्ञस्य तादृशपुरोहितानुज्ञावर्त्तिनश्च तव शासने स्थितस्य; देशस्य शान्तिपुष्टयोश्चिन्तयाऽलमिति भावः ॥ १२ ॥

जामातुरदर्शनजन्मा जामातृप्राप्तयभावकृतः । शोकः खेदः । उपशमयितुम् दूरीकर्त्तुम् । शोकहर्षौ दुःखानन्दौ । भवतः जनकस्य । लोकयात्रा व्यवहारप्राप्तौ । अर्थात् वस्तुतो ज्ञानिनस्तव शोकाद्यसम्पृक्तत्वेऽपि लोकव्यवहारेण शोकाद्यभिमानित्वमिति भावः ।

यजूंषीति । तित्तिरिणा तदाकारधारिणा शाकल्यमुनिना धृतानि तैत्तिरीयाणि मूर्त्तानि शरीरधारीणि यजूंषि यः याज्ञवल्क्यः वमतिस्म उद्गीर्णवान् , सः योगी याज्ञवल्क्यः त्वां जनकं वेदान्तान् उपनिषदः अध्यजीगपत् अध्यापितवान् । शाकल्यमुनेर्याज्ञवल्क्यः वेदमधीतवान् , अध्ययनान्ते शिष्येण गुरुर्दक्षिणार्थमनुयुक्तः, स हि गुरुस्तदीयसेवादिना तुष्यन्न्यपेधत् परं शिष्येण बहुागृहीतः सः स्वां विद्यामेव दातुमनुमेने, तदादेशाद्याज्ञवल्क्येनाधीतो यजुर्वेद एवोद्‌गीर्य दत्तः, गुरुरपि तित्तिरिपक्षिरूपमादाय तमुद्‌गीर्णं वेदं पीतवान् , तदवधि तस्य वेदभागस्य तित्तिरिपक्षिगृहीततया तैत्तिरीयशाखानाम्ना व्यवहारः प्रवृत्तः । पश्चाच्च याज्ञवल्क्यः सूर्याद्यजुरध्यगीष्टेति कथाऽत्रानुसन्धेया ॥ १३ ॥

पौत्र शतानन्द हों ॥ १२ ॥

(हंसकर) जामाताके अदर्शनसे होनेवाला आपका शोक हमें हटाना है । शोक और हर्ष तो संसारका धर्म है ।

तैत्तिरीय यजुर्वेदको मूर्त्तरूप देकर जिन्होंने वान्त कर दिया था, वही योगी याज्ञवल्क्य आपके वेदान्त विद्यागुरु रहे हैं ॥ १३ ॥

१. 'अदर्शनशोकः' ।

लक्ष्मणः—(जनान्तिकम् ।) आर्य, अयमयं स राजा वैदेहः । [1]पवित्रमपरिमेयाश्चर्यं यस्यावदानमु[2]पाध्यायादनुश्रूयते ।

रामः—(सप्रमोदानुरागम् ।) [3]वत्स, स एवायं शतपथकथाधिकारी पुरुषः प्रणाय्यायान्तेवासिने [4]यस्मै वाजसनेयो याज्ञवल्क्यः सूक्तानि यजूंपि प्रोवाच ।

विश्वामित्रः—(मुहूर्तं [5]निर्वर्ण्य च ।)

निजाय तस्मै गुरवे यतीनां जैत्राय विश्राणितगोसहस्रम् ।
तं गोसहस्राधिपतेः प्रशिष्यमुपास्महे मैथिलमातिथेयम् ॥ १४ ॥

जनान्तिकम् 'अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' इति लक्षितम् , यस्य जनकस्य । पवित्रम् पावनम् । अपरिमेयाश्चर्यम् अतिविस्मयकरम् अवदानम् पूर्ववृत्तं कर्म । उपाध्यायात् गुरोः विश्वामित्रात् । अनुश्रूयते आकर्ण्यते ।

सप्रमोदानुरागम् हर्षेण स्नेहेन च सहितम् । शतपथकथाधिकारी शतपथाख्य-वेदभागोक्तकथापुरुषः, प्रणाय्यायान्तेवासिने वीतरागाय मुमुक्षवे शिष्याय । वाज-सनेयः यजुर्वेदशाखीयः । 'प्रणाय्योऽभिलाषशून्यः स्यात्' इति हारावली ।

निजायेति । यतीनां योगिनां जैत्राय विजयिने यतिश्रेष्ठाय तस्मै प्रसिद्धाय निजाय गुरवे स्वाचार्याय याज्ञवल्क्याय विश्राणितगोसहस्रम् दत्तदशशतसङ्ख्यक-धेनुकम् गोसहस्राधिपतेः दशशतकरधारिणः सूर्यस्य प्रशिष्यम् शिष्यशिष्यम् तम् स्वतपःख्यातम् आतिथेयम् अतिथिसेवाप्रसिद्धम् मैथिलम् मिथिलेशम् जन-कम् उपास्महे उपगच्छामः । सोऽयं जनकोऽस्माभिरातिथेयतया समासाद्यते यो योगिप्रवराय निजगुरवे याज्ञवल्क्याय गवां सहस्रमदात् , यो हि गुरुर्याज्ञवल्क्यः

लक्ष्मण—(छिपाकर) आर्य, यही हैं वह राजा वैदेह, जिनका पवित्र तथा आश्चर्य-जनकवृत्त प्रसिद्ध है ।

राम—(आनन्दके साथ) यही हैं वह शतपथ कथाओंके अधिकारी पुरुष, जिन्हें वाजसनेय याज्ञवल्क्यने यजुर्वेदका उपदेश किया था ।

विश्वामित्र—(थोड़ी देर देखकर) जिन्होंने अपने गुरु यतिराज याज्ञवल्क्यको सहस्र गायें दक्षिणामें दी थीं, उसी सहस्र-किरण सूर्यके प्रशिष्य मैथिलराज जनकको मैं आतिथेयके रूपमें प्राप्त कर रहा हूं ॥ १४ ॥

---

१. 'पवित्रमाश्चर्यं च'; 'पावित्र्यमपरिमेयमाश्चर्यम्' । २. 'उपाध्यायमुखात्' ।
३. 'स एवायं शतपथाधिकारी' । ४. 'यस्मै वाजसनेयाय वाजसनेयः' ।
५. 'च निर्वर्ण्य' ।

जनकः—(सप्रश्रयम् ।) भगवन्, यदन्यत्किंचिदभिदधाति[1] तत्र प्रभविष्णुर्भवान् । तत्रभवतः सहस्रमयूखान्तेवासिनो [2]योगीश्वरादध्ययनमिति [3]महीयसीयमस्माकं यशःपताका ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) भो महायोगिन्,

किं याज्ञवल्क्यो जनकः किमेवं न वः स्वरूपं कवयोऽपि विद्युः ।
प्रवाहनित्यानधिकृत्य युष्मान्सहस्रशाखाः श्रुतयः प्रथन्ते ॥ १५ ॥

सूर्यात् शास्त्राण्यध्यैष्टेति भावः । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि' इत्यमरः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १४ ॥

सप्रश्रयम् सविनयम् ।

यदन्यत् किञ्चित् याज्ञवल्क्यशिष्यत्वातिरिक्तम् मद्विषयं प्रशंसावाक्यम् । प्रभविष्णुः समर्थः । यथारुचि भवान् मां प्रशंसितुं स्वतन्त्र इत्यर्थः । तत्र भवतः पूजनीयात् । सहस्रमयूखान्तेवासिनः सूर्यशिष्यात् याज्ञवल्क्यात् ।

महीयसी महत्तरा । यशःपताका कीर्तिध्वजः । सर्वं भवान्यथेष्टं वक्तुं क्षमः, तत्तद्भवतोच्यमानं प्रशंसावाक्यं मयि नापि सत्यं स्यात्, अतिशयोक्तिरूपत्वात्, परमेकमिदं सत्यान्न हीयते यदहं याज्ञवल्क्यादधीतविद्य इति प्रसङ्गार्थः ।

किं याज्ञवल्क्य इति । याज्ञवल्क्यः किं (किमभिधानं वस्तु विद्यते) जनकः किं किंवस्तु एवं वः युष्माकम् स्वरूपम् तत्त्वम् कवयः विद्वांसोऽपि न विद्युः जानीयुः, याज्ञवल्क्यस्य भवतश्च तत्त्वं ज्ञातुं विद्वांसोऽप्यशक्ताः का कथा मादृशामित्याद्यपादद्वयार्थः, प्रवाहनित्यान् गुरुशिष्यपरम्परयाऽविनाशिनः युष्मान् अधिकृत्य अवलम्ब्य सहस्रशाखाः दशशतशाखाभेदभिन्नाः श्रुतयः वेदाः प्रथन्ते प्रसिद्ध्यन्ति । गुरुशिष्यपरम्परया वेदं बृंहयतां भवतां तत्त्वं वस्तुतो विद्वद्भिरप्यनवधार्यमिति स्तुतिरपि भवतां भूतार्थव्याहृतिरेव नातिशयोक्तिरिति भावः ॥ १५ ॥

जनक—(नम्रताके साथ) भगवन्, आप और जो कुछ चाहें कह सकते हैं, परन्तु यह तो हमारी बड़ी यशःपताका है कि हमने सूर्यशिष्य योगिराज याज्ञवल्क्यसे शिक्षा प्राप्त की है ।

विश्वामित्र—(हंसकर) हे महायोगिन्, क्या हैं याज्ञवल्क्य और जनक क्या है ? इस वस्तुके स्वरूपको कवि भी नहीं जान पासके हैं, प्रवाह-नित्य आप लोगोंके संवन्धसे अनेक शाखाओंमें श्रुतियाँ प्रथित होती रहती हैं ॥ १५ ॥

---

१. 'अभिदधासि' । २. 'योगीश्वराद्भगवतो याज्ञवल्क्यात्' ।
३. 'महतीयमस्माकम्'; 'इयमस्माकं महती' ।

शतानन्दः—भगवन्कौशिक, एवमीदृशाः खल्वमी त्रिभुवनमहनीयमहिमानो मनीषिणः ।

जनकः—(सवै[1]लक्ष्यस्मितम् ।)

निर्माय कार्मणमृचामघमर्षणीना-
　मुन्मार्जनीर्जगदघानि तवाद्य वाचः ।
श्रोतुं चिरप्रणयिकौतुकमस्ति चेतो
　दुःखाकरोति पुनरेष ममार्थवादः ॥ १६ ॥

तद्विरम । (इति शिरस्यञ्जलिं घटयति ।)

एवमीदृशाः-भवता यथोक्तास्तादृशाः, अमी याज्ञवल्क्यजनकादयः, त्रिभुवनमहनीयमहिमानः-संसारप्रशंसितप्रभावाः । मनीषिणः विद्वांसः, सन्तीति शेषः ।

सवैलक्ष्यस्मितम् सलज्जमन्दहासम् ।

निर्मायेति । अवमर्षिणीनाम् पापनाशिकानाम् ऋचाम् ऋग्वेदीयमन्त्राणाम् कार्मणम् कर्मकलापानुष्ठानजनितं संस्कारविशेषम् निर्माय कृत्वा जगदघानि लोकप्रथितपापानि उन्मार्जनीः शोधिकाः संसारपापशमनीरित्यर्थः । तव विश्वामित्रस्य वाचः वचनानि श्रोतुम् आकर्णयितुम् अद्य अधुना मम चेतः हृदयम् चिरप्रणयिकौतुकम् बहोः कालादुत्कण्ठितम् अस्ति, पुनः किन्तु मम एष अर्थवादः (माम्) दुःखाकरोति । मदीया त्वया क्रियमाणा स्तुतिर्मम मनो व्यथयति, यद्यपि लोकप्रसृतपापापहारक्षमास्तव वाचः श्रोतुं मम चित्तं चिरकालात् धृतोत्कण्ठमस्ति, तथापि कथाप्रसङ्गे त्वया क्रियमाणया स्वस्तुत्या कष्टं प्रपद्ये तदलं मम स्तुत्येति भावः । 'जगदघानि उन्मार्जनीः' इत्यत्र कृद्योगे कर्मणि षष्ठीप्रयोग उचितः । 'उन्मार्जनीर्जगदस्ये'ति पाठस्तु निर्दोषः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १६ ॥

तद् विरम मम स्तुत्या विरमेति भावः, मम त्वया कृतायाः स्तुतेरवास्तवतया मम व्यथकत्वेन तथाऽऽचरणं तवानावश्यकमतो विरतो भव तस्मादिति । सस्मि-

---

शतानन्द—भगवन् कौशिक, त्रिभुवनके द्वारा कीर्त्तित महत्त्वशाला ऐसे हैं यह ।

जनक—मैं आज आपकी वह बातें सुनना चाहता हूं जिन बातोंने जादू सा करके मन्त्रों द्वारा संसारका पाप धो बहाया है, उन बातोंको सुनने के लिये मेरा हृदय चिरकालसे उत्कण्ठित हो रहा है, आप जो हमारी स्तुति कर रहे है इससे मुझे दुःख होता है ॥ १६ ॥

इसलिये छोड़िये इसे । (सिरपर हाथ जोडते हैं)

---

१. 'सविलक्ष-' ।

विश्वामित्रः—(सस्मितमस्याञ्जलिमुद्घाटयन् ।) सखे सीरध्वज, संह्रियतामञ्जलिः । अमी तूष्णींभूताः स्मः । कात्यायनीकामुककार्मुकारो[1]पणपणप्रणयप्रवीणेन तु दुहितुः पत्या संप्रत्यपर्युषितप्रतिज्ञो भूयाः ।

लक्ष्मणः—(अपवार्य ।) आर्य, परस्परेषां पौरुषोत्कर्षप्रशंसारमणीयः [2]पावनोऽयममीषां समवायः ।

रामः—वत्स, यदात्थ ।

स्मरन्ति लोकार्थममी किल श्रुतीरिति प्रतिष्ठामधिगन्तुमीश्महे ।

तम् जनकस्य नम्रतादर्शनेन स्मितोदयः । अञ्जलिमुद्घाटयन् तथाकरणं च तदीयाग्रहस्यानावश्यकताद्योतनार्थं ॥

सस्मितम् सहासम् , हासश्चात्र तन्नम्रतादर्शनजन्मा बोध्यः । उद्घाटयन् मोचयन् संह्रियताम् अपनीयताम् । तूष्णींभूताः मौनं श्रिताः । कात्यायन्याः पार्वत्याः कामुकः पतिः शिवः तस्य यत् कार्मुकम् धनुस्तस्यारोपणम् सज्यीकरणम् एव पणः तत्र यः प्रणयः स्नेहः तत्र प्रवीणेन निपुणेन दुहितुः पत्या जामात्रा सम्प्रति अचिरेण अपर्युषितप्रतिज्ञः पूर्णप्रतिज्ञः भूयाः जायेथाः । अनतिचिरेण हरकार्मुकमारोपितवता जामात्रा सत्यप्रतिज्ञो भवेति भावः ।

परस्परेषाम्—अन्योन्यम् । पौरुषोत्कर्षप्रशंसायाम् पुरुषकारस्तुतौ हृद्यः (अन्योन्यप्रशंसावाक्यमनोज्ञः) पावनः श्रोतॄणाम् पापनाशनः अमीषां जनकविश्वामित्रशतानन्दानाम् समवायः समुदायः (अयमत्र सङ्गमः) अस्तीति शेषः ।

यदात्थ—त्वं यद् ब्रवीषि ।

स्मरन्तीति । अमी विश्वामित्रादयः लोकार्थम् लोककल्याणहिताय किल श्रुतीः वेदान् स्मरन्ति अभ्यस्य स्मृतिविषयान् रक्षन्ति, अथवा श्रुतीः स्मरन्ति स्मृतिरूपतया परिणमयन्ति इति प्रतिष्ठाम् एषां प्रसिद्धिम् अधिगन्तुम् ज्ञातुम् ईश्महे

विश्वामित्र—(उनकी अञ्जलिको विघटित करते हुए) सखे सीरध्वज, हाथ खोलें, मैं चुप हो गया । अब आपके शिवधनुषको आरोपित करनेकी कलामें प्रवीण जामाता आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण करे ।

लक्ष्मण—(छिपाकर) आर्य, एक दूसरेकी पौरुषोत्कर्ष-प्रशंसा करते हैं इससे इनका यह सङ्गम नितान्त रमणीय तथा पावन बन जाता है ।

राम—वत्स, ठीक कहते हो,

हम इनकी प्रतिष्ठा यहीं तक जानने में समर्थ हैं कि यह वेदके अर्थको तथा लोकाचारको

---

१. 'रोपणप्रवीणेन' । २. 'पावनोऽयमृषीणाम्' ।

परं यदेषां पुनरस्ति वैभवं तदेत एव व्यतिविद्रते यदि ॥ १७ ॥

जनकः—(सहर्षम् ।) भगवन्, परमनुगृहीतोऽस्मि । यतः ।

समस्या वा साम्नां बहिरबहिरंहःपरिमृजा-
　मृचां वा संवादः किमपि यजुषां वा परिपणः ।
त्वदाशीर्वादोऽयं बहुविषयसाक्षात्कृतफलो
　वरं मे वत्सायाः [1]प्रथयति पुरोवर्तिनमिव ॥ १८ ॥

शक्नुमः, वयं हि ऋषिभिरेभिः श्रुतयो रचिता याभिर्लोकानां हितानि सिद्ध्यन्ति इति ऋषीणां प्रतिष्ठां केवलां ज्ञातुं शक्नुम इत्यर्थः । परं किन्तु पुनः एषाम् ऋषीणाम् यत् वैभवम् ज्ञानकृतसामर्थ्यातिशयः अस्ति विद्यते, तत् ज्ञानवैभवं यदि एते ऋषयः एव व्यतिविद्रते परस्परं जानन्तीत्यर्थः । एतेषां ज्ञानवैभवं ज्ञातुं नान्ये क्षमाः एते परस्परं स्वयमेव तज्ज्ञातुं शक्नुवन्तीति भावः । व्यतिपूर्वकात् 'विद् ज्ञाने' इति धातोः 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' इति तङ्, वेत्तेर्विभाषा इति रुट् ॥१७॥

अनुगृहीतः अनुकम्पितः । भवदीयेनाचिरं शिवधनुर्भञ्जकं जामातरं लभस्वेति वचसा कृतार्थीकृतोऽस्मीत्यर्थः ।

समस्येति । बहिरबहिरंहःपरिमृजाम् बाह्याभ्यन्तरसकलपापापनोदिकानाम् साम्नाम् सामवेदानाम् समस्या वा संक्षेप इव, ऋचाम् ऋग्वेदानाम् संवादः सम्भाषणम् इव, यजुषाम् यजुर्वेदानां परिपणः मूलधनम् इव अयं त्वदाशीर्वादः त्वत्कृता सच्छुभाशंसा (यः प्राक्) बहुविषयसाक्षात्कृतफलः बहुषु विषयेषु पूर्वं दृष्टसार्थक्यः (अत एव) मे मम वत्सायाः जानक्याः वरं भर्त्तारं पुरोवर्त्तिनम् अग्रे सन्तमिव प्रथयति ख्यापयति । अयमाशयः—बाह्याभ्यन्तरपापापहारिसामवेदसंक्षेप इव ऋग्वेदसङ्कलितार्थ इव यजुर्वेदमूलभूत इव चायं नानाविषयपरीक्षितसत्यभावस्तवाशीर्वादः स्वसत्यताविश्वासनविधयाऽत्र प्रक्रान्त-

---

जानते हैं, इनके जो अन्तर्वैभव हैं उन्हें यही जानते हैं ॥ १७ ॥

जनक—(सहर्ष) भगवन्, अत्यन्त अनुगृहीत हुआ । क्योंकि—

सामवेदके रहस्यके सदृश, आभ्यन्तर तथा बाह्यमलोंको दूर करनेवाले ऋग्वेदके संभाषणके सदृश, यजुर्वेदके मूलधनके सदृश आपका यह आशीर्वाद—जिसका फल अन्यत्र अनेकों स्थानोंपर देखा गया है, मेरी कन्याके वरको पुरोवर्त्तीकी तरह प्रदर्शित कर रहा है ॥ १८ ॥

---

१. 'कथयति' ।

विश्वामित्रः—(साकूतस्मितम् ।) सखे सीरध्वज, एवमेतत् ।

दवीयस्यो दूरादपथमिह चामुत्र च शुचां
त्रिवेदीवाक्यानामनतिचिरभग्ना इव खिलाः ।
श्रुतिग्राह्यं ज्योतिः किमपि बहिरन्तर्मलमुषो
मृजाया मज्जानः क्व नु विपरियन्ति द्विजगिरः ॥ १९ ॥

शतानन्दः—(स्वगतम् ।) नूनं [1]रामभद्रमेव जामातरमभिसंधाय भगवानयं [2]पुनः पुनर्वक्रोक्तिभिः सीरध्वजं [3]परिमोहयते । भवतु । अह-

---

प्रसङ्गं मत्कन्यकावरमपि प्राप्तमिव प्रमापयतीति । 'समस्या तु समासार्था', 'नीवी परिपणो मूलधनम्' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र सर्वत्र वा शब्द इवार्थः । शिखरिणी-वृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १८ ॥

साकूतस्मितम् मनोभावप्रकाशकहास्ययुक्तम् । एवमेतत् त्वदुक्तं सत्यम् ।

दवीयस्य इति । दवीयस्यः महत्तराः, इह अत्र लोके अमुत्र परलोके च शुचाम् शोकानाम् दूरात् अत्यर्थेन अपथम् अविषयाः, त्रिवेदीवाक्यानाम् वेदत्रितयोक्तार्थानाम् खिलाः अप्रहतभूमयः इव, किमपि श्रुतिग्राह्यं ज्योतिः तेजोमयाः, बहिरन्तर्मलमुषः बाह्याभ्यन्तरमलापहारिण्यः, मृजायाः शुद्धेः मज्जानः सारभागा इव द्विजगिरः क्वनु विपरियन्ति विपरीताः सत्याच्च्युताः भवन्ति ? महत्त्वशालिन्योऽत्र लोके परत्र चात्यन्तं शोकस्यास्थानभूतास्त्रिवेदीवाक्यानामप्रहतभूमय इवोर्वरताजुषो ज्योतिर्मय्यः शुद्धिसारभागाभा बाह्याभ्यन्तरपापापहाश्च द्विजवाचः क्वनु विपरीता भवन्ति, नहि क्वापि विपरीतार्थाः असत्याः जायन्त इति । 'खिलमप्रहतेऽपि स्याद्' इति मेदिनी, 'सारो मज्जा नरि' इति अमरः । अपथमिति 'पथः सङ्ख्याऽव्ययादेः' इति क्लीबत्वम् । वृत्तं पूर्वोक्तम् ॥ १९ ॥

अभिसन्धाय मनसिकृत्य । वक्रोक्तिभिः कुटिलभाषितैः । परिमोहयते

विश्वामित्र—(साभिप्राय हँसकर) सखे सीरध्वज, ऐसी ही बात है—

महान्, इहलोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाले, वेदत्रयोक्त वचनोंके खिलस्वरूप, बाह्य तथा आभ्यन्तर मलको दूर करनेवाले, शुद्धिके सारभूत ब्राह्मणोंके वचन कब कहाँ विपरीतार्थक होते हैं ? ॥ १९ ॥

शतानन्द—(स्वगत) निश्चय ही यह कौशिक रामभद्रको ही जामाताके रूपमें मनमें रखकर बार-बार अनेक प्रकारकी उक्तियों द्वारा सीरध्वजको मोहमें डाल रहे हैं ।

---

१. 'रामचन्द्रमेव' । २. 'पुनर्वक्रोक्तिभिः' । ३. 'मोहयते' ।

मस्य प्ररोचनार्थमसंविदान इव पृच्छामि । (प्रकाशम् ।) भगवन्, कस्येदं शकुन्तराजकेतोरिव कौस्तुभश्रीवत्सौ [1]रत्नद्वयम् ।

विश्वामित्रः—(विहस्य[2] स्वगतम् ।) साधु वत्स शतानन्द, साधु । यदेतत्कृतं [3]तीर्थं विवक्षितस्य वस्तुनः सुखावताराय । (प्रकाशम् ।) वत्स [4]गौतम, ककुत्स्थकुलसंभवौ कुमारावेतौ ।

शतानन्दः—(सप्रत्यभिज्ञमिव ।)

पुत्रार्थे जगदेकजाङ्घिकययूद्दामभ्रमत्कीर्तिना
चातुर्होत्रवितीर्णविश्ववसुधाचक्रेण चक्रे मखः ।

वशीकुरुते प्रलोभयति वा । प्ररोचनार्थम् प्रलोभनोद्देश्यम् । असंविदानः-अज्ञ इव । शकुन्तराजकेतोः गरुडध्वजस्य । कौस्तुभश्रीवत्सौ तन्नामकौ । गरुडध्वजस्य यथा कौस्तुभश्रीवत्सौ नाम रत्नद्वयमस्ति तथा कस्येमौ पुत्रौ नाम रत्नद्वयमिति प्रश्नार्थः ।

तीर्थम् अवतरणवर्त्म 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः, 'तीर्थं सोपानपङ्क्तौ स्यात्' इति च धरणिः ॥

एतेन शतानन्दप्रश्नेन विश्वामित्रो रामलक्ष्मणयोः परिचयं प्रदातुमवसरं प्राप्स्यतीति तदवसरलाभाय विश्वामित्रो धन्यवादमर्पयति शतानन्दायेति ग्रन्थहृदयम् । ककुत्स्थकुलसंभवौ—सूर्यवंश्यः कश्चन राजा ककुत्स्थो रामचन्द्रपूर्वजः, तद्वंशभवौ । रामलक्ष्मणौ कुमारौ ॥

सप्रत्यभिज्ञम् पूर्वानुभूतस्य वस्तुनस्तत्तदेन्ताविशिष्टतया ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा, तया सह, सोऽयमित्याकारकज्ञानमिव लब्ध्वा ।

पुत्रार्थे इति जगति संसारे एकः श्रेष्ठः जाङ्घिकः अतिवेगवान् यः ययुः अश्वमेधीयोऽश्वः स एव उद्दामा उद्धता भ्रमन्ती च कीर्त्तिर्यस्य तेन तथोक्तेन,

---

अस्तु । मैं भी इनके प्ररोचनार्थ अनजानकी तरह पूछता हूं । (प्रकट) भगवन्, भगवान् विष्णुके कौस्तुभ श्रीवत्सके समान यह दोनों लड़के किसके हैं ?

विश्वामित्र—(हसकर स्वगत) साधु वत्स शतानन्द, साधु, तुमने विवक्षित अर्थको कहनेका अवसर बना दिया । (प्रकट) वत्स, यह दोनों कुमार ककुत्स्थवंशमें उत्पन्न हुए हैं ।

शतानन्द—(स्मरण करके) पुत्रार्थ संसारके लंघनमें समर्थ अद्वितीय कीर्त्तिशाली तथा चातुश्चरणयागमें समस्त भूमण्डल दान कर देनेवाले राजा दशरथने यज्ञ किया था,

---

१. 'कुमाररत्नद्वयम्' । २. 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति ।
३. 'तीर्थमिव' । ४. 'शतानन्द' ।

राज्ञा पङ्क्तिरथेन यत्र सकलस्ववासिसर्वातिथौ
स स्वेनैव फलप्रदः फलमपि स्वेनैव नारायणः ॥ २० ॥

तत्किमेतावेव तौ दाशरथी यौ किल रामलक्ष्मणौ ताडकामथन[1]मङ्गलोद्घातवितीर्णदिव्यास्त्रमन्त्रपारायणेन [2]भगवतैव विनीतौ वैतानिकस्य कर्मणश्छिद्रापिधानदक्षिणया [3]भगवन्तमुपासांबभूवतुः ।

चातुर्होत्रे चातुश्चरणयागे वितीर्णं पात्रेभ्यो दत्तं विश्वं सकलं वसुधाचक्रं येन तादृशेन च राज्ञा भूपालेन पङ्क्तिरथेन दशरथेन पुत्रार्थे पुत्रप्राप्तये मखः यागः चक्रे कृतः, यत्र सकलाः समस्ताः स्ववासिनः देवाः एव सर्वातिथयो नवागन्तुका यत्र तादृशे दशरथकृतयागे सः विश्वप्रसिद्धवैभवः नारायणः स्वेन स्वयम् एव फलप्रदः यज्ञफलदायी स्वेन आत्मना एव च फलम् अपि अभूत् । राजा दशरथोऽश्वमेधीयमश्वं भ्रमयित्वा स्वां कीर्त्तिमिव नटयामास, चातुश्चरणनामके यागे समस्तमेव धरावलयं पात्रेभ्यो वितीर्णवान्, तदीये यागे च सर्व एव देवाः निमन्त्रिताः सन्तोऽतिथिभावमभजन्त, किञ्च सर्वलोकानुष्ठितयागानां फलदायी भगवान्नारायणः स्वयमेव तदीयपुत्रभावमापद्य तद्यागफलत्वमपि प्रपन्ना इत्यर्थः । 'ययुरश्वोऽश्वमेधीयः' इत्यमरः । चत्वारो होतार एव चातुर्होत्राः, स्वार्थिकोऽण् । वेदभेदेन वेदिभेदात् होतृभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

दाशरथी दशरथतनयौ रामलक्ष्मणौ । ताडकामथनम् ताडकानामराक्षसीमरणम् मङ्गलं शुभकर्म तस्योद्घाते उपक्रमे वितीर्णं दत्तं दिव्यास्त्राणाम् मन्त्रपारायणम् येन तथाभूतेन ताडकावधमारभ्य दत्तदिव्यास्त्रमन्त्रपारायणेन भगवता विश्वामित्रेण । वैतानिकस्य यागसम्बन्धिनः । छिद्रापिधानदक्षिणया अन्तरायशमनरूपदक्षिणाद्रव्येण । भगवन्तम् विश्वामित्रम् । उपासांबभूवतुः आराधयामासतुः । एतावेव तौ नाम रामलक्ष्मणौ दशरथसुतौ याभ्यां भगवान् विश्वामित्रस्ताडकावधमारभ्य दिव्यास्त्रमन्त्रसम्प्रदायमाचख्यौ, तस्य मन्त्रोपदेशस्य च दक्षिणारूपेण रामलक्ष्मणौ यज्ञं ररक्षतुरिति भावः ॥

जिस यज्ञमें स्वर्गके सभी देवगण पधारे थे, और उस यज्ञमें स्वयं सभी यज्ञोंके फलदाता भगवान् विष्णु खुद फल बन गये थे ॥ २० ॥

तो क्या यही हैं दशरथके पुत्र राम-लक्ष्मण जिन्हें ताड़कावधरूप मङ्गलमय अवसर पर आपने दिव्यास्त्र मन्त्रका पारायण किया है, आपने जिन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा दी है, और जो यज्ञकर्मकी निर्विघ्न समाप्तिरूप गुरुदक्षिणासे आपकी आराधना कर चुके हैं ॥

---

१. 'मङ्गलोपोद्घात–' । २. 'भवतैव' । ३. 'भवन्तम्' ।

विश्वामित्रः—([1]सकौतुकम् ।) अथ किम् ।

(जनकस्तौ [2]सस्नेहबहुमानं पश्यति ।)

शतानन्दः—तदनयोः कतरो [3]रामभद्रः कतरश्च लक्ष्मणः ।

विश्वामित्रः—(रामं निर्दिश्य[4] ।) वत्स आङ्गिरस,

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसंतानमल्ली-
मालाम्लानस्तबकमधुरा[5] जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥ २१ ॥

ये चत्वार इति । दिनकरकुले सूर्यवंशे ये क्षत्रसन्तानाः क्षत्रियसमूहास्ते एव मल्लीमाला मल्लिकापुष्पस्रजः तासाम् अम्लानस्तबकाः सदाविकासिगुच्छा इव मधुराः मनोज्ञाः ये चत्वारः रामादयो राजपुत्राः जज्ञिरे दशरथानुष्ठितपुत्रेष्टि-यज्ञप्रभावतोऽजायन्त, तेषाम् दशरथसुतानाम् अचरमभवः सर्वतो ज्येष्ठः ताडका एव कालरात्रिः प्रलयनिशा तस्याः प्रत्यूषः प्रभातकाल इव अयम् निर्दिश्यमानः रामः अस्ति, योऽयं रामः सुचरितकथा पुण्यवार्त्ता एव कन्दली वृक्षजातिभेदस्तस्या मूलकन्दः प्रधानमूलमिवास्तीति, अयमेवासौ रामो यमा-श्रित्य सुचरितकथाः प्रवर्तन्ते, यश्च ताडकारूपायाः कालनिशाया विनाशाया-कल्पत, यश्च दशरथानुष्ठितपुत्रेष्टियागप्रभावात् प्रथममुत्पन्नः, यश्च सूर्यवंश्यराज-गणरूपमल्लीमालायामम्लानस्तवकतां भजत्सु दशरथसुतेषु ज्येष्ठोऽस्तीत्यर्थः । उपमारूपकातिशयोक्त्योऽत्रालङ्काराः, मन्दाक्रान्तावृत्तं, तल्लक्षणं यथा 'मन्दा-क्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति ॥ २१ ॥

विश्वामित्र—(कौतुकसे) और क्या ?

(जनक स्नेह तथा आदरसे उनकी ओर देखते हैं)

शतानन्द—तो इनमें राम कौन हैं और लक्ष्मण कौन हैं ?

विश्वामित्र—(रामकी ओर इशारा करके) वत्स आङ्गिरस,

सूर्यवंशी क्षत्रियोंकी वंशपरम्परारूप मल्लिकामाल्यके अम्लान स्तवकरूप जो चार पुत्र दशरथ राजाके उत्पन्न हुए थे, उनमें सबसे ज्येष्ठ तथा ताड़कारूप रात्रिके प्रातःकाल समान एवं सच्चरित कथारूप अङ्कुरके मूलकन्द तुल्य रामचन्द्र यही हैं ॥ २१ ॥

१. 'सकौतुकम्' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'सस्नेह पश्यति' । ३. 'रामः' ।
४. 'निर्दिशन्'; 'निदर्शयन्' । ५. 'स्तवयः' ।

शतानन्दः—(लक्ष्मणं निर्दिश्य ।) अयं चापरो लक्ष्मणः । दिष्ट्या भगवद्वसिष्ठप्रसूतं क्षत्रकुलमृद्ध्यते[1] ।

जनकः—(विहस्य ।) साधु भगवन्, अस्मादृशीषु प्रजासु प्रविश्य क्रीडसि ।

क्रोधाग्नौ पुरुहूतहुंकृतिपराभूतत्रिशङ्कुत्रपा-
संपातज्वलिते जगत्त्रयमयीं त्वय्याहुतिं जुह्वति ।
संभ्रान्तोपनतस्य नाटितजरा[2]वैक्लव्यशीर्णाक्षराः
प्रत्यूहाय बभूवुरम्बुजभुवो देवस्य चाटूक्तयः ॥ २२ ॥

अयं चापरः—यो मयाऽधुना निर्दिश्यते । दिष्ट्या लोकानां भाग्येन । भगवद्वसिष्ठप्रसूतम् भगवता वसिष्ठेन कृतसंस्कारम् । ऋध्यते समृद्धिं भजते ॥

प्रजासु प्रविश्य प्रजा इव व्यवहृत्य । क्रीडसि ता इव लोकव्यवहारं प्रदर्श्य खेलसि । अलौकिकप्रभावभागपि लोकसामान्यवदाचरतीत्यर्थः ।

क्रोधाग्नाविति । पुरुहूतस्य इन्द्रस्य हुङ्कृत्या हुङ्कारशब्देन पराभूतः सदेहस्वर्गगमनान्निवर्त्तितो यः त्रिशङ्कुर्नाम राजा तस्य त्रपायाः मनोरथभङ्गजन्मनो लज्जायाः सम्पातेन समूहेन ज्वलिते समिद्धे क्रोधाग्नौ स्वकोपवह्नौ जगत्त्रयमयीम् लोकत्रयस्वरूपाम् आहुतिं जुह्वति प्रक्षेप्तुमिच्छति सति त्वयि (त्रिशङ्कोस्त्वया स्वर्गं प्रति प्रेष्यमाणस्येन्द्रेण कृते निवारणे क्रुद्धेन त्वया संसारमेव दग्धुं प्रवृत्ते सतीत्यर्थः) सम्भ्रान्तोपनतस्य भयचकितभावेनायातस्य देवस्याम्बुजभुवो ब्रह्मणः नाटितेन प्रकटीभूतेन जरावैक्लव्येन वार्धकजनिताशक्त्या शीर्णाक्षराः स्खलद्वर्णाः चाटूक्तयः प्रियभाषणानि प्रत्यूहाय बभूवुः विघ्नभावमभजन्, संसारं विनाशयितुमुपक्रममाणस्य तव प्रसादनाय संभ्रमागतो ब्रह्मा यज्जरसा श्लथगद्गदगिरा तव चाटूनि

शतानन्द—(लक्ष्मणकी ओर दिखाकर) और यह दूसरे लक्ष्मण हैं ? सौभाग्यसे भगवान् वसिष्ठ द्वारा प्रसून यह राजवंश समृद्धिशाली बना हुआ है ॥

जनक—(हंसकर) साधु, महाराज, साधु, आप मुझ सदृश प्रजाजनोंमें हिलमिलकर क्रीड़ायें किया करते हैं ।

इन्द्रके हुंकारसे पराभूत त्रिशङ्कुकी लज्जासे प्रज्वलित अपनी कोपाग्निमें आपने जब लोकत्रयरूप आहुति छोड़ना चाहा था तब घबड़ाकर बुढ़ापेके कारण अस्पष्ट अक्षरोंमें ब्रह्माके द्वारा की गई आपकी स्तुतियाँ विघ्न बन गई थीं ॥ २२ ॥

---

१. 'वर्धते'; 'ऋद्ध्यति' । २. 'वैकल्यशीर्णाक्षराः'; 'वैक्लव्यजीर्णाक्षराः' ।

तमपि नाम [1]भगवन्तं यजमानमन्ये गोपायितारः ।

शतानन्दः—राजर्षे, एवमेतत् । किं पुनर्न [2]दीक्षिष्यमाणाः क्रुध्यन्तीति रक्षितारं क्षत्रियमुपाददते ।

जनकः—(सहर्षं रामलक्ष्मणौ निर्वर्ण्य जनान्तिकम् ।) भगवञ्शतानन्द,

भवति न तथा भानोः शिष्ये गुरौ रसतो न च
स्वयमपि मुनौ विश्वामित्रे गृहानधितिष्ठति ।

व्याहृतवान् तानि तव कोपं शमयन्ति सन्ति, तव जगद्विनाशप्रवृत्तेर्विघ्नभावं भजन्तिस्मेति हृदयम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

तमपि नाम भगवन्तं यजमानमन्ये गोपायितारः—एतादृशप्रभावशालिन्यपि त्वयि विश्वामित्रे यज्ञप्रवृत्ते रक्षकान्तरान्वेषणापेक्षेति सत्यं भवान् प्रजासु प्रविश्य क्रीडतीत्यर्थः ।

एवमेतत् त्वदुक्तं सत्यम् । दीक्षिष्यमाणाः यज्ञाधिकृताः, यद्यप्यहं यथा त्वदुक्तप्रभावस्तथापि यज्ञे दीक्षितस्य मम कोपो नोचित इति कृत्वा मया यज्ञरक्षार्थं क्षत्रियो रामो न्ययुज्यतेति तात्पर्यम् ॥

भवतीति । एतौ पुरोऽवस्थितौ रामलक्ष्मणौ नाम दशरथसुतौ दृष्ट्वा वीक्ष्य उच्छ्वसितम् उल्लसितम् मे मम मनः यथा प्रत्यग्ज्योतिपः परमात्मनः प्रबोधे ज्ञाने सुखासिकाम् सुखावस्थानम् ब्रह्मज्ञानदशायां जायमानां निरतिशयानन्दस्थितिम् शिथिलयति न आद्रियते, तथा भानोः सूर्यस्य शिष्ये मम गुरौ याज्ञवल्क्ये रसतः शिष्येऽनुरागात् गृहान् मदीयं भवनमधितिष्ठति तथा स्वयम् विश्वामित्रेऽपि गृहानधितिष्ठति सति च मे मनः उच्छ्वसितं प्रत्यग्ब्रह्मप्रबोधसुखासिकां न

वही आप जब यज्ञ करें, तब दूसरे उस यज्ञकी रक्षा करें ॥

शतानन्द—राजर्षे, आप ठीक कहते हैं, किन्तु दीक्षितोंको कोप नहीं करना रहता है इसीसे दूसरे क्षत्रियोंके द्वारा रक्षा करवाई जाती है ।

जनक—(हर्षसे राम-लक्ष्मणकी ओर देखकर—छिपाकर) भगवन् शतानन्द,

मेरा मन मेरे गुरु सूर्यशिष्य याज्ञवल्क्यके तथा स्वयं विश्वामित्रके भी मेरे घर पधारनेपर प्रेमसे उतना उच्छ्वसित नहीं हो उठता है । आज इन दशरथ-कुमारोंको

---

१. 'भवन्तम्' ।　　२. 'दीक्षमाणाः' ।

दशरथसुतावेतौ दृष्ट्वा यथोच्छ्वसितं मनः
शिथिलयति मे प्रत्यग्ज्योतिःप्रबोधसुखासिकाम् ॥ २३ ॥

शतानन्दः—राजर्षे वैदेह, एवमेतत् । ममापि राजपुत्राविमौ साक्षात्कुर्वतो वत्से सीतोर्मिले न हृदयादवरोहतः ।

जनकः—(विश्वामित्रं प्रति ।) भगवन्,

इदं वयो मूर्तिरियं मनोज्ञा वीराद्भुतोऽयं चरितप्ररोहः ।
इमौ कुमारौ बत पश्यतो मे कृतार्थमन्तर्नटतीव चेतः ॥ २४ ॥

शिथिलयतीत्यर्थः । यथाऽनयो रामलक्ष्मणयोर्दर्शनेनोच्छ्वसितं सन्मम मनो ब्रह्मज्ञानजन्मानमपि प्रमोदमनादरभावेन पश्यति, इमौ वीक्ष्य ब्रह्मास्वादसुखादपि भूयान्प्रमोदो मम यथा जायते तथा न गुरौ याज्ञवल्क्ये गृहस्थिते सति न वा मुनौ विश्वामित्रे गृहस्थिते सति तावपि निरीक्ष्य मम मन उच्छ्वसितं भवतीति । हरिणी वृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २३ ॥

राजपुत्राविमौ—दशरथसुतौ रामलक्ष्मणौ । साक्षात्कुर्वतः—पश्यतः । न हृदयादवरोहतः न विस्मृतिं भजतः । एतौ पश्यन्नहमनवरतं सीतोर्मिले हृदयस्थे इव भावयामि, सदृशवस्तुदर्शनस्य स्मरणोद्दीपकत्वादिति ॥

इदं वय इति । इदं शैशवयौवनसन्धिरूपं वयः अवस्था, इयं सर्वजनहृद्या मनोज्ञा मूर्त्तिः तनुः, अयं च वीराद्भुतः वीरतयाऽऽश्चर्यजनककर्मभिश्च पूर्णः चरितप्ररोहः चरितप्रारम्भः, सर्वमेवानयोर्हृद्यतरमित्यर्थः, तत् इमौ रामलक्ष्मणौ नाम कुमारौ राजसुतौ पश्यतः वीक्षमाणस्य मे चेतः हृदयम् कृतार्थम् सिद्धमनोरथं सत् अन्तः अभ्यन्तरभागे नटतीव नृत्यतीव अनयोर्दर्शनेन मम हृदयं प्राप्तमनोरथसाफल्यमिव नृत्यतीत्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ २४ ॥

देखकर मेरा मन उच्छ्वसित हो उठा है, आज मेरा मन ब्रह्मज्ञानकी सुखासीनताको शिथिल कर रहा है ॥ २३ ॥

शतानन्द—राजर्षे वैदेह, यही बात है, मैं भी जब इन राजकुमारोंको देखता हूं तब हमारे हृदयसे वत्सा सीता तथा ऊर्मिला नहीं उतरती है ॥

जनक—(विश्वामित्रसे) भगवन्,

यह वय, यह सुन्दर मूर्त्ति, यह वीर तथा अद्भुत चरिताङ्कुर, इन दोनों कुमारोंको देखकर कृतार्थ बना यह मेरा हृदय वस्तुतः नाच उठता है ॥ २४ ॥

विश्वामित्रः—([1]सोत्प्रासम् ।) सखे सीरध्वज, हृदयमेवामन्त्रयस्व किमर्थं कृतार्थमसीति ।

जनकः—(सखेदस्मितम् ।)

यद्गोत्रस्य प्रथमपुरुषस्तेजसामीश्वरोऽयं
　　येषां धर्मप्रवचनगुरुर्ब्रह्मवादी वसिष्ठः ।
ये वर्तन्ते तव च हृदये सुष्ठु सम्बन्धयोग्या-
　　स्ते राजानो मम पुनरसौ दारुणः शुल्कसेतुः ॥ २५ ॥

रामलक्ष्मणौ—([2]सविमर्शम् ।) कथमस्मदीयाः कथाः प्रस्तूयन्ते ।

सोत्प्रासम् मन्दस्मितपूर्वकम् , 'उत्प्रासः स मनाक् स्मितम्' इत्यमरः । हृदयमेवामन्त्रयस्व हृदयमेव पृच्छ, प्रष्टव्यमर्थमाह—किमर्थमित्यादि ।

यद्गोत्रस्येति । यद्गोत्रस्य येषां मनुवंश्यनृपाणां प्रथमपुरुषः कुलमूलपुरुषः अयम् सर्वप्रसिद्धः प्रत्यक्षदृश्यश्च तेजसामीश्वरः सूर्यः अस्तीति शेषः, येषां च धर्मप्रवचनगुरुः धर्मकर्मोपदेशकः ब्रह्मवादी ब्रह्मज्ञानवान् वसिष्ठो नाम मुनिः, ये च तव हृदये वर्त्तन्ते येषां हितं त्वमपि कामयसे, ते राजानः सर्वथैव सम्बन्धयोग्याः वैवाहिकसम्बन्धोपयुक्ताः वर्त्तन्त इति भावः, पुनः किन्तु असौ सर्वविदितः मम शुल्कसेतुः पणबन्धः हरचापारोपणरूपो नियमः दारुणः कठिनः, सूर्यवंश्यानां वसिष्ठशिक्षितानां भवताऽनुध्यायमानानाञ्च राज्ञां दशरथादीनां सर्वथा वैवाहिकसम्बन्धार्हतायां विद्यमानायामपि मम पणबन्ध एवात्र प्रतिबन्धभूत इति भावः ॥२५॥

सविमर्शम् विचारपूर्वकम् । अस्मदीयाः कथाः प्रस्तूयन्ते अस्मद्विषये विचार्यते ।

विश्वामित्र—(विनोदके स्वरमें) सखे सीरध्वज, अपने हृदयसे ही पूछिये कि क्यों कृतार्थ हो रहे हो ?

जनक—(खेदकी हंसी हंसकर) जिस वंशके आदिपुरुष यह तेजःप्रभु सूर्य हैं, जिन्हें ब्रह्मवादी वसिष्ठ धर्मका प्रवचन सुनाया करते हैं, जो आपके हृदयमें हैं, जो सर्वथा सम्बन्धके योग्य है, वह हैं यह दशरथवंशके कुमार, परन्तु हमारा यह पणरूप सेतु बड़ा भयानक है ॥ २५ ॥

राम-लक्ष्मण—(कुछ विचार करके) हमारे ही सम्बन्धमें बातें कर रहे है ।

---

१. 'सोत्प्रासहासम्' ।　　२. '(सविस्मयम् ।) कथमेभिरस्मदीयाः' ।

विश्वामित्रः—(सस्मितम् ।) राजर्षे, यदि शुल्कसंस्थैव केवलमन्तरायस्तन्न किंचिदेतत् ।

जनकः—(सखेदं [1]विमृशन्नपवार्य ।) [2]भगवन्नाङ्गिरस,

यद्विदन्नपि विदेहनन्दिनीपाणिपीडनविधेर्महार्घताम् ।
एवमाह मुनिरेष कौशिकस्तेन मुह्यति चिराय मे मनः ॥ २६ ॥

तदेव स्थाणवीयं वा धनुः स्यादिदमीदृशम् ।
एतदारोपणं नाम पणो वा मम जर्जरः ॥ २७ ॥

शुल्कसंस्था पणबन्धः । अन्तरायः–विघ्नः । न किञ्चित्–अगणनीयमेतत् ॥
आङ्गिरस–अङ्गिरसो नाम मुनेः वंशे जात शतानन्द ।

यद्विदन्निति । विदेहनन्दिन्याः सीतायाः पाणिपीडनविधेः विवाहकर्मणः महार्घताम् बहुमूल्यताम् कष्टसम्पाद्यत्वं हरचापारोपणरूपकष्टप्रतिज्ञापूर्त्तिसमनन्तरसम्पाद्यत्वमित्यर्थः, विदन् जानन्नपि एषः मुनिः कौशिको विश्वामित्रः एवम् यदि शुल्कसंस्थैवान्तरायस्तदा न किञ्चिदेतदित्येवंरूपम् वचनम् आह, तेन मे मम मनः चिराय मुह्यति, किमपि निश्चेतुं मूढमिव सम्पद्यते, कठोरे पणबन्धे सत्यपि मुनेर्वचसो मिथ्यात्वस्यासंभाव्यतया किमत्र भावीति निश्चेतुं न पारयति मम हृदयमिति भावः । रथोद्धतावृत्तम्, 'स्यान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति तल्लक्षणात् ॥२६॥

तदेवेति । तदेव इदं शाम्भवम् धनुः ईदृशम् राघवशिशुना आरोपयितुं शक्यं स्यात्, वा अथवा एतदारोपणम् हरचापारोपणं नाम पणो वा जर्जरः अनादरणीयः स्यात्, विश्वामित्रस्य वचनं सत्यमवश्यं भावि, तत्र द्वय्येव गतिः, कदाचिदस्य मुनेः प्रभावेण बालकोऽपि रामो धनुरिदमारोपयेत्, अथवा विश्वामित्राग्रहो मम पणं शिथिलयेत्, इदं प्रकारद्वयमध्येऽन्यतरत् परित्यज्य विश्वामित्रवचसः सत्यापकं प्रकारान्तरं नावेद्मि इति ॥ २७ ॥

विश्वामित्र—(हसकर) राजर्षे, यदि आप पणको ही विघ्न मानते हैं तब यह कोई बात नहीं है ।

जनक—(सखेद विचारते हुए छिपाकर) भगवन् आङ्गिरस,

जब कि सीता की विवाह-विधिकी कठिनाई को जानते हुए भी यह मुनिवर विश्वामित्र इस तरह कहते हैं तब मेरा मन मोहमें पड़ जाता है ॥ २६ ॥

वह महादेवका धनुष ही कुछ ऐसा हो जाय, अथवा उसके आरोपण वाला मेरा पण ही शिथिल हो ॥ २८ ॥

---

१. 'सखेदं विमृश्यापवार्य च' । २. 'शतानन्द' ।

शतानन्दः—[1]शान्तं शान्तम् ।

दुर्लङ्घ्यमीश्वरशरासनमप्रमोच्य-
शुल्कग्रहस्त्वमसि सर्वमिदं तथैव ।
किं त्वस्य राघवशिशोः सहजानुभाव-
गम्भीरभीषणमतिस्फुटमेव वृत्तम् ॥ २८ ॥

जनकः—(मुनिं प्रति ।) भगवन्कौशिक, चिरमपि [2]विकल्पयन्न भवद्गिरामभिधेयमद्यापि निश्चिनोमि ।

शान्तम् शान्तम्—'पणो वा मम जर्जरः' इति मा वादीः, त्वादृशस्य सत्यवादिनस्तथा कथनस्यातिनिन्दनीयत्वादित्यर्थः ।

दुर्लङ्घ्यमिति । ईश्वरशरासनम् हरधनुः दुर्लङ्घ्यम् दुरारोपम् , त्वम् अप्रमोच्यशुल्कग्रहः अपरिहार्यपणः असि, न महादेवधनुषो नमनं सुकरम् , न वा तव पणबन्धो विहातव्यः, उभयमपि यथावस्थितमेव स्थायीति भावः, नन्वेवं विश्वामित्रः किमिति तथा कथयतीत्यत्राह—किन्त्वस्येति । किन्तु अस्य राघवशिशोः रामस्य वृत्तम् वृत्तान्तः सहजानुभावगम्भीरभीषणम् अतिस्फुटम् एव, सहजेन स्वाभाविकेन अणुभावेन प्रभावातिशयेन गभीरं दुर्ज्ञेयम् भीषणं च ताडकावधादिरूपम् अतिस्फुटम् एव, अयं रामो यत् स्वाभाविकविक्रमेण ताडकादिकान् राक्षसगणानवधीत्तदप्यतिरोहितमेव समेषामतो मुनिकथनमपि शक्यं सत्यतां गन्तुमिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २८ ॥

चिरमपि विकल्पयन्–बहुकालपर्यन्तं विचारयन् । अभिधेयम्–आशयम् वक्तव्यार्थम् । निश्चिनोमि–निर्णयेनावधारयामि । ऐन्दुशेखरम्–शिवसम्बन्धि । कार्मुकम्–चापम् । व्याकरोतु व्याख्याय बोधयतु, मदीयस्य वचस आशयं प्रतिपाद्य बोधयतु, रामेण हरचापे कृष्टे मदाशयः सुखमवसितो जायेतेत्यर्थः ।

शतानन्द—नहीं, आप ऐसा न कहें, यह महादेवका धनुष इसी तरह दुर्नमनीय बना रहेगा, आपने जो पण प्रकट किया है वह भी ज्यों का त्यों बना रहेगा । जो जैसे है , वह वैसे ही रहेगा यह तो अति स्पष्ट बात है कि इस राघवकुमारमें स्वाभाविक प्रताप तथा गाम्भीर्य विद्यमान है ॥ २८ ॥

जनक—(मुनिके प्रति) भगवन् कौशिक, बहुत देर तक विचारनेके बाद भी मैं आपके कथनका अभिप्राय नहीं समझ पा रहा हूँ ।

---

१. 'शान्तम्' ।　　२. 'विमृशन्न भवद्गिरामद्यापि' ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) [1]तदुपदर्शय कार्मुकमैन्दुशेखरं रामभद्र एव व्याकरोतु ।

जनकः—([2]सहर्षं स्वगतम् ।) कथमलीकविकल्पैरात्मानं [3]प्रमोहयामि । नन्वयं ममैव [4]कौतुकं पूरयितुमैश्वरं धनुरभ्यर्थयते भगवान् । (जनकं च दृष्ट्वा सविमर्शम् ।) अहह ।

[5]बालेन सम्भाव्यमिदं च[6] कर्म ब्रवीति च प्रत्ययितो महर्षिः ।
इति ध्रुवं मन्त्रयते नृपोऽयं दत्ते किमत्रोत्तरमाकुलोऽस्मि ॥ २९ ॥

जनकः—(मुहूर्तमिव स्थित्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) भगवन्, क तादृशं भागधेयमस्माकं येन भगवता विश्वामित्रेण नाथवन्तो वयं

अलीकविकल्पैः–मिथ्यासम्भावनाभिः । प्रमोहयसि संशयं नयसि । कौतुकम्–औत्सुक्यम् । पूरयितुम्–अपनेतुम् । अभ्यर्थयते–आज्ञापयति ॥

बालेनेति । प्रत्ययितः विश्वस्तः महर्षिः इदं हरधनुरारोपणात्मकं च कर्म कार्यं बालेन मया संभाव्यम् ब्रवीति कथयति ? कथमयं विश्वामित्रो हरधनुर्नमनरूपं कार्यममुना बालेन रामेण सम्भाव्यमिति विश्वासमन्तर्निधायेव वक्तीति अयं नृपः ध्रुवं निश्चितं मन्त्रयते विचारयति, तत्प्रसङ्गे नृपोऽयं किमुत्तरं दत्ते ददातीति तत् श्रोतुम् आकुलोऽस्मि । अस्मिन् प्रसङ्गे जनकस्योत्तरं श्रोतुमहमुत्कण्ठे, किमसौ मुनिवचनमनुरुध्य धनुरानेतुमनुमंस्यतेऽथवाऽसम्भवं तदारोपणं प्रतीत्य किमप्यन्यदुक्त्वा मुनेर्ध्यानमन्यतो नेष्यतीति ज्ञातुमुत्कोऽस्मि संवृत्त इत्याशयः ॥ २९ ॥

भागधेयम्–भाग्यम् । नाथवन्तः–सनाथाः, तदनुगृहीता इत्यर्थः ।

विश्वामित्र—(हंसकर) तब दिखलाइये शिवधनु, रामभद्र ही मेरे कथन की व्याख्या कर देंगे ।

राम—(सहर्ष स्वगत) क्यों मैं व्यर्थके तर्कोंसे अपनेको भुलाता रहूं । यह भगवान् विश्वामित्र स्वयं मेरे कौतुकको पूर्ण करनेके लिये शिवधनु की अभ्यर्थना कर रहे हैं । (जनकको देखकर विचारपूर्वक)

क्या बालकके द्वारा इस कार्यका किया जाना संभावित है ? और यह महर्षि विश्वासपूर्वक कह रहे हैं, निश्चय यह राजा जनक यही बात सोंचते हैं, यह इस संबन्धमें क्या उत्तर देते हैं यह जाननेको मैं आकुल हो रहा हूं ॥ २९ ॥

जनक–(थोड़ी देर रुक कर तथा लम्बी सांस लेकर) भगवन्, हमारे ऐसे भाग्य

---

१. 'तदुपसर्पय कार्मुकं–'; 'कार्मुकमैन्दुशेखरं दर्शय' । २. 'स्वगतम्'; 'स्वगतं सहर्षम्' । ३. 'मोहयामि'; 'प्रमोदयामि' । ४. 'कौतूहलम्' । ५. 'वत्सेन' । ६. 'तु' ।

[1]मैथिलीमेतस्मै रघुकुलकुमाराय प्रतिपाद्य चिराय [2]कृतार्थीभवामः ।

(रामो लज्जते ।)

जनकः—किं[3] च भगवन्,

येषां चापसमर्पितत्रिभुवनच्छिद्रापिधानं व्रतं
जातं रोहितमेव केवलमपज्याबन्धमैन्द्रं धनुः ।
तेऽपि प्रेक्ष्य पुरा शरासनमिदं मौर्वीकिणश्यामिका-
कस्तूरीसुरभीकृतानविभरुर्व्यर्थं भुजान्भूभुजः ॥ ३० ॥

रघुकुलकुमाराय-राघवाय रामाय । प्रतिपाद्य-दत्वा । कृतार्थीभवामः-सफलाभिलाषाः सम्पद्यामहे ॥

येषामिति । येषां भूभुजाम् चापेषु धनुष्षु समर्पितं न्यस्तं त्रिभुवनस्य लोकत्रयस्य छिद्रापिधानम् आपत्तिनिराकरणम् एव व्रतम् नियमः, (अत एव च) ऐन्द्रं धनुः शक्रशरासनम् अपज्याबन्धम् विगतमौर्वीकम् सत् रोहितम् सदा सरलम् एवम् जातम्, ये राजानः सर्वदा स्वचापैरेव जगद्रयं प्रसृज्य इन्द्रचापाय विश्रान्ति दत्तवन्त इत्यर्थः, तेऽपि भूभुजो राजानः पुरा इतः पूर्वकाले इदं शाम्भवं शरासनं प्रेक्ष्य मौर्वीकिणानाम् ज्याघर्षणचिह्नानाम् या श्यामिका कालिमा सैव कस्तूरी मृगमदस्तया सुरभीकृतान् सुगन्धिं नीतान् ज्याघातचिह्नप्रख्यातान् अपि भुजान् निजबाहुदण्डान् व्यर्थं निरर्थकम् अविभरुः, इन्द्रं स्वसहायतया चिन्तामुक्तं कृतवन्तोऽपि राजानोऽत्र शरासने वन्ध्यप्रयासा अजायन्तेति किमर्थं भवानत्र कर्मणि रामं नियोक्तुमिच्छतीति नावगच्छामीति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ३० ॥

कहाँ जो आपके आश्रित हम इस राजकुमारके हाथोंमें मैथिलीको सौंपकर चिरकालके लिये कृतार्थता प्राप्त करलें ।

(राम लज्जित होते हैं)

जनक—और देखिये भगवन्, जिनके चापोंपर त्रिभुवनकी रक्षाका भार सौंपकर इन्द्र अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ाते हैं उसे सरल ही रखते हैं, वह राजागण भी इस हरधनुषको देखकर प्रत्यञ्चा-संघर्षणजनित श्यामिकास्वरूप कस्तूरीसे सुरभित अपने भुजोंको व्यर्थ साबित कर चुके हैं ॥ ३० ॥

---

१. 'एतस्मै रघुकुलकुमाराय सीताम्' । २. 'चरितार्थी-' ।
३. 'किं च' इति क्वचिन्नास्ति ।

विश्वामित्रः—(विहस्य[1] ।) सखे, सीरध्वज, कथं महापुण्यराशिमात्मानमवसन्यसे ।

त्वद्भागधेयमपि तादृशमुत्सवाना-
मेतादृशां वयमपि प्रसमीक्षितारः ।
सन्त्येव [2]विश्वभुवनाभयदानशौण्डाः
क्षोणीभुजः परममी तु[3] न रामभद्रः ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) कथमुपाध्यायेनैतदभिहितं यदस्मि वक्तुकामः ।

कथं महापुण्यराशिमपि आत्मानमवसन्यसे-पुण्यप्रकर्षशालिनमात्मानं किमर्थं तुच्छं प्रत्येपि, किमिति त्वया रामस्य शम्भुशरासनभङ्गविषये भूयो भूयः सन्देहं प्रकाशयताऽऽत्माऽवमन्यते, पुण्यवानसि यदिह राम आयातो योऽसंशयं धनुरिदं नमयित्वा सीताकरग्रहं च कृत्वा त्वामुदितगौरवं करिष्यतीति भावः।

त्वद्भागधेयमिति । त्वद्भागधेयम् तव सौभाग्यम् तादृशम् अस्तीति शेषः वयमपि एतादृशाम् उत्सवानाम् सीताविवाहरूपाणाम् उत्सवानाम् प्रसमीक्षितारो द्रष्टारः समुपस्थिता इति शेषः, (यद्यपि) विश्वभुवनाभयदानशौण्डाः सकललोकभयदूरीकरणसामर्थ्यशालिनः क्षोणीभुजः राजानः सन्त्येव, परं किन्तु अमी भूभुजः तु रामो न, नामीषां भूभुजां पराक्रमो रामपराक्रमसमोऽतो यदि ते राजानो व्यर्थश्रमा अत्र धनुषि समजायन्त तदा रामोऽपि तथा भावीति संशय्यालम्, अतस्तव सौभाग्यमिदं यदेतादृशो जामाता त्वया लभ्योऽस्माकं चेदं सौभाग्यं यदीदृशमुत्सवं साक्षात्कृत्य लोचनं सफलीकरिष्याम इति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

उपाध्यायेन गुरुणा विश्वामित्रेण । एतत् अभिहितम्-न सर्वे राजानो राम इत्युक्तम् । अचिन्त्यः-तर्कयितुमशक्यः । मणिमन्त्रौषधीनाम्-यथा लघुकाये मणौ,

---

विश्वामित्र—(हंसकर) सखे सीरध्वज, क्यों महापुण्यशाली अपनी आत्माका अपमान करते हो ?

तुम्हारे भाग्य हैं, और हम ऐसे उत्सवके देखने वाले हैं, संसारमें विश्वको अभयदान देने वाले नृप हैं क्यों नहीं, परन्तु वे रामभद्र नहीं हैं ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण—(स्वगत) क्यों, जो मैं कहना चाहता था उसे आचार्यने ही कह दिया ।

---

१. 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'भुवनत्रय–' । ३. 'न तु' ।

जनकः—भगवन्, सत्यमचिन्त्यो मणिमन्त्रौषधीनामिव रघुकुल-[1]कुटुम्बकानामनुभावः। परमेतद् ब्रवीमि।

गिरीशेनाराद्धस्त्रिजगदवजैत्रं दिविषदा-
मुपादाय ज्योतिः सरसिरुहजन्मा यदसृजत्।
हृषीकेशो यस्मिन्निषुरजनि मौर्वी फणिपतिः
पुरस्तिस्रो लक्ष्यं धनुरिति किमप्यद्भुतमिदम्॥ ३२॥

शतानन्दः—आः किमनया पुनःपुनः पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया। [2]तदेतत्कौशिकमेव प्रमाणयन्तो बहु मन्यामहे। अपि च किमशक्यं रामभद्रस्य।

स्वल्पाक्षरे मन्त्रे, स्वल्पपरिणामे चौषधौ महान् अनुभावस्तिष्ठति, तथैव बाल-वयसि रघुवंश्येऽपि महान् प्रभावः स्थातुमर्हति, इति भावः।

गिरीशेनेति। गिरीशेन शिवेन आराद्धः प्रार्थितः सरसिरुहजन्मा कमलयोनिः ब्रह्मा दिविषदाम् देवानाम् ज्योतिः तेजः उपादाय समाहृत्य त्रिजगदवजैत्रम् लोकत्रयध्वंसकरम् यत् धनुः असृजत् निर्मितवान्, यस्मिन् धनुषि हृषीकेशो भगवान् विष्णुः इषुः शरः, फणिपतिः अनन्तनागः मौर्वी प्रत्यञ्चा, तथा तिस्रः पुरः असुरनगर्यः लक्ष्यम् अजनि, इदं धनुः तत् किमप्यद्भुतम् आश्चर्यकरं वस्तु विद्यत इति शेषः। तदेवेदमाश्चर्यकरं धनुर्यस्य स्रष्टा स्वयंस्रष्टा, उपादानं सकल-देवतेजः, शरो विष्णुः, मौर्वी फणिपतिः, त्रिपुरनगर्यो लक्ष्यं विद्यते, अत एवास्य नमनं कष्टसाध्यमत एव च मम मनःप्रत्ययो न जायत इति भावः, शिख-रिणीवृत्तम्॥ ३२॥

आः इति अनास्थाकृते रागे। पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया हरधनुःप्रशंसापद्धत्या। कौशिकं प्रमाणयन्तः विश्वामित्रवचने श्रद्धाशालिनः। बहु मन्यामहे आदरं कुर्मः।

जनक—भगवन्, मणि-मन्त्र तथा ओषधिके प्रभावकी तरह रघुवंशियोंका प्रभाव भी वास्तवमें अचिन्तनीय है, परन्तु मैं यह कहता हूं—

महादेव की प्रार्थनापर ब्रह्माने त्रिभुवन-विजयी देवोंके तेजको एकत्रित करके जिस धनुषको बनाया, जिसके बाण भगवान् विष्णु, मौर्वी शेषनाग, एवं लक्ष्य त्रिपुर बन चुके हैं, ऐसा है यह अद्भुत धनुष॥ ३२॥

शतानन्द—आः, बार बार पिनाककी प्रशंसाकी पिटारी खोलनेसे क्या लाभ, हम तो कौशिककी बातको प्रमाण मानकर उसका आदर करते हैं, और रामके लिये असंभव क्या है?

---

१. 'कडम्बकानाम्'। २. 'तदेतं कौशिकमेव'।

उत्पादयन्कमपि कौणपकोटिहोमं
तेजोहुताशनसमिन्धनसामिधेनीम् ।
यस्ताडकामकृत [1]बालसखैः पृषत्कै-
रीषज्जयः स्फुटमनेन दशाननोऽपि ॥ ३३ ॥

(नेपथ्येऽर्धप्रविष्टः ।)

[2]पुरुषः—दशाननपुरोहितः [3]शौष्कलो महाराजं दिदृक्षते ।

शतानन्दः—(सोद्वेगम् ।) [4]आः, आगच्छतु ।

(पुरुषो निष्क्रान्तः ।)

उत्पादयन्निति । यः रामः किमपि वर्णयितुमशक्यम् कौणपकोटिहोमम् राक्षसकोटिवधहोमम् उत्पादयन् कुर्वन् बालसखैः बाल्यावस्थोपयुक्तैः पृषत्कैः बाणैः ताडकाम् तेजोहुताशनस्य प्रतापाग्नेः समिन्धने प्रज्वालनकर्मणि सामिधेनीम् अग्निप्रज्वालनोपयोगिनीमृचम् अकृत, राक्षसवधहोमे प्रकृते ताडकां नाम राक्षसीं बाल्यावस्थोचितैर्बाणैरेव हत्वा तयैव स्वप्रतापाग्निं प्रज्वलितमकृतेति भावः, तेन तथाभूतेन रामेणानेन दशाननः रावणोऽपि ईषज्जयः सुखं जेतव्य इत्यर्थः । 'राक्षसः कौणपः क्रव्यात्', 'पृषत्कबाणविशिखाः', 'ऋक् सामिधेनी धाय्या सा या स्यादग्निसमेधने' इति सर्वत्रामरः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

दशाननपुरोहितः रावणपुरोधाः । महाराजम् जनकम् । दिदृक्षते द्रष्टुमिच्छति । तदनुजानन्तु भवन्तस्तत्प्रवेशमिति भावः ।

तेजरूप अग्निको उत्तेजित करनेमें सामधेनी ऋचाके समान इस राक्षस-कोटिहोम रूप कार्यको करके रामने अपने बालकोचित बाणोंसे ताड़काको समाप्त कर दिया, तब राम रावणको आसानीसे जीत लेंगे ॥ ३३ ॥

(नेपथ्यमें अर्धप्रविष्ट होकर)

पुरुष—दशाननके पुरोहित शौष्कल महाराजसे मिलना चाहते हैं ।

शतानन्द—(उद्विग्न होकर) आः, आवें ।

(पुरुष जाता है)

---

१. 'कालसखैः' । २. 'पुरुषः । पुरुषः' ।
३. 'शौष्कलो नाम' । ४. 'आः' इति क्वचिन्नास्ति ।

रामः—([1]सव्यथं जनान्तिकम् ।) वत्स लक्ष्मण, कथमन्तरितोऽयमनेन दुरात्मना राक्षसेन [2]कामारिकार्मुकपरिचर्यामहोत्सवः ।

लक्ष्मणः—आर्य, न केवलमयम्—(इत्यर्धोक्ते हसति ।)

(रामः सप्रणयरोषस्मितं तमपाङ्गेन पश्यति ।)

(प्रविश्य ।)

[3]शौष्कलः—(प्रत्येकमवलोक्यात्मगतम् ।) कथमत्रैव जनकशतानन्दाभ्यां पुरस्कृतो विश्वेषामस्माकममित्रो[4] विश्वामित्रः । (विचिन्त्य ।) तिष्ठतु । कोऽयं हस्तदक्षिणेन । (दृष्ट्वा ।) अये, कावेतौ क्षत्रियब्रह्मचारिणौ ।

सव्यथम् व्यथा चात्र शौर्यप्रकाशनावसरलाभप्रत्यूहोपस्थित्या बोध्या ।

अन्तरितः व्यवधापितः विघ्नितो वा । कामारिकार्मुकपरिचर्यामहोत्सवः हरचापारोपणावसरलाभरूपोऽभ्युदयकालः ।

न केवलम्—न केवलं महादेवधनुरारोपणमपि प्रत्यूहितं परं सीताविवाहावसरोऽपि विलम्बित इति लक्ष्मणस्य परिहासपूर्णो भाषितावशेषः ।

अपाङ्गेन पश्यति—कूणितत्रिभागया दृशा वक्ष्यमाणोक्तेर्निवारयितुं दृष्ट्या तथेक्षते, पुरस्कृतः आहृतो युक्तश्च । विश्वेषाम् अस्माकम् सर्वेषामपि रक्षसाम् । अमित्रः शत्रुः । कोऽयम्—अयं विश्वामित्रः किं कर्त्तुमीशोऽतस्तिष्ठत्वयं किं तया चिन्तयेत्यर्थः । क्षत्रिब्रह्मचारिणौ—प्रथमे वयसि स्थितौ क्षत्रियकुमारौ एतौ कौ ?

राम—(खेदके साथ, छिपाकर) क्यों इस दुरात्मा राक्षसने शिवकार्मुक-परिचर्यामहोत्सवमें विघ्न कर डाला ।

लक्ष्मण—आर्य, केवल इसीमें नहीं—(आधा कहकर हंसते हैं)

(राम रोषसे हंसकर इशारे से उन्हें चुप करते हैं)

(प्रवेश करके)

शौष्कल—(प्रत्येकको देखकर स्वगत) क्यों, यहींपर जनक शतानन्दके साथ हम सभोका शत्रु विश्वामित्र भी वर्त्तमान हैं । (सोचकर) रहे, यह दाईं ओर कौन है ? (देखकर) अरे, यह दोनों क्षत्रिय-ब्रह्मचारी कौन हैं ?

---

१. सरोषव्यथम्' । २. 'त्र्यक्षकाण्डासन—' ।
३. 'शौष्कलः' । शौष्कलः' । ४. 'अमित्रम्' ।

पुण्यलक्ष्मीकयोः [1]कोऽयमनयोः प्रतिभासते ।
मौञ्ज्यादिव्यञ्जनः शान्तो वीरोपकरणो[2] रसः ॥ ३४ ॥

निसर्गोदग्रमिदं[3] च कुमारद्वयम् ।

पार्श्वे त्रयाणामेतेषामृक्सामयजुषामिव ।
रूपाभ्यां विधिमन्त्राभ्यामथर्वेव प्रदीप्यते ॥ ३५ ॥

(विमृश्य ।) आः, ननूं स [4]एव लक्ष्मणद्वितीयो रामहतकः कौशिकमृषिमनुप्लवमानो [5]मिथिलामुपस्थितः । (सक्रोधशोकम् ।) हा वत्से

पुण्यलक्ष्मीकयोरिति । पुण्यलक्ष्मीकयोः प्रशस्तपावनश्रीसम्पदुपेतयोः अनयोः पुरोदृश्ययोः क्षत्रियकुमारयोः कः अयम् मौञ्ज्यादिव्यञ्जनः मौञ्जमेखलावटदण्डादिब्रह्मचारिचिह्नैः प्रकाश्यमानः वीरोपकरणः वीररसपरिपोषितः शान्तो रसः अस्तीतिशेषः, क्षत्रियकुमारयोरनयोर्मौञ्ज्यादिब्रह्मचारिचिह्नैः कोऽप्यद्भुत एव वीररसाविष्टः शान्तो रसः प्रकाशत इत्यर्थः ॥ अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३४ ॥

निसर्गोदग्रम् स्वभावत एव तेजस्वि ।

पार्श्वे इति । ऋक्सामयजुषाम् इव ऋग्वेदसामवेदयजुर्वेदकल्पानाञ्च इव एषाम् जनकशतानन्दविश्वामित्राणां त्रयाणाम् पार्श्वे समीपदेशे विधिमन्त्राभ्याम् रूपाभ्यां विधिः अनुष्ठानम् मन्त्रश्चेति ताभ्यां स्वरूपभेदाभ्याम् अथर्वा इव अथर्ववेद इव प्रदीप्यते विद्योतते । कुमारद्वयमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणद्वितीयो लक्ष्मणेन सहितः । रामहतकः दुष्टो रामः । अनुप्लवमानः अनुगच्छन् । सुकेतुनन्दिनि सुकेतुनामकराक्षसतनये । ईदृशात् शान्तसौम्याकृतेः ।

पवित्र शोभा धारण करनेवाले इन ब्रह्मचारियोंकी यह वीरोचित भावना इन मौञ्जीमेखलादि चिह्नोंसे अभिव्यक्त हो रही है ॥ ३४ ॥

यह दोनों कुमार स्वभावतः तेजस्वी प्रतीत हो रहे हैं ।

यह दोनों कुमार ऋक्, साम तथा यजुके समान तीनों ऋषियोंके बगलमें विधि-मन्त्ररूप दो भागोंमें विभक्त अथर्ववेदकी तरह दीपित हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

(विचार करके) आः ! निश्चय ही यह लक्ष्मणके साथ अभागा राम होगा, जो कौशिकऋषिके साथ मिथिलामें उपस्थित हुआ है । (क्रोध तथा शोकके साथ) हा वत्से

१. 'सोऽयम्' । २. 'वीरोपकरणम्' । ३. 'चेदम्' ।
४. 'एषः' । ५. मिथिलायाम्' ।

सुकेतुनन्दिनि ताडके, कथमीदृशान्मनुष्यडिम्भात्तादृशो दैवदुर्विपाकस्ते[1] संवृत्तः। [2]कष्टमनरण्यवंशजन्मनः क्षत्त्रियशिशो[3]रनात्मवेदिता।

सुन्दासुरेन्द्रसुतशोणितसीधुपान-
दुर्मत्तमार्गणनिरर्गलवीर[4]शब्दः।
द्रोहं चकार दशकण्ठकुटुम्बकेऽपि
सोऽयं वटुः कुशिकनन्दनयज्ञबन्धुः॥ ३६॥

भवतु। द्रष्टव्यमस्य [5]भुजाशौण्डीर्यम्। (उपसृत्य।) अपि सुखिनो यूयं जनकमिश्राः।

मनुष्यडिम्भात् मानवशिशोः। दैवदुर्विपाकः दशाविपर्ययः (मृत्युरूपः) संवृत्तः जातः। अनरण्यवंशजन्मनः अनरण्यो नाम रामपूर्वजो राजा, स हि रावणेन पराभूत इति विशिष्य तन्नामोपादानम्। अनात्मवेदिता स्वरूपपरिचय-विरहः, यस्य पूर्वजो रावणेन पराभूतस्तस्य तद्वंश्यजनवधप्रवृत्तिरनात्मवेदितां व्यञ्जयति, स एवात्र खेदविषयः।

सुन्दासुरेन्द्रेति। सः अयम् कुशिकनन्दनस्य विश्वामित्रस्य यज्ञबन्धुः यज्ञरक्षा-सम्पादनसहायः वटुः बालको रामः सुन्दो नामासुरेन्द्रो राक्षसराजस्तस्य सुतः सुबाहुर्नाम तस्य शोणितम् सीधु मद्यं तत्पानेन (सुबाहुशोणितपानेन) दुर्मत्तैः अतिमत्ताः ये मार्गणाः बाणाः तैः निरर्गलः अप्रतिबद्धः वीरशब्दः विजयप्रशस्तिः यस्य तादृशः सन् सुबाहुवधेन वीरगणनां प्राप्तः सन् दशकण्ठकुटुम्बके रावण-परिवारजनेऽपि द्रोहं वधप्रवृत्तिं चकार। सुबाहुवधदृप्तेनानेन वटुना रावणबन्धवो-ऽपि व्यापादिता इत्यहो साहसिक्यमिति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ३६॥

भुजाशौण्डीर्यम् बाहुपराक्रमः।

'जनकमिश्राः' अत्र मिश्रपदं बहुवचनं चादराभिव्यञ्जनाय।

सुकेतुतनये ताडके, इस मनुष्यके बच्चेसे तुम्हारी यह दशा कैसे हो गई? अनरण्यके वंशमें उत्पन्न क्षत्रियकुमारकी इतनी अनात्मज्ञता!!

सुन्द नामक राक्षसराजके पुत्र सुबाहुके शोणितपानसे अप्रतिहत वीरशब्दका 'भाजन इस बटुकने विश्वामित्रकी यज्ञरक्षा-प्रसङ्गमें दशकण्ठके परिवारके ऊपरभी द्रोह प्रारम्भ कर दिया॥ ३६॥

अस्तु—इसके बाहुवीर्यको देखेंगे। (समीप आकर) आप जनक तो सानन्द हैं?

---

१. 'विपाकोऽयं ते वृत्तः'। २. 'अनरण्यजन्मनः'। ३. 'वटोः'।
४. 'गर्वः'। ५. 'भुजाशौटीर्यम्'।

जनकः—स्वागतं पौलस्त्यपुरोहितस्य । इत आस्यताम् ।

(शौष्कलस्तथा करोति ।)

जनकः—[1]अपि कुशलं ते[2] राज्ञो रावणस्य । अथवा ।

विपदां प्रतिकर्तारो यस्योपायैरथर्वभिः ।
त्वादृशाः सन्ति किं तस्य कल्याणमनुयुज्यते ॥ ३७ ॥

शौष्कलः—(विहस्य ।) श्रोत्रिय[3] सीरध्वज, [4]प्रत्याकरिष्यामैव वयं यदि स्वभुजमण्डलीमत्तवार[5]णावलीवलयितोरःप्रासादसुस्थितचतुर्दश[6]लोकलक्ष्मीमहान्तःपुरे [7]लङ्कापतौ किमपि [8]प्रतिकार्यमभविष्यत् । पश्य ।

विपदामिति । त्वादृशाः त्वत्समानाः पुरोधसो यस्य रावणस्य विपदाम् अथर्वभिः अथर्ववेदप्रदर्शितैः मारणवशीकरणादिभिः उपायैः प्रतिकर्त्तारः प्रतिकारपरायणाः सन्ति, तस्य कल्याणं कुशलं किम् अनुयुज्यते पृच्छ्यते ? नित्यकुशला एव तादृशा जना येषां त्वादृशा अथर्ववेदोक्तोपचारविद्याकुशलाः पुरोहिताः स्युरतस्तत्कुशलप्रश्नो वृथेति भावः ॥ ३७ ॥

श्रोत्रिय वेदाध्यायिन्, राज्ञ इदं सम्बोधनं वीरत्वाभावव्यञ्जनयोपहासपरम्, प्रत्यकरिष्याम प्रतिकारं सम्पादयिष्यामः स्वभुजमण्डली निजबाहुपरम्परा एव मत्तवारणावली गजसमूहस्तया वलयितं वेष्टितं यदुरःस्थलं हृदयं तत्र प्रासादे सुस्थिता या चतुर्दशलोकलक्ष्मीर्विश्वविजयसम्पत्तस्या महान्तःपुरे निवासे किमपि

जनक—पौलस्त्यवंशके पुरोहितका स्वागत है, इधर बठिये ।

(शौष्कल वैसा करता है)

जनक—आपके राजा रावण प्रसन्न हैं तो ? अथवा—

जिनकी विपत्तियोंके लिए अथर्वोक्त-प्रकारोंसे आपके समान विद्वान् प्रतिकर्ता सुलभ हों उनके कल्याणके सम्बन्धमें क्या पूछना है ? ॥ ३७ ॥

शौष्कल—क्षत्रिय सीरध्वज, हम तो प्रतिकार करते ही यदि अपने बाहुगणरूप मत्तवारणोंसे वेष्टित प्रासादरूप अन्तःपुरमें चतुर्दश लोककी लक्ष्मीको स्थिर भावसे निवासित करनेवाले रावणके सम्बन्धमें कुछ प्रतिकारके योग्य होता ।

१. 'कच्चित्' । २. 'राज्ञस्ते' । ३. 'महाक्षत्रिय श्रोत्रिय'; 'महाक्षत्रिय' ।
४. 'प्रत्यकरिष्यामः' । ५. वारणवलयितोरः-' । ६. 'भुवन' ।
७. 'लङ्काधिपतौ' । ८. 'प्रतिकर्तव्यम्' ।

यच्चेष्टाः [1]समनीकसीमनि परित्रस्तः पराञ्चन्नपि
प्रत्यक्षीकुरुते सहस्रनयनः पृष्ठोद्भवैरक्षिभिः।
चक्रे वर्त्म च नागलोकजयिनीं यात्रामिव प्रस्तुव-
न्यः कैलासमुदस्य कीदृशम[2]पादानं तु तस्यापदाम् ॥३८॥

लक्ष्मणः—(सामर्षं जनान्तिकम् ।) आर्य, [3]कथमसौ सहस्रार्जुन-वालिभ्यामवलीढशौर्यसारो दुरात्मा रावणः प्रस्तूयते।

रामः—वत्स, न वक्तव्यमिदम्[4]। महान्तो हि[5] तादृशाः। किं च।

प्रतिकार्यम् अनिष्टम्। अनिष्टोदयाभावेन प्रतिकारविधिं विनैव रावणो नित्यकुशल इति भावः।

यच्चेष्टा इति। समनीकसीमनि युद्धक्षेत्रे परित्रस्तः भीतः अत एव च पराञ्चन् पराङ्मुखत्वं गतः अपि सहस्रनयनः इन्द्रः यच्चेष्टाः यस्य रावणस्य संग्रामव्यापारान् पृष्ठोद्भवैः पृष्ठदेशस्थितैः अक्षिभिः प्रत्यक्षीकुरुते विलोकयति, यस्य युद्धे इन्द्रोऽपि पराजयं प्रपद्यत इत्यर्थः। यश्च नागलोकजयिनीम् पातालविजयसाधनीम् यात्राम् प्रयाणमिव प्रस्तुवन् कर्तुमुद्दिशन् कैलासं नाम पर्वतम् उदस्य उत्खाय वर्त्म नागलोकमार्गं चक्रे, तस्य आपदाम् अपादानं किम्? कुतस्तस्य भयसंभावना यो देवाधिपमपि विजिग्ये कैलासं चोदतोलयदित्यर्थः। एवं च भयकारणानुपलब्ध्या तत्प्रतिकारस्यावश्यकतैव नोपस्थिता भवति, 'यदि न च भयमभविष्यत्तदा प्रत्यकरिष्यामैवेति पूर्णमुत्तरम् 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

सहस्रार्जुनवालिभ्याम् कार्त्तवीर्येण वालिना च। अवलीढशौर्यसारः शमितबलगर्वः। तौ हि रावणम् विजित्यावमत्य च तद्भुजवीर्यं चुलुकीचक्रतुः, न वक्तव्यमिदम् रावणनिन्दा न कार्या।

लड़ाईके मैदानमें जिसकी चेष्टाओंको भागते हुए इन्द्र पृष्ठदेशवर्त्ती नयनोंसे देखा करते हैं, जिसने कैलास पर्वत उठाकर मानों नागलोककी विजययात्रा सी कर दी थी, उस रावणको कहाँसे भय हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण—(क्रोधपूर्वक, छिपाकर) सहस्रार्जुन तथा वालिद्वारा जिसका भुजबल खर्व कर दिया उस रावणका प्रसङ्ग क्यों लाया जा रहा है ?

---

१. 'स समीक-'। २. 'उपादानम्'।
३. 'अपि कथमसौ बलिसहस्रभुजार्जुनाभ्याम्'। ४. 'एवम्'। ५. 'अपि'।

स्यातां नाम कपीन्द्रहैहयपती तस्यावगाढान्तर-
स्थामानौ दशकन्धरस्य महती स्कन्धप्रतिष्ठा पुनः।
सद्यःपाटितकण्ठकीकसकणाकीर्णा यदंसस्थलीः
स्वेनेभाजिनपल्लवेन मुदितः प्रास्फोटयद् धूर्जटिः ॥३९॥

अपि च—

मघोनस्तद् घोरं कुलिशमलसीकृत्य समरे
भुनक्ति स्वाराज्यं त्रिभुवनभटोऽयं दशमुखः।

स्यातामिति। कपीन्द्रो वानरराजो वाली हैहयपतिः कार्त्तवीर्यश्च तस्य रावणस्य अवगाढम् अवगतम् अन्तरस्थाम आन्तरं बलं याभ्यां तथाभूतौ स्यातान्नाम, पुनः किन्तु दशकन्धरस्य रावणस्य स्कन्धप्रतिष्ठा कायिकबलस्तुतिः महती भूयसी। ज्ञायतां रावणस्यान्तरं बलं वालिसहस्रार्जुनाभ्यां तथापि रावणस्य कायिकं बलमतितरां प्रसिद्धमस्तीति भावः। तत्र कारणमाह—सद्य इति। मुदितः रावणस्य भक्त्या प्रसन्नः सन् धूर्जटिः शिवः स्वेन आत्मसंबन्धिना इभाजिनपल्लवेन गजचर्माञ्चलेन सद्यःपाटितानाम् तत्क्षणकृत्तसमर्पितानाम् कण्ठानां नवानां शिरःस्थानानाम् कीकसकणैः क्षुद्रास्थिखण्डैः आकीर्णाः व्याप्ताः यदंसस्थलीर्यस्य रावणस्य स्कन्धदेशान् प्रास्फोटयत् वीजयतिस्म। कपीन्द्रहैहयपती रावणस्य पराक्रमं पराबभूवतुरिति पुराणी कथा स्यान्नाम, तथापि रावणस्य कायबलप्रतिष्ठा न क्षोदीयसी यतो रावणेन छित्त्वा समर्पितेषु स्वेषु नवसु शिरस्सु कीकसकणाकीर्णास्तदंसदेशान् प्रमुदितः शिवः स्वोत्तरीयभूतगजचर्माञ्चलेन वीजयतिस्म, एतादृशे वीरे भक्ते च रावणे कदाचित्ताभ्यां जितेऽपि तस्य न किमपि हीयते इति भावः। 'रूपादिपञ्चके स्कन्धः कायेंऽसे भूपतावपी'ति, 'कीकसं कुल्यमस्थि च' इत्युभयत्र विश्वामरौ। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३९ ॥

मघोन इति। त्रिभुवनभटः त्रिलोकैकवीरोऽयं दशमुखः समरे युद्धे तत् प्रसिद्ध-

---

राम—वत्स, ऐसा नहीं कहना चाहिये। वह महान् है, और वालि तथा सहस्रार्जुन रावणके भुजवीर्यके ज्ञाता भले ही रहे हों, किन्तु फिर भी दशकन्धरके स्कन्धकी बड़ी प्रतिष्ठा है। तत्काल छिन्न रावणके शिरको जिनपर रुधिर तथा अस्थिखण्ड बिखरे पड़े थे, भगवान् शङ्करने स्वयं अपने गजचर्मसे वीजित कर दिया था ॥ ३९ ॥

इन्द्रके भयङ्कर वज्रको युद्धक्षेत्रमें मन्द बनाकर यह रावण त्रिभुवन-वीर कहाकर

श्रियो नानास्थानभ्रमणरमणीयां चपलता-
मवच्छिद्य स्वस्मिन्नपि भुजवने पूरयति यः ॥ ४० ॥

[1]जनकः—(शौष्कलं प्रति ।) ब्रह्मन्, सत्यमीदृशो[2] राक्षसराजः ।

शौष्कलः—राजर्षे जनक,

संतुष्टे तिसृणां पुरामपि रिपौ कण्डूलदोर्मण्डली-
[3]क्रीडाकृत्तपुनःप्ररूढशिरसो वीरस्य लिप्सोर्वरम् ।
याच्ञादैन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्वं वृणु
त्वं वृणिवत्यभितो मुखानि स दशग्रीवः कथं [4]वर्ण्यताम् ॥४१॥

पराक्रमं घोरं भीषणञ्च मघोनः इन्द्रस्य कुलिशं वज्रम् अलसीकृत्य निश्चेष्टतां प्रापय्य स्वाराज्यं स्वर्गराज्यं भुनक्ति भुङ्क्ते पालयति। अपि च यः रावणः श्रियो लक्ष्म्याः नानास्थानेषु भिन्नभिन्नस्थलेषु भ्रमणेन संचरणेन रमणीयां चपलतां चञ्चलताम् अवच्छिद्य दूरीकृत्य स्वस्मिन् निजे भुजवने बाहुसमुदाये पूरयति स्थापयति। अयं हि रावणो मघोनो वज्रं व्यर्थीकृत्य स्वर्गाधिपत्यमाप्य च लक्ष्म्याश्चञ्चलतां दूरीकृत्य तां भुजवने स्वकीये स्थिरीकरोतीत्यर्थः। शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४० ॥

सन्तुष्ट इति। तिसृणां पुराम् त्रयाणां राक्षसनगराणां रिपौ संहर्त्तरि शिवे सन्तुष्टेऽपि आराधनप्रसन्नेऽपि कण्डूला रणकण्डूशालिनी या दोर्मण्डली भुजसमुदायस्तस्याः क्रीडया विलासेन कृत्तानि छिन्नानि पुनः प्ररूढानि च शिरांसि च यस्य तथाभूतस्य वरं प्रार्थनीयम् लिप्सोः लब्धुमिच्छोर्यस्य रावणस्य मुखानि दशाप्याननानि याच्ञादैन्येन याचनाकृतलाघवभयेन पराञ्चि याचनाविमुखानि भूत्वा 'त्वं वृणु त्वं वृणु' इति प्रकारेण परस्परं कलहायन्ते विवादं कुर्वते, स रावणः

स्वर्गराज्यका भोग करता है, और लक्ष्मीको नानास्थल-भ्रमण-चपलता-दोषको दूर करके उसे अपने बाहुओंमें स्थिर रूपमें निवासित करता है ॥ ४० ॥

जनक—(शौष्कलसे) ब्राह्मण, सत्य ही रावण ऐसे हैं ।

शौष्कल—राजर्षे जनक, त्रिपुरारि शिवके प्रसन्न हो जानेपर भी खुजलाहटधारी भुजोंने जब अनायास सभी सिर काट दिये, रावण वर प्राप्त करना चाहता भी था, परन्तु याचनादैन्य-विमुख उसके सभी मुख 'तुम माँगो तुम माँगो' कहकर आपसमें झगड़ने लगे थे, उस रावणका क्या वर्णन किया जाय ? ॥ ४१ ॥

---

१. 'शतानन्दः' । २. 'ईदृशोऽयम्' ।
३. 'लीलालून-' । ४. 'कथ्यताम्' ।

सोऽपि ।

कन्यामयोनिजन्मानं वरीतुं प्रजिघाय माम् ।
पुरोधसा गौतमेन गुप्तस्य भवतो गृहान् ॥ ४२ ॥

विश्वामित्रः—सखे सीरध्वज, [1]पश्य पिनाकदर्शनोल्लासिकाविसंष्ठुलचित्तवृत्तिरिव वत्सो रामभद्रः ।

जनकः—(विहस्य ।)

किमेतदेव[2] भगवन्नभिधीये पुनस्तराम् ।

कथं केन प्रकारेण वर्ण्यताम् स्तूयताम् ? यस्य प्रसन्नेऽपि वरिवस्यया हरे भुजवनक्रीडया च्छिन्नप्ररूढशिरसो रावणस्य मुखानि याचितुमनीहमानानि सन्ति 'त्वं वृणु त्वं वृणु' इत्येवं परस्परं नियुञ्जानानि कलहायन्ते, स रावणः कैः शब्दैः प्रशस्यताम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४१ ॥

कन्यामिति । यस्य रावणस्य मुखानि शिवादपि सन्तुष्टाद्वरं याचितुं पराञ्चि समजनिषत, सः रावणोऽपि गौतमेन तदाख्येन पुरोधसा पुरोहितेन गुप्तस्य कृतरक्षस्य भवतो जनकस्य गृहान् अयोनिजन्मानम् अगर्भसम्भवां सीतां नाम कन्यां वरीतुं याचितुं माम् स्वपुरोहितं प्रजिघायं प्रैषयत् । यस्य हि रावणस्य वरप्रदानोद्यताच्छिवादपि याचनायां सङ्कोचस्तस्यैव त्वद्गृहं प्रति कन्यां याचितुं मम प्रेषणं तदिच्छापूर्त्तेरविचार्य कर्त्तव्यत्वमाहेति तदाशयः ॥ ४२ ॥

पिनाकस्य हरधनुषः दर्शनाय या उल्लासिका उत्सुकता तया विसंष्ठुला चला चित्तवृत्तिः मनोभावो यस्य तथाभूतः, चापं द्रष्टुं चलन्मना राम इति पश्येति—क्रियाया वाक्यार्थः कर्म ।

किमेतदेवेति । हे भगवन् सर्वसामर्थ्ययुक्त, एतदेव पूर्वोक्तमेव वचनं पुनस्तराम् भूयोभूयः किम् किमर्थम् अभिधीये, एकमेव वचनं पुनः पुनः किमर्थं त्वं मामात्थेति—

उस रावणने भी—

आपसे आपकी अयोनिजा कन्या सीताकी याचना करनेके लिए मुझे खुद भेजा है पुरोधा गौतमसे परिपालित आपके घरपर ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र—सखे सीरध्वज, पिनाक-दर्शनकी उत्सुकतासे वत्स रामभद्रकी मनोवृत्ति चञ्चल हो रही है ।

जनक—(हंसकर) भगवन्, वारम्बार मुझे यह आप क्यों कह रहे हैं, हम तथा

---

१. पश्य पश्य' । २. 'एवम्' ।

इक्ष्वाकवो विदेहाश्च परवन्तस्त्वया वयम् ॥ ४३ ॥

शौष्कलः—भोः सीरध्वज, [1]किमिदमस्माकमाकाशवचनम्, उत दुष्परिच्छेद्य एवायमर्थः। यदुत्तरमपि न प्रतिपद्यसे। [2]पश्य।

दातव्येयमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ
[3]दोर्लीलामसृणीकृतत्रिभुवनो [4]लङ्कापतिर्याचते।
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु [5]कथागोष्ठीषु नः शासति
त्वद्वृत्तानि परोरजांसि मुनयः प्राच्या मरीच्यादयः॥४४॥

भावः, तथा कथनस्यायुक्तत्वं प्रमाणयति—इक्ष्वाकव इति। इक्ष्वाकवो रघुवंश्याः विदेहाः जनकाश्च त्वया परवन्तः त्वदधीनाः तथा च त्वदादेशस्यावश्यपालनीयत्वे पुनरभिधानं निष्फलमिति ॥ ४३ ॥

आकाशभाषितम् शून्यदेशे कथनम्, यस्य कोऽपि श्रोता न स्यात्, किमिति कोऽपि मदुक्तं नाकर्णयतीत्यर्थः। दुष्परिच्छेद्यः क्लेशबोध्यः। प्रतिपद्यसे ददासि।

दातव्येति। इदम् प्रक्रान्तपाणिग्रहणा कन्या कस्मैचित् वराय अवश्यम् एव देया वैवाहिकविधिनाऽर्पणीया, नतु स्वगृहे रक्षणीया, एनाम् कन्यां दोःक्रीडया भुजविलसितेन मसृणीकृतत्रिभुवनः सरलीकृतत्रिलोकः लङ्कापतिः रावणो याचते प्रार्थयते, तत् तदा अवश्यदातव्यवस्तुप्रार्थितया त्रिभुवनैकवीरे रावणे समुपस्थिते मूढवत् किङ्कर्त्तव्यविमूढलोक इव ईक्षसे इतस्ततः पश्यसि? ईदृशे प्रसङ्गे सौभाग्योपनतेन किमपि विचारणीयं किन्तु सद्यः कर्त्तव्यमवधारणीयमिति तदाशयः। ननु बुद्धिमानेव सद्यः कर्त्तव्यं स्थिरयति न साधारणो लोकस्तत्कथमहं झटिति कर्त्तव्यमवधारयेयं तत्राह—नः अस्माकं कथागोष्ठीषु विश्वस्तकथाप्रसङ्गेषु प्राच्याः

इक्ष्वाकु दोनों ही आपके वशवर्त्ती हैं ॥ ४३ ॥

शौष्कल—अजी सीरध्वज, क्या यह मेरा वचन आकाशभाषित है, अथवा यह विषय नितान्त अविचारणीय ही है कि आप कुछ उत्तर नहीं देते। देखिये—

यह कन्या निश्चय किसीको दान करनी है, फिर इसे अपने भुजवीर्यसे त्रिभुवनको मशक समान सिद्ध कर देनेवाले रावण जब माँग रहे हैं, तब आप किङ्कर्त्तव्यविमूढ़की तरह क्या देख रहे हैं? हम लोगोंकी कथा-गोष्ठीमें प्राचीन मरीचि आदि ऋषिगण आपके रजस्तमोऽतिवर्त्ती वृत्तान्तोंकी चर्चा किया करते है ॥ ४४ ॥

---

१. 'किमस्माकम्'।　२. 'पश्य पश्य'।
३. 'दोःक्रीडा'; 'दोःक्रीडामशकीकृत—'।　४. 'लङ्काधिपः'।　५. 'तथा'।

शतानन्दः—ब्रह्मन्, चिराय दत्तमेवोत्तरमस्माभिः ।

शौष्कलः—[1]हन्त, राजपुत्रीसमर्पणादन्यत्कीदृशं तत् ।

शतानन्दः—शृणु ।

शाम्भवं चापमारोप्य योऽस्मानानन्दयिष्यति ।
पूर्णपात्रमियं तस्मै मैथिली [2]कल्पयिष्यते ॥ ४५ ॥

शौष्कलः—(विहस्य ।) [3]शान्तम् । अहह युष्माकमप्यमून्यक्षराणि ।

आद्याः मुनयो मरीच्यादयो नाम पुरोरजांसि रजोगुणमतीत्य समवस्थितानि त्वद्वृत्तानि तवाख्यानानि शासति कथयन्ति । प्राच्यमुनिमरीच्यादिस्तुतवृत्ततया तव प्रसिद्ध एव विवेकस्तदविलम्बमुत्तरं प्रतिपद्यस्व स्वीकारात्मकमलं मूढवदवस्थायेति भावः ॥ ४४ ॥

चिराय बहुकालात्पूर्वम् ।

राजपुत्रीसमर्पणात् सीताप्रदानात् । नात्र वाक्यात्मकमुत्तरमपेक्ष्यते, किन्तु सीताप्रदानात्मकक्रियारूपमेवोत्तरमपेक्ष्यते इति तदाशयः ।

शाम्भवमिति । यः शाम्भवं हरसम्बन्धि चापम् धनुः आरोप्य सज्यं कृत्वा अस्मान् कन्यापक्षगतान् पित्रादीन् आनन्दयिष्यति प्रतिज्ञापूर्त्तिसम्भवानन्दभाजं करिष्यति, इयं मैथिली सीता तस्मै हरचापारोपणयशस्विने पुरुषाय पूर्णपात्रं पारितोषिकदक्षिणारूपं कल्पयिष्यते समर्पयिष्यते । इदमेव निश्चितमुत्तरमिति भावः ॥ ४५ ॥

अहह ! इति असम्भावितोत्तरश्रवणजन्योपहासे । युष्माकमप्यमून्यक्षराणि यूयं सर्वविषयकज्ञानवन्तोऽपीत्थं ब्रूथ, न भवद्भिरिदं वाच्यमित्यर्थः ।

शतानन्द—ब्रह्मन्, सदाके लिए हमने उत्तर दे दिया है ।

शौष्कल—हाय, राजपुत्रीके समर्पणके अतिरिक्त क्या उत्तर हो ही सकता है ?

शतानन्द—सुनिये—

महादेवके धनुषको आरोपित करके जो हमें आनन्दित करेगा, पूर्णपात्र स्वरूप यह मैथिली उसीकी दक्षिणा बनेगी ॥ ४५ ॥

शौष्कल—(हंसकर) शान्त रहिये. अहा ! आप भी इस तरहकी बात करते हैं ?

---

१. 'हुम्' । २. 'कल्पयिष्यति' । ३. 'शान्तं शान्तम्' ।

तेनाङ्गुलीशतनिघृष्टकुबेरशैल-
कण्ठोक्तदोःकुलिशकन्दलविक्रमेण ।
माहेश्वरेण महता दशकन्धरेण
[1]कर्मेदृशं कथमनार्यमधिक्रियेत ॥ ४६ ॥

शतानन्दः—(विहस्य ।) ब्रह्मन्,

अयं महाक्षत्रियगोत्रजन्मा दृढप्रतिज्ञो जनकाधिराजः ।
न चापमारोपयिता दशास्यस्तथापि जानासि यदुत्तरं नः ॥ ४७ ॥

तेनाङ्गुलीशतेति । अङ्गुलीनां शतेन विंशतिहस्तैस्तावतीभिरङ्गुलीभिर्निघृष्टः चालितः यः कुबेरशैलः कैलासः तेन कण्ठोक्तः स्पष्टमाख्यातः कुलिशकन्दलविक्रमः वज्रपराक्रमो यस्य तेन तथोक्तेन अङ्गुलीशतसंचालितकैलासप्रख्यापितपराक्रमातिशयेन तेन महता प्रसिद्धेन माहेश्वरेण शिवभक्तेन दशकन्धरेण रावणेन ईदृशं कर्म स्वाराध्यशिवधनुर्भञ्जनात्मकं कुकृत्यं कथं केन प्रकारेण अधिक्रियेत सम्पादयितुमारभ्येत इष्येत वा ? नहि रावणः स्वाराध्यस्य हरस्य चापमारोपयितुमुद्यतो भविष्यति, वीरता तु तस्य कैलासचालनप्रख्याता एव, अतस्तस्य वीरताख्यापनबुद्धयाऽप्यत्र कर्मणि प्रवृत्तिर्न सम्भविनीति भावः ॥ ४६ ॥

अयमिति । अयं जनकाधिराजः महाक्षत्रियगोत्रजन्मा महति क्षत्रियवंशे समुत्पन्नः, दृढप्रतिज्ञश्च अमिथ्याभाषी च, तथा चास्य पक्षे विचारपरिवर्त्तनमशक्यमिति । एवं दशास्यो रावणोऽपि महामाहेश्वरतया चापं हरधनुर्नारोपयिता नारोपयिष्यति, सोऽपि स्वसिद्धान्तात् च्यावयितुं न शक्यते, तथा सति नः अस्माकम् अत्र प्रसङ्गे यदुत्तरं तत् जानासि अपि । चापारोपणमात्रलभ्यायाः सीतायास्तदुपायमात्रलभ्यत्वमिति भावः ॥ ४७ ॥

अपनी सौ अङ्गुलियोंसे सञ्चालित कैलास पर्वतके द्वारा जिस रावणने अपने वज्रोपम-भुजोंके पराक्रमको स्पष्ट बता दिया है, वह महामाहेश्वर दशकण्ठ भला इस तरहका जघन्य कार्य किस प्रकार कर सकेगा ? ॥ ४६ ॥

शतानन्द—(हंसकर) ब्रह्मन्,

यह महाक्षत्रिय-वंश-सञ्जात जनकराज की दृढ़प्रतिज्ञा है, और माहेश्वर होनेके कारण रावण चापारोपण नहीं करेंगे, फिर आपही समझ सकते हैं कि इस विषयमें हमारा क्या उत्तर हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

---

१. कर्मेदमीदृशमनार्य-' ।

शौष्कलः—(सहासम् ।)

अङ्गिराश्च पुलस्त्यश्च प्रसवौ परमेष्ठिनः ।
पौलस्त्ये [1]ज्ञातिधर्मोऽयं तत्किमाङ्गिरसस्य ते ॥ ४८ ॥

([2]सामर्षम् ।)

माहेश्वरो दशग्रीवः क्षुद्राश्चान्ये महीभुजः ।
पिनाकारोपणं शुल्कं हा सीते किं भविष्यसि ॥ ४९ ॥

शतानन्दः—([3]सरोषव्यथम् ।) ब्रह्मन्, [4]एवमनेन धनुषा किमपि विनयाधि[5]कारिकमध्याप्यते । यदद्य [6]परममाहेश्वरस्ते रावणोऽपि संवृत्तः ।

अङ्गिरा इति । अङ्गिरा नाम मुनिः गौतमस्य पिता शतानन्दस्य पितामहः, पुलस्त्यः रावणस्य पितामहश्च तावेतौ परमेष्ठिनः ब्रह्मणः प्रसवौ पुत्रौ, तत् तस्मात् पौलस्त्ये रावणे ते तव शतानन्दस्य अयं ज्ञातिधर्मः विद्वेषः किम्? समानकुलयोर्वैरस्य प्रसिद्धतया त्वमपि स्वगोत्रे रावणे विद्वेषमाचरसीति भावः ॥ ४८ ॥

माहेश्वर इति । दशग्रीवो रावणः माहेश्वरः शिवभक्तः (अत एवासौ हरचापारोपणं कृत्वा त्वां न वरीष्यति) अन्ये च महीभुजः नृपतयः क्षुद्राः, तुच्छाः, (अत एव तेषामपि हरचापारोपणे साफल्यमसम्भवम्) ननु विनैव चापारोपणं सीता यस्मै कस्मै चिद्वराय दास्यत इति चेत्तत्राह—पिनाकेति पिनाकारोपणं हरचापनमनं शुल्कं सीतापरिणये पणः अस्यां स्थितौ हा सीते, किं भविष्यसि? का तव दशा भविष्यतीति न जाने इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

विनयाधिकारिकम् नम्रत्वम् । अध्याप्यते शिक्ष्यते । परममाहेश्वरः अतिशिवभक्तः । अस्य नमनमसम्भवं सम्भाव्य स्वाशक्तिगोपनायैव रावणस्यायमुद्यमो न वास्तवमेवासौ शिवभक्त इति काकुः ।

शौष्कल—(हंसकर) अङ्गिरा और पुलस्त्य ब्रह्माके पुत्र हैं, क्या आङ्गिरस होनेके कारण आप रावणसे दायादका धर्म निभा रहे हैं ? ॥ ४८ ॥

(क्रोधसे) रावण माहेश्वर हैं, अन्य राजगण क्षुद्र ही हैं, पिनाकका आरोपण-पण बना ही है, हाय, सीते न जाने तुम्हारा क्या होगा ? ॥ ४९ ॥

शतानन्द—(क्रोध तथा खेदके साथ) ब्रह्मन्, इस प्रकार यह धनुष लोगोंको विनयकी शिक्षा दे रहा है । जिससे तुम्हारे रावण भी आज माहेश्वर बन गये हैं ।

---

१. 'जाति-' । २. 'सामर्षमाकाशे कर्णं दत्त्वा सहासम्' । ३. 'सरोषावहित्थम्' । ४. किमनेन' । ५. 'कारिकां कारिकामध्या-' । ६. 'ते रावणोऽपि परममाहेश्वर' ।

शम्भोराधारमचलमुत्क्षेप्तुं भुजकौतुकी ।
माहेश्वरो धनुः क्रष्टुमहो ते दशकन्धरः ॥ ५० ॥

(शौष्कलवर्जमन्ये[1] स्मयन्ते ।)

शतानन्दः—(सरोपावहित्थम् ।) [2]रामभद्र,

तदेतदारोपय [3]चापमीशप्रकोष्ठभस्मप्रतिरूषितज्यम् ।
शौर्योष्मभाजां भजतां मुखानि स्वबाहुमौर्वीकिणकालिकैव ॥ ५१ ॥

शम्भोरिति । शम्भोः शिवस्याधारमचलं निवासभूतं पर्वतं कैलासमुत्क्षेप्तुं सर्वांरमनोत्पाट्य चालयितुं भुजकौतुकी बाहूत्कण्ठाशाली ते दशकन्धरो रावणः अहो आश्चर्यम् धनुः क्रष्टुम् माहेश्वरं धनुर्नमयितुं माहेश्वरं माहेश्वरः शिवभक्तः जात इति शेषः । यो हि तव रावणः शिवस्यावासभूतं कैलासाचलं चालयितुमुत्कण्ठितेस्म, तस्य शैवधनुर्नमने भक्त्या पराङ्मुखत्वमत्याश्चर्यकरमिति । तदियं तदीया प्रतारणाऽत्र न सम्भवदवकाशेति भावः ॥ ५० ॥

तदेतदिति । तत् तस्मात् अवसरप्रतीक्षाया व्यर्थत्वात् ईशस्य शिवस्य प्रकोष्ठे मणिबन्धोपरितनहस्तभागे यद् भस्म विभूतिः तेन प्रतिरूषिता मलिनीकृता रञ्जिता ज्या मौर्वी यस्य तादृशम् एतत् चापम् धनुरारोपय नमय । शौर्योष्मभाजाम् बाहुबलगर्वशालिनाम् स्वबाहुमौर्वीकिणकालिका निजकरस्थज्याघातचिह्नकालिमा मुखानि तदीयवदनानि भजताम् प्राप्नोति । ज्याघातकालिमा मुखे प्रतिभासताम् , त्वयि धनुर्नमितवति व्यर्थमेव भुजवीर्यगर्वेण विकत्थमाना मलिनमुखा जायन्तामिति भावः ॥ ५१ ॥

आपके जिस रावणने महादेवके निवास-पर्वत कैलासको चला दिया और अपने भुजोंकी उत्सुकता निवृत्त की, वही रावण आज शिवचापारोपणमें माहेश्वर बन रहा है ॥ ५० ॥

(शौष्कलके अतिरिक्त सभी मुस्कुराते हैं)

शतानन्द—(कोप तथा अवहित्थाके साथ) रामभद्र,

महादेवके बाहुका भस्म जिसकी प्रत्यञ्चाको रूषित बना चुका है ऐसे इसको आरोपित करो, बाहुकी पराक्रमशीलताके कारण गर्व रखनेवालोंके मुखको उनके बाहुमें वर्त्तमान मौर्वी किणकी कालिमा प्राप्त करले ॥ ५१ ॥

---

१. 'इतरे' । २. 'रामभद्र रामभद्र' । ३. 'ऐशं—भूषितज्यम्' ।

शौष्कलः—(सक्रोधम् ।) अरे रे, शतानन्द, किमुद्भ्रान्तोऽसि । यदेवमस्मदग्रे पौलस्त्यं महाराजमधिक्षिपसि । कथमयं ते [1]माणिक्यपरिहाणेन गैरिकपरिग्रहः । यदेवं [2]दशग्रीवमवमन्यमानस्य मनुष्यपोतेऽनुरागः । [3]यदि वा तत्रभवन्तं गौतममपहाय दुलिचक्षुषि सहस्राक्षे [4]भवतो [5]मातुरहल्यायाः ।

शतानन्दः—([6]सरोपहासम् ।) किमात्थ रे, किमात्थ अस्मदग्र इति ।

विश्वामित्रः—([7]सप्रणयरोषमिव ।) वत्स गौतम, विरम विरम शुष्ककलहात् । अतिथिरयमस्माकमुपाध्यायो [8]दशकण्ठस्य । (व्यथमानौ

उद्भ्रान्तः मूढः, कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकविधुर इत्यर्थः । पौलस्त्यम् रावणम् । अधिक्षिपसि निन्दसि । माणिक्यपरिहाणेन रत्नं विहाय । गैरिकपरिग्रहः गैरिकधातुशिलाखण्डस्वीकारः, रावणं विहाय रामस्यादरो रत्नं विहाय गैरिकस्वीकार इव मूर्खताप्रमापकः, अतस्तथा मा कार्षीरिति भावः । अवमन्यमानस्य तिरस्कुर्वतः, मनुष्यपोते मानवशिशौ । दुलिचक्षुषि दुलेः कच्छप्याश्चक्षुरिव चक्षुर्यस्य तस्मिन् पीतनयने सहस्राक्षे । यथा तव माताऽहल्या गौतमं नाम मुनिं स्वपतिमपहाय पीताभनयनतया कुरूपे शक्रेऽनुरागस्तथैवायं तव रावणं लोकैकवीरमपहाय मानवशिशौ रामचन्द्रेऽनुरागस्तदयं तव कौलिको रोगो न शक्यते झटिति शमयितुमिति भावः ।

विरम निवर्त्तस्व । शुष्ककलहात् वृथाविवादात् । उपाध्यायः गुरुपुरोहितः,

---

शौष्कल—अरे, शतानन्द, क्या तुम पागल हो गये हो कि हमारे सामने ही तुम महाराज रावणपर आक्षेप कर रहे हो । क्यों तुम यह माणिक्य छोड़कर गैरिक स्वीकार कर रहे हो, जो कि दशग्रीवका अपमान करके मनुष्यके बच्चेका अनुराग कर रहे हो । अथवा उचित है तुम्हारी माताने भी तो गौतमको छोड़कर कछुआकी तरह आँखोंवाले इन्द्रपर प्रेम किया था ।

शतानन्द—(रोषसे हंसकर) क्या कहा ? हमारे आगे क्या कहा रे ?

विश्वामित्र—(प्रेम तथा कोपके साथ) शतानन्द, छोड़ो इस शुष्क कलहको, यह दशकण्ठके आचार्य हमारे अतिथि हैं । (व्यथित होते हुए राम-लक्ष्मणकी ओर देखकर

---

१. 'परिहारेण' । २. 'दशाननमवमत्य'; 'दशग्रीवमप्यवमन्यमानस्य ते' ।
३. 'यदिव'; 'अथवा' । ४. 'तव' । ५. मातुरपि कथमहल्यायाः ।
६. 'सरोषाहंकारम्' । ७. 'सप्रणयमिव' । ८. 'दशकन्धरस्य' ।

रामलक्ष्मणौ च दृष्ट्वा विहस्य ।) वत्स रामभद्र, [1]धनुर्गृहोपसर्पणमभ्यनुजानाति ते जनकान्वयपुरोधाः ।

रामः—यदादिशन्ति गुरवः । (इति सविनयलज्जाकौतुकं परिक्रम्य लक्ष्मणेन सह निष्क्रान्तः ।)

शौष्कलः—राजर्षे सीरध्वज, धन्योऽसि । पुरा किल परमेश्वरपरिचर्यावदाने निकृत्तेषु नवमूर्धसु

वरं तादृक्कर्माद्भुतसदृशमप्रेक्ष्य किमपि
प्ररोहद्वैलक्ष्यं पुरविजयिनो येन ददृशे ।
तदुन्मार्ष्टुं येन त्रिभुवनमपि प्रार्थितमिदं
तदेव त्वय्यर्थीभवति दशमं रावणमुखम् ॥ ५२ ॥

धनुर्गृहोपसर्पणम् धनुर्गृहगमनम् । अभ्यनुजानाति आदिशति । जनकान्वयपुरोधाः विदेहवंशपुरोहितः शतानन्दः ॥

वरमिति । येन तादृक्कर्माद्भुतसदृशम् तादृशाद्भुतकार्यानुरूपम् नवशिरःकर्त्तनरूपातिभयानककार्यानुरूपम् किमपि वरम् देयं वस्तु अप्रेक्ष्य अदृष्ट्वा पुरविजयिनः त्रिपुरारेः शिवस्य प्ररोहद्वैलक्ष्यं जायमाना त्रपा ददृशे तत् पुरविजयिनः वैलक्ष्यं प्रमार्ष्टुं च इदं त्रिभुवनम् लोकत्रयं (भुवनत्रितयस्वामित्वं) प्रार्थितम्, तदेव दशमं रावणमुखं त्वयि जनके अर्थीभवति याचकत्वं लभते । रावणे दशसु शिरस्सु नवशिरांसि च्छित्त्वा प्रसादितवति वरप्रदानायागते शिवे च तादृशाद्भुतकार्यानुकूलवरालाभेनोदयत्त्रपे संवृत्ते सति शिवस्य तादृशीमवस्थामालोक्य दशममवशिष्टं रावणस्य शिरो भुवनत्रयाधिपत्यरूपं लघुमपि वरं याचमानं शिवस्य त्रपा-

---

हंसते हुए) वत्स रामभद्र, तुमको धनुर्गृहमें जानेकी आज्ञा जनकवंशके पुरोहित दे रहे हैं ।

राम—गुरुजनोंकी जैसी आज्ञा । (विनय, लज्जा, कौतुकसे लक्ष्मणके साथ जाते हैं)

शौष्कल—राजर्षे सीरध्वज, तुम धन्य हो, पूर्वकालमें शिवकी आराधनाके अवसरपर, नव-मस्तकोंके काट दिये जानेके बाद,

उस अद्भुत कार्यके योग्य वरको नहीं देखकर रावणका दशममुख लज्जाका अनुभव करने लगा, महादेवने उसकी यह दशा देख ली, तब उस मुखने लज्जा गोपनके लिए इस त्रिभुवनको ही माँग लिया, आज रावणका वही मुख तुम्हारे सामने याचक बन रहा है ॥ ५२ ॥

---

१. 'धनुर्ग्रहोप–' ।

शतानन्दः—(उत्थाय । [1]नेपथ्यावलोकितकेन सहर्षाद्भुतम् ।) [2]पश्यन्तु भवन्तः ।

यस्मिन्नेकधनुष्मतो भगवतः खट्वाङ्गपाणेरसा-
वाकृष्टो गुणतां गतोऽप्यहिपतिः कर्णावतंसायते ।
[3]उन्मुक्तः पुनरेव भूषणपदं याति प्रकोष्ठान्तरे

(जनक औत्सुक्यं नाटयति ।)

शतानन्दः—
काकुत्स्थेन तदेव भार्गवगुरोः कोदण्डमाकृष्यते ॥ ५३ ॥

(नेपथ्ये ।)

मपाकरोत्, तदेव रावणस्य मुखमद्य त्वामर्थयत इति मा अन्यथा चिन्ति, पालनीय एव च तदनुरोध इति भावः। शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

यस्मिन्निति । एकधनुष्मतः अद्वितीयधनुर्धरस्य भगवतः सर्वसामर्थ्यशालिनः खट्वाङ्गपाणेः शिवस्य यस्मिन् धनुषि असौ आकृष्टः गुणतां प्रत्यञ्चारूपत्वं गतोऽपि अहिपतिः अनन्तनागः कर्णावतंसायते कर्णाभरणरूपतां प्रपद्यते, उन्मुक्तः त्यक्तश्च सन् पुनः एव प्रकोष्ठान्तरे मणिबन्धोपरितनभागे भूषणपदं कङ्कणरूपत्वं याति, तदेव भार्गवगुरोः परशुरामाचार्यस्य शिवस्य कोदण्डम् धनुः काकुत्स्थकुलोत्पन्नेन रामेण आकृष्यते नम्यते। महादेवस्य तद्धनू रामेणाकृष्यते यत्र नागः प्रत्यञ्चाभावेनावस्थितः, स ह्याकर्षणकाले कर्णपर्यन्ताकृष्टतया कर्णभूषणभावं, विकर्षणकाले च प्रकोष्ठसंसक्ततया हस्ताभरणभावं भजत इत्याशयः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५३॥

शतानन्द—(उठकर-नेपथ्यकी ओर देखकर) (सहर्ष) आप लोग देखें-

जिस धनुषपर अद्वितीय धनुर्धर भगवान् शङ्करने जब प्रत्यन्चा चढ़ाकर आकृष्ट किया तब नागराज उनके कर्णावतंस बन गये, फिर प्रत्यञ्चा छोड़ देनेपर वही नागराज कर्णभूषण बन गये थे,

(जनक उत्कण्ठा प्रकट करते हैं)

शतानन्द—ककुत्स्थकुलभूषण राम वही धनुष आकृष्ट कर रहे है ॥ ५३ ॥

१. 'नेपथ्याभिमुखमवलोकयन्' । २. 'पश्यन्तु पश्यन्तु' ।
३. 'उन्मुक्तश्च पुरेव' ।

लक्ष्मणः—

रुन्धन्नष्ट विधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशः क्रोडय-
न्मूर्त्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः।
तान्यक्ष्णा बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादय-
न्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्बल[1]दलत्कोदण्डकोलाहलः॥ ५५॥

जनकः—([2]सहर्षविषादाद्भुतम्।) कथं भग्नमपि।

शतानन्दः—

वैदेहीकरबन्धमङ्गलयजुःसूक्तं द्विजानां मुखे
नारीणां च [3]कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः।

रुन्धन्निति। अयम् सर्वश्राव्यतया प्रत्यक्षरूपः आर्यस्य रामस्य दोर्बलेन बाहुवीर्येण दलतः भज्यमानस्य कोदण्डस्य हरचापस्य कोलाहलः भयङ्करः शब्दः विधेश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः अष्टश्रुतीः कर्णविवराणि रुन्धन् बधिरतां नयन् अष्टौ दिशः प्राच्याद्यष्टदिग्विभागान् मुखरयन् शब्दैः पूरयन्, महेश्वरस्य अष्टमूर्त्तीः पृथिव्याद्यस्वरूपाणि क्रोडयन् क्रोडीकुर्वन् व्याप्नुवन् अष्टौ कुलक्ष्माभृतः दलयन् विदारयन् तानि प्रसिद्धानि अष्टौ पन्नगकुलानि तक्षकादीनि अक्ष्णा बधिराणि शब्दग्रहणासमर्थानि सम्पादयन् उन्मीलति सर्वतः प्रसरति। रामेण हरचापे भज्यमाने विधेरष्टापि श्रुतयः शब्दपूर्णतया रुद्धाः, दिशोपि सर्वास्तच्छब्दव्याप्ताः, शिवस्य वारिवह्निधराऽऽकाशवायुरविचन्द्रयजमानरूपा अष्टावपि मूर्त्तयोऽपि तदीयध्वनिना क्रोडीकृताः, सर्पाणां चक्षुःश्रवस्तया चक्षूंष्येव शब्दग्रहणाक्षमाण्यजायन्त, तदेवं सर्वतः प्रसृतस्तत्कोलाहल इति भावः॥ ५४॥

वैदेहीति। द्विजानां ब्राह्मणानां मुखे वैदेह्याः सीतायाः करबन्धाय पाणिग्रहाय यत् मङ्गलं शुभाशंसनम् तदर्थं यजुःसूक्तम् यजुर्वेदीयमन्त्रविशेषः, नारीणां स्त्रीणां

लक्ष्मण—ब्रह्माके आठ कानोंको भरता हुआ, दिशाओंको व्याप्त करता हुआ, महादेवकी पृथिव्यादि आठ मूर्त्तियोंको एवं कुलपर्वतोंको दलित करताहुआ, आठ नागोंको बधिर बनाता हुआ यह रामके द्वारा खण्डित धनुषका शब्द प्रकट हो रहा है॥ ५४॥

जनक—(हर्ष-विषाद तथा आश्चर्यके साथ) क्या तोड़ भी दिया?

शतानन्द—ब्राह्मणोंके मुखोंमें सीता-विवाह-मङ्गलसूक्तोंके रूपमें, नारियोंके कपोल-

१. 'ललत्'। २. 'सहर्षाद्भुतम्'। ३. 'कन्दर-'।

पेष्टुं च द्विषतामुपश्रुतिशतं मध्येनभो जृम्भते
रामक्षुण्णमहोक्षलाञ्छनधनुर्दम्भोलिजन्मा रवः ॥ ५५ ॥

शौष्कलः—([1]सविषादाद्भुतमात्मगतम् ।) अहो दुरात्मनः क्षत्रियस्फुलिङ्गस्य सर्वकर्मीणमूष्मायितम् ।

जनकः—(सहर्षं पादयोर्निपत्य ।) [2]भगवन्कुशिकनन्दन,

इयमात्मगुणेनैव क्रीता रामेण मैथिली ।
स्वगृहव्यवहारस्तु लक्ष्मणायोर्मिलाऽस्तु नः ॥ ५६ ॥

कपोलकन्दलतले गण्डसमूहप्रदेशे श्रेयान् माङ्गलिकः उलूलुध्वनिः शब्दभेदः, द्विषतां शत्रूणां च उपश्रुतिशतम् श्रवणेन्द्रियशतसमीपेषु पेष्टुम् तान् द्विषतो दलयितुं रामेण क्षुण्णस्य रामेण कृष्टस्य महोक्षलाञ्छनस्य वृषकेतनस्य शिवस्य धनुर्दम्भोलेः चापरूपवज्रस्य रवः शब्दः जृम्भते प्रसरति, रामेण हरचापे दलिते सति तदुत्थितो रवः सर्वत्र प्रसरति, स हि ब्राह्मणमुखेषु सीताविवाहमङ्गलमन्त्रात्मना परिणमते, वनितानां कपोलतलेषु च माङ्गलिकोलूलुशब्दात्मना, शत्रूणां श्रवणेषु च दारकशब्दतयेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

दुरात्मनः दुष्टस्य । क्षत्रियस्फुलिङ्गस्य क्षत्रियरूपाग्निकणस्य । सर्वकर्मीणम् सर्वकार्यसमर्थम् । ऊष्मायितम् तेजस्वित्वम् ।

इयमिति । रामेण इयम् मैथिली आत्मगुणेन स्वपराक्रमेण एव (हरचापारोपणद्वारा) क्रीता अर्जिता । नः अस्माकम् स्वगृहव्यवहारः गृहस्थव्यवहारः कन्यादानरूपस्तु लक्ष्मणाय ऊर्मिला नाम कन्यान्तरमस्तु । रामेण सीतायां लब्धायामपि मम कन्यादानपुण्यं नोत्पद्यते, तस्यास्तत्पराक्रमलब्धतया मम कर्त्तव्यता-

---

तलमें 'उलुलु' शब्दके रूपमें रामके द्वारा तोड़े गये शिवके धनुषसे उत्पन्न शब्द शत्रुओंके कानको फाड़ डालनेके लिए आकाशमें फैल रहा है ॥ ५५ ॥

शौष्कल—(विषादके साथ स्वगत) अहो, इस दुष्ट क्षत्रियकुमारका पराक्रम सर्वतोमुख है ।

जनक—(सहर्ष चरणोंपर गिरकर) भगवन् कौशिक,

रामने सीताको अपने गुणसे ही खरीद लिया है, अपने गृहका व्यवहार मैं ऊर्मिला देकर लक्ष्मणके साथ करना चाहता हूँ ॥ ५६ ॥

---

१. 'सविषादमात्मगतम्' । २. 'कौशिकवंशवर्धन' ।

विश्वामित्रः—(सस्मितम् ।) सखे सीरध्वज, यदभिरुचितं भवते ।

शतानन्दः—([1]जनककर्णे एवमेवं कथयित्वा ।) भगवन्विश्वामित्र, ममापि चन्द्रशेखरशरासनारोपणप्रथमप्रियवादिनः पारितोषिकं धारयसि ।

विश्वामित्रः—(विहस्य ।) वत्स, दीयते । किमभिप्रैषि ।

शतानन्दः—कुशध्वजदुहितृभ्यां माण्डवीश्रुतकीर्तिभ्यां भरतशत्रुघ्नावभ्यर्थये ।

विश्वामित्रः—एवमस्तु । (शतानन्दं हस्ते गृहीत्वा सस्मितम् ।) वत्स, सर्वमस्माभिर्विधातव्यम् । आगमयस्व तावद्दशरथम् ।

राहित्यात्, गृहस्थैश्च कन्यादानपुण्यमर्जनीयमतः कृपया मां लक्ष्मणायोर्मिलां नाम स्वकन्यां दातुमनुमन्यन्तां भवन्त इति भावः ॥ ५६ ॥

चन्द्रशेखरस्य शिवस्य यत् शरासनम् तस्य आरोपणम् रामेण सज्यीकरणम्, तदेव प्रथमं प्रियम् नवश्रुतिकतया कर्णरसायनीभूतं तस्य वादिनः कथयितुः रामेण हरचापसारोपितमिति कर्णरसायनं सर्वप्रथमं सूचयतः इत्यर्थः । पारितोषिकं धारयसि पुरस्कारं दातुं बाध्यसे इत्याशयः ॥

कुशध्वजदुहितृभ्याम् कुशध्वजो नाम सीरध्वजानुजस्तत्कन्याभ्याम् । अभ्यर्थये याचे भरताय माण्डवीं श्रुतकीर्त्तिं च शत्रुघ्नाय दातुं भवन्तोऽस्माननुजानन्त्वित्यर्थः । आगमयस्व आनेतुं यतस्व ।

विश्वामित्र—(मुस्कुराकर) सखे सीरध्वज, जैसी तुम्हारी इच्छा ।

शतानन्द—(जनकके कानमें कुछ कहकर) भगवन् ! विश्वामित्र, मैंने ही महादेवके धनुषके आरोपणका समाचार पहले सुनाया है, अतः मेरे लिए आप पारितोषिकके ऋणी हैं ।

विश्वामित्र—(हंसकर) वत्स, देता हूँ, क्या चाहते हो ?

शतानन्द—कुशध्वजकी कन्याओं माण्डवी तथा श्रुतकीर्त्तिके लिए भरत तथा शत्रुघ्नकी प्रार्थना करता हुँ ।

विश्वामित्र—ऐसा ही हो । (शतानन्दका हाथ पकड़कर हंसते हुए) वत्स, सब हमको करना है, ठहरो तो तब तक ।

---

१. 'जनकस्य कर्णे एवमेवमिति' ।

जनकः—तर्हि प्रहीयतामेष एव भगवानाङ्गिरसः प्रियसुहृदमुत्तरकोसलेश्वरमानेतुम् ।

विश्वामित्रः—एवमस्तु ।

शतानन्दः—(उत्थाय ।) भगवन्, किमन्यदधिकमस्ति वाचिकम् ।

विश्वामित्रः—वत्स, निसृष्टार्थोऽसि । गम्यताम् ।

(इति शतानन्दो निष्क्रान्तः ।)

विश्वामित्रः—(हर्षं नाटयन्नात्मगतम् ।)

दोर्लीलादलितेन्दुशेखरधनुर्विख्यातविक्रान्तिना
काकुत्स्थेन कृतो विदेहनृपतिः पूर्णप्रतिज्ञाभरः ।

प्रहीयताम् प्रेष्यताम् प्रियसुहृदम् प्रियमित्रम् उत्तरकोसलेश्वरम् दशरथम् आनेतुम् मिथिलामानेतुम् ॥

वाचिकम् सन्देशवाक् । इह दशरथानयनापेक्षयाऽधिकमपि किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति तत्प्रश्नाशयः ।

निसृष्टार्थः दूतप्रकारविशेषो यः स्वयमप्यूहापोहाभ्यामर्थमनुसन्धत्ते, तादृशोऽसि, अतो यद् वाचिकमाख्यातव्यं तत्त्वया स्वयं विचारणीयमिति भावः, निसृष्टार्थदूतलक्षणमुक्तं यथा साहित्यदर्पणे–'उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् । सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु सः स्मृतः ॥

दोर्लीलेति । दोर्लीलया भुजविलासेन दलितम् आकृष्टम् यत् इन्दुशेखरस्य शिवस्य धनुः तेन विख्याता प्रसिद्धा विक्रान्तिः पराक्रमो यस्य तादृशेन काकुत्स्थेन रामचन्द्रेण विदेहनृपतिः जनकः पूर्णप्रतिज्ञाभरः पूरितपणः कृतः विहितः, स्वबाहुलीलयैव शाम्भवं चापमारोप्य रामो विदेहस्य प्रतिज्ञामपूरयदिति प्रथमपाद-

---

जनक—तो भगवान् आङ्गिरसको प्रियमित्र दशरथको लानेके लिए भेज दें,

विश्वामित्र—एवमस्तु ।

शतानन्द—(उठकर) भगवन्, कुछ और भी सन्देश है ?

विश्वामित्र—वत्स, सब तुम्हे ज्ञात है, जाओ ।

(शतानन्द जाते हैं)

विश्वामित्र—(हर्ष प्रकट करते हुए स्वगत)

भुजपराक्रमसे शिवके धनुषको दलित करके कीर्तिविस्तार करनेवाले रामने विदेह-

पश्यामश्च सुहृद्गृहान्नवनवोन्मीलद्विवाहोत्सवा-
नैक्ष्वाकेषु च मैथिलेषु च फलन्त्यस्माकमद्याशिषः ॥५७॥

शौष्कलः—(वैलक्ष्यरोषाभ्यां स्मयमानः ।) भोः सीरध्वज, पुरुषप्रकर्षाधाने हि [1]विद्यावृद्धसंयोगाद् बहिरङ्गानि वयांसि । यदनया प्रहीणलब्धकन्यया [2]यौनसम्बन्धोपस्थितं पुलस्त्यकुलमुपेक्षमाणो वर्षीयानपि [3]कोमलप्रज्ञोऽसि । (मुनिं प्रति ।) [4]कौशिक, नाद्यापि किंचिदतिक्रामति ।

द्वयार्थः । सुहृद्गृहान् सुहृदो मित्रस्य जनकस्य भवनानि च नवनवोन्मीलद्विवाहोत्सवान् सद्योजायमानपरिणयमङ्गलान् पश्यामः, तदित्थम्—अद्य सम्प्रति ऐक्ष्वाकेषु दशरथादिषु वैदेहेषु च राजसु अस्माकम् आशिषः शुभाशंसाः फलन्ति सफलीभवन्ति दशरथस्य पुत्रवत्ता, तत्पुत्रस्य च प्रख्यातविक्रमता, जनकस्य गृहे प्रतिज्ञापूर्त्तिजन्यं यशो विवाहमङ्गलं चेति सर्वमप्यभीष्टं नः फलितमिति भावः ॥ ५७ ॥

पुरुषप्रकर्षाधाने पुरुषोत्कर्षज्ञाने, विद्यावृद्धसंयोगात् विद्यावृद्धपुरुषसंयोगमपेक्ष्य, बहिरङ्गाणि दुर्बलानि वयोऽपेक्षया विद्यावृद्धत्वमेव प्रबलम्, केवलवृद्धजनापेक्षया विद्यावृद्धोऽल्पवया अपि पुरुषप्रकर्षं ज्ञातुमधिकं शक्नोति इत्यर्थः । त्वं केवलं वृद्धोऽसि, तव विद्या नास्ति, अतएव त्वं रावणस्य प्रकर्षं नावगच्छसि, अतएव प्रार्थ्यमानोऽपि तस्मै स्वां कन्यां नार्पयसीति भावः । प्रहीणलब्धकन्या हलपद्धतौ प्राप्तया कन्यया । यौनसम्बन्धोपस्थितम् विवाहोद्यतम् । उपेक्षमाणः अवमन्यमानः, वर्षीयान् वृद्धोऽपि, कोमलप्रज्ञः अप्रौढमतिः, अनया हि अयोनिजयाऽतएवाल्पममता-

---

नृपतिकी प्रतिज्ञा पूरी कर दी, मित्र जनकके गृहोंमें नवीन-नवीन विवाहोत्सव हो रहे हैं, इस तरह इक्ष्वाकुवंश तथा मैथिलवंशमें हमारे आशीर्वाद आज फलित हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

शौष्कल—(लज्जा तथा रोषसे) अजी सीरध्वज, पुरुषकी श्रेष्ठतामें विद्याकी अपेक्षया वयको बहिरङ्ग माना जाता है, मैं समझता हूँ यौन-सम्बन्धके लिए उपस्थित पुलस्त्यको छोड़कर वृद्ध होनेपर भी तुम कोमलमति ही रहे । (मुनिसे) कौशिक, अभी भी कुछ विगड़ा नहीं है, आपके लिए भी ताड़कावधरूप अपने अपराधको धो देनेका यही अवसर है ।

---

१. 'वृद्धस्व-' ।　　२. 'यौवन-' ।
३. 'प्रतिज्ञोऽसि' ।　　४. 'राजर्षे कौशिक'; 'ऋषे कौशिक' ।

तवापि लङ्कापतौ [1]ताडकावधापराधमपमार्ष्टुमयमेवावसरः। ([2]कौशिकस्तत्रावज्ञां नाटयति ।)

जनकः—भगवन्, एहि । 'स्वयमुपेत्य [3]रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण [4]निर्वापयामि तावदलीकधनुर्धर[5]सहस्रप्रार्थ्यमानमैथिलीकदर्थितमात्मानम् । नहि मिहिरमरीचिनिचयपचेलिमस्य [6]तुहिनकरबिम्बसंवादादपरोऽपि[7] कश्चिदगदंकारः [8]कैरवाकरस्य ।

(इत्युत्थाय परिक्रामतः ।)

स्थानभूतया कन्यया सम्बन्धोद्यतस्य रावणस्य परित्यागस्तव वार्द्धकेऽपि बाल्यं प्रमापयतीति तात्पर्यम् ॥ अतिक्रामति अतिवर्त्तते, नाधुनापि किमपि हीनं, सीतापरिणयस्याजातत्वेन किमपि नातिक्रान्तमिति यावत् । ताडकावधापराधम् ताडकावधस्वरूपं स्वकृतं दोषम् । प्रमार्ष्टुम् क्षालयितुम् । त्वयापि सीतायां रावणाय दाप्यमानायां तेन प्रसन्नो रावणस्तुभ्यं कोपं न करिष्यति, त्वया कृतमपराधं विस्मरिष्यतीत्यर्थः ।

रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण राममुखशशिज्योत्स्नाधारया निर्वापयामि शीतलीकरोमि । अलीकाः मिथ्याभूताः ये धनुर्धराः वीराः तेषां सहस्रेण बहुभिर्मिथ्यावीरैः प्रार्थ्यमाना या मैथिली सीता ततः कदर्थितम् खिन्नम् । बहवो हि मिथ्यावीरत्वाभिमानवन्तो मैथिलीं प्रार्थयमाना मां बहुक्लेशितवन्तस्तदधुना हरचापारोपणपूरितमत्प्रतिज्ञं राममालोक्यात्मनो हृदयं शीतलयामीति भावः । मिहिरस्य सूर्यस्य ये मरीचिनिचयाः किरणसमुदयाः, तैः पचेलिमस्य सन्तप्तस्य कैरवाकरस्य कुमुदसमूहस्य तुहिनकरबिम्बसंवादात् चन्द्रकरसम्पर्कात् । अपरः

(कौशिक उसपर अवज्ञा प्रकट करते हैं)

जनक—भगवन्, आइये, खुद चलकर रामचन्द्रके वदन-चन्द्रकी चन्द्रिकासे मिथ्या धनुर्धरों द्वारा की गई सीताकी प्रार्थनासे खिन्न अपने हृदयको शीतल करूँ। कैरवाकरके लिए सूर्यकिरण-सम्पर्कसे परिपक्व चन्द्र-करके अतिरिक्त दूसरा वैद्य नहीं होता है।

(उठकर जाते हैं)

---

१. 'वधमपि मार्ष्टुम्' । २. 'जनकः—(तत्रावज्ञां नाटयन् ।) भगवन्, एहि' ।
३. 'रामभद्रमुखचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहैः'; 'रामभद्र—प्रवाहे' । ४. 'निर्वापयामः' ।
५. 'सहस्रार्थ्य—' । ६. 'परिचय-' ।
७. 'हिमकर-' । ८. 'कैरवकेदारस्य' ।

शौष्कलः—(सखेदमाकाशे ।) हा तपस्विनि सीते, हतासि । पौलस्त्यप्रार्थितापि विचार्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रियः सपत्नीं जनयतु को भवतीमनात्मतन्त्राम् ।
स्वजनमपि न ते निरूपयामः किमपि विपाट्य भुवं विनिर्गतासि ॥५८॥

(सरोषं जनकं प्रति ।) सीरध्वज,

पौराणीभिरनेकविक्रमकथागाथाभिरर्थापिता-
स्ते वीरस्य जयन्ति राक्षसपतेर्दोःस्तम्भदम्भोलयः ।

अन्यः । अगदङ्कारः चिकित्सकः, क्लेशापहर्त्ता । यथा कैरवकुलस्य सूर्यकरक्लिष्टस्य केवलं चन्द्रकरसम्पर्क एव क्लेशापहो नान्यस्तथैव राजगणकृतसीताप्रार्थनाकदर्थ्यमानस्य मम रामभद्रमुखावलोक एव तापशमनोपाय इति भावः ॥

तपस्विनि वराकिनि, निरपराधे । विचार्यसे दानविधौ इतस्ततश्चिन्त्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रिय इति । कः अनात्मतन्त्राम् पराधीनाम् भवतीम् त्रिभुवनविजयश्रियः भुवनत्रयविजयलक्ष्म्याः सपत्नीं करोतु ? लोकत्रयविजयिना रावणेन विवाह्य त्रिभुवनजयलक्ष्मीसपत्नीं कस्त्वां करोतु यतस्त्वं परतन्त्रासि, आत्मना तथा कर्त्तुमक्षमा भवसि, न वाऽस्ति कश्चन ते स्वजनो यस्तव हितमनुध्यायेत्तदाह—भुवं विपाट्य पृथिवीं भित्त्वा विनिर्गता आविर्भूताऽसि, अतश्च तव कमपि स्वजनम् आत्मीयं जनमपि पित्रादिकं न निरूपयामः पश्यामः । य आत्मना किमपि स्वहितं कर्त्तुमक्षमस्तस्य स्वजने हितसाधनमायत्तं, तस्यापि चाभावेऽवश्यंभाविन्यनेष्टसङ्क्रान्तिरिति शोच्यता तवेति भावः ॥ ५८ ॥

पौराणीभिरिति । पौराणीभिः पुरातनीभिः अनेकाभिः विपुलाभिः विक्रमकथागाथाभिः पराक्रमस्तुतिभिः अर्थापिताः व्याख्याताः राक्षसपतेः रावणस्य ते दोःस्तम्भदम्भोलयः वज्रसमानाः बाहुस्तम्भा जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते, ऐरावणः

शौष्कल—(सखेद आकाशकी ओर) हा सीते, हा, तुम्हारा भाग्य खराब है, जिससे रावण-प्रार्थिता होनेपर विचारका विषय बनी हो ।

कौन आदमी तुमको त्रिभुवन-विजयश्रीकी सपत्नी बनावे ? तुम्हारा कोई आत्मीय जन भी नहीं दीख पड़ता है क्योंकि तुम पृथ्वी फाड़कर बाहर निकली हो ॥ ५८ ॥

(सरोष जनकके प्रति) सीरध्वज,

रावणके बाहुरूप वज्र जिनकी प्रशंसा पुरानी अनेक कथाओं द्वारा की जाती है,

यानुत्प्रेक्ष्य विशोषयन्मदमयं मैरेयमैरावणो
भूपास्रग्भिरभूदमात्यमधुपश्रेणीषु साधारणः ॥ ५९ ॥

तेषु [1]च सत्सु—

वृथा सज्जनसंवन्धसत्कारेणासि वञ्चितः ।
पौलस्त्य[2]हस्तवर्तिन्या सीतया तु भविष्यते । ६० ॥

(साक्षेपं च[3] नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।)

इन्द्रहस्ती यान् दोःस्तम्भदम्भोलीन् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा मदमयं गर्वस्वरूपं मैरेयम् मदवारि विशोषयन् अपनयन् भूपास्रग्भिः अलङ्कारमाल्यैः अमात्यमधुपश्रेणीषु सहचरभ्रमरसमुदयेषु साधारणः अन्यगजसदृशः अभूत् । पुराणवीरताकथा-विख्यातवाहुस्तम्भशाली रावणो जयति यस्य वाहुस्तम्भान् दृष्ट्वा ऐरावतस्य दानवारि शुष्यति, शुष्के च दानवारिणि साधारणगजापेक्षया कोपि विशेषस्तत्र सहचरभ्रमरैर्नोपलभ्यते स्म, सति दानवारिणि प्रवहमाने भूपास्रजि दानवारिणि चोभयत्रालीनां विनोदायैरावतोऽशक्नोत्, परे च गजाः केवलं भूपास्रजि, सम्प्रति रावणभयात् शुष्के दानवारिणि ऐरावतोऽपि साधारणहस्तीव भूपास्रङ्मात्रे भ्रमर-सन्तोषप्रदो जात इति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५९ ॥

तेषु च सत्सु रावणे याचितरि सतीत्यर्थः ।

वृथासज्जनेति । वृथा व्यर्थमेव सज्जनसम्वन्धो रावणरूपोत्तमपात्रेण सह, यौनसम्वन्धस्ततो यः सत्कारः गौरवम् तेन वञ्चितः रहितः असि व्यर्थैव तवेय-मवसरच्युतिरित्यर्थः, नन्वनेन व्यापारेण लङ्कापतेः सीतादौवारिकं सुखमपहृत-मित्येव फलमभिप्रेतं, तत्सिद्ध्यति, तत्राह —पौलस्त्येति । सीतया तु पौलस्त्यहस्त-गामिन्या भवितव्यमेवेति । उभयथापि सीताया रावणहस्तगामित्वे व्यर्थ एव तव सज्जनसम्वन्धत्यागजन्यायशोलाभ इति भावः ॥ ६० ॥

सर्वोत्कृष्ट हैं, जिनकी सम्भावनासे ही ऐरावतके दान-वारि सूख जाते हैं और भ्रमरके लिये वह भूषास्रक्‌मात्र-धारणकर्त्ता साधारण हस्ती रह जाता है ॥ ५९ ॥

उनके रहते ही व्यर्थ ही तुम सज्जन-सम्बन्धलभ्य-गौरवसे वञ्चित हो रहे हो। आखिर सीताका रावणके हाथमें आना होगा ही ॥ ६० ॥

(आक्षेपके साथ नेपथ्यकी ओर देखकर)

---

१. 'च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २. 'वशवर्तिन्या' ।
३. 'च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

समन्तादुत्तालैः सुरसहचरीचामरमरु-
त्तरङ्गैरुत्कीलद्भुजपरिघसौरभ्यशुचिना।
स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता-
मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथाः॥ ६१॥

([1]सविमर्शमात्मगतम्।) अहो गम्भीरमिदं[2]मुपस्थितं वस्तु। तन्मन्त्रिणं माल्यवन्तमेव पुरस्कृत्य लङ्केश्वरस्य निवेदयामि।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति पिनाकभङ्गो नाम तृतीयोऽङ्कः।



समन्तादिति। अरे राम, समन्तात् सर्वासु दिक्षु उत्तालैः प्रवहद्भिः महद्भिः सुरसहचरीणां देवाङ्गनानां चामरमरुताम् व्यजनपवनानाम् तरङ्गैः प्रवाहैः उन्मीलत् प्रसरत् यत् भुजपरिघानाम् बाहुरूपार्गलानाम् सौरभ्यम् सुगन्धः तेन शुचिना सपरिमलेन त्रिभुवनजिता लोकत्रितयविजयिना पौलस्त्येन स्वयं चेतसि कृताम् मनसि धृतां जनकनृपपुत्रीं सीतां त्वं मा उपयथाः परिणैषीः। अरे राम, यां सीतां रावणः परिणेतुमिच्छति, यो हि रावणो वन्दीकृतदेवाङ्गनाचालितचामरवायुविकीर्णसौरभसुरभिर्लोकत्रयविजयी च, तां त्वं मा उपयथाः, तया तव विवाहो न शुभोदर्को घटेतेति भावः। शिखरिणीवृत्तम्॥ ६१॥

गम्भीरम्—अतिमहत्, हरचापभङ्गरूपं, सीताविवाहरूपं वा।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृतायामनर्घराघवस्य 'प्रकाश' व्याख्यायां तृतीयाङ्क-प्रकाशः।



चारों ओर जोरोंसे बहनेवाली देवाङ्गनाधृत चमरवायु जिसके भुजराशिकी सुगन्धिको विस्तारित किया करती है, ऐसे रावणने जिस सीताको अपने हृदयमें बिठा लिया है, अरे राम, तुम उस सीताके साथ ब्याह मत करना॥ ६१॥

(विचारकर स्वगत) यह गम्भीरवस्तु उपस्थित हो गया है, इसलिये मन्त्री माल्यवान्को साथ ले करके रावणसे निवेदन कर दूं॥

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त॥



१. 'सविस्मयमात्मगतम्'। २. 'इदम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति माल्यवान् ।)

माल्यवान्—([1]जृम्भमाणश्चक्षुषी परिमृज्य ।) अये, [2]विभातेव विभावरी । तथाहि ।

स्तोकोन्निद्रनिदाघदीधितिमहस्तन्द्रालुचन्द्रातपा-
[3]स्तायन्ते ककुभो रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिदः ।
अद्यापि स्वकुलायशाखिशिरसि[4] स्थित्वा रुवन्तो मुहु-
स्तूष्णीं प्रत्यभिजानते बलिभुजो भीताः स्वयूथ्यस्वरान् ॥१॥

विभाता प्रातःकालिकं प्रकाशं प्राप्ता समाप्तेत्यर्थः । विभावरी रात्रिः ।

स्तोकोन्निद्रेति । स्तोकोन्निद्रम् ईषद्विकस्वरं यत् निदाघदीधितिमहः सूर्यतेजः तेन तन्द्रालवः निष्प्रभत्वं गताः चन्द्रातपाः चन्द्रकिरणा यासु तथोक्ताः, रथाङ्गगृहिणीनां चक्रवाकवधूनां गार्हस्थ्ये गृहस्थधर्मे संसारे या गर्हा रात्रिविरहजनिता दुरवस्था तद्भिदः तदपनोदिकाः ककुभो दिशः तायन्ते विस्तृताः भवन्ति । किञ्चिद्विकासिसूर्यप्रभानिष्प्रभीभूतचन्द्रकराः सति सूर्यप्रकाशे चक्रवाकीविरहव्यथापनोदिकाश्च दिशः क्रमशः प्रकाशमासादयन्ति । अद्यापि सम्प्रत्यपि बलिभुजः काकाः स्वकुलायशाखिशिरसि निजावासनीडाश्रयतरुशिखरदेशे स्थित्वा मुहुः पुनः पुना रुवन्तः शब्दायमानाः पुनश्च भीताः अतश्च तूष्णीम् मूकीभूय स्वयूथ्यस्वरान् स्ववर्गीयशब्दान् प्रत्यभिजानते परिचिन्वन्ति । 'रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिदः' इत्यस्यायमाशयः—रात्रावेकत्रस्थितयोरपि चक्रवाकमिथुनयोः सङ्गमा-

---

(माल्यवान्का प्रवेश)

माल्यवान्—(जंभाई लेता हुआ आँखें मलकर) अरे, रात समाप्त हो गई, क्योंकि—थोड़ा-थोड़ा प्रकट होनेवाले सूर्यके तेजसे दिशाओंमें चन्द्रमाकी किरणें अस्तोन्मुख हो रही हैं, और चक्रवाकियोंके हृदयसे गृहस्थधर्मके प्रति उत्पन्न निन्दा समाप्त होती जा रही है, अभी भी अपने नीडद्रुमके शिखरपर बैठकर काकगण शब्द करते हुए अपने साथियोंके स्वरोंको डर-डरकर पहचान रहे हैं ॥१॥

---

१. 'विजृम्भ—प्रमृज्य' । २. 'विभातप्रायैव विभावरीयम्' ।
३. 'स्त्यायन्ते' । ४. 'शिखरे' ।

अपि च—

प्राचीं वासकसज्जिकामुपगते भानौ दिशां वल्लभे
पश्यैता रुचयः पतङ्गदृषदामाग्नेयनाडिन्धमाः ।
लोकस्य क्षणदानिरङ्कुशरसौ संभोगनिद्रागमौ
[1]कोकस्तोमकुमुद्वतीविपिनयोर्निक्षेपमातन्वते ॥ २ ॥

(सर्वतो [2]निरूप्य ।) हन्त [3]समन्तादामोदमानपौरसंभोगमयी खल्वियं दशग्रीव[4]भुजार्गलापरिपालिता राजधानी ।

भावाद् व्यर्थोऽयं संसारः, कृतं गार्हस्थ्येनेत्यादिरूपा या मतिरुदेति सैव गर्हा, तां च दिशो दूरीकुर्वन्ति, उदिते सूर्ये तयोरेवान्योन्यसंगतयोः सतोस्तत्रैव संसारे साफल्यबुद्धिजननादिति । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः', 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्', 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' इति सर्वत्रामरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

प्राचीमिति । दिशां वल्लभे पत्यौ भानौ वासकसज्जिकाम् 'कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि । सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा' इति लक्षणलक्षितां नायिकाम् उपगते प्राप्ते सति पतङ्गसुहृदां सूर्यकान्तानाम् आग्नेयनाडिन्धमाः आग्नेयनाडीप्रज्वालिकाः (यत्सम्पर्केण सूर्यकान्ताः प्रज्वलन्ति ते तन्नाडिन्धमत्वेनात्रोक्ताः) एताः रुचयः सूर्यमयूखाः लोकस्य क्षणदायां रात्रौ निरङ्कुशरसौ अबाधभावेनास्वाद्यमानौ सम्भोगनिद्रागमौ रमणस्वापौ कोकानां चक्रवाकाणां स्तोमः समूहः कुमुद्वतीविपिनं कुमुदवनं च तयोः निक्षेपं न्यासम् आतन्वते कुर्वन्ते, एताः प्राभातिक्यो रुचयस्सूर्यकान्तमणिं दीपयन्त्य एव लोकानां निशि निरर्गलरसौ सम्भोगस्वापौ चक्रवाककुमुदयोर्न्यस्यतः, लोकाश्च सम्भोगं जहति स चक्रवाके, यं च स्वापं जहति स कुमुदेषु सङ्क्रामतीति तात्पर्यम् । पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ २ ॥

दिशाओंके वल्लभ सूर्य देवके प्राचीदिशा रूप वासकसज्जा नायिकाके पास पहुँच जानेपर उनकी वह किरणें–जो सूर्यकान्तमणिकी आग्नेय नाड़ीको दीपित करती हैं—रात्रिमें सम्भावित संभोग तथा निद्रारसको कोकसमुदाय तथा कुमुद्वतीवनमें निक्षेपके रूपमें रख रही हैं ॥ २ ॥

(चारो ओर देखकर) अहा, चारो ओर प्रसन्न पुरवासिगणके सम्भोगसे पूर्ण हो रही है यह दशकण्ठभुजपालिता राजधानी ।

---

१. 'कोकद्वन्द्व–' । २. 'निरूप्य सहर्षम्' ।
३. 'मोदमान' । ४. 'भुजार्गलपालिता' ।

इतः पौरस्त्यायां ककुभि विवृणोति क्रमदल-
त्तमिस्रामर्माणं किरणकलिकामम्बरमणिः ।
इतो निष्क्रामन्ती नवरतिगुरोः प्रोञ्छति वधूः
स्वकस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिकामुद्रितमुरः ॥ ३ ॥

[1]अपि च—

अयं मृदुमृणालिनीवनविलासवैहासिक-
स्त्विषां वितपते पतिः सपदि दृश्यमाना निजाः ।
स्तनौ पुलकयन्ति चोत्पलदृशां प्रियोरःस्थले

समन्ततः सर्वतः, आमोदमानानां हृष्यतां पौराणां सम्भोगमयी तत्प्रचुरा दशग्रीवस्य भुजा एवार्गलाः परिवास्तैः पालिता, रावणरचितेऽत्र नगरे पौराः सर्वतः सम्भोगभाजोऽप्यामोदमानाश्च सन्तीति भावः ।

इत इति । इतः अस्यां पौरस्त्यायां प्राच्यां ककुभि दिशि अम्बरमणिः क्रमेण पर्यायेण दलत् विदीर्यमाणं तमिस्रायाः रजन्याः मर्म यया तां तथाभूतां किरण-कलिकां मयूखाङ्कुरं विवृणोति प्रकाशयति, इतः अस्यां च दिशि नगर्यां वा वधूः नायिका नवरतिगुरोः नूतनसुरताचार्यस्य नायकस्य स्वकस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिका-मुद्रितम् स्ववक्षःस्थलास्थितमृगमदरचितपत्राङ्कुरकृतमकराकृत्या मुद्रितम् उरः हृदयं प्रोञ्छति नायकस्य गुर्वादिसमीपे सम्भोगचिह्नप्रकटनद्वारा लज्जा मा जनीति नायिका स्ववक्षःस्थलस्थितमृगमदरचितमकराकृतिचिह्नं तत्कृतगाढालिङ्गनसमये तदुरसि लग्नं प्रभाते प्रमार्जयतीति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३ ॥

अयमिति । मृदु कोमलं यत् मृणालीवनं कमलिनीकाननं तस्य विलासे विकासे वैहासिको विदूषकस्वरूपः ('वैहासिकः केलिकरः प्रहासी च विदूषकः' इत्यमरः) कमलवनविकासकः कमलवनविलासी च, सूर्यः त्विषांपतिः वितपते प्रकाशते । सपदि सम्प्रति च उत्पलदृशां कमलसमाननयनानां प्रियोरःस्थले प्रियवक्षसि

इधर पूर्व दिशामें क्रमसे अन्धकारके मर्मको विदलित करनेवाली अपनी किरणको सूर्य फैला रहा है, और इधर नवरतिगुरु प्रियतमके उरोदेशपर लगे अपने स्तनस्थित कस्तूरीपत्रसे संक्रान्त श्यामिकाको रहस्य-भेदनके भयसे युवती पोंछ रही है ॥ ३ ॥

कोमल-मृणालिनीवनके विकासमें विदूषकके कार्य करने सूर्य अपनी किरणें फैला

---

१. 'अपि च' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

विपर्ययितवृत्तयो घुसृणपङ्कपत्त्राङ्कुराः ॥ ४ ॥

इतश्च—

प्रियवसतेरपयान्त्यो मिथः करम्बितकराम्बुजन्मानः ।
करजव्रणविरलस्तनपुलकममूः किमपि विवदन्ते ॥ ५ ॥

(अन्यतश्च दृष्ट्वा ।) [1]इतो रम्यतरं वर्तते ।

प्रभाते पृच्छन्तीरनुरहसवृत्तं सहचरी-
र्नवोढा न व्रीडामुकुलितमुखीयं सुखयति ।

विपर्ययितवृत्तयः विपरीतभावेनास्थिताः (वामस्तनस्थाः दक्षिणस्तनभागे दक्षिणस्तनस्था वामस्तनभागे दृश्यन्ते पुरुषायिते गाढालिङ्गने च तथा सम्भवात्) निजाः स्वीयाः घुसृणपङ्कपत्राङ्कुराः कुङ्कुमद्रवविरचितपत्रावलयः स्तनौ पुलकयन्ति सम्भोगस्मरणेन रोमाञ्चितौ कुर्वन्ति । इतः कमलिनीवनविलासी सूर्य उत्तपते इतश्च प्रियगृहान्निर्गतानां वधूनां विपर्ययितवृत्तयः पत्रावलयः सम्भोगस्मरणजननद्वारा स्तनयो रोमाञ्चं सृजन्तीति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४ ॥

प्रियवसतेरिति । प्रियवसतेः कान्तगृहात् अपयान्त्यो वहिर्गच्छन्त्यः अमूः वारस्त्रियः करम्बितानि परस्परावलम्बितानि कराम्बुजन्मानि करकमलानि यासां तथाभूताः सत्यः परस्परधृतकरा इति भावः, करजव्रणैः नखक्षतैः विरलं स्वल्पदृश्यं पुलकं रोमाञ्चो यत्र तद्यथा स्यात्तथा किमपि परस्परं विवदन्ते काचिद् वदति पश्य स्वस्तनयोर्बहुलीभवन्नखक्षतं येन सम्भोगस्मरणजन्मा रोमाञ्चोऽपि गोपाय्यते, अन्या च नैवं मम तवैव तथेति वदन्ती तद्रूपलपतीति परस्परं कलहायन्ते वारवनिता इत्यहो सम्भोगमयता रावणराजधान्या इत्यर्थः । सामान्यनायिकावर्णनमिदम् । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ५ ॥

प्रभात इति । इयं नवोढा नवपरिणीता वधूर्नायिका व्रीडया लज्जया मुकुलितमुखी नमितवदना सती अनुरहसवृत्तम् नायकेन सह कृतं निधुवनविलाससमाचारी-

---

रहे हैं, और इधर युवतियाँ अपने प्रियतमोंके उरोदेशोंमें संलग्न अपने स्तनस्थित कस्तूरी पत्रोंको देखकर पुलकित हो रही हैं ॥ ४ ॥

प्रियतमके आवाससे जाती हुई परस्परालम्बित-हस्त ये ललनायें नखक्षत चिह्नोंसे व्याप्त स्तन-रोमाञ्चपूर्वक कुछ वादविवाद करती जा रही हैं ॥ ५ ॥

(दूसरी ओर देखकर) इधर और सुन्दर है—

---

१. 'इतः' इत्यादि पुस्तकान्तरे नास्ति ।

लिखन्तीनां पत्राङ्कुरमनिशमस्यास्तु कुचयो-
श्चमत्कारो गूढं करजपदमासां कथयति ॥ ६ ॥

(मुहूर्तमनुध्याय ।) अहो यतःप्रभृति वैदेहीवरणाय प्रहितेन पुरोधसा कथ्यमानं ककुत्स्थकुलकुमारस्य [1]मानुष्यकातिशयमश्रृणवम् , ततःप्रभृति कष्टां दशामनुभवामि । तथाहि ।

तत्तादृशं कथमुदेति मनुष्यलोके
तेजोऽद्भुतं निरभिसन्धि न तावदेतत् ।

कृत्य रहस्यवृत्तान्तं पृच्छन्तीः जिज्ञासमानाः सहचरीः स्वाः सखीः न सुखयति मुखतः स्वरहस्यमाख्याय नानन्दयति, तु किन्तु अस्याः वध्वाः कुचयोः स्तनयोः चमत्कारः विचित्रता अनिशं सर्वदा पत्राङ्कुरं पत्रावलीं लिखन्तीनां विन्यासपूर्वकं विरचयन्तीनाम् आसां सहचरीणाम् गूढं तिरोहितं करजपदं नखक्षतं कथयति प्रकटीकरोति । लज्जावशान्मुखतोऽनिवेद्यमानेऽपि रहोवृत्ते स्तनयोः पत्रावलीविरचनकाले तत्र वैचित्र्यदर्शनात्सहचर्यस्तासां नववधूनां गूढं नखक्षतमनुमिमत इत्याशयः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६ ॥

वैदेहीवरणाय जनकं सीतां याचितुम् । प्रहितेन प्रेषितेन । पुरोधसा शौष्कल-नाम्ना स्वपुरोहितेन । ककुत्स्थकुलकुमारस्य ककुत्स्थवंशबालकस्य रामस्य । मानुष्यकातिशयम् असानुषचरितप्रकर्षम् । कष्टाम् कष्टप्रदाम् । रामस्यालौकिकं वृत्तं श्रुत्वा व्यथामनुभवामीति भावः ॥

तत्तादृशमिति । मनुष्यलोके मर्त्यभुवने तत्तादृशम् अत्याश्चर्यकरम् तेजः रामाभिधानं ज्योतिः कथम् उदेति केन प्रकारेण जन्म लभते ? एतत् तावत् रामसदृशस्य तेजसो मर्त्यलोकेऽवतरणं निरभिसन्धिगूढाभिप्रायशून्यं न, अवश्यमेव

प्रातःकालमें सखियाँ रहस्यवृत्तान्त पूछती हैं परन्तु नवोढ़ा कुछ बताती नहीं है केवल लज्जासे मुख झुका लेती है, परन्तु जब सखियाँ उनके स्तनोंपर पत्रावली लिखने बैठती हैं तब नखक्षतोंको देखकर उनका सारा रहस्य समझ जाती हैं ॥ ६ ॥

(थोड़ी देर सोचकर) जबसे मैंने वैदेहीकी मंगनीके लिए भेजे गये पुरोहितके मुखसे ककुत्स्थकुल-कुमारका मानुष्यकातिशायी वृत्तान्त सुना है तबसे मेरी बुरी दशा हो रही है, क्योंकि—

मनुष्य-लोकमें इस प्रकारका अद्भुत तेज क्यों उत्पन्न हो गया है ? यह विना

---

१. 'मनुष्याति–' ।

तान्येव चास्य चरितानि दशाननस्य
धिक्चिन्तया रजनिरक्षिपु नः [1]प्रभाति ॥ ७ ॥

अपि च—

श्रुत्वा दुःश्रवमद्भुतं च मिथिलावृत्तान्तमन्तःपत-
च्चिन्तापह्नवसावहित्थवदनत्वग्विप्रकीर्णस्मितः ।
[2]हेलाकृष्टसुरावरोधरमणीसीमन्तसंतानक-
स्रग्वासोज्ज्वलपाणिरप्यवति मां वत्सो न लङ्केश्वरः ॥८॥

रामसमानस्य तेजस्विनो मर्त्यलोकेऽवतारः कमपि गूढमभिसन्धिं कुर्वौ करोतीति भावः। (जातेऽपि दुरभिसन्धिपूर्णे रामे) दशाननस्य तान्येव पूर्वाविपरीतानि चरितानि व्यापाराः, देवैर्दुरभिसन्धिना रामे भुवं प्रहितेऽपि रावणो न चेतयते, धिक्, इदं रावणस्य मूर्खत्वं धिक्, इति चिन्तया एतद्गतया चिन्तया नः अस्माकम् अक्षिषु रजनिः प्रभाति वयं जागरेणैव निखिलां निशां यापयामः, रात्रौ निद्रां न लभामहे इत्यर्थः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७ ॥

श्रुत्वेति दुःश्रवम् श्रोतुमनर्हम् अद्भुतम् आश्चर्यजनकं च मिथिलावृत्तान्तं विदेहनगरीसमाचारं रामकर्तृकशिवधनुर्भङ्गजनककर्तृकरावणप्रार्थनाप्रत्याख्यानादिरूपं श्रुत्वा आकर्ण्य अन्तःपतन्ती मनसि समुद्भवन्ती या चिन्ता तस्याः अपह्नवेन बलान्निगूहनेन सावहित्थानि आकारगोपनचिह्नशालीनि यानि वदनानि दशापि रावणमुखानि तेषां त्वचि चर्मण्युपरितने भागे विकीर्णं विस्तृतं स्मितं हसितं यस्य तथाभूतः रावणो नाम वत्सो लङ्केश्वरः हेलया अनायासेन आकृष्टानां हृतानां सुरावरोधरमणीनां देवाङ्गनानां सीमन्तेषु केशपाशेषु याः सन्तानकस्रजो देवतरुपुष्पमालाः तासां वासेन सौरभेण उज्ज्वलः सुरभीकृतः पाणिर्यस्य तथाभूतः सन्नपि माम् न अवति न प्रीणयति। मिथिलावृत्तान्तश्रवणजन्यचिन्तागोपनप्रयासकृतशुष्कहसितपूर्णमुखो भूत्वा रावणो यद्बन्दीभूतसुराङ्गनाकचपाशाकर्षणात्तत्सीमन्तस्थितदेवपुष्पस्रक्सुगन्धेन स्वपाणीन् सुरभीकरोति, तदीयेन तेनाकारगोपन-

किसी गूढ़ रहस्यके हो नहीं सकता है। इधर दशाननके वही पुराने चरित हैं ? इसी चिन्ताके कारण मैं रातभर जगकर सवेरा करता हूं ॥ ७ ॥

दुःश्रव तथा अद्भुत मिथिला-वृत्तान्तको सुनकर हृदयमें पैदा होनेवाली चिन्तासे आकार-गोपनपूर्वक वदनपर जिसके हास बिखर रहे हैं, अनायास आकृष्ट देववाला रूप वन्दिनियोंके शिरोमाल्योंसे जिसके हाथ प्रकाशित हो रहे हैं ऐसा होकर भी रावण मुझे आज आनन्दित नहीं कर रहा है ॥ ८ ॥

१. 'प्रयाति'। २. 'सुरावरोधनवधू–'; 'सुराधिराजरमणी–'।

(विमृश्य आकाशे ।) अहह, दारुणोयमस्माकं चिरजीविता ।

प्रीते विधातरि पुरा परिभूय मर्त्या-
न्वव्रेऽन्यतो यदभयं स भवानहंयुः ।
तन्मर्मणि स्पृशति मामतिमात्रमद्य
हा वत्स शान्तमथवा दशकन्धरोऽसि ॥ ९ ॥

(सविमर्शम् ।) अहो मैथिलस्य नृपतेरकार्यज्ञता ।

विश्वामित्रवशीकृते हृदि वयं मा भूम सम्बन्धिन-
स्ते दृष्टा न कथं पुराणमुनयो मान्याः पुलस्त्यादयः ।

व्यापारेणापि मम न सन्तोषः, चिन्ताबीजस्य तावताऽनपनीतत्वादिति भावः । 'अवहित्थाऽऽकारगुप्तिः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

दारुणा क्लेशजननी । चिरजीविता दीर्घायुष्ट्वम् । यद्यहं न चिरजीव्यभविष्यं तदा प्राङ्मृतत्वादिमां दशां नाद्रक्ष्यम्, तद्धिङ्मम चिरजीवित्वमित्यर्थः ।

प्रीत इति । स भवान् अहंयुः अहङ्कारवान् भूत्वा पुरा विधातरि ब्रह्मणि प्रीते तपसा तोषिते सति मर्त्यान् परिभूय मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखो भूत्वा अन्यतः मनुष्यातिरिक्तेभ्यः यत् अभयं निर्भयभावं वव्रे वृतवान्, तत् तव मानवाननादृत्य देवेभ्योऽभयवरणम् अद्य सम्प्रति माम् अतिमात्रम् अत्यन्तं मर्मणि स्पृशति हृदये व्यथयति, अथवा शान्तं प्रतिहतममङ्गलमस्तु, दशकन्धरोऽसि तव दशकन्धरतया नास्ति भयमित्यर्थः । ब्रह्माणं पुरा तपसा प्रसाद्य यद्भवान् दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखो याचितवान्, तदधुना मां स्मर्यमाणं सद् व्यथयति, यदि प्रागेव मनुष्यादप्यभयं ब्रह्मणो याचितमभविष्यत्तदा सम्प्रति भयं नाभविष्यदिति कष्टं भवति । अथवाऽलमनया चिन्तया, त्वं दशकन्धरो रामेणैककन्धरेण कथंकारं जितः स्यास्तदनवसरचिन्तयाऽनयाऽलमिति तात्पर्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रेण वशीकृते स्ववशंनीते हृदि वयं सम्बन्धिनः सम्बन्धयोग्याः मा भूम न स्याम नाम, ते प्रसिद्धाः मान्याः आदरपात्राणि पुराणमुनयः प्राचीनर्षयः पुलस्त्यादयो रावणपूर्वपुरुषाः कथं न दृष्टाः किमिति न गणिताः, विश्वा-

---

(विचार करके आकाशकी ओर) अहह ! हमारी यह चिरजीविता बड़ी दारुण है,

ब्रह्माके प्रसन्न होनेपर मर्त्योंके प्रति आस्था नहीं रखनेवाले उस अहङ्कारी रावणने जो मर्त्येतर जनसे अभय याचनाकी वह बात आज हमारे हृदयमें चुभ रही है, अथवा जाने दो इस बातको, तुम रावण हो ॥ ९ ॥

(विचार करके) मैथिलराजकी अकार्यज्ञता तो देखिए—

विश्वामित्रने उनके हृदयको वशमें कर लिया है अतः वह हमें सम्बन्धके योग्य

जामातापि महेन्द्रमौलिवलभीपर्यङ्करत्नाङ्कुर-
ज्योत्स्नापुष्टनखेन्दुदीधितिरयं [1]नापेक्षितो रावणः ॥ १० ॥

(पुरोऽवलोक्य ।) कथं मिथिलाचरितानि चरितुमनुप्रहिता चिरयति [2]वत्सा शूर्पणखा ।

(प्रविश्य शूर्पणखा ।)

शूर्पणखा—(सहर्षम् ।) अम्महे, सोम्मसुन्दरविआहणेवच्छलच्छीविच्छरिदकान्तिपब्भाराइं रहुउलकुमाराणं मुहपुण्डरीआइं पेक्ख-

मित्राधीने हृदि यद्यस्माकं विषये सम्बन्धार्हताज्ञानं न जातं न जायतान्नाम, परन्तु विश्वामित्रापेक्षयाऽप्यधिकतपःशालिनः पुलस्त्यादयो रावणपूर्वपुरुषाः किमिति न मनसि विभाविता इत्याद्यपादद्वयस्यार्थः। महेन्द्रस्य शक्रस्य मौलिः शिरः एव वलभी प्रासादोपरितनगृहम् तत्र ये रत्नाङ्कुराः मणिप्ररोहाः तेषां ज्योत्स्नाभिः किरणैः पुष्टाः वृद्धिं नीताः नखेन्दूनां नखरूपचन्द्राणां दीधितिः कान्तिर्यस्य तथाभूतः शक्रशिरसि पादं न्यस्य तत्रत्यरत्नप्रभासमेधितनखमयूखो रावणः अपि जामाता न अपेक्षितः जामातृभावेन न वरीतुमभिलषितः, आश्चर्यमिदम् , यज्जनक एतावदपि ज्ञानं न रक्षतीति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

मिथिलाचरितानि मिथिलावृत्तान्तान् । चरितुम् चरभावेन ज्ञातुम् । प्रहिता प्रेषिता। चिरयति विलम्बं करोति ।

अम्महे आश्चर्यव्यञ्जकमव्ययम् । सौम्यम् अनुद्धतं सुन्दरं रमणीयं च यद् विवाहनेपथ्यम् वैवाहिको वेषः तस्य लक्ष्म्या शोभया विच्छर्दितः समेधितः कान्तिप्राग्भारः शोभातिशयो येषां तथोक्तानि। रघुकुलकुमाराणाम् रघुवंशोत्प-

भले न समझें, परन्तु पुराणमुनि पुलस्त्य आदिको उन्होंने क्यों नहीं देखा ? इन्द्रके मस्तकरूप पर्यङ्कपर वर्तमान रत्नकी किरणोंसे जिसके नखचन्द्रकी द्युति समृद्ध हुआ करती है उस रावणरूप जामाताकी भी अपेक्षा न की ॥ १० ॥

(आगे देखकर) मिथिलाके वृत्तान्तको जाननेके लिए भेजी गई शूर्पणखा क्यों देर कर रही है ?

(शूर्पणखाका प्रवेश)

शूर्पणखा—(सहर्ष) मैंने यद्यपि कपटसे यह मानुषरूप धारण किया है जो मेरे लिए घृणित है, फिर भी इससे मुझे यह बड़ा लाभ हुआ है कि सुन्दर विवाह-वेषसे

१. 'नावेक्षितः'। २, 'वत्सा' मे ।

न्ती जुउच्छिदेणावि माआमाणुसीभावेण कदत्थीकिदह्मि । अम्मो, सा तारिसी गुणाणं पकिदी जा विपक्खहत्थपडिदावि सुहावेदि । [अम्महे, सौम्यसुन्दरविवाहनेपथ्यलक्ष्मीविच्छर्दितकान्तिप्राग्भाराणि रघुकुलकुमाराणां मुखपुण्डरीकाणि प्रेक्षमाणा जुगुप्सितेनापि मायामानुषीभावेन कृतार्थीकृतास्मि । अहो सा तादृशी गुणानां प्रकृतिर्या विपक्षहस्तपतितापि सुखयति ।]

माल्यवान्—(दृष्ट्वा सस्नेहम् ।) कथं वत्सा मे शूर्पणखा । वत्से, अयमहम् । इत इतो भवती ।

शूर्पणखा—कधं इह ज्जेव्व अट्टालअसिहरपग्गीवे मादामहो ! अहो दुसिलिट्ठता दद्धकज्जाणम् । जं दाणिं पजागरकिलिअन्तलोअणो

न्नानाम् बालकानां रामादीनाम् । मुखपुण्डरीकाणि वदनकमलानि । प्रेक्षमाणा पश्यन्ती । जुगुप्सितेन निन्दनीयेन मायामानुषीभावेन कपटवनिताभावेन । कृतार्थीकृतास्मि धन्यतां प्रापितास्मि । यद्यपि अस्माकं राक्षसीनां दृष्टौ मानुष्यकमतिघृणितं तथापि यद्यहं मानुषं रूपं नाग्रहीष्यं तदा कथं तादृशं रघुकुमाराणां सुन्दरं वैवाहिकं वेषमालोक्यात्मानमकृतार्थयिष्यमिति धन्यो मम मायामानुषीरूपपरिग्रह इत्यर्थः । तादृशी गुणानां प्रकृतिः एतादृशो गुणानां स्वभावो (यत्) विपक्षहस्तपतिता शत्रुषु स्थिता । गुणानामयं स्वभावो यत्ते शत्रुषु स्थिता अपि दर्शकानामानन्दमेव जनयन्तीत्यर्थः ।

अयमहम् अहमत्र देशेऽस्मि । इत इतो भवती त्वमत्रागच्छेत्यर्थः ।

अट्टालकशिखरप्रग्रीवे धनधारणस्थानशिखरे । मातामहो माल्यवान् । दुःश्लिष्टता कष्टप्रदता दग्धकार्याणाम् निन्दितानामेषां कार्याणाम् । प्रजागरक्लान्तलोचनः चिरजागरणवशात्क्लिष्टनयनः । प्रतिक्षणं सततं जृम्भया मुखव्यादानेन प्रसारितं व्यात्तं यन्मुखं कुहरं गह्वरः तत्र दृष्टः हृदयस्थितः कार्यभारो यस्य तादृशः

वर्धित कान्ति-समुदायधारी इन रघुकुमारमुख-पुण्डरीकोंके दर्शनोंसे मैं धन्य हो गई, गुणोंका यह स्वभाव होता है कि वह शत्रुनिष्ठ होकर भी सुखप्रद होते हैं ।

माल्यवान्—(देखकर सस्नेह) क्यों मेरी वत्सा शूर्पणखा, वत्से, मैं यह हूं, तुम इधर आओ ।

शूर्पणखा—क्यों इसी अट्टालिकाके शिखरपर मातामह उपस्थित हैं ?

इन अभागे कार्योंकी बुरी स्थिति होती है, जिससे सदा जागते रहनेके कारण इनकी

पढिक्खणजिम्भिआपसारिदमुहकुहरदिट्ठहिअअट्ठिदकठिणकज्जभारो अण्णो विअ को वि दीसदि। अहवा सामण्णो वि गुरुओ मन्तिभावो विसेसेण साहसेक्करसव्ववसाअस्स चण्डचरिदस्स अह्मसामिणो रावणस्स। जाणामि मं जेव्व पडिपालअन्तो चिट्ठदि। जाव णं उवसप्पामि। (सविषादमुपसृत्य।) अज्ज, वन्दे। [कथमिहैवाट्टालकशिखरग्रीवे मातामहः। अहो दुःश्लिष्टता दग्धकार्याणाम्। यदिदानीं प्रजागरक्लान्तलोचनः प्रतिक्षणजृम्भाप्रसारितमुखकुहरदृष्टहृदयस्थितकठिनकार्यभारोऽन्य इव कोऽपि दृश्यते। अथवा सामान्योऽपि गुरुको मन्त्रिभावो विशेषेण साहसैकरसव्यवसायस्य चण्डचरितस्यास्माकं स्वामिनो रावणस्य। जानामि मामेव प्रतिपालयंस्तिष्ठति। यावदेनमुपसर्पामि। आर्य, वन्दे।]

माल्यवान्—[1]वत्से, कल्याणिनी भूयाः। इहास्यताम्। अपि भरतशत्रुघ्नाभ्यां [2]मिथिलामुपस्थितो दशरथः।

शूर्पणखा—(उपविश्य।) अज्ज, दसरहे आअदे कुमाराणं गोदा-

चिरजागरजनिताभिरनवरतं प्रवर्त्तमानाभिर्जृम्भाभिर्मुखकुहरे व्यादीयमाने सति तत्र काले तद्हृदयस्थितस्य महतः कार्यभारस्य प्रत्यक्षं भवतीति। अन्य इवायं माल्यवान् प्रतीयते। गुरुकः महान्। साहसैकव्यवसायस्य सततं साहसेन व्याप्रियमाणस्य। चण्डचरितस्य कोपनस्वभावस्य। प्रतिपालयन् प्रतीक्षमाणः॥

कल्याणिनी कुशलिनी। भरतशत्रुघ्नाभ्याम् इत्यत्र सहेति शेषः।

कुमाराणाम् रामादीनाम्। गोदानमङ्गले विवाहात्पूर्वसम्पाद्ये धार्मिककृत्य-

---

आँखें क्लान्त हो रही हैं, प्रतिक्षण जंभाई लेते रहनेसे फैलाये गये मुखके मार्गसे हृदयगत कार्योंके बाहुल्यके दर्शन होते हैं, इस तरह यह मातामह दूसरे ही प्रतीत होते हैं, अथवा—सामान्य मन्त्री होना ही महागौरवपूर्ण कार्य है, विशेषतः सततसाहसकर्त्ता तथा प्रचण्डचरित रावणका मन्त्री होना। मालूम पड़ता है—वह मेरीही प्रतीक्षामें बैठे हुए हैं। जब तक उनके पास चलूँ। (सखेद समीप जाकर) आर्य, प्रणाम करती हूँ।

माल्यवान्—वत्से, तुम्हारा कल्याण हो। इधर बैठो। क्या भरत तथा शत्रुघ्नके साथ दशरथ मिथिला पहुँच गये?

शूर्पणखा—(बैठकर) दशरथके आ जाने और कुमारोंके गोदानमङ्गलके हो

---

१. 'कल्याणिनि, इहास्यताम्'। २. 'सह वैदेहमुपस्थितः'; 'शत्रुघ्नाभ्यामुपस्थितः'।

णमङ्गले अ संवुत्ते दाव मए पत्तं मिहिलाणअरम्। [आर्य, दशरथे आगते कुमाराणां गोदानमङ्गले च संवृत्ते तावन्मया प्राप्तं मिथिला नगरम्।]

माल्यवान्—(निःश्वस्य।) [1]अतिप्रकाशोऽयमर्थो यथा निवृत्तस्वीकरणा जानकीति।

शूर्पणखा—अध इं। [अथ किम्।]

माल्यवान्—(विमृश्य।) अहो दुरात्मनः क्षत्रियब्राह्मणस्य कुशिकजन्मनो दुर्नाटकम्।

यज्ञोपप्लवशान्तये परिणतो राजा सुतं याचित-
स्तं चानीय विनीय चायुधविधौ ते जघ्निरे राक्षसाः।
त्रैयक्षं विदलय्य कार्मुकमथ स्वीकार्य सीतामितो

विशेषे, क्षत्रियाणामयमाचारो यत्ते विवाहात्पूर्वं पुत्रस्य गोदानमङ्गलं सम्पादयन्ति, तथा च कालिदासः 'अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरुः' इति प्राप्तं गतम्, मद्गमनात् पूर्वमेव दशरथस्तत्र गत इत्याशयः॥

अतिप्रकाशः ख्यातः। निवृत्तस्वीकरणा सञ्जातविवाहा। 'उपाद्यमः स्वीकरणे' इति पाणिनिः, तत्रोपयमनं विवाह इति भट्टोजिदीक्षितः।

दुरात्मनः दुष्टस्य। क्षत्रियब्राह्मणस्य जन्मतः क्षत्रियस्यापि तपसा ब्राह्मणत्वमभिमन्यमानस्य। कुशिकजन्मनः कुशिकात्मजस्य विश्वामित्रस्य। दुर्नाटकम् दुश्चेष्टा।

यज्ञोपप्लवेति। यज्ञोपप्लवशान्तये मखविघ्नोपशमनाय परिणतः वृद्धो राजा-दशरथः सुतं रामं नाम पुत्रं याचितः, तं पुत्रं राममानीय तपोवनं प्रापय्य आयुधविधौ शस्त्रप्रयोगे विनीय शिक्षयित्वा च ते प्रसिद्धाः ताडकासुबाहुप्रभृतयो राक्षसाः जघ्निरे निहताः, अथ एतदनन्तरं त्र्यक्षस्य त्रिलोचनस्येदं त्रैयक्षं शैवं धनु-

---

जानेपर ही मैं मिथिला पहुंची।

माल्यवान्-(साँस लेकर) अब यह बात अतिप्रकट है कि सीताका विवाह हो गया।

शूर्पणखा--और क्या?

माल्यवान्--(विचारकर) अहा, दुरात्मा तथा क्षत्रिय-ब्राह्मण विश्वामित्र का दुर्नाटक तो देखो।

यज्ञविघ्नशमनके लिए राजासे उनके पुत्रकी याचना की, लाकर उन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा देकर उनके द्वारा हमारे वीर राक्षसोंका वध करवाया। शिवके धनुषको तुड़वाकर सीताका

---

१. 'प्रतिपदप्रकाशः'।

नो विद्मः कुहनाविटेन वटुना किं तेन कारिष्यते ॥ ११ ॥

शूर्पणखा—अज्ज, एव्वं णेदम्। सो मए तत्थ बह्मणो वसिट्ठमहेसिणो वि फुरन्तो दिट्ठो। [आर्य, एवमेतत्। स मया तत्र ब्रह्मणो वसिष्ठमहर्षेरपि स्फुरन्दृष्टः।]

माल्यवान्—(विहस्य।) वत्से, तपोभिरस्य ब्राह्मणादेशोऽपि स्थानिवद्भावेन क्षत्रकार्यं न जहाति। किं च स्वभावमधुरोऽपि काकुत्स्थवटुरौत्पत्तिकेन क्षात्रेण ब्राह्मण्येन च जन्मना त्रिजातकादस्मान्मुनेरधीयानोऽवरीणः[1] परिणंस्यते। तथाहि।

विंदलय्य भञ्जयित्वा सीतां स्वीकार्य रामेण विवाह्य इतः परम् कुहनाविटेन दम्भकर्मणि निपुणधूर्त्तेन तेन वटुना ब्राह्मणशिशुना विश्वामित्रेण किं कारिष्यते विधास्यत इति नो विद्मः न जानीमः। चिन्ताऽत्र व्यज्यते, स्पष्टमन्यत् ॥ ११ ॥

वसिष्ठमहर्षेः वसिष्ठापेक्षया। स्फुरन् दीप्यमानः, वसिष्ठतोऽप्यधिकतेजस्वी। ब्राह्मणादेशः ब्राह्मणत्वबुद्धिः। क्षत्रकार्यं न जहाति क्षत्रियसम्पाद्यं हिंसादि न त्यजति। यथा 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्रेण हन्तेः स्थाने जायमानः कोऽप्यन्य आदेशः स्थानिप्रयुक्तमपि कार्यं करोति तद्वत् तपस्यया ब्राह्मणत्वं प्राप्तोऽप्ययं प्राक्तनं क्षत्रियसंस्कारं तत्प्रयुक्तां हिंसादिप्रवृत्तिं च न जहातीत्यर्थः।

स्वभावमधुरः निसर्गकोमलस्वभावः। ककुत्स्थकुलोद्भवो ब्रह्मचारी। औत्पत्तिकेन स्वाभाविकेन, क्षात्रेण क्षत्रियोचितेन ब्राह्मण्येन विप्रभावेन जन्मना परिवर्त्तनेन त्रिजातकात् त्रिधा गृहीतजन्मनः, प्रथममेकं जन्म मातुर्गर्भतः, द्वितीयं क्षत्रियोचितोपनयनेन, तृतीयं च तपोलब्धेन ब्राह्मणत्वाभिमानेनेति बोध्यम्। (अत्र त्रिभिर्जातस्त्रिजातक इति विश्वामित्रस्यानेकपितृकत्वध्वनिर्निन्दार्थः) अस्मात् मुनेः

विवाह सम्पन्न करवाया, नहीं जानते हैं इसके बाद यह धूर्त्त वटुक क्या करेगा ? ॥११॥

शूर्पणखा—आर्य, ऐसी ही बात है, विश्वामित्रको मैंने वसिष्ठके आगे भी अपनी बात चलाते देखा था।

माल्यवान्—(हंसकर) तपस्यासे वह ब्राह्मण बन गया है परन्तु उसका क्षत्रियकार्य अभी नहीं छूट सका है। स्वभावतः सुकुमार होनेपर भी यह ककुत्स्थकुमार जन्मना क्षत्रिय, कर्मणा ब्राह्मण इस विश्वामित्रसे अस्त्रविद्या ग्रहण करनेके कारण स्वयं धिक्कारका पात्र हो जायगा। क्योंकि—

---

१. 'अधीयन्नधरीणशीलः'।

अविनयभुवामज्ञानानां शमाय भवन्नपि
प्रकृतिकुटिलाद्विद्याभ्यासः खलत्वविवृद्धये ।
फणिभयभृता[1]मस्तूच्छेदक्षमस्तमसामसौ
विषधरफणारत्नालोको भयं तु भृशायते ॥ १२ ॥

भवतु । किमतिक्रान्तोपवर्णनेन[2] । [3]कथं त्विदानीं स्वयंग्रहीतुमुत्तिष्ठमानो राक्षसपतिः प्रतिकर्तव्यः स्यात् ।

विश्वामित्रात् । अधीयानः विद्यामभ्यस्यन् । अवरीणः धिक्कारपात्रम् । निन्दिताचारात् निन्दितकुलाच्चाध्ययनं धिक्कार्यतामूलम् । परिणंस्यते भविष्यति ।

अविनयभुवामिति । अविनयभुवाम् दुर्णयजनकानाम् अज्ञानानाम् शमाय प्रशमनाय भवन् समर्थोऽपि अज्ञानोच्छेदक्षमोऽपि प्रकृतिकुटिलात् स्वभावक्रूराज्जनात् विद्याभ्यासः विद्याध्ययनं खलत्वविवृद्धये दौर्जन्यस्य वर्धनाय जायत इत्यर्थः । अज्ञानापनोदक्षमोऽपि दुर्जनादध्यापकाद्विद्याभ्यासोऽध्येतुर्दुर्जनतां समेधयतीत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तमाह–फणिभयेति । फणिभयभृतां सर्पोऽत्र स्यादिति भयजनकानाम् तमसाम् अन्धकाराणाम् असौ विषधरफणालोकः सर्पमणिप्रकाशः उच्छेदक्षमः विनाशकरः अस्तु परं भयं भृशायते सर्पमणिधारणे तदन्विष्यतः सर्पाद् भयं वर्धते । तस्मात् तमोनाशकस्यापि सर्पमणेर्यथा भयसंपृक्ततयाऽनुपादेयत्वं तथाऽज्ञानविनाशकस्यापि दुर्जनादध्ययनस्येति रामलक्ष्मणयोर्विश्वामित्रादध्ययनं न हितमिति भावः । हरिणीवृत्तम् ॥ १२ ॥

अतिक्रान्तोपवर्णनेन व्यतीतवस्तूपनिबन्धनेन । स्वयं ग्रहीतुम् आत्मनैव सीतां हर्त्तुम् । उत्तिष्ठमानः उद्यतः । प्रतिकर्त्तव्यः शान्तिं नेयः ।

अविनयसे अज्ञानको दूर करनेवाला होकर भी प्रकृत्या दुष्टजनसे किया गया विद्याभ्यास खलत्वकी वृद्धि किया करता है, जिन्हें सर्पोंसे भय मालूम पड़ता है उन्हें फणिमणिसे अन्धकारका भय भले दूर हो जाय किन्तु फणि-मणिके देखनेसे सर्प-भय तो बना ही रह जाता है ॥ १२ ॥

अस्तु अतीतवस्तुकी चर्चासे क्या लाभ ? अब सीताको स्वयं हरनेकी चिन्तामें पड़े रावणको किस तरह रोका जाय ?

---

१. 'अस्तुच्छेद–' । २. 'वर्णितेन' । ३. 'कथं वेत्थमिदानीम्' ।

शूर्पणखा—अज्ज, ण खु मोट्टिमं परिहरन्तो अण्णो उआओ लक्खीअदि। [आर्य, न खलु मोट्टिमं परिहरतोऽन्य उपायो लक्ष्यते।]

माल्यवान्—वत्से, मा मैवम्। महादोषो हि तादृशेन [1]धर्मविजयिना वीरप्रवालेन परिगृहीताया वैदेह्याः प्रसह्यापहारः। पश्य।

दोःस्तम्भद्वयदर्पडम्बरमिति स्पष्टं न विस्पन्दते
वैदेहीकरबन्धसूचनमिति प्रस्तौति न व्रीडया।
इत्यालोच्य कृतस्मितैर्मुनिभिरादिष्टेन येन क्षणा-
दात्तं वन्दितमाञ्चितं[2] च सहसा भग्नं च तादृग्धनुः॥१३॥

मोट्टिमम् बलात्कारम्। परिहरन् त्यक्त्वा। लक्ष्यते प्रतीयते, रावणो बलप्रयोगं परिहृत्य नान्येनोपायेन शमयितुं शक्य इत्यर्थः।

महादोषः बहुदोषपूर्णः। धर्मविजयिना धर्ममाश्रित्य विजयप्रवृत्तेन। वीरप्रवालेन नवोदयेन वीरेण। परिगृहीतायाः परिणीतायाः। प्रसह्यापहारः बलाद्धरणम्। सीतायां रामेण परिणीतायां तस्या बलाद्धरणं महतेऽनर्थाय जायेतेति तात्पर्यम्।

दोःस्तम्भद्वयेति। दोःस्तम्भद्वयदर्पडम्बरम्। बाहुरूपयोः स्तम्भयोर्दर्पस्याहङ्कारस्य डम्बरस् प्रकाशनं स्यादिति (सर्वेषु नृपेषु परस्परस्पर्धया धनुर्नमयितुं प्रवर्त्तमानेष्वपि तथाकरणे स्तम्भोपमयोर्बाह्वोर्दर्पः प्रकाशितो भवतीति तत्प्रकाशनं नम्रतयाऽनिच्छन्) न विस्पन्दते इतरनृपवत् न स्पर्धते, किञ्च तथाकरणे वैदेहीकरबन्धसूचनम् सीतापाणिग्रहविषयकाभिलापप्रकाशनं स्यादिति व्रीडया लज्जया न प्रस्तौति धनुर्नमनप्रस्तावं न करोति। इति एवं रामस्य शालीनताम् आलोक्य विभाव्य कृतस्मितैः हसितमुखैः मुनिभिः तत्कालसन्निहितैः शतानन्दादिभिः आदिष्टेन आज्ञप्तेन येन रामेण तादृक् स्वनामविख्यातम् ऐशं धनुः क्षणात् अल्प-

---

शूर्पणखा—बलात्कारके अतिरिक्त तो कोई उपाय नहीं दीखता है।

माल्यवान्—वत्से, ऐसा मत कहो, धर्मविजयी उस वीर कुमारके द्वारा विवाहिता सीताके बलात् हरणमें बड़ी आपदा हो सकती है। देखो—

शिवधनुषके उठानेमें बाहुओंके गर्वका प्रकाशन होगा ऐसा समझकर उसकी इच्छा नहीं प्रकट करता है, और वैदेहीके विवाहकी सूचना होगी इसलिए लज्जासे धनुषके विषयमें प्रस्तावभी नहीं करता है, ऐसा देखकर मुस्कुराते हुए मुनियोंके आदेशसे उसने तत्क्षण धनुष उठाया, वन्दनाकी, नवाया, और उस विशाल धनुषको तोड़ दिया॥ १३॥

---

१. 'निजधर्मविजयिना'; 'धर्मविजयिना'। २. 'अञ्चितम्'।

[1]तत्कथं च तस्मिन्निशाचरनाथमाततायिनमनुजानीमः ।

शूर्पणखा—([2]निःश्वस्य ।) जधा णिरूविदं मादामहेण । अहो कालस्य माहप्पं, जं दाणिं तिहुअणजअलच्छीलीलावन्दिआरे महाराअरावणेवि एव्वं मन्तीअदि । [यथा निरूपितं मातामहेन । अहो कालस्य माहात्म्यम्, यदिदानीं त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीलावन्दीकारे महाराजरावणेऽप्येवं मन्त्र्यते ।]

माल्यवान्—वत्से,

मुनिरपि गुरुर्दिव्यास्त्राणां बभूव दिवौकसा-
मजगवधनुर्भङ्गे तावानहो स महोत्सवः ।

कालेनैव आत्तं गृहीतं वन्दितं नमस्कृतम् आञ्चितम् नमितम् सहसा हठात् भग्नं खण्डितञ्च । अतस्तादृशवीरवधूहरणे रावणस्य हठात् प्रवृत्तिर्न श्रेयसे स्यादिति भावः ॥ १२ ॥

तस्मिन् रामे । निशाचरनाथम् राक्षसराजं रावणम् । आततायिनम् दारापहारिणम्, 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥
अनुजानीमः अनुमन्यामहे ।

यथानिरूपितं मातामहेन साधु विचारितम् भवता । त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीलावन्दीकारे—अनायासासादितलोकत्रयजयलक्ष्मीके । रावणो यदि रामस्य दारानपहरिष्यति तदा नोचितं करिष्यतीति चिन्ता रावणस्यापि विधीयमाना कालस्य बलवत्तरत्वं प्रकाशयति ।

मुनिरपीति । मुनिर्विश्वामित्रोऽपि दिव्यास्त्राणां जृम्भकादीनां गुरुरुपदेष्टा बभूव, अजगवधनुर्भङ्गे दिवौकसां देवानां स तावान् अतुलितः महोत्सवः बभूवेति

इसलिये हम राक्षसराजको बलप्रयोग करनेकी अनुमति कैसे दें ?

शूर्पणखा—(साँस लेकर) मातामहका सोचना ठीक है । समयका माहात्म्य है, कि इस समय त्रिभुवन-विजयलक्ष्मीको वन्दी बनानेवाले महाराज रावणके सम्बन्धमें भी इस तरह विचार किया जा रहा है ।

माल्यवान्—वत्से ! मुनिने दिव्यास्त्रोंका प्रदान किया है, पिनाक-भञ्जनके अवसरपर

---

१. 'कथं तस्मिन्' । २. 'दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य' ।

रघुपतिगुणक्रीतामेतामवेहि जगत्त्रयीं
विपरिणमते दौर्जन्यं तु प्रभुत्वपदेन नः ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—को सन्देहो। तस्सिं विवाहमहूसवे सव्वं मए पच्चक्खीकिदम्। [कः सन्देहः। तस्मिन्विवाहमहोत्सवे सर्वं मया प्रत्यक्षीकृतम्।]

माल्यवान्—तदेवमेकलोष्टवधः स्यात्। तथाहि। [1]मिथिलां प्रविश्य बलादाकृष्यमाणे कलत्रे कथं तितिक्षेत[2] [3]रघुराजपुत्रः। तं चोत्तिष्ठमानं [4]पौरजानपदप्रकृतयोऽप्यनूत्तिष्ठेरन्। [5]किमङ्ग, संबन्धिबान्ध-

---

शेषः। तदेवम् एतां जगत्त्रयीम् लोकत्रयम् रघुपतिगुणक्रीताम् राघवगुणवशीकृताम् अवेहि विद्धि नः अस्माकं प्रभुत्वमदेन बलदर्पेण दौर्जन्यं दुष्टत्वं विपरिणमते पर्यवस्यति विश्वामित्रः स्वयं तौ नीत्वा दिव्यास्त्राणि दत्तवान् इति दुराधर्षौ तौ, नैतावदेव, देवा अपि तत्पक्षपातिनः, अतएव तत्कृते शिवधनुर्भङ्गे ते महान्तमुत्सवं मन्यन्ते स्म। तदेवं रामस्य लोकप्रियत्वे प्रमाणितेऽपि यदि वयं प्रभुत्वमदं प्रकटयामस्तदा नो दौर्जन्यप्रकाशनमात्रं फलं भविष्यति नान्यदिति तथाकृत्वाऽलमिति भावः ॥ १४ ॥

तस्मिन् विवाहमहोत्सवे सीतारामयोः विवाहरूपे महोत्सवे। प्रत्यक्षीकृतम् दृष्टम्। एकलोष्टवधः लोष्टं मृत्तिकाखण्डम्। यथा लोष्टद्वयास्फालनेनान्यतरस्फुटनं भवति तादृशो वधो लोष्टवधः, मिथिलातो रावणेन सीतायामपहृतायां रामरावणयोः सङ्घर्षे सञ्जाते रामो रावणो वा न भवेदित्यर्थः। कलत्रे स्त्रियाम्, तितिक्षेत मर्षयेत्। उत्तिष्ठमानं युद्धोद्यतम्। पौरा जानपदाः प्रकृतयश्चेति पौरजानपदप्रकृतयः, पौरा नगरवासिनः जानपदा देशवासिनः प्रकृतयः प्रजाश्च। अनूत्तिष्ठेरन् अनुवर्त्तेरन्, सहायका भवेयुरित्यर्थः। किमङ्ग, सम्बन्धिबान्धवाः सर्वासां प्रजानामेव सहायकत्वे सम्भविनि सम्बन्धिनो बान्धवाश्च सहाया

देवोंने उतना बड़ा उत्सव मनाया, इस तरह समस्त विश्व ही रघुपतिके गुणोंसे उसका क्रीतदास बन रहा है, हमारे प्रभुत्व-मदका परिणाम केवल दौर्जन्य रह जायगा ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—इसमें क्या सन्देह? उस विवाह-समयमें मैंने सब कुछ आँखों देखा था।

माल्यवान्—इस समय लड़ना ढेलेकी लड़ाईकी तरह व्यर्थ होगा, क्योंकि मिथिला जाकर यदि हम उसकी स्त्रीका बलात् हरण करेंगे, तो भला रघुराजपुत्र किस प्रकार सहन

---

१. 'मिथिलायाम्'। २. 'तितिक्षेत'। ३. 'राजपुत्रः'।
४. 'जानपदाः'। ५. 'किमुताङ्ग'।

वाः । [1]यथोक्तम्—'आरण्योऽग्निरिव[2] दुःसहदुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति, मण्डलस्य चानुग्राह्यो भवति' इति ।

शूर्पणखा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) अज्ज, किं दाणिं जुत्तम् । [आर्य, किमिदानीं युक्तम् ।]

माल्यवान्—[3]शृणु वत्से, कार्यज्ञासि । अस्ति वनौकसां मन्त्री जाम्बवान् । स मतङ्गाश्रमवास्तव्यामुपसृत्य [4]श्रमणां नाम सिद्धशबरीमभ्यर्थितवान् । यथास्य वालिनो द्वैराज्येन क्षीणा [5]लुब्धापवारिताः

भविष्यन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः, आरण्योऽग्निः वनवह्निः । दुःसहेन दुःखं सोढुं शक्येन अमर्षेण कोपेन जायते तादृशं तेजः पराक्रमम् विक्रमयति प्रकाशयति । मण्डलस्य राजसमूहस्य । अनुग्राह्यः प्रीतिपात्रमनुसरणीय इत्याशयः ।

इदानीम् एतादृश्यां स्थितौ ।

कार्यज्ञा कर्त्तव्यज्ञानशालिनी । वनौकसाम् वानराणाम् । मन्त्री मन्त्रवित् सः जाम्बवान् । मतङ्गाश्रमवास्तव्याम् मतङ्गाख्यमुनिकुटीरवासिनीम् । सिद्धशबरीम् सिद्धाम् तपस्याप्राप्तसिद्धिम् शबरीं किरातजातीयां रामायणकथाप्रसिद्धां वनिताम् । द्वैराज्येन सुग्रीवस्य राज्यं वाली हरति, तदिह कदाचिद् वाली राजाज्ञां प्रवर्त्तयति कदाचिच्च गूढं स्थितः सुग्रीवः, तदिदं द्वैराज्यम्, द्वैराज्यमनिश्चितस्थितिकं शासनम्, तत्र प्रकृतीनां दशा न साधुस्तिष्ठति, तथा च प्रयुक्तं नैषधीये-'चरञ्चिरं शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि खेदमेति ।' क्षीणाः अपहृतधनाः । लुब्धापवारिताः धनलुब्धैस्तैस्तैरपकृताः प्रकृतयः प्रजामुख्यपुरुषाः । अभिषेचय-

---

करेगा ? वह जब खड़ा होगा तब गाँव तथा देशके लोग भी उसके साथ खड़े हो उठेंगे, सम्बन्धियोंकी बात ही क्या ? कहते हैं—वनवह्निकी तरह लोग दुःसह दुःखजन्य तेजको विक्रमके रूपमें प्रकट करते हैं, और लोग उनका साथ देते हैं ।

शूर्पणखा—(लम्बी गरम साँस लेकर) आर्य, इस समय क्या करना चाहिये ?

माल्यवान्—सुनो वत्से, तुम सब समझती हो, वनवासियोंका मन्त्री हैं जाम्बवान्, मतङ्गाश्रमवासिनी श्रमणाके पास जाकर सिद्ध शबरीसे उसने प्रार्थना की है कि इस वालिके द्वैराज्यसे क्षीण बनी हुई लुब्ध तथा अपकृत प्रजायें किष्किन्ध्यामें कुमार सुग्रीवको अभिषिक्त करनेमें रामकी सहायता चाहते हैं ।

---

१. 'तथोक्तम्' । २. 'अग्निरिव दुःखा–' । ३. '(चिन्तां नाटयति ।) शृणु वत्से' । ४. 'श्रवणाम्' । ५. 'अपचिताः' ।

प्रकृतयः किष्किन्धायां [1]कुमारसुग्रीवमभिषेक्ष्यमाणाः सामवायिकं रामभद्रमपेक्षन्ते ।

शूर्पणखा—(सातङ्कम् ।) कधं खत्तिअपोदओ वालिणिग्गहे वि सहाओ समीहीअदि । तदो तदो । [कथं क्षत्रियपोतको वालिनिग्रहेऽपि सहायः समीह्यते । ततस्ततः ।]

माल्यवान्—ततश्चायोध्यातः कैकेय्या भरतवार्ताहरणाय प्रेषिता मन्थरा नाम [2]स्थविरदासी [3]कठोरतरणिताप[4]वज्रानलज्वालावलीढजीविता मिथिलाप्रान्तरे[5] तिष्ठतीति [6]निदाघकिरणान्तेवासी सतीर्थ्यमृषि याज्ञवल्क्यमुपस्थाय [7]सम्प्रत्येव निमेषमात्रान्निवृत्तो हनूमान्कथयति ।

माणाः अभिषेक्तुं कामयमानाः, सामवायिकम् सम्भूय योद्धारम् , मिलित्वा वालिनिग्रहाय प्रयतितारम् । क्षत्रियपोतकः क्षत्रियशिशुः रामः । समीह्यते इष्यते, एतेन रामस्य महाबलशालित्वसम्भावना कृता वक्तृनिष्ठचिन्ता ध्वनिता ।

कैकेय्या भरतस्य मात्रा । भरतवार्ताहरणाय भरतसमाचारानयनाय । स्थविरदासी वृद्धा चेटी । कठोरस्य परिणतस्य तीव्रस्य तरणेः सूर्यस्य तापेन किरणसन्तापेनैव वज्रानलेन भयङ्कराग्निना अवलीढम् भक्षितं गृहीतं जीवितं यस्यास्तथोक्ता । मिथिलाप्रान्तरे मिथिलाभिमुखे दूरगामिनि शून्यवर्त्मनि कैकेय्या भरतवृत्तज्ञानाय प्रहिता मन्थरा मध्ये मार्गमत्युग्रभास्करकरसन्ताप्यमाना वर्त्तत इत्यर्थः । निदाघकिरणस्य सूर्यस्य अन्तेवासी व्याकरणविद्याच्छात्रः । सतीर्थ्यम् एकगुरुकम् । याज्ञवल्क्यः सूर्याद्वेदमधीतवान् हनूमांश्च सूर्याद् व्याकरणमिति तयोः सतीर्थ्यता । उपस्थाय अभिवाद्य । निमेषमात्रात् अल्पकालविलम्बेन । एतेन

शूर्पणखा—(सभय) क्यों वालिके निग्रहमें भी उस क्षत्रियशिशुकी सहायता मांगी जा रही है, इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद अयोध्यासे कैकेयी द्वारा भरतके समाचार जाननेके लिये भेजी गई मन्थरा नामकी बूढ़ी दासी सूर्यके तापरूप वज्रसे समस्त अङ्गोंकी शक्तिके लुप्त हो जानेसे मिथिला समीप प्रान्तरमें वर्त्तमान है यह बात सूर्यके शिष्य तथा अपने सतीर्थ्य महर्षि याज्ञवल्क्यकी वन्दना करके मिथिलासे लौटे हुए हनूमान्ने अभी-अभी

---

१. 'कुमारम्' । २. 'स्थविरतरा' । ३. 'कठोरतरतरणि' ।
४. 'वज्रानलावलीढ–' । ५. 'प्रान्ते' ।
६. 'निदाघकिरणव्याकरणान्तेवासी' । ७. 'सम्प्रत्येष' ।

अतस्त्वमप्यस्मदनुरोधेन [1]हनूमत्प्रत्यवेक्षितस्वशरीरा परपुरप्रवेशविद्यया मन्थराशरीरमधितिष्ठन्ती[2] मिथिलामुपेत्य प्रत्ययिता संविधानकमिदं दशरथगोचरीकरिष्यसि[3] । [4]इत्थम्भाविना गुरुनिदेशचर्याप्रसङ्गेन पङ्क-पाषाणविषमकण्टक[5]व्यालकुलबहुलामरण्यानीमनुप्रविष्टः सर्वथा वैदेशिको राजपुत्रः कार्यगौरवान्नियतमेव वालिवधपूर्वकेण प्रतीकारसन्धिना[6] सम्बन्धेन सुग्रीवमुपगृह्णीयादिति ।

शूर्पणखा—(सकौतुकम् ।) अज्ज, किं तं संविहाणअम् । [आर्य, किं तत्संविधानकम् ।]

मन्थराया मार्गस्थत्वमुक्तम् । अस्मदनुरोधेन मदीयविचारमनुसृत्य । हनुमत्प्रत्यवेक्षितस्वशरीरा हनुमता रक्ष्यमाणनिजतनुः, सुग्रीवकार्यसाधकतया हनुमानस्या रक्षां करिष्यति । परपुरप्रवेशविद्यया परकायप्रवेशकलया । अधितिष्ठन्ती प्रविशन्ती । प्रत्ययिता मन्थराशरीरप्रविष्टतयाऽशङ्कनीया । संविधानकम् कैकेय्या मन्त्रितम् रामभद्रवनप्रेषणभरतराज्यप्रदानरूपम् । गोचरीकरिष्यसि बोधयिष्यसि । गुरुनिदेशचर्याप्रसङ्गेन पित्राज्ञापालनप्रसङ्गेन । इत्थंभाविना अनेन प्रकारेण प्राप्तेन । पङ्केन कर्दमेन, पाषाणेन शिलाशकलेन, विषमाम् नतोन्नताम् , कण्टकाः व्यालाः सर्पा व्याघ्रादयश्च तैर्बहुलाम् व्याप्ताञ्च । अरण्यानीम् महावनम् अनुप्रविष्टः प्राप्तः । वैदेशिकः अन्यदेशादागतः । राजपुत्रः रामः, कार्यगौरवात् कर्त्तव्यस्य सीतोद्धरणस्य गौरवमपेक्ष्य । वालिवधपूर्वकेण वालिवधद्वारकेण । प्रतिकारसन्धिना परस्परोपकारकत्वसैन्ध्या प्रतीकारसन्धिलक्षणमुक्तं चाणक्ये 'मयाऽस्योपकृतं पूर्वमयं मामुपकरिष्यति । इति यः क्रियते सन्धिः स प्रतीकार उच्यते । उपकारं करोम्यस्य

बताई है। अतः तुम हमारे अनुरोधसे अपनी देहको हनुमान्की देख-रेखमें रखकर परकाय प्रवेश विद्याके द्वारा मन्थराके शरीरमें प्रवेश करके मिथिला चली जा, सबका विश्वास प्राप्त कर ले, और यह सारी बात दशरथसे बता दे। ऐसा होनेसे गुरुवचनपालनप्रसङ्गसे पङ्क, पाषाण, कण्टक, सर्पसे व्याप्त अरण्यमें आये हुये रामचन्द्र वैदेशिक होनेके कारण निश्चय ही वालिवधपूर्वक सुग्रीवकी सन्धिको स्वीकार कर लेंगे।

शूर्पणखा—(कुतूहलसे) वह संविधानक क्या है ?

---

१. 'हनूमदवेक्षित'। २. 'उपातिष्ठन्ती'। ३. 'कुरुष्व'।
४. 'भाविना च'। ५. 'व्यालबहुलाम्'। ६. 'सन्धिना सुग्रीवम्'।

माल्यवान्—(कर्णे ।) एवमेवम् । (इति कथयति ।)

शूर्पणखा—(हसन्ती ।) अहो वुड्ढरिच्छस्स कुडिलदा । तदो तदो । [अहो वृद्धऋक्षस्य कुटिलता ।]

माल्यवान्—[1]ततश्च सापि शबरयोगिनी [2]सुग्रीवगुणानुरोधेन सर्वमोमित्युरसिकृत्य तदैव विदेहाभिमुखी प्रस्थितेति मे जनस्थानविहारिभिर्निशाचरैरागत्य निवेदितम् । [3]तदमुना च जाम्ववत्प्रयोगेण [4]फलता विराधप्रभृतिभिरधिष्ठितेषु विन्ध्यगिरिगह्वरेषु [5]विहरतो रामस्य सुकरं कलत्रापहरणम् । अस्मदीयास्तु मायाः [6]सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य युद्धमुदितविबुधपतिना[7] वितीर्णमायाहरणमन्त्रधारिणो दशरथस्य संनिधौ न प्रभवन्ति ।

ममाप्येष करिष्यति । अयं वापि प्रतिकारो रामसुग्रीवयोरिव' । सम्बन्धेन मैत्र्या, उपगृह्णीयात् आश्रयेत् ।

वृद्धऋक्षस्य स्थविरभल्लूकस्य जाम्बवतः । कुटिलता वक्रनीतिशालिता । शबरयोगिनी सिद्धा शबरजातीया श्रमणा नाम । सुग्रीवगुणानुरोधेन सुग्रीवस्य गुणाननुरुद्ध्य । उरसिकृत्य स्वीकृत्य । विदेहाभिमुखी मिथिलामुद्दिश्य । जनस्थानविहारिभिः वनवासिभिः । अमुना सुग्रीवसख्यफलकेन । जाम्बवत्प्रयोगे जाम्बवतः कुटिलनीत्या प्रयुक्तेन व्यवहारेण । अधिष्ठितेषु अध्युषितेषु । विन्ध्यगिरिगह्वरेषु विन्ध्याचलकन्दरासु । विहरतः भ्रमतः । सुकरम् अनायाससाध्यम् । अस्मदीयाः राक्षसकृताः । मायाः छलनाव्यापाराः । सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य देवासुराग्रगण्य-

---

माल्यवान्—(कानमें) इस तरह है (कहता है)

शूर्पणखा—(हंसती हुई) बूढ़े वानरकी कुटिलता तो देखें। इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद वह शबर तपस्विनी सुग्रीवके गुणानुरोधसे सब कुछ स्वीकार करके उसी समय मिथिलाकी ओर चली, यह बात निशाचर राक्षसोंने आकर तत्काल मुझसे बता दी थी। इस जाम्बवान्के प्रयोगसे विराध-प्रभृतिसे अधिष्ठित विन्ध्य-गिरि गह्वरोंमें भ्रमण करनेवाले रामकी स्त्रीका अपहरण सुकर हो जायगा। हमारी माया दशरथके समीप नहीं चल सकती है क्योंकि दशरथने सुरासुर युद्धमें प्रथम पंक्तिमें रहकर इन्द्रको प्रसन्न करके मायाहरणमन्त्र सीख लिया है।

---

१. 'ततः सापि' । २. अनुरागेण सर्वं तथेत्युररीकृत्य तथैव' ।
३. 'अमुना जाम्बवतः' । ४. 'फलवता' । ५. 'विहरतः सुकरम्' ।
६. 'सुरासुरसमरप्रथमरेखा' । ७. 'विबुधपतिवितीर्ण' ।

शूर्पणखा—(सविचिकित्सम् ।) अज्ज, उवणदस्स एव्वं करीअदि । [आर्य, उपनतस्यैवं क्रियते ।]

माल्यवान्—(विहस्य ।) [1]वत्से, साधु । वृद्धसंवादिनी ते [2]दृष्टिः । यदाहुः—'यो ह्युपनतस्य पुत्रदारानतिमन्यते[3] तस्योद्विग्नं मण्डलमभावायोपतिष्ठते' इति । किं पुनरस्मासु नैप निसर्गतेजस्वी संश्रयप्रवृत्तिमातिष्ठते ।

शूर्पणखा—हूं । अण्णं भणामि । अवि एव्वं करिस्सदि रामभद्दो । [अन्यद्भणामि । अप्येवं करिष्यति रामभद्रः ।]

वीरस्य । युद्धमुदितविबुधपातिना संग्रामकौशलप्रसन्नशक्रेण । वितीर्णमायाहरणमन्त्रधारिणः दत्तमायाप्रशममन्त्रविदः । दशरथो हि युद्धे प्रसन्नेन्द्रेण दत्तां मायाहरणशक्तिं रक्षतीति न शक्यतेऽस्माभिर्मायां काञ्चिदुपपाद्य दशरथो वनं प्रेषयितुं राममादिशन्वारयितुमित्थं च रामे वनं गतेऽवश्यं भावि सीताहरणं तन्मूलकश्च रावणपराभव इति चिन्ताबीजमुन्नेयम् ॥

उपनतस्य वनसमीपं गतस्य । एवं क्रियते कलत्रमपह्रियते ।

वृद्धसंवादिनी वृद्धजनदृष्टितुलिता, यथा वृद्धा विचारयन्ति तथा त्वमपीति भावः । अतिमन्यते हरति । उद्विग्नम् शङ्काकुलम् । एकस्यास्य समीपागतस्य पुत्रदारानयं हृतवानेवमस्माकमपि हरिष्यतीति शङ्काकुलम् । 'मण्डलं राष्ट्रम् , अभावाय विनाशाय । उपतिष्ठेत उद्यतं स्यात् । निसर्गतेजस्वी स्वभावतः तीक्ष्णदृष्टिः । संश्रयप्रवृत्तिम् आश्रयेण वर्त्तनम् , आतिष्ठते अङ्गीकरोति । रामः कदापि नास्मानाश्रयिष्यति, येन तदीयं दारापहरणं शक्यमर्षणं स्याद् यतोऽसौ निसर्गतस्तेजस्वी वर्त्तत इत्याशयः ।

एवं करिष्यति पित्रादेशं मानयन्वनं प्राप्स्यति ?

शूर्पणखा—आर्य, आ पड़नेपर ऐसा किया जाता है ।

माल्यवान्—(हंसकर) वत्से, तुम बूढ़ोंकी तरह देखती हो । कहते हैं—जो व्यक्ति उपनतजनकी स्त्री-पुत्रका अपहरण करता है उसके अभावके लिए सारा मण्डल उठ खड़ा होता है । क्या वह निसर्ग तेजस्वी रामभद्र हमपर संशय नहीं करने लगेगा ।

शूर्पणखा—हुं, मैं कुछ दूसरी बात कह रही थी, क्या रामभद्र ऐसा करेंगे ।

---

१. 'साधु वत्से' । २. 'बुद्धिः' । ३. 'अभिमन्यते' ।

माल्यवान्—[1]कः संशयः। लोकोत्तरं हि किमप्युन्मीलयन्तो जगति राज्योपभोगेभ्योऽपि बीभत्सन्ते महानुभावाः।

शूर्पणखा—[2]अण्णं वि किं वि अणत्थन्तरं अत्थ पडिदमिति तक्केमि। [अन्यदपि किमप्यनर्थान्तरमत्र पतितमिति तर्कयामि।]

माल्यवान्—(सहर्षम्।) किं[3] तत्।

शूर्पणखा—मए जणअणअरादो णिक्कन्तीए सुदं, जधा खुडिदसिरिकण्ठसरासणस्स दासरहिणो मच्छरेण सअलखत्तिअकिदन्तो परसुरामो परागदोत्ति। [मया जनकनगरान्निष्क्रान्तया श्रुतम्, यथा क्षुण्णश्रीकण्ठशरासनस्य दाशरथेर्मात्सर्येण सकलक्षत्रियकृतान्तः परशुरामः परागत इति।]

माल्यवान्—([4]सहर्षम्।) सर्वमुपपद्यते।

लोकोत्तरम् सकललोकविलक्षणम्। उन्मीलयन्तः अलौकिकं चरितं प्रकाशयन्तः। बीभत्सन्ते, अलौकिकचरितं प्रकटीकुर्वन्तो महानुभावाः राज्योपभोगमपि परित्यज्य गच्छन्तीति शक्यते रामो वनं गन्तुमिति भावः। अनर्थान्तरम् अनिष्टविशेषः।

जनकनगरात् मिथिलातः। निष्क्रान्तया बहिर्भूतया। क्षुण्णश्रीकण्ठशरासनस्य खण्डितशिवधनुषः। दाशरथेः रामस्य। मात्सर्येण कोपेन। सकलक्षत्रियकृतान्तः समस्तराजकसंहर्त्ता।

सर्वमुपपद्यते निखिलमस्मदभिमतं सिद्ध्यति, परशुरामागमनमस्मद्धितसिद्धिव्यञ्जकमित्यर्थः।

माल्यवान्—इसमें क्या सन्देह? कुछ लोकोत्तर कर्म करनेकी इच्छा रखनेवाले राज्योपभोगसे भी घृणा करते हैं।

शूर्पणखा—इसमें कुछ दूसरा भी अनर्थ मिल गया है, मैं ऐसा सोचती हूं।

माल्यवान्—(सहर्ष) वह क्या बात है?

शूर्पणखा—जनक नगरसे निकलती हुई मैंने सुना था कि शिवधनुष-भञ्जक रामसे कुपित होकर सकलक्षत्रसंहारी परशुराम वहाँ आ गये हैं।

माल्यवान्—(सहर्ष) सब हो सकता है।

---

१. 'वत्से, कः संशयः। लोकोत्तरं किमपि रूपमुन्मीलयन्तः'।

२. 'किं च अण्णं वि'। ३. 'कीदृशं तत्'।

४. 'सहर्षम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।

भुजार्गलितनर्मदामकरचक्रदंष्ट्राङ्कुर-
व्रणप्रकरकर्कशं किमपि बिभ्रदुग्रं वपुः।
स येन परशौ हुतो नृपतिरर्जुनः कौतुका-
दसौ कथमुपेक्षते गुरुधनुर्व्यलीकं मुनिः ॥ १५ ॥

[1]परं त्वनेनापि सकलमूर्धाभिषिक्त[2]कण्ठकाण्डरुधिरावसेकपङ्किल-
कुठारेण दुरभिभवो दाशरथिः।

भुजार्गलितेति। येन भुजाभिर्बाहुसहस्रेण अर्गलितायाः प्रतिरुद्धप्रवाहायाः नर्मदायाः नदीभेदस्य यानि मकरचक्राणि जलजन्तुनिवहाः तेषां दंष्ट्राङ्कुरैः दशनाग्रभागैः यः व्रणप्रकरः क्षतसमुदयस्तैः कर्कशम् कठोरम् किमपि अवर्णनीयम् उग्रं भीषणं वपुः शरीरं बिभ्रत् धारयन् अर्जुनः कार्त्तवीर्यार्जुनो नाम नृपतिः परशौ निजपरश्वधेऽस्त्रभेदे हुतः क्षयं नीतः असौ मुनिः परशुरामः गुरुधनुर्व्यलीकम् निजाचार्यस्य शिवस्य धनुषो भङ्गं कथमुपेक्षते मृष्यति, नेदं सम्भवति यत् नर्मदां भुजैर्बद्ध्वा तत्रत्यजलजन्तुदन्तक्षतकठोरीकृतमुग्रं वपुर्दधानस्य कार्त्तवीर्यार्जुनस्य नृपतेर्वधाय समर्थस्य परशोर्धर्त्ता परशुरामो निजगुरुचापावमानिनं रामं मर्षयेदिति भावः। पुरा किल बाहुभिर्नर्मदाप्रवाहमवरुध्य स्त्रीभिः सह जलक्रीडां कुर्वतः सहस्रार्जुनस्याङ्गानि जलचरचक्रैः क्षतानीति पुराणवार्त्ता प्रथते। पृथिवीवृत्तम् ॥ १५ ॥

अनेन परशुरामेण। सकलानां समस्तानां मूर्धाभिषिक्तानां राजन्यानां यानि कण्ठकाण्डानि गलनालानि तेषां रुधिरैः शोणितैरवसेकेन सेचनेन पङ्किलः पङ्कदिग्धः कुठारः परशुर्यस्य तादृशेन। समस्तक्षत्रियसंहारकपरशुनाऽपीत्यर्थः। दुरभिभवः दुर्जयः।

अपने बाहुओंसे बांधी गई नर्मदाके मकर-समुदाय द्वारा उत्पादित दन्तक्षत-चिह्नयुत भुजशाली उग्र शरीरको धारण करनेवाले कार्त्तवीर्यको जिस परशुरामने अपने कुठाररूप अग्निमें होम कर दिया था, वह परशुराम अपने गुरुदेवके धनुषका अपमान कैसे सहन करेगा ? ॥ १५ ॥

परन्तु सकलक्षत्रिय-कण्ठसमुदायके रुधिरसे पङ्किल इस कुठारसे भी दशरथपुत्रका अभिभव संभव नहीं है।

---

१. 'परमनेन'। २. 'कण्ठकन्दरा'।

शूर्पणखा—(साभ्यसूयम् ।) अहो दुद्धमुहे तस्सिं खत्तिअवट्टुए एव्वं सम्भावेदि मादामहो । [अहो दुग्धमुखे तस्मिन्क्षत्रियवटुक एवं संभावयति मातामहः ।]

माल्यवान्—[1]वत्से, नैतज्जानासि ।

सर्वराजकदुर्धर्षं सर्वदेवमयं धनुः ।
भञ्जता रामभद्रेण [2]विजिग्ये भुवनत्रयम् ॥ १६ ॥

इदानीं तु—

राजन्यरुधिराम्भोधिकृतत्रिषवणो मुनिः ।
प्राप्तः परशुरामोऽयं न विद्मः किं करिष्यति ॥ १७ ॥

तदेहि । राजकुलमेव गच्छावः ।

साभ्यसूयम् सकोपम्, स चात्र रामस्य पराक्रमातिशयद्योतनजन्मा । दुग्धमुखे-बालावस्थे। क्षत्रियवटुके राजकुमारे । सम्भावयति उत्प्रेक्षते ।

एतत् रामस्य पराक्रमातिशयम् ।

सर्वराजकेति । सर्वैं राजकैः राजसमूहैः दुर्धर्षं दुराकर्षम् नमयितुमशक्यम्, सर्वदेवमयम् सकलदेवांशसमुद्भवम् धनुः शैवं चापं भञ्जता खण्डयता रामभद्रेण भुवनत्रयं लोकत्रितयं विजिग्ये जितम् । यद्देवांशसम्भवं धनुः सकलै राजभिर्नमयितुं नाशाकि तत्खण्डयितु रामस्य प्रमापितं सकललोकविजयित्वमिति युक्तमेव रामे परशुरामदुरभिभवत्वमिति भावः ॥ १६ ॥

राजन्येति । राजन्यानां क्षत्रियाणां रुधिराम्भोधौ शोणितसागरे क्षत्रियरुधिरमये समुद्रे कृतत्रिषवणः कृतत्रिसन्ध्यस्नानोऽयं मुनिः परशुरामः प्राप्तः, किं करिष्यति रामं जेष्यति न वा इति न विद्मः न जानीमः ॥ १७ ॥

शूर्पणखा—(असूयाके साथ) उस दुधमुंहे क्षत्रियकुमारके विषयमें मातामह ऐसी त कहते हैं,

माल्यवान्—वत्से, तुम नहीं जानती हो, सकल राजवर्गसे दुर्नमनीय सर्वदेवमय उस धनुको भञ्जन करके रामने त्रिलोकको जीत लिया है ॥ १६ ॥

इस समय तो —राजन्यरुधिर रूप समुद्रमें त्रिकालसन्ध्या सम्पन्न करनेवाले मुनि परशुराम आये हैं, न जाने वह क्या करते हैं ? ॥ १७ ॥

चलो, राजकुलकी ओर चलें ।

---

१. '(विहस्य ।) नैव तावज्जानासि' । २. 'विजितम्' ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो जनकाग्निहोत्रपरिचारकाः, पाद्यं पाद्यम् । अर्घोऽर्घः ।

आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भविभ्राजमान-
ज्याघातश्रेणिसंज्ञान्तरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः ।
वक्षःपीठे घनास्त्रव्रणकिणकठिने संक्षुणुवानः पृषत्का-
न्प्राप्तो राजन्यगोष्ठीवनगजमृगयाकौतुकी जामदग्न्यः ॥१८॥

जनकाग्निहोत्रपरिचारकाः—जनकस्य यदग्निहोत्रम् अग्नौ नित्यहोमविधिः तत्र परिचारकाः सामग्रीसम्पादननियुक्ता भृत्याः । पाद्यम् पादार्थमुदकम् , अर्घः पूजा च प्रस्तूयताम्, आगतस्य परशुरामस्य पूजार्थं पाद्यादि समुपस्थाप्यतामित्यर्थः।

आजन्मेति । आजन्म जन्मकालादारभ्य ब्रह्मचारी समाश्रितब्रह्मचर्यः, पृथुलौ दीर्घपीनौ भुजौ एव शिलास्तम्भौ तयोर्विभ्राजमाना शोभमाना या ज्याघातश्रेणि मौर्वीसमाकर्षणजन्मा किणराजिः तत्संज्ञया तदाख्यया अन्तरिता आच्छन्ना वसुमतीचक्रस्य क्षोणीवलयस्य जैत्रप्रशस्तिः जयप्रशंसा यस्य स तथोक्तः, घनानां कठिनानाम् अस्त्राणां व्रणैः क्षतैः ये किणाः शुष्कव्रणचिह्नानि तैः कठिने कर्कशे वक्षःपीठे उरोदेशे पृषत्कान् बाणान् संक्षुणुवानः समुत्तेजयन् राजन्यगोष्ठी राजसमूह एव वनगजाः आरण्यकाः करिणस्तेषां मृगयायामाखेटके कौतुकी धृतस्नेहः जामदग्न्यः परशुरामः प्राप्तः, अतः पाद्यादि तत्पूजासाधनमुपस्थाप्यतामिति भावः जन्मकालावधि सुलभसांसारिकसुखविमुखः पृथुलयोर्भुजयोः स्तम्भयोरिव विभ्राजमानानां ज्याघातश्रेणीनां व्याजेन समस्तवसुधाविजयप्रशस्तिं बिभ्राणः अस्त्रक्षत कठोरे वक्षसि बाणान् निशितानिव कर्त्तुमामृशन्नयं परशुरामः क्षत्रियगजमृगया विहारी प्राप्त इति बोध्यम् । 'पृषत्कबाणपृषताः' इत्यमरः। स्रग्धरावृत्तम् ॥ १८ ॥

(दोनों जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(नेपथ्यमें)

हे जनकके अग्निहोत्रके परिचारको, पाद्य लाओ पाद्य, अर्घ लाओ लाओ, आ ब्रह्मचारी, विशाल बाहु पर वर्तमान ज्याघात-परम्पराके रूपमें विश्वविजय-प्रशस्ति धारण करनेवाले, अस्त्र-व्रणचिह्नसे युक्त वक्षःस्थलमें बाणोंको धारण करनेवाले, त क्षत्रिय-समुदाय रूप मृगवर्गकी मृगयाके कौतुकी परशुराम आरहे हैं ॥ १८ ॥

अपि च—

[1]एष स्त्रैणकपोलकुङ्कुमलिपिस्तेयातिभीरौ[2] भुजे
विभ्राणश्चतुरन्तराजविजयि ज्यानादरौद्रं धनुः ।
तूणावेव पुनस्तरां द्रढयति स्वादन्तरस्मात्पटा-
दाकृष्टैः कुशचीरतन्तुभिरभिक्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥ १९ ॥

(ततः प्रविशति शरचापहस्तः क्रोधोद्धतो[3] जामदग्न्यः ।)

जामदग्न्यः—(सखेदम् ।) अहह यथा [4]मृष्टभोजिना कृतान्तेन प्रत्यवसितास्ते सांयुगीनाः । वर्तमाने तु

एष स्त्रैणेति । एषः भार्गवः अभिक्रुद्धः सातिशयकुपितः सन् (हरचापभञ्जनक्रुद्धो भूत्वा) स्त्रैणाः स्त्रीसम्बन्धिनो ये कपोलाः गण्डदेशास्तेषां कपोलानां याः कुङ्कुमलिपयः काश्मीरद्रवलेखविशेषास्तेषां स्तेये चौर्ये सम्भोगद्वारकापनयनेऽतिभीरौ साशङ्के स्त्रीसम्भोगसुखानभिज्ञे आबाल्यब्रह्मचारिणि भुजे चतुरन्तस्य चतुरुदधिवलयितस्य जगतो राज्ञां विजयि पराभवकारि ज्यानादरौद्रम् धनुष्टङ्कारभीषणं धनुर्विभ्राणः धारयन् , अभिक्रुद्धो भार्गवो नाम मुनिः स्वात् निजात् अन्तरस्मात् पटात् उत्तरीयवस्त्रात् कुशचीरतन्तुभिः सूक्ष्मवल्कलसूत्रैः तूणौ एव पुनस्तरां भूयोऽपि द्रढयति दृढीकरोति । अयमतिकोपन आजन्मब्रह्मचारी च परशुरामः स्वहस्ते भीषणं सकलराजन्यकविजयि च धनुर्धारयन् स्वोत्तरीयवल्कलसूत्राण्याकृष्य तैः स्वतूणौ द्रढयति, एतेन तस्य युद्धोद्यतत्वं द्योतितम् , शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

मृष्टभोजिना स्वादुभोजनशीलेन । कृतान्तेन यमेन । प्रत्यवसिताः भुक्ताः, सांयुगीनाः युद्धरसिकाः, सर्वेऽपि राजानो यमेन भक्षिताः ।

ब्रह्मचारी होनेसे स्त्रियोंके कपोल पर वर्त्तमान कुङ्कुमलिपिके स्तेयमें डरनेवाले अपने बाहु पर सागर पर्यन्त राजमण्डलके विजयी धनुषको धारण करनेवाले तथा अति कुपित [illegible] परशुराम अपने उत्तरीय वस्त्रके कुश-चीरात्मक सूत्रों द्वारा अपने तूणीरोंको दृढ़ कर रहे हैं ॥ १९ ॥

(शरचापधारी कुपित परशुरामका प्रवेश)

जामदग्न्य—(खेदके साथ) अहा, सभीको समाप्त कर देनेवाला यमराजने लड़नेवाले वीरोंको खालिया,

---

१. 'क्षत्रस्त्रैण' । २. 'अतिभीमे'; 'अतिरौद्रे' ।
३. 'क्रुद्धोद्धतः' । ४. 'मिष्ट' ।

शस्त्राशस्त्रिकथैव का नवभवद्गीर्वाणपाणिंधमाः
पन्थानो दिवि संकुचन्ति वसुधा वन्ध्या न सूते भटान् ।
लक्ष्मीरप्यरविन्दसौधवलभीनि[1]र्व्यूहपर्यङ्किका-
विश्रान्तैरलिभिर्न कुञ्जरघटागण्डोद्गतैर्मोदते[2] ॥ २० ॥

(सविमर्शाश्चर्यम् ।)

[3]शंभुर्यद्गुणवल्लरीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिकं

शस्त्राशस्त्रीति । शस्त्राशस्त्रि यद्युद्धं शस्त्रैश्च अस्त्रैश्च प्रवृत्तं तद्युद्धम् , तस्य कथा वार्त्ता एव का कीदृशी, सम्प्रति युद्धस्य वार्त्ताऽपि जगति न विद्यते सर्वेषामपि राजन्यकानां परशुरामेण हतत्वादित्यर्थः, नवभवन्तो युद्धे प्राणान् विमुच्य सद्यो जायमानाः ये गीर्वाणाः देवास्तेषां पाणीन्धमन्ति ये ते तथोक्ताः (युद्धहतानां देवत्वं प्राप्तानामसङ्ख्यतया स्वर्गेऽहमहमिकया सञ्चरतां तेषां परस्परसङ्घर्षे पाणयः पीड्यन्ते इत्याशयेनेदं पथो विशेषणम् पन्थानः स्वर्गमार्गाः सङ्कुचन्ति अविस्तृताः प्रतिभासन्ते, वन्ध्या जननसामर्थ्यशून्या वसुधा भटान् वीरान् न सूते न जनयति लक्ष्मीः जयश्रीरपि कुञ्जरघटानां साङ्ग्रामिकगजानां गण्डेभ्यः कपोलदेशेभ्य उद्गतैः निर्गतैः अरविन्दमेव सौधवलभी हर्म्यशिरोगृहम् सैव निर्व्यूहपर्यङ्किका हस्तिदन्तनिर्मितपर्यङ्कः तत्र विश्रान्तैः लब्धस्थानैः अलिभिः भ्रमरैः न मोदते न प्रीतिमासादयति, लक्ष्मीर्हि गजदानवारिलुब्धानां भ्रमराणां समूहो गजकपोलदेशादुत्पत्य कमलानि यावन्नाश्रयतिस्म, करिकपोलयोरेव दानलुब्धतया तिष्ठति स्म तावत् कमलकुलवासिनी लक्ष्मीरानन्देन कमलेषु वसति स्म, सम्प्रति युद्धकथासमाप्तौ सांग्रामिकगजानुपलब्ध्या सर्वेऽपि भ्रमराः करिकपोलमपहाय कमलमेवाश्रिता इति लक्ष्म्याः परितोषाभावे कारणं बोध्यम् । 'निर्व्यूहः शेखरे द्वारे निर्व्यूहो नागदन्तके' इति धरणिः । 'पर्यङ्किका तु खट्वा स्यात्' इति मेदिनी । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

शम्भुरिति । शम्भुः शिवः यस्य धनुषः गुणवल्लरीं मौर्वीलताम् आकृष्य कर्णा-

अब लड़ाई की तो बात हो नहीं रही, नये-नये देव बननेवाले लोगोंसे आवृत स्वर्गका मार्ग बन्द हो गया, पृथ्वी पर वीरोंके जन्म होते ही नहीं, वह वन्ध्या हो रही है, लक्ष्मी भी अब गजघटाके कपोल-स्थलवर्त्ती भ्रमरोंसे नहीं किन्तु कमल रूप भवनकी पर्यङ्किका पर विश्राम करनेवाले भ्रमरोंसे अपना दिल बहलाया करती है ॥ २० ॥

(विचार करके साश्चर्य) महादेव जिसकी प्रत्यञ्चाको आकृष्ट करके कानों तक ले

१. 'निर्यूह' । २. 'उत्कटैः' । ३. 'शंभो' ।

भ्रश्यन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशां कर्णोत्पलग्रन्थयः ।
स्वं चास्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुन्मुच्य तासामहो
भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना [1]तद्भग्नमैशं धनुः ॥ २१ ॥

(सरोपविकटं परिक्रामन् ।) भो भो विदेहाः, क्व रामो दाशरथिः ।

यस्मिन्नर्जुनदोःसहस्रनलकप्रोद्गच्छदस्रच्छटा-

न्तिकं स्वश्रवणसामीप्यम् उपनयति प्रापयति, (तावत्) त्रिपुरावरोधसुदृशाम् त्रिपुरान्तःपुरस्त्रीणाम् कर्णोत्पलसन्धिबन्धनानि भ्रश्यन्ति विगलन्ति (शम्भुना यस्मिन्धनुषि कर्णान्तिकोपनीतसौर्वीके कृते सति त्रिपुरावरोधा भाविस्वामिवधाशङ्कयाऽलङ्कारभूतं कर्णोत्पलं शिथिलबन्धनतां नयन्ति) शम्भुः च स्वं निजं प्रकोष्ठकम् बाहुभागम् आस्फालयति ताडयति सति तासां त्रिपुरावरोधसुदृशाम् वलयानि कङ्कणाः भिद्यन्ते त्रुट्यन्ति, पत्यपायस्य निश्चितत्वेन समाप्यन्ते, तद् ऐशं धनुः दाशरथिना रामेण भग्नम् त्रोटितम् । अयमाशयः—रामस्तस्य शिवधनुषो भङ्गं कृतवान् यस्मिन्धनुषि ज्यामाधाय हरेण कर्णान्तिकमानीयमाने स्वस्वामिविनाशसम्भावनया त्रिपुरावरोधसुदृशो निजमलङ्कारभूतं कर्णोत्पलं शिथिलबन्धनं कुर्वते, किञ्च तेन धनुषा करघृते यदा शम्भुः स्वं प्रकोष्ठकमास्पृशति तदा त्रिपुरावरोधसुदृशां वलयानि पतन्ति भाविपति विरहकृतदौर्बल्येन स्खलन्ति, तन्महदनुचितं कृतं तेनेति । अत्र यस्य कर्णान्तिकं धनुरागच्छति तस्यैव कर्णोत्पलभ्रंशः, यस्य च प्रकोष्ठकास्फालनं तस्यैव वलयभेद उचितस्तथाप्यत्र शिवस्य धनुषि तत्कर्णान्तिकमुपागच्छति त्रिपुरावरोधसुदृशाम् कर्णोत्पलभ्रंशस्य, शिवप्रकोष्ठकास्फालने सति त्रिपुरावरोधसुदृशीवलयभेदस्य चोपनिबन्धनात् कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतयाऽसङ्गतिर्नामालङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २१ ॥

यस्मिन्निति । अर्जुनस्य तदाख्यया प्रसिद्धस्य दोःसहस्रं सहस्रसङ्ख्याका भुजास्त एव नलकानि प्रवाहास्तेभ्यः प्रोद्गच्छन्ती निस्सरन्ती या अस्रच्छटा रुधिरधारा

जाते हैं, जिससे त्रिपुरासुरकी स्त्रियोंके कर्णोत्पलोंकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, और जब महादेव इस धनुषको तानकर अपने प्रकोष्ठको आकृष्ट करते हैं तब त्रिपुरासुरकी स्त्रियोंके हस्ताभरण टूटने लगते हैं, उसी धनुषको दशरथके पुत्रने तोड़ दिया ॥ २१ ॥

(सरोष भ्रमण करते हुए) अरे ओ विदेहगण, दशरथ-पुत्र राम कहाँ है ?

सहस्रार्जुनके सहस्रभुज-कमलोंसे निकलती हुई रुधिर-धारासे भीषण जिस कुठारमें

१. 'रुग्णं तदौद्गं धनुः' ।

जिह्वाले जुहवांबभूविम रुषा राजन्यसत्तामपि।
सोऽयं[1] प्राक्कवलग्रहस्य विघसीभूतेष्वपि क्षत्रिय-
क्षुद्रेषु क्षुधितश्चिरेण परशुस्तेनायमन्विष्यते ॥ २२ ॥

(ततः प्रविशति [2]सधैर्यप्रमोदो दाशरथी रामः ।)

रामः—

साकं शक्तिधरेण तत्रभवतो देवाद्भवानीपते-
र्यः सम्यञ्चमवाप चापनिगमं सम्यञ्चि सामानि च ।
शूराणां च तपस्विनां च परमां [3]काष्ठामधिष्ठास्नुभि-
स्तेजोभिर्भगवानसौ भृगुपतिर्दिष्ट्याऽद्य दर्शिष्यते ॥ २३ ॥

तया जिह्वाले रसनाशालिनि यस्मिन् निजपरशौ रुषा कोपेन राजन्यसत्ताम् सकलक्षत्रियास्तित्वं जुहवाम्बभूविम हुतवन्तो वयमिति शेषः । कार्त्तवीर्यार्जुन-भुजभारनलकनिर्यद्रुधिरधाराप्रकटितरसने यस्मिन् परशौ वयं सकलक्षत्रकुलं हुतवन्त इत्यर्थकं परशुपराक्रमबोधकमेकं वाक्यम् । सोऽयं परशुः प्राक्कवल-ग्रहस्य पूर्वं कवलीकृतस्य विघसीभूतेषु भुक्तावशिष्टोच्छिष्टरूपेषु अपि क्षत्रियक्षुद्रेषु राजन्यापसदेषु चिरेण क्षुधितः बहोः कालाद् बुभुक्षितः विद्यते, तेन मम परशु-नाऽयं हरधनुर्भङ्गसाहसी रामोऽन्विष्यते मृग्यते । येन परशुना पूर्वं सर्वे राजानो हताः स एवायं मम परशुः निहतावशेषान् क्षत्रियाञ्जिघांसुर्भूत्वा सम्प्रति हरचाप-भञ्जकं राममन्विष्यतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

साकमिति । यः परशुरामः शक्तिधरेण कुमारकार्त्तिकेयेन साकं सह तत्र भवतः पूजनीयात् देवात् भवानीपतेः शिवात् सम्यञ्चं साधुरूपम् चापनिगमं धनुर्वेदं सम्यञ्चि साधुस्वरूपाणि सामानि सामवेदशाखाश्च अवाप अधीतवान् शूराणाम् तपस्विनाञ्च परमां काष्ठाम् चरमां कोटिम् अधिष्ठास्नुभिः आश्रितवद्भिः तेजोभिः प्रभावैः (उपलक्षितः) असौ भगवान् सर्वसामर्थ्ययुक्तः भृगुपतिः अद्य सम्प्रति

मैंने सकल क्षत्रियकुलकी सत्ताका होम कर दिया, वही यह मेरा कुठार आज पूर्वभक्षितसे शेष क्षुद्र क्षत्रियों पर कुपित हो उठा है और वह रामको ढूंढ़ रहा है ॥ २२ ॥

(धैर्य तथा आनन्दसे युक्त रामका प्रवेश)

कार्त्तिकेयके साथ जिन्होंने शिवजीके चरणोंमें चापविद्या तथा सामवेदका यथावत् अध्ययन किया, पराकाष्ठाको पहुँचनेवाले अपने प्रतापसे वीरों तथा तपस्वियोंके अग्रगण्य वही परशुराम सौभाग्यवश हमारे सामने होंगे ॥ २३ ॥

---

१. 'अद्य'। २. 'सधैर्यसम्भ्रमो रामः'। ३. 'अधिष्ठातृभिः'।

जामदग्न्यः—(सखेदोपालम्भमात्मानं प्रति ।)

भस्माङ्कुरेति खुरलीकलहे कुमार-
मभ्याक्षिपन्परुषरोषरसान्धचेताः ।
दृष्टोऽस्मि यः कृतमिथोहसितं शिवाभ्यां
तच्चापभङ्गमपि हा सघृणः शृणोमि ॥ २४ ॥

([1]विमृश्य च ।) अहो मामरण्यनिवासिनमुपश्रुत्य दुरात्मना रघुकुटुम्बकेन दूरमुच्छ्वसितम् । (किंचिदुच्चैः ।)

दिष्ट्या मत्सौभाग्येन दर्शिष्यते साक्षात् करिष्यते । यो भगवान् परशुरामः शिवेन सुतनिर्विशेषं धनुर्वेदे सामवेदे च शिक्षितः, यश्च वीरतपस्वित्वप्रभावेण परां प्रतिष्ठां प्राप्तस्तमधुना प्रत्यक्षीकरिष्यामीत्यहो मम सौभाग्यमिति भावः । 'शक्तिधरः कुमारः क्रौञ्चदारणः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २३ ॥

भस्माङ्कुरेति । परुषः कठोरो यो रोषरसः कोपस्तेन अन्धं विचारशून्यं चेतो यस्य तथोक्तः यः अहम् खुरलीकलहे धनुर्वेदाभ्यासपाटवस्पर्धाविवादे कुमारम् कार्त्तिकेयम् अपि भस्माङ्कुर नष्टतापसपुत्र इत्याक्षिपन् निन्दावाक्येन भर्त्सयन् शिवाभ्याम् हरपार्वतीभ्याम् कृतमिथोहसितम् अन्योन्यस्मितपूर्वकम् दृष्टः, सोऽहम् शिवयोः सुतापेक्षयाऽप्यधिप्रीतिभाजनं भूत्वाऽपि सघृणः स्वकर्त्तव्यभावनाविरहितः सन् तच्चापभङ्गम् हरचापखण्डनकथाम् शृणोमि, नैतन्मम योग्यमिति भावः । 'अभ्यासः खुरली योग्या' इति हारावली ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४ ॥

माम् परशुरामम् । अरण्यवासिनम् वने वसन्तं तपस्यासमासक्तम् । उपश्रुत्य आकर्ण्य । रघुकुटुम्बकेन रघुकुलोत्पन्नेन राजसमूहेन । दूरम् अत्यर्थम् । उच्छ्वसितम् साहसं कृतम् । मदीयारण्यवासं श्रुत्वा रघुकुलं नितरां साहसिक्यं धृतवदित्यर्थः ॥

जामदग्न्य—(खेद तथा उलाहनेके साथ स्वगत) शस्त्राभ्यास-कलहकालमें जब मैं कुमारको 'भस्माङ्कुर' कहकर ललकारता था और क्रोधसे हमारा हृदय अन्धा हो उठता था, तब मुझे शिव-पार्वती परस्पर हासपूर्वक देखती थीं, वही मैं आज निर्दयभावसे उनके चापके टूटनेकी बात सुन रहा हूँ ॥ २४ ॥

(विमर्श करके) हाय, मुझे वनवासी समझकर दुरात्मा दशरथपरिवारने बहुत

---

१. '(विमृश्य ।) अहो नु खलु मामरण्यवासिनम्' ।

रे काकुत्स्थाः कथं वः श्रुतिविषयमयं नागमद्भार्गवीयो
दुःसामन्तापचारप्रचितपितृवधामर्षनिस्तारबन्धुः ।
वारानासन्नविंशान्विशसितविषमक्षत्रजातिप्ररोहः
क्रोधादुत्कृत्तगर्भामिषरुधिरवसाविस्रगन्धिः कुठारः ॥ २५ ॥

रामः—(दृष्ट्वा सहर्षबहुमानम् ।)

जेतारं दशकंधरस्य रभसाद्दोःश्रेणिनिःश्रेणिका-
तुल्यारूढसमस्तलोकविजयश्रीपूर्यमाणोरसम् ।

रे काकुत्स्था इति । रे काकुत्स्थाः ककुत्स्थकुलोत्पन्नाः क्षत्रियाः, दुःसामन्तानां दुष्टक्षत्रियाणाम् अपचारेण अत्याचारेण प्रचितः कृतो यः पितृवधः मदीयपितृहत्या, तेन यः अमर्षः शत्रुत्वनिर्यातनेच्छा तस्य निस्तारे पूर्तौ बन्धुः सहायभूतः, आसन्नविंशान् वारान् एकविंशतिवारान् विशसितः निहतः विषमक्षत्रजातिप्ररोहः दुष्टराजन्यकुलाङ्कुरो येन स तथोक्तः, क्रोधात् उत्कृत्ताः खण्डिताः ये (क्षत्रियस्त्रीणाम्) गर्भाः तेषां यत् आमिषम् मांसम् रुधिरं शोणितम् वसा मेदा च तैः विस्रगन्धिः आमगन्धिः भार्गवीयः परशुरामसंबन्धी कुठारः कथं वः युष्माकम् श्रुतिविषयं न अगमत् न श्रुतः । यो मम कुठारः दुष्टै राजभिरत्याचारेण मम पितरि निहते जातेन कोपेन एकविंशतिवारान् क्षत्रजातिप्ररोहानलुनात्, यश्च तावताऽप्यशान्तकोपः क्षत्रियस्त्रीणां गर्भानपि छित्त्वा तदीयमांसासृङ्मेदोभिरामगन्धितामभजत् तदीयं नाम किं यूयं न श्रुतवन्तो येनैतावत् हरचापभञ्जनसाहसिक्यं प्रकाशितवन्त इति भावः । 'विस्रंस्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः । पूर्वं सहस्रार्जुनेन जमदग्निर्हतः, तदनन्तरं पितृवधामर्षात्परशुरामेण क्षत्रियाः हता इति कथाऽत्र पृष्टभूमिः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २५ ॥

जेतारमिति । यः भार्गवः दशकन्धरस्य दशग्रीवस्य रावणस्य जेतारम् परिभवितारम्, तथा दोःश्रेणिः सहस्रसंख्यकभुजपरम्परा एव निःश्रेणिका अधिरोहणी तत्र तुल्यारूढा एककालमारूढा या समस्तलोकविजयश्रीः सकलभुवनजयलक्ष्मी-

---

साहस कर लिये (कुछ उच्च स्वरसे) अरे ककुत्स्थवंशके लोगो, दुष्टक्षत्रियोंके अपचारसे उत्पन्न पितृवधजन्य कोपसे मुक्ति दिलानेवाले इक्कीसबार क्षत्रियजातिके अङ्कुरोंको खण्डित करनेवाले, तथा क्रोधसे खण्डित क्षत्रिय-गर्भके रुधिर-मांस-वसादिके सम्पर्कसे आमगन्धि इस भार्गवकुठारके सम्बन्धमें तुम लोगोंने कुछ नहीं सुना है ॥ २५ ॥

राम—(देखकर हर्ष तथा आदरसे) रावणको जीतनेवाले तथा भुजमण्डलरूप एक साथ समस्त विश्वविजय-लक्ष्मियोंको बैठाकर हृदयमें धारण करनेवाले,

यः संख्ये निजघान हैहयपतिं शत्रोर्मुखं दृष्टवा-
न्यः पृष्ठं ददतोऽपि षण्मुखजये सोऽयं कृती भार्गवः ॥२६॥

(क्षणं च निर्वर्ण्य सस्मितम् ।) अहो संकीर्यमाणानेकरसानुभावगम्भीर-मधुरोऽयमस्याभोगः । तथाहि ।

जटां धत्ते मूर्धा परशुधनुषी बाहुशिखरं
प्रकोष्ठो रौद्राक्षं वलयमिषुदण्डानपि करः ।
प्ररूढप्रौढास्त्रव्रणविकटरौद्राद्भुतमिदं

स्तया पूर्यमाणम् भूतं सनाथमुरो वक्षो देशो यस्य तथाभूतम् , हैहयपतिं कार्त्तवीर्यार्जुनं संख्ये युद्धे निजघान हतवान् , यश्च षण्मुखजये कार्त्तिकेयपराजयकाले पृष्ठं ददतः पराङ्मुखीभूतस्य पलायमानस्यापि शत्रोः षण्मुखस्य मुखं दृष्टवान् षण्मुखस्य पृष्ठदेशेऽपि मुखशालितया वदनं साक्षात्कृतवान्, सोयं कृती रणकुशलो भार्गवः अस्तीति शेषः । अयमर्थः—यः कार्त्तवीर्यो रावणमपि जिगाय, यस्य भुजसमुदायरूपनिःश्रेणिकाद्वाराऽऽरूढा सकलभुवनजयलक्ष्मीर्वक्षोदेशमधितिष्ठति-स्म, तमपि जितवांस्तथा षण्मुखमपि युद्धे विजितं कृत्वा तदीयं पृष्ठस्थं मुखं साक्षात्कृतवानयं भगवान्परशुराम इति । 'निःश्रेणिस्त्वधिरोहणी' इत्यमरः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

सङ्कीर्यमाणेति । सङ्कीर्यमाणा- एकत्राश्रये मिलिताः ये अनेके रसाः वीरशान्त्यादयः, तेषामनुभावेन सम्बन्धप्रभावेण गम्भीरः दुरवगाहः मधुरः रमणीयः । अस्य परशुरामस्य । आभोगः शरीरावयवविस्तारः । परशुरामशरीरस्यानेकरससामग्रीपूर्णत्वमुक्तं, तदेवोपपादयिष्यति 'जटां धत्ते' इत्यादिना वक्ष्यमाणश्लोकेन ॥

जटां धत्ते इति । (अस्य भार्गवस्य) मूर्धा शिरोदेशः जटां धत्ते धारयति, बाहुशिखरम् भुजाग्रदेशः परशुधनुषी कुठारं धनुश्च धत्ते, प्रकोष्ठः हस्तभागः रौद्राक्षं वलयं रुद्राक्षमालाम् , करः हस्तश्च इषुदण्डान् शरान् धत्ते, प्ररूढेन जातेन प्रौढेन महता अस्त्रव्रणेन अस्त्रक्षतेन विकटं भीषणं रौद्राद्भुतम् रौद्ररसेन विस्मय-

---

कार्त्तवीर्यार्जुनको जिन्होंने युद्धमें निहत किया, और जिन्होंने युद्धसे भागते हुए कार्तिकेय-का मुख देखा, यद्यपि वह पीठ दिखला रहे थे, वही हैं यह कुशलकर्मा भार्गव ॥ २६ ॥

(थोड़ी देर देखकर सहास) अहो, इनके आकारमें अनेक रसोंका सम्मिश्रण है जिससे यह प्रभावशाली तथा रमणीय प्रतीत होते हैं, क्योंकिः—

इनके सिर पर जटा है और बाहुमें कुठार तथा धनुष हैं, प्रकोष्ठमें रुद्राक्ष है और

प्रशान्तामैणेयीं त्वचमपि च वक्षः कलयति ॥ २७ ॥

(इत्युपसर्पति ।)

जामदग्न्यः—(विलोक्य ।) [1]कथमयमसौ [2]श्रूयमाणगुणानुकल्पिताकारसंवादी दाशरथिः । साधु रे राजन्यपोत, साधु ।

सविधमुपसरन्समूलकाषं कषितनृपान्वयमद्य मां धिनोषि ।
हरिमिव करिकुम्भकूटकोटिप्रकटकठोरनखाङ्कुरं कुरङ्गः ॥ २८ ॥

जनकं च वक्षः उरः चापि प्रशान्तां सौम्याम् ऐणेयीम् मृगसम्बन्धिनीम् त्वचं कृत्तिं कलयति धारयति । जटया शान्तिः, परशुधनुर्भ्यां वीरता, रुद्राक्षवलयेन शान्तिः, इषुदण्डैः पुनर्वीरभावः, उरसि स्थितैरस्त्रक्षतचिह्नैर्वीरता रौद्रता अद्भुतता च, पुनरैणेयत्वचि शान्तिरित्यस्य वपुरनेकरससामग्रीसंवलिततयाऽद्भुतमितिभावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २७ ॥

श्रूयमाणानुकल्पिताकारसंवादी श्रूयमाणो लोकैः कथितो मया श्रुतश्च अनुकल्पितस्तेन मनसि स्थिरीकृतो य आकारस्तत्संवादी तदनुहारी । दाशरथिः रामः । राजन्यपोत क्षत्रियशिशो ।

सविधमुपसरन्निति । सविधमुपसरन् मदन्तिकमागच्छन् त्वम् समूलकाषम् आमूलचूलम् कषितनृपान्वयम् निहतराजकुलम् माम् परशुरामम् अद्य अधुना कुरङ्गो मृगः करिणां गजानां ये कुम्भाः मस्तकदेशास्तेषां कूटानि शिखराणि तेषां कोटौ तत्सङ्ख्यायाम् प्रकटः प्रसिद्धः कठोरः तीक्ष्णो नखाङ्कुरो नखाग्रभागो यस्य तथाविधं हरिं सिंहमिव धिनोषि प्रीणयसि । यथा करिकुम्भकूटकोटिपाटनं विदधतः सिंहस्य तृप्तये समीपमुपसरन् कुरङ्गो जायते तथैव समूलक्षपितक्षत्रकुलस्य मम

हाथ में वलय तथा बाण विद्यमान हैं, वक्षःस्थल पर अस्त्र-व्रणके चिह्नोंकी रौद्रता स्थित है और शान्तिव्यञ्जक मृगचर्म भी है ॥ २७ ॥

(समीप जाते हैं)

जामदग्न्य—(देखकर) क्या यह वही दशरथपुत्र है जिसके सुने गये गुण आकारसे मिल जुल रहे हैं, साधु रे क्षत्रियकुमार, साधु,

समूल क्षत्रिय वंशके संहार करनेवाले परशुरामके पास आता हुआ तुम उसे उसी तरह आनन्दित कर रहा है जैसे गजकुम्भ-समुदाय पर नख-कोटिको प्रकट करनेवाले सिंहके पास आता हुआ हरिण उसे आनन्दित करता है ॥ २८ ॥

---

१. 'आः, कथमसौ' । २. 'गुणानुरूपकल्पिताकार-' ।

रामः—(सस्मितम् ।) भगवन्भार्गव, [1]गुरुगर्भरूपयोरेतावदेवान्तरम् । किं च[2] ।

आदेष्टा भगवान्भृगुर्जननयोरौत्पत्तिकब्राह्मयो-
　　र्देवो धूर्जटिरस्त्रकर्मणि गुरुर्वीर्यं च दूरेगिराम् ।
सप्तद्वीपवतीं ददद्भुवमभिप्रैषि द्विजान्कश्यप-
　　प्रायान[3]प्रतिमानुभाव भवते कस्मैचिदस्मै नमः ॥ २९ ॥

समीपमुपसरंस्त्वं मां प्रीणयसीत्युपमया यथासौ कुरङ्गो हरिणा तेनानानार्यं व्यापाद्यते तथैव त्वमपि मया व्यापादयिष्यसे इति वस्तुनो ध्वनिः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ २८ ॥

गुरुः महान् , गर्भरूपः अतिक्षुद्रो बालकः, तयोरेतावदेव अन्तरं भेदः, यथा कुरङ्गसिंहयोरन्तरं तथैव मम भवतश्च तत्त्वदुक्तं सत्यमेवेति भावः ॥

आदेष्टेति । अप्रतिमानुभावं हे अनुपमप्रभाव, भगवान् भृगुः औत्पत्तिकब्राह्मयोः मातृकुक्षिजन्मसावित्रजन्मनोः जननयोः आदेष्टा उपदेशकः जन्मदातोपनेता च, देवः धूर्जटिः शिवः अस्त्रकर्मणि धनुर्वेदशिक्षायाम् आचार्यः शिक्षकः, वीर्यं पराक्रमश्च गिरां दूरे अवर्णनीयम् इत्यर्थः । सप्तद्वीपवतीम् सप्तद्वीपशालिनीम् भुवं पृथिवीं ददत् कश्यपप्रायान् कश्यपादीन् द्विजान् ब्राह्मणान् अभिप्रैषि स्वदानक्रियाकर्मणा सप्तद्वीपया वसुमत्या योजयितुमिच्छसि कश्यपादिभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरां वितरसीत्यर्थः, कस्मैचित् अचिन्त्यसर्वगुणाय अस्मै भगवते परशुरामाय नमः । औत्पत्तिकब्राह्मजन्मनोर्भृगुरादेष्टेतिकथनेन बीजशुद्धिः संस्कारशुद्धिश्चोक्ता, किञ्च धूर्जटिरस्त्रोपदेष्टेत्यनेन सम्प्रदायशुद्धिरुच्यते, वीर्यं गिरां दूरे इत्यनेन च पात्रशुद्धिकृत उत्कर्षः प्रकाश्यते, कश्यपादिभ्यो धरादानेन सत्त्वशुद्धिश्चेति सर्वशुद्धिनिधये भवते प्रणताः स्मेति भावः । 'जम्बुप्लक्षकुशक्रौञ्चशाकशाल्मलिपुष्कराः । द्वीपाः सप्तेति' । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

राम—भगवन् , गुरुओं तथा बालकोंमें इतना ही अन्तर होता है ।

आपको औत्पत्तिक तथा सांस्कारिक जन्म भगवान् भृगुने दिया, अस्त्रकी शिक्षा महादेवने दी, आपके पराक्रमका वर्णन अशक्य है, सप्तसमुद्रवेष्टिता पृथ्वीको देते हुए आप सभी ब्राह्मणोंको कश्यपके समान समझते हैं, आपका प्रभाव अतुल है, आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥

---

१. 'गुरुगर्भयोः'; 'गुरुभर्गयोः' ।　　२. 'तु' ।　　३. 'अप्रतिमप्रभाव' ।

जामदग्न्यः—अरे क्षत्रियडिम्भ, तवानेन सत्त्वसौजन्यपौरुषोत्कर्षेण किमप्यन्तराप्यायितोऽस्मि । किं तु ।

नाराचैः कृतवीर्यनन्दनवधूवाष्पप्रियंभावुकै-
रुत्पाद्य [1]क्षतजोद्मर्णवमथ न्युप्तं पितृभ्यां पयः ।
संप्रत्यस्य समस्तबाहुजभुजः क्रोधस्य निर्वास्यतः
क्षुन्दानो धनुरैन्दुशेखरमहो जातो भवानिन्धनम् ॥ ३० ॥

क्षत्रियडिम्भ राजन्यशिशो । सत्त्वं महानुभावत्वं, सौजन्यं साधुभावः, पौरुषं पराक्रमश्च तेषामुत्कर्षेण आधिक्येन। किमपि कियतांऽशेन । आप्यायिताः सन्तोषिताः॥

नाराचैरिति । कृतवीर्यो नाम नृपभेदस्तस्य नन्दनः पुत्रः कार्त्तवीर्यः तस्य वधूनां नारीणां वाष्पस्याश्रुणः प्रियं भावुकैः प्रियकारिभिर्हितैर्वृद्धिकारिभिः, कार्त्तवीर्याङ्गनानयनवाष्पाणि परशुरामबाणैस्तद्भर्तृवधद्वारा वृद्धिं नीयन्त इति तद्बाणानां तत्प्रियम्भावुकत्वमुक्तम्) नाराचैर्बाणैः क्षतजोदम् रुधिरजलपूर्णम् अर्णवम् उत्पाद्य निर्माय अथ पितृभ्यां स्वजननीजनकाभ्यां पयः निवापजलम् न्युप्तं दत्तम् तोयाञ्जलिर्दत्तः, सम्प्रति अस्य समस्तबाहुजभुजः सकलक्षत्रियसंहारकरस्य निर्वास्यतः समाप्तिं गमिष्यतः अस्य क्रोधस्य ऐन्दुशेखरं शैवं धनुः चापं क्षुन्दानः खण्डयन् भवान् इन्धनम् प्रज्वलनसाधनं काष्ठं जातः । अहो इत्याश्चर्ये । यो मम कोपाग्निः कार्त्तवीर्यार्जुनाङ्गनाजननयनेषु वाष्पमवर्धयत् , यत्प्रभावान्मया शोणितसागरमुत्पाद्य पितृभ्यां तोयाञ्जलिदानमक्रियत, सम्प्रत्यसौ मम कोपाग्निर्दाह्याभावान्निर्वाणोन्मुख इवासीत् , परं शाम्भवं धनुः खण्डयित्वा त्वं तदिन्धनभावं भजसे इत्याश्चर्यं तवाविवेकित्वमिति भावः । 'क्षुदिर् संपेषणे' इति रुधादेः शानचि क्षुन्दान इति रूपम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३० ॥

जामदग्न्य—अरे क्षत्रियकुमार, तुम्हारे इस सत्त्व तथा सौजन्यके उत्कर्षसे कुछ आनन्दित हो उठा हूँ । किन्तु—

कार्त्तवीर्यकी स्त्रियोंके नयनोंमें अश्रुप्रवाहको बढ़ानेवाले अपने बाणोंसे क्षत्रिय-रुधिरमय समुद्र उत्पन्न करके उसमें मैंने पितृतर्पण सम्पादित किया है, इस समय हमारा क्षत्रियों पर यह कोप रूप अनल बुतने ही जारहा था कि शिवधनुषका भङ्ग करनेवाला तुम उसका इन्धन बन गये ॥ ३० ॥

---

१. 'क्षतजोत्थ' ।

रामः—(स्मित्वा ।) [1]भगवन्,

वालस्वभावसुलभेन कुतूहलेन
कृष्टं धनुर्भगवतो वृषभध्वजस्य ।
तत्रानुषङ्गिकममङ्गलमीदृशं तु
संवृत्तमत्र न मया गणितस्त्वमासीः ॥ ३१ ॥

जामदग्न्यः—(सरोषम् ।) आः [2]क्षुद्रक्षत्रियडिम्भ, कथं प्रमथनाथप्रथमान्तेवासिनं परशुराममपि भवान्नाजीगणत् ।

महासेनो यस्य प्रमदयमदंष्ट्रासहचरैः
शरैर्मुक्तो जीवन्द्विरिव शरजन्मा समभवत् ।

वालस्वभावेति । वालस्य शिशोः स्वभावः प्रकृतिः तेन सुलभं स्वतः सञ्जातं तेन तादृशेन कुतूहलेन औत्सुक्येन भगवतो वृषभध्वजस्य शिवस्य धनुः कृष्टं नमितम्, तत्र नमने ईदृशम् मनसाऽप्यचिन्तितपूर्वम् अमङ्गलम् तद्भङ्गरूपमशुभं तु आनुषङ्गिकम् अनभिप्रायकृतम् अतर्कितम् संवृत्तम् जातम्, 'अत्र विषये त्वं मया न गणितः न विभावितः, एतस्मिन् विषये तवापि सम्पर्कः, एतेन तवाप्यप्रीतिः सम्भविनीति मया न चिन्तितम् । वालसुलभकुतुकेनात्र धनुषि नमितमात्रेऽकस्मादेवेदमभज्यत, न मया तदर्थं यतितं, न वा भवदप्रीतिरेव सम्भाविता, तदयमपराधः सर्वथाऽज्ञानकृत एव वोध्यः ॥ ३१ ॥

क्षुद्रक्षत्रियडिम्भ क्षत्रियापसदशिशो, प्रमथनाथस्य शिवस्य प्रथमान्तेवासिनं प्रधानमादिमं च च्छात्रम् । अजीगणत् न मनसि विभावितवान् ।

महासेन इति । रे प्रमद प्रकृष्टगर्वधर, महासेनः कार्त्तिकेयो यस्य मम यमदंष्ट्रासहचरैः यमराजदन्तसदृशैः शरैः मुक्तः पराङ्मुखतया परित्यक्तः जीवन् सन् द्विरिव द्विधेव शरजन्मा शरेषु शरवणेषु जन्म यस्य तथोक्तस्तथा शराद्विमुक्ततया

राम—(हंसकर) भगवन्, वालस्वभाव-सुलभ कुतूहलवश मैंने शिवधनुष चढ़ा दिया, उसीसे यह अमङ्गल अनायास उपस्थित हो गया, मैंने इस प्रसङ्गमें आपका विचार ही नहीं किया ॥ ३१ ॥

जामदग्न्य—(सरोष) आः क्षुद्र क्षत्रियकुमार, क्या तुमने महादेवके प्रथम शिष्य परशुरामको भी नहीं गिना, जिसके मदमत्त-यमराजदंष्ट्रा-समान शरोंसे मुक्त होने पर

१. 'भगवन्मार्गव' । २. 'क्षुद्र' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

इमां च क्षत्राणां भुजवनमहादुर्गविषमा-
मयं वीरो वारानजयदुपविंशान्वसुमतीम् ॥ ३२ ॥

रामः—शान्तं शान्तम्। [1]प्रसीद भगवन्, अविमृश्यकारितया न गणितोऽसि। न पुनरवलेपात्।

स्त्रीषु प्रवीरजननी जननी तवैव
देवी स्वयं भगवती गिरिजापि यस्यै।
त्वद्दोर्वशीकृतविशाखमुखावलोक-
व्रीडाविदीर्णहृदया स्पृहयांबभूव ॥ ३३ ॥

जन्म रत्ता यस्य तथोक्तश्च सम्भवत् सञ्जातः। अयं मल्लक्षणो वीरश्च उपविंशान् वारान् एकविंशतिधा क्षत्राणां क्षत्रियाणां भुजवनानि एव महादुर्गाणि तैः विषमाम् दारुणाम् वसुमतीञ्च पृथ्वीम् अजयत् जितवान्। मया सह युध्यमानो महासेनः पलाय्य प्राणानरक्षीत्, किञ्चाहं क्षत्रियभुजवनरूपदुर्गशालिनीमिमां पृथ्वीमेकविंशतिवारांनजैषम्, तदीदृशोऽप्यहं त्वया न गणित इत्यहो तव साहसिक्यम् इत्याशयः। 'कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः॥ ३२ ॥

प्रसीद क्षमस्व। अविमृश्यकारितया अविवेकितया। न पुनरवलेपात् गर्वात् न केवलं ममाविवेकित्वमेव तवागणनायां कारणं न पुनर्मम दर्पः, मयि तस्याभावादिति भावः॥

स्त्रीषु प्रवीरेति। स्त्रीषु स्त्रीणां मध्ये तवैव जननी माता रेणुका प्रवीरजननी प्रकृष्टवीरप्रसविनी, स्वयं भगवती गिरिजा पार्वती अपि तव दोष्णा भुजेन त्वदीयबाहुबलेन वशीकृतस्य निर्जितस्य विशाखस्य कार्त्तिकेयस्य मुखावलोकेन वदनदर्शनेन या व्रीडा लज्जा तया विदीर्णहृदया दुःखितहृदया यस्यै तव जनन्यै स्पृह-

---

कार्त्तिकेयने अपनेको दो-वार शरजन्मा समझा, उस वीर परशुरामने क्षत्रियोंके भुजवन विषमा इस पृथ्वीको इक्कीस बार जीता ॥ ३२ ॥

राम—शान्त शान्त! कृपा कीजिये महाराज, अविचारके कारण ही आपको नहीं गिना, गर्वसे नहीं गिना यह बात नहीं है।

स्त्रियोंमें वीरजननी आपकी ही माता है, आपके द्वारा पराजित कार्त्तिकेय के मुखको देखकर लज्जासे विदीर्णहृदया होकर स्वयं देवी पार्वतीने आपकी माताके प्रति अपनी स्पृहा प्रकट की थी ॥ ३३ ॥

---

१. 'प्रसीद' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।

जामदग्न्यः—(विहस्य ।) रे राजन्यपोत,

अनुभवपुनरुक्तां मुञ्च नः स्तोत्रचर्या-
मुपनमय तदेतत्कौशिकोपज्ञमस्त्रम् ।
क्षिपति न खलु कालं वीरगोष्ठीविनोद-
प्रियपरशुरयं मे बाहुरुद्यच्छमानः ॥ ३४ ॥

रामः—(स्वगतम् ।) अये, भगवन्तं विश्वामित्रमपि स्पृशति । भवत्वेवं तावत् । (प्रकाशम् । सधैर्यस्मितम् ।)

ग्राम्बभूव स्पृहाञ्चकार । धन्या भार्गवजननी यस्याः पुत्रो ममापि पुत्रमजयत्, इति मनसि विभावयन्ती स्वापेक्षया यां गरीयसीं मनुतेस्म भगवती गिरिजा, तादृशी तव जननी धन्येति भावः । 'विशाखः शिखिवाहनः' इत्यमरः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

अनुभवेति । अनुभवपुनरुक्तां प्रत्यक्षसिद्धाम् नः अस्माकं स्तोत्रचर्याम् मुञ्च-स्तुतिवार्त्तां परित्यज । तदेतत् कौशिकोपज्ञम् विश्वामित्रशिक्षितम् अस्त्रम् उपनमय उपनमय उद्यच्छ, वीरगोष्ठी शूरजनसभा संग्रामः तत्र विनोदप्रियः तद्रसिकः परशुः कुठारो यत्र तादृशः उद्यच्छमानः युद्धोद्यतो मम बाहुः कालं समयं न खलु क्षिपति नैव प्रतीक्षते, मदीयं समस्तमपि वीरत्वमनुभवप्रमापितमित्यलं तत्स्तुत्या त्वत्कृतया, युद्धाय सज्जो भव विश्वामित्रवितीर्णं च स्वकास्त्रमुपनमय, युद्धरसिको ममायं कुठारो मदीये बाहौ स्थितस्तं युद्धाय प्रेरयति, तदसौ समयप्रतीक्षानर्ह इति भावः । कौशिक उपज्ञा आद्योपदेष्टा यस्य तत्कौशिकोपज्ञम्, 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादि'ति कोपः । मालिनीवृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

विश्वामित्रमपि स्पृशति निन्दयति शेषः, मदीयनिन्दाद्वारा मद्गुरुमपि निन्दतीत्यर्थः ।

जामदग्न्य—(हंसकर) अरे क्षत्रियकुमार, अनुभवों द्वारा सत्यापित हमारी प्रशंसाकी बात छोड़ दे, तुमने कौशिकसे जिस अस्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है उसे प्रकटकर, यह प्रियपरशु तथा फड़कता हुआ हमारा बाहु इस वीरगोष्ठी-विनोदको नहीं पसन्द करता है ॥ ३४ ॥

राम—(स्वगत) अरे, यह तो भगवान् विश्वामित्रको भी समेटे जा रहा है, रहे तब

---

१. 'रे राजन्यपोत' इति क्वचिन्नोपलभ्यते ।

भूमात्रं कियदेतदर्णवमयं[1] तत्साधितं हार्यते
यद्वीरेण भवादृशेन वदति त्रिःसप्तकृत्वो जयः।
[2]डिम्भोऽयं नवबाहुरीदृशमिदं घोरं च वीरव्रतं
[3]तत्कोपाद्विरम प्रसीद भगवञ्जात्यैव पूज्योऽसि नः ॥३५॥

जामदग्न्यः—(सक्रोधकम्पं स्वगतम् ।) अहो दुरात्मनोऽस्य राजन्यपोतस्य [4]वीरप्रहतायाः पद्धतेरस्खलितमुक्तिवैदग्ध्यम् । ([5]प्रकाशम् ।) आः पाप, जात्यैव केवलया [6]पूज्यते परशुरामः । कथमद्यापि निरायुधोऽसि ।

भूमात्रमिति । एतत् भूमात्रं कियत् अत्यल्पमिदं भूमण्डलम्, तदपि अर्णवमयं सागरव्याप्तं साधितम् जितं सत् भवादृशेन वीरेण हार्यते पुनः परवशं नीयते यत् भवता जितस्य सागरव्याप्तस्य भूमण्डलस्य परैर्हरणम् त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् क्रियमाणो विजयः वदति कथयति, एकधा जितस्य पुनर्जयायोगात् पुनः पुनर्जयोद्योगः जिताया भुवः परैर्हरणं प्रमापयति, तथा सत्येव पुनर्जयोद्योगसम्भवात् । अयम् डिम्भः बालः अहम् नवबाहुः नवप्राप्तभुजः कोमलबाहुः, इदञ्च वीरव्रतम् युद्धम् ईदृशं घोरम् भीषणम्, तत् तस्मात् हे भगवन् जामदग्न्य प्रसीद प्रसादं भज, कोपाद्विरम निवृत्तो भव, जात्या एव नः अस्माकं पूज्यः असि ब्राह्मण्यादेव वयं तव पूजापरा अतोऽलमस्मासु कोपेनेति भावः । अत्र नवोद्यतभुजेन बालकेन मया यदि तव पराजयो जायेत तदाऽतीवापमानः स्यादिति कोपं निगृहाणेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

दुरात्मनः दुष्टस्य । वीरपोतस्य वीरबालकस्य । वीरप्रहतायाः वीरजनपरिशीलितायाः । पद्धतेः मार्गात् । अस्खलितम् अच्युतम् । उक्तिप्रत्युक्तिवैदग्ध्यम्

तक [प्रकट] (धैर्यसे मुस्कुराते हुए) समुद्रवेष्टित इस पृथ्वीको प्राप्त करके आपने दानमें दे दिया, यह कौन-सी बड़ी बात है, आपने तो पृथ्वीको इक्कीस बार जीता है। मैं नवबाहुशाली बालक हूँ और यह वीरव्रत बड़ा भयङ्कर है, क्रोध छोड़िये, आप मेरे लिये जन्मतः आदरणीय हैं ॥ ३५ ॥

जामदग्न्य—(क्रोधसे काँपते हुए स्वगत) अहो, यह दुरात्मा क्षत्रियकुमार वीरजनक्षुण्णपद्धतिसे बिना हटे कैसी चतुराईसे बातें कर रहा है, (प्रकट) आः पाप, क्या परशुराम केवल जातिसे पूज्य है ? क्यों अब तक तुमने अस्त्रग्रहण नहीं किया ?

---

१. 'मितम्'। २. 'अहम्'। ३. 'क्रोधात्'।
४. 'महावीर'। ५. 'प्रकाशं सरोषम्'। ६. 'पूजनीयः'।

त्रिनयनिचुलितैर्भवद्वचोभिः किमपि नवं विवृणद्भिरङ्कमन्तः ।
अयमजनि करः कृतान्तदंष्ट्राक्रकचकठोरकुठारदुर्निरीक्ष्यः ॥ ३६ ॥

(उच्चैश्च ।) अहो नु खलु भोः,

त्रैलोक्यत्राणशौण्डः [1]सरसिजवसतेर्यः प्रसूतो भुजाभ्यां
स क्षत्रं नाम वर्णः कुलिशकठिनयोर्यस्य दोष्णोर्विलीनः ।
ज्वालाजिह्वालकालानलकवलभयभ्रान्तदेवासुराणि
व्यातन्वानो जगन्ति ज्वलति मुनिरयं पार्वतीधर्मपुत्रः ॥३७॥

कथोपकथनचातुर्यम् । निरायुधः अधृतास्त्रः । पुनः पुनरागृहीतोऽपि किमपि सम्प्रत्यपि युद्धोद्यतो न भवसीति भावः ॥

विनयेति । विनयनिचुलितैः शिष्टाचारपिहितैः किमपि रहस्यम् अन्तः मनसि स्थितम् नवम् अङ्कम् पापं कलङ्कम् विवृणद्भिः व्यञ्जयद्भिः उपरि विनीतत्वेऽपि मनसि स्थितं कौटिल्यं प्रकटीकुर्वद्भिः 'साधितं हार्यते' इत्यादिपूर्वोक्तरूपैः अयं मम करः कृतान्तस्य यमस्य दंष्ट्रा दन्ता एव क्रकचः तद्वत् कठोरेण परशुना दुर्निरीक्ष्यः दुर्दर्शः अजनि कृतः । कुटिलैस्तव वचनैः प्रेरितो ममायं करो युद्धोद्यमं प्रापित इत्यर्थः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३६ ॥

त्रैलोक्येति । यः सरसिजवसतेः कमलवसतेर्ब्रह्मणः भुजाभ्यां प्रसूतः जन्माग्रहीत्, 'बाहू राजन्यः कृतः' इति श्रुत्या क्षत्रियजातेर्बाहुजत्वं प्रमाणितम्, सः तादृशः त्रैलोक्यत्राणशौण्डः लोकत्रयरक्षाक्षमतादक्षः क्षत्रं नाम वर्णः क्षत्रियजातिः यस्य मम दोष्णोः भुजयोर्विलीनः समाप्तिं गतः, अयं सः मुनिः पार्वतीधर्मपुत्रः पार्वत्या पुत्रवदनुगृहीतः जगति सर्वान् लोकान् ज्वालाभिः शिखाभिः जिह्वालः जिह्वावान् यः कालानलः प्रलयाग्निः तस्य कवलात् ग्रासात् भयेन भ्रान्ताः मूढभावं गमिताः देवा असुराश्च येषु तानि तथोक्तानि व्यातन्वानः कुर्वन् ज्वलति दीप्यते । ब्राह्मणो-

---

विनयमें आवृत तथा भीतरमें घाव भरे तुम्हारे इन वचनोंसे प्रेरित होकर यह हमारा यमराजकी दंष्ट्राके समान कठोर कुठारसे दुर्निरीक्ष्य हो रहा है ॥ ३६ ॥

(जोरोंसे) अहो, अरे ओ दुष्टो,

त्रैलोक्यकी रक्षामें दक्ष तथा ब्रह्माके बाहुओंसे उत्पन्न जो क्षत्रिय जाति मेरे जिन कुलिश कठोर बाहुओंमें विलीन हो गयी, वही ज्वाला भीषण प्रलयानलके भयसे देवासुरोंको त्रस्त बनानेवाला तथा पार्वतीका धर्मपुत्र मैं परशुराम कोपसे प्रज्वलित हो रहा हूँ ॥३७॥

---

१. 'संप्रसूतः' ।

(नेपथ्ये ।)

[1]भगवन्भार्गव,

[2]अप्रवृत्तिविषयं वितन्वतः क्षत्रशब्दमियमेव मेदिनी ।
दक्षिणा तव बभूव यज्वनो मुञ्च संप्रति तु शुष्कमायुधम् ॥ ३८ ॥

जामदग्न्यः—अये, [3]प्रशान्तगम्भीरः क एषः । तर्हि जनकेन भवितव्यम् । (तदभिमुखमवलोक्य ।) [4]राजर्षे सीरध्वज, भगवतः सूर्यशिष्यात्पुराणवाजसनेयिनो याज्ञवल्क्यादधीतब्रह्मसिद्धान्तो गृहीतवाक्य[5] एवासि । किं तु नायमवसरः शिष्टानुरोधस्य ।

हस्ताभ्यां गृहीतजन्मा त्रैलोक्यरक्षादक्षश्च क्षत्रियवर्णो यस्य बाहुभ्यां समापितः, ज्वालाजालजटिलकालानलभ्रमवशाद्यतो देवा, असुराश्च बिभ्यति, तादृशोऽहं मुनिस्तदलं कटूक्तिभिर्ननु सज्जो भव युद्धायेति भावः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३७ ॥

अप्रवृत्तिविषयमिति । क्षत्रशब्दम् क्षत्रियेतिसंज्ञाम् अप्रवृत्तिविषयम् प्रवृत्तिविषयशून्यम् क्षत्रशब्दशक्यतावच्छेदकक्षत्रत्वरूपजातिविरहितम् अप्रसिद्धवाच्यम् वितन्वतः कुर्वतः सर्वानेव क्षत्रियान्विपाद्य क्षत्रशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं क्षत्रियत्वं लुम्पतः तव यज्वनः कृतयज्ञस्य इयमेव मेदिनी ब्राह्मणाय देया बभूव जाता, सम्प्रति तु शुष्कम् नीरसमप्रयोजनञ्च आयुधं शस्त्रं मुञ्च । तव प्रतिपन्थिविरहादायुधग्रहणं नितान्तविफलमित्यलं तद्ग्रहणेनेति भावः । रथोद्धतावृत्तम् , 'रात्परैर्नरलगै रथोद्धता' इति तल्लक्षणात् ॥ २८ ॥

पुराणवाजसनेयिनः पुरातनयजुर्वेदविद्याविदः । अधीतब्रह्मसिद्धान्तः अधिगतब्रह्मविद्यः, गृहीतवाक्यः मान्यवचनः । पुरा तव वाक्यं मया, मन्यतेस्मैव, किन्तु नायं

(नेपथ्यमें)

भगवन् भार्गव,

आपने इस पृथिवीपरसे क्षत्रिय जातिके प्रवृत्ति-निमित्त क्षत्रियत्वको उठा दिया, और उस यज्ञकी दक्षिणामें यह पृथिवी ही प्राप्त हुई, अब आप इस शुष्क आयुधका त्याग कर दें ॥ ३८ ॥

जामदग्न्य—अरे, यह प्रशान्त गम्भीर कौन है, तो यह जनक हो सकता है? (उधर देखकर) राजर्षे सीरध्वज, आपने सूर्यके शिष्य पुराणवाजसनेयी याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या सीखी है, आपकी बात मैं मान चुका हूँ, परन्तु यह शिष्टाचारका समय नहीं है ।

---

१. 'भार्गव भार्गव' । २. 'अप्रवृत्त' । ३. 'प्रशान्तगम्भीरस्वरेण जनकेन' ।
४. 'राजर्षे' इति क्वचिन्नास्ति । ५. 'वागेवासि' ।

अवनिमधिकविंशानभ्यवस्कन्द्य वारा-
　　नवभृथभृतकेभ्यः संप्रदाय द्विजेभ्यः ।
विरमति रमणीयाद् द्वन्द्वयुद्धात्कथं मे
　　निखिलनृपतिहत्यादृष्टसारः कुठारः ॥ ३९ ॥

(पुनर्नेपथ्ये ।)

भृगुतिलक नमस्ते मुञ्च वैमत्यमेत-
　　त्कुरु करुणमिदानीं मानसं मानशौण्ड ।
वहति बत किमस्त्रं पुत्रभाण्डेऽपि रामे
　　त्रिजगदभयदानस्थूललक्ष्यो भुजस्ते ॥ ४० ॥

कालः शिष्टानुरोधस्य महाजनवचनपालनस्य, युद्धकाले महाजनवचनात्ततो निवृत्तौ कातर्यव्यञ्जनादिति भावः ।

अवनिमिति । अधिकविंशान् विंशतेरधिकान् एकविंशतिवारान् अवनिं पृथ्वीम् अवस्कन्द्य विजित्य अवभृथभृतकेभ्यः यज्ञान्तस्नानर्त्विग्भ्यः द्विजेभ्यः अवनिं प्रदाय च (स्थितस्य) मे मम निखिलानां नृपतीनां हत्यायां वधे दृष्टः सारो बलं यस्य तादृशोऽयं कुठारः परशुः रमणीयात् अनधिकप्रयाससम्पाद्यात् द्वन्द्वयुद्धात् द्वयोरेवावयोर्मध्ये भाविनः संग्रामात् कथं विरमति निवर्त्तते । योऽहमखिलां धरां विजित्य यज्ञे ऋत्विग्भ्यः प्रतिपादितवाँस्तस्य ममायं सकलराजन्यकवधदृष्टसामर्थ्योऽयं कुठारः परस्परयुद्धादस्मात्कथंकारं निवर्त्तेत, तदलं तव वचनेनेति भावः । मालिनीवृत्तम् ॥३९॥

भृगुतिलकेति । भृगुतिलक हे भार्गवकुलभूषण, ते तुभ्यं नमः, एतत् सम्प्रति प्रकाश्यमानम् वैमत्यं विरुद्धबुद्धिं मुञ्च त्यज, हे मानशौण्ड अभिमानशालिन्, इदानीं स्वं मानसं करुणं दयायुक्तं कुरु, त्रिजगतः लोकत्रयस्य अभयदाने निर्भयभावप्रदाने स्थूललक्षः वदान्यः 'स्युर्वदान्यस्थूललक्षदानशौण्डाबहुप्रदे' इत्यमरः । ते भुजः बाहुः

इक्कीसवार जीतकर इस पृथिवीको जिमने यज्ञान्तमरणीय ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया है, समस्त नृपतियोंकी हत्यामें जिसका बल देखा जा चुका है, वही यह मेरा कुठार इस रमणीय द्वन्द्वयुद्धसे किस प्रकार विरत होगा ? ॥ ३९ ॥

(फिर नेपथ्यमें)

हे भृगुतिलक, आपको नमस्कार, आप अपना यह हठ छोड दें, हे अभिमानिन्, आप अपने हृदयको दयालु बनाइये, क्यों आप पुत्रके समान रामपर अस्त्र उठा रहे हैं ? ॥४०॥

जामदग्न्यः—(रामं प्रति ।) अये, धीरकर्कशस्वरः क एषः ।

रामः—(सप्रश्रयम् ।) भगवन्, अयं नस्तातो रघुपतिः ।

जामदग्न्यः—(सव्यथम् ।) धिक्, सर्वतः [1]क्षत्रकलम्बोद्भेदः । ([2]नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) भो राजन्दशरथ, [3]अस्मन्नामधेयमात्रमित्रेण [4]पुत्रेणामुना मानार्हो भवान् । किं पुनरनभिज्ञोऽसि वीरव्यवहारस्य ।

पुरमथनधनुर्विमर्दनोत्थं प्रदहदहर्दिवमस्ति तीव्रमर्चिः ।
रघुजनककुटुम्बवाष्पपूरैः परमिह शान्तिमुशन्ति शस्त्रभाजः ॥४१॥

पुत्रभाण्डे पुत्ररूपे मूलधने किम् कथम् अस्त्रं वहति धारयति? वतेति खेदे। मालिनीवृत्तम् ॥ ४० ॥

धीरकर्कशस्वरः गम्भीरकठोरवाक् ।

सप्रश्रयम् विनयपूर्वकम् । तातो जनकः । रघुपतिः दशरथः ।

सव्यथम् समनस्तापम् ।

सर्वतः सतन्तात् । क्षत्रकलम्बोद्भेदः क्षत्रियाङ्कुरप्ररोहः । अस्मन्नामधेयमात्रमित्रेण नामधेयसमतासखेन । मानार्हः पूज्यः । तवापि पुत्रस्य तदेव नाम यन्ममेति मम पूज्योऽसि त्वमित्याशयः, वीरव्यवहारस्य शूरकर्त्तव्यस्य, युद्धावसरे सान्त्ववचनं न व्याहरन्ति शूरास्तत्कथमेवमाह भवानिति भावः ।

पुरमथनेति । पुरमथनधनुर्विमर्दनोत्थम् हरशरासनभङ्गभवम् तीव्रम् उग्रम् अर्चिः कोपरूपन्तेजः अहर्दिवं सततम् प्रदहत् जाज्वल्यमानम् अस्ति ममेति शेषः, इह अस्मिन्नर्चिषि शस्त्रभाजः मादृशाः शस्त्रधारिणः परं केवलम् रघूणां जनकानां च कुटुम्बयोः वंश्ययोः वाष्पपूरैः अश्रुप्रवाहैः शान्तिमुशन्ति कामयन्ते, रामे

जामदग्न्य—(रामके प्रति) अजी, धीरकर्कश स्वरवाला यह कौन है ?

राम—(नम्रतासे) ये हैं हमारे पिता रघुपति ।

जामदग्न्य—(सखेद) धिक्, चारों ओर क्षत्रियोंके अङ्कुर उग आये । (नेपथ्यकी ओर देखकर) हे राजन् दशरथ, आपके पुत्रका भी वही नाम है जो मेरा नाम है, अतः वह मेरा मित्र हुआ, अतः आप हमारे मान्य हैं, किन्तु आपको वीरजनके व्यवहारका ज्ञान नहीं है ।

महादेवके धनुषके भङ्गसे उत्पन्न यह तीव्र दाह अहर्निश हृदयको दग्ध कर रहा है,

---

१. 'कदम्बकोद्भेदः' । २. 'नेपथ्याभिमुखः' ।
३. 'नामधेयमित्रेण' । ४. 'सूनुना मानार्हो' ।

(नेपथ्ये ।)

आः जामदग्न्य, किमेवमतिप्रसक्तः [1]संन्यस्तशस्त्रानस्मानपि बलाद्धनुर्ग्राहयसि ।

जामदग्न्यः—(सरोषम् ।) अरे विदेहप्रसवपांसन[2],

अयमधिपतिर्भासामेकान्तरो भवतो गुरु-
स्त्वमसि [3]तपसा यद्वर्षीयानिति स्म तितिक्ष्यसे ।
कथमसि धनुर्नामग्राही तदेव [4]समाप्यसे
मम हि सकलक्षत्रालम्भक्रतोरमृतं भवान् ।। ४२ ।।

हते रघुकुटुम्बाः पुत्रशोकेन जनककुटुम्बाश्च जामातृशोकेन यदि रुदन्ति तदा तद्बाष्पैरेवास्याहर्निशं ज्वलतो मम कोपस्याग्नेः शान्तिर्भवेन्नान्यथेति भावः ॥४१॥

अतिप्रसक्तः—अत्युद्धतः । संन्यस्तशस्त्रान् चिरात्यक्तास्त्रान् । बलात् प्रसह्य । धनुर्ग्राहयसि युद्धे प्रवर्त्तयसि ॥

विदेहप्रसवपांसन विदेहवंशदूषक ।

अयमधिपतिरिति । अयं भासां त्विषाम् अधिपतिः सूर्यः भवतः एकान्तरः एकव्यवहितः गुरुः आचार्यः, (याज्ञवल्क्यः सूर्यात् याज्ञवल्क्याच्च भवानधीतवानिति सूर्यस्य याज्ञवल्क्यव्यवहितं भवदाचार्यत्वमिति) त्वं तपसा तपस्यया वर्षीयान् मदपेक्षया वृद्धतमः इति तितिक्ष्यसे मया क्षम्यसे । धनुर्नामग्राही कथमसि कथं धनुषो नाम गृहीतवानसि, तद् धनुर्नामग्रहणाद्युद्धोद्धततावुद्ध्या

शस्त्रग्राहिजन रघु तथा जनकके वंशजोंके अश्रुप्रवाहसे ही उसकी शान्तिकी कामना करते हैं ॥ ४१ ॥

(नेपथ्यमें)

आः जामदग्न्य, क्यों इस तरह धृष्टता प्रकाशित करके शस्त्र संन्यास लेनेवाले मुझको भी अस्त्रग्रहण करनेको बाधित कर रहे हो ?

जामदग्न्य—(क्रोधसे) अरे विदेहाधम,

ये सूर्य तुम्हारे परमगुरु हैं और तुम तपस्यामें मुझसे श्रेष्ठ हो अतः क्षमा कर रहा हूं, अगर तुम किसी तरह शस्त्रग्राही बने तो अभी समाप्त कर दिये जाओगे, मेरे द्वारा प्रक्रान्त इस सकल क्षत्रिय-संहार यज्ञका तुम ही यज्ञशेष बनोगे ॥ ४२ ॥

---

१. 'शस्त्रानपि' । २. 'पांसुल' । ३. 'तपसा त्वम्' । ४. 'समाप्यते' ।

(नेपथ्ये ।)

[1]भार्गव भार्गव, च्यवनादिवृद्धवाक्यगौरवनिगृहीतसंप्रहारक्रियासमभिहारस्य [2]तत्रभवतः परमे ब्रह्मणि वर्तमानस्य पुनरुपप्लवन्ते बुद्धयः। [3]तद्विरम, कियच्चिरमितः[4] परमपि नाटयिष्यति [5]भवन्तमायुधपिशाची।

जामदग्न्यः—(विहस्य ।) अहो याज्यस्नेहः शतानन्दमाकुलयति। भवतु, सान्त्वयामि तावदेनम्। (तदभिमुखम् ।) आङ्गिरस,

---

समाप्यसे हन्यसे त्वमिति शेषः, भवान् जनकः मम सकलानां क्षत्राणामालम्भो वध एव क्रतुर्यागस्तस्यामृतं हुतशेषभूतः। भवान्पूर्वं सर्वान् क्षत्रियान्मारयतापि न हतः, सम्प्रति तमपि भवन्तं मारयामीत्याशयः। 'अमृतं हुतशेषे स्यात्' इति विश्वः। हरिणीवृत्तम् ॥ ४२ ॥

च्यवनादीनाम्—तन्नामप्रथितानाम् वृद्धानां स्वकुलश्रेष्ठानां वाक्येषु वचनेषु गौरवात् आदरातिशयात् निगृहीतः संयतः संप्रहारक्रियायां युद्धप्रवृत्तिरूपायां समभिहारः सम्मिलनं येन तादृशस्य, च्यवनादिवृद्धवचनात्यक्तयुद्धप्रवृत्तेरित्यर्थः। तत्र भवतः पूज्यस्य परशुरामस्य। परमे ब्रह्मणि वर्त्तमानस्य ब्रह्मनिष्ठस्य तपस्विनः। बुद्धयः पुनरुपप्लवन्ते—पुनर्युद्धाभिमुखीभवन्ति। तत् विरम—त्यज युद्धमित्यर्थः। इतः परमपि—इतोऽग्रेऽपि ब्रह्मज्ञानात् परमपि। भवन्तम्—परशुरामम्। आयुधपिशाची—अस्त्रग्रहणलालसारूपा पिशाचयोषित्। कियच्चिरं कियन्तं कालं यावत्, नाटयिष्यति नर्त्तयिष्यति।

याज्यस्नेहः यजमाने जनके प्रेमा। आकुलयति व्यथयति, यदसावेवं मां भाषते। सान्त्वयामि—शान्तिं गमयामि। आङ्गिरस शतानन्द।

(नेपथ्यमें)

भार्गव, भार्गव, च्यवन आदि वृद्धजनोंके वचन मानकर जिन्होंने शस्त्रग्रहण करना छोड़ दिया है और जो सदा परब्रह्ममें लीन रहा करते हैं उनकी बुद्धि फिर शस्त्रग्रहण करनेको चपला हो रही है, अतः रुक जाओ, इसके आगे भी न जाने कब तक यह आयुधपिशाची तुम्हें नचाती रहेगी ?

जामदग्न्य—(हंसकर) अहो, यजमानका प्रेम शतानन्दको व्याकुल बना रहा है। अस्तु, मैं इनका मुंह बन्द कर देता हूँ। (उसकी ओर) आङ्गिरस,

---

१. 'भगवन्भार्गव'। २. 'भवत'। ३. 'विरम विरम'।
४. 'इयमपरमपि'। ५. 'परवन्तम्'।

नृपस्ते पाल्योऽयं मम पशुपुरोडाशरसिकः
पृथिव्यामव्याजोद्भटभुजभृतः सन्ति रघवः ।
अमीषामुत्सिक्तं किमपि कुलमुत्कृत्य लवशो
विधाता तत्सर्वं यदभिरुचितं ते भृगुपतिः ॥ ४३ ॥

(नेपथ्ये ।)

आः पाप [1]क्षत्रियायाः पुत्र, क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन्, निसर्गनिष्प्राणं हि प्रहरणमिक्ष्वाकूणां ब्राह्मणेषु । तैर्यादृशस्तादृशो वा सोढव्योऽसि । [2]कथमेवमतिक्रामन्नस्माकमपि ब्रह्मवर्चसान्न बिभेषि ।

नृपस्त इति । ते तव शतानन्दस्य पशुः यज्ञार्थो मृगः छागो वा पुरोडाशो हव्यद्रव्यभेदस्तयोः रसिकः सस्नेहः सततं पशुपुरोडाशसंलग्नो यज्ञप्रवृत्तः अयं नृपो जनकः मम पाल्यः रक्षणीयः, किन्तु पृथिव्याम् अव्याजम् अकपटं यथा स्यात्तथा उद्भटभुजभृतः उद्दण्डदोर्दण्डशालिनः रघवः सन्ति रघुवंश्याः प्रथन्ते, अमीषां रघूणां किमपि अत्यधिकम् उत्सिक्तम् गर्वोद्धतं कुलं वंशम् लवशः उत्कृत्य खण्डशो विनाश्य भृगुपतिः परशुरामः ते यद् अभिरुचितम् इष्टम् तत्सर्वं विधाता विधास्यति । यज्ञरसिकस्य तव यजमानस्य वधेन प्रवृत्तिर्मम, अतस्त्वं जोषमास्स्व, सम्प्रति समुद्धतं रघुकुलं खण्डशः कृत्वा त्वदभिमतं सर्वमपि सम्पादयितुं कर्त्तास्मीत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४३ ॥

क्षत्रियायाः पुत्र क्षत्रियस्य गाधेः कन्यका रेणुका तस्याः पुत्र । क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन् गर्भस्थानामपि क्षत्रियकुलाङ्कुराणां हन्ता । निसर्गनिष्प्राणम् स्वभावतोऽबलम्, यादृशस्तादृशः अतिदुराचारोऽपि । सोढव्यः क्षन्तव्यः । इक्ष्वाकवो

पुरोडाशका प्रेमी तुम्हारा यह राजा मेरे लिये रक्षणीय है, किन्तु यह रघुवंश पृथ्वीपर बहादुरी प्रकाशित कर रहा है । इसके घमण्डी वंशको खण्डशः करके पीछे जो तुम कहोगे वह सब कुछ भृगुपति करनेको उद्यत रहेगा ॥ ४३ ॥

(नेपथ्यमें)

आः पाप, क्षत्रियापुत्र, क्षत्रियोंके गर्भपातका पापी, इक्ष्वाकुओंके अस्त्र ब्राह्मणोंके विषयमें स्वभावतः निष्प्राण होते हैं, जिससे किसी भी स्थितिमें तुम्हें क्षमा करते जा रहे हैं, किन्तु इस तरह बढ़ते हुए तुम क्यों हमारे ब्रह्मतेजसे भी नहीं डर रहे हो ?

---

१. 'क्षत्रियपुत्र' ।　　२. 'अतिक्रमन्' ।

जामदग्न्यः—(सरोपहासम् ।) अरे ब्रह्मबन्धो बान्धकिनेय गौतमगोत्रपांसन,

कुर्युः शस्त्रकथाममी यदि मनोर्वंशे मनुष्याङ्कुराः
स्याच्चेद् ब्रह्मगणोऽयमाकृतिगणस्तत्रेष्यते चेद्भवान् ।
सम्राजां समिधां च साधकतमं धत्ते छिदाकारणं
धिङ्मौर्वीकुशकर्षणोल्बणकिणग्रन्थिर्ममायं करः ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणेषु न प्रगल्भन्तेऽतो दुराचारेऽपि त्वयि ते न शस्त्रग्रहणं करिष्यन्ति । एवमतिक्रामन् इत्थं प्रगल्भमानः अस्माकम्–आङ्गिरसानाम् । ब्रह्मवर्चसात्–ब्राह्मतेजसः । राघवान् ब्राह्मणेष्वशस्त्रग्राहिणो ज्ञात्वा कामं मा भैषीः, परमस्मद्ब्रह्मवर्चसस्तु त्वया भेतव्यमासीद्यदेकपदे एव त्वां दग्धुं क्षममिति ।

ब्रह्मबन्धो ब्राह्मणाधम । बान्धकिनेय बन्धकी कुलटा, तदपत्य, शतानन्दमातुरहल्याया इन्द्रसङ्गमादित्थमुक्तिः । 'ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे' इति, 'अथ बान्धकिनेयः स्याद् बन्धुलश्चासतीसुतः' इति चामरः । गौतमगोत्रपांसन गौतमकुलकलङ्क । सर्वमेतत् शतानन्द-निन्दापर्यवसायि संबोधनजातम् ॥

कुर्युः शस्त्रकथामिति । यदि अमी मनोर्वंशे मनुष्याङ्कुराः मनुकुलजा मनुष्यशिशवः शस्त्रकथां कुर्युः युद्धवार्त्तां प्रवर्त्तयेयुः, चेद् ब्रह्मगणः ब्राह्मणगणना आकृतिगणः आकारमात्रग्राह्यः स्यात् , तत्रापि चेत् ब्राह्मणगणेष्वपि यदि भवान् इष्यते भवतोऽपि यदि ब्राह्मणेषु गणना स्यात्, तदा मम मौर्वीकुशानाम् कुशनिर्मितमौर्वीगुणानाम् कर्षणेन मुहुरामर्शेन उल्बणः उत्कटः किणग्रन्थिः शुष्कव्रणचिह्नं यत्र तथाभूतः अयं करः हस्तः सम्राजां राजन्यानां समिधां होमकाष्ठानां च समानभावेन छिदाकारणं छेदकं साधकतमं क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् इमं परशुं धिक् व्यर्थं धत्ते । यद्यमी मनुवंश्याः शस्त्रं गृह्णीयुर्यदि वा भवादृशा विप्राधमा आकारमात्रेण ब्राह्मणेषु गण्येरन् तदाऽनवरतप्रत्यञ्चाकुशाकर्षणरसिको ममायं करो वृथैव समभावेन क्षत्रियान्समिधश्च छिन्दन्तमिमं कुठारं धारयतीत्यर्थः । मयि परशुधरे नामीषां युद्धकथा न वा तव ब्राह्मणगणना संभविनीति भावः ॥ ४४ ॥

जामदग्न्य—(सरोषहास) अरे मिथ्या-ब्राह्मण, व्यभिचारिणीके पुत्र, गौतम वंशाधम,

यदि यह मनुष्यके अंकुर भी शस्त्रकी बातें करने लगे, और यदि ब्रह्मगणको आकृतिगण मानकर तुम्हारा भी उसीमें समावेश कर दिया जाय, तब राजाओं तथा समिधाओंको समभावसे काटनेवाले इस कुठारको धनुष्प्रत्यञ्चाके द्वारा घर्षणसे उत्पन्न व्रणचिह्नयुक्त हमारा हाथ व्यर्थ धारण करता है, इसे धिक्कार है ॥ ४४ ॥

(नेपथ्ये ।)

[1]भगवान् भार्गव भार्गव,

त्वं वेदवानसि वसिष्ठगुरोः सनाभिः
स्वायंभुवः स भगवान्प्रभवो गुरुस्ते ।
तेनातिमात्रमसृणं हृदयं मदीय-
मद्यापि न त्रुटति शाम्यतु ते कुदृष्टिः ॥ ४५ ॥

जामदग्न्यः—(सोच्चैर्हासम् ।) किमात्थ रे दशरथ, किमात्थ नाद्यापि हृदयं त्रुटतीति । कथं वा त्रुटतु यावदेष न व्याप्रियते परशुः ।

(नेपथ्ये ।)

त्वं वेदवानसि इति । वेदवान् अधीतवेदः त्वम् परशुरामः वसिष्ठगुरोः वसिष्ठाख्यस्य मम गुरोराचार्यस्य सनाभिः सपिण्ड एकगोत्रोद्भवः असि, ते तव प्रभवः जनकः स भगवान् भृगुः स्वायम्भुवः ब्रह्मणः पुत्रः । भृगोर्वसिष्ठस्य चैककुलोत्पन्नतया सनाभित्वेन भृगुपुत्रस्य तवापि वसिष्ठसनाभित्वं सिद्धमिति भावः । तेन तवास्मद्गुरुवसिष्ठसनाभित्वेन अतिमात्रमसृणं मदीयं हृदयम् नितान्तकोमलं दयाशालि मम चित्तं त्वद्विषयेऽद्यापि त्वयेयति विकत्थमानेऽपि न त्रुटति न निर्दयत्वमुपैति, ते तव कुदृष्टिः विरुद्धभावः शाम्यतु निवर्त्ततां येन मम कोपो नोदियान्न वा मम गुरुसपिण्डवधभवो दोषः स्यादिति भावः ॥ ४५ ॥

यावदेष न व्याप्रियते यावन्मम धनुर्नोद्यमपरायणं भवति तावत्ते हृदयं कथं खण्डशः स्यादिति त्रुटतिपदस्यार्थान्तरपरकतयाऽधिक्षेपः ।

(नेपथ्यमें)

भगवान् भार्गव, तुम वेदज्ञ तथा हमारे गुरुदेव वसिष्ठके वंशमें उत्पन्न हो, क्योंकि तुम भी ब्रह्माके पुत्रकी सन्तति हो, इसीलिये हमारा यह सस्नेह हृदय नहीं टूट रहा है, अभी भी तो तुम्हारी कुदृष्टि शान्त होवे ॥ ४५ ॥

जामदग्न्य—(जोरसे हंसकर) क्या कहा रे दशरथ, क्या कहा ? अभी भी हृदय नहीं टूट रहा है ? टूटे तो कैसे ? अभी तो हमारे कुठार ने कुछ किया ही नहीं है ॥

(नेपथ्यमें)

१. 'भगवन्' इति पुस्तकान्तरे नोपलभ्यते ।

आः जामदग्न्य, [1]गुरूनप्यधिक्षिपसि ।

पुरोजन्मा नाद्यप्रभृति मम रामः स्वयमहं
न पुत्रः पौत्रो वा रघुकुलभुवां च क्षितिभुजाम् ।
[2]अधीरं धीरं वा कलयतु जनो मामयमयं
मया बद्धो दुष्टद्विजदमनदीक्षापरिकरः ॥ ४६ ॥

जामदग्न्यः—(सावज्ञं रामं प्रति ।) अये, किमयं लक्ष्मणो भवन्तं पुरोजन्मानमपदिशति ।

रामः—(सविलक्षस्मितम् ।) प्रसीद भगवन्, स एवायं यौवनादर्वाचि निरपराधमधुरे वयसि वर्तमानो यानि कानिचिदक्षराणि प्रलपति ।

गुरूनपि अस्मत्तातपादान् अपि । अधिक्षिपसि तिरस्करोषि ।

पुरोजन्मेति । अद्यप्रभृति अधुनाऽऽरभ्य रामो मम पुरोजन्मा अग्रजः न, स्वयमहं स्वतः प्रवर्त्तमानोऽहं रघुकुलभुवां रघुवंशे गृहीतजन्मनां क्षितिभुजां राज्ञां पुत्रः पौत्रो वा न, अयं जनः लोकः माम् अधीरं धीरम् वा कलयतु जानातु, मया लक्ष्मणेन अयं दुष्टद्विजस्य अस्य ब्राह्मणाधमस्य दमनदीक्षायां निग्रहव्यापारे परिकरो बद्धः सन्नाहः कृतः । अधुनाऽवधि स्वाग्रजन्मनो रामस्य सान्त्वनमहं न गणयिष्यामि, न वा पितुः पितामहस्य वा कथनमनुरोत्स्यामि, लोकोऽयं मां यथा तथा कथयतु, परमहमिमं बहुविकत्थमानं दुष्टब्राह्मणं निग्रहीतुं कृतपरिकरोऽस्मीति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४६ ॥

पुरोजन्मानम् ज्येष्ठम् भ्रातरम् । अपदिशति न्यक्करोति, नायं मम ज्येष्ठ इत्युक्त्वाऽपलपति ।

यौवनादर्वाचि युवावस्थातः पूर्वतने । निरपराधमधुरे नास्ति यत्रापराधस्ततश्च

आः जामदग्न्य, गुरुजनों पर भी तुम आक्षेप करने लगे,

आजसे राम मेरे बड़े भाई नहीं रहे, और न मैं रघुवंशी नृपोंका पुत्र या पौत्र रहा । यह संसार मुझे अधीर कहे या धीर कहे, मैंने अब दुष्ट द्विजको पाठ पढ़ानेके लिये कमर कस ली है ॥ ४६ ॥

जामदग्न्य—(अवज्ञाके साथ रामके प्रति) अरे, क्या यह लक्ष्मण तुमको अपना बड़ा भाई बता रहा है ?

राम—(लज्जासे हंसकर) दया कीजिये महाराज, यह अभी किशोरावस्थामें है-

---

१. 'अपि' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'अवीरं वीरं वा' ।

जामदग्न्यः—(सस्मितम् ।) कथमेतावत्यपि[1] मासमृष्यमाणमाशङ्कसे । [2]यतस्त्वदनुवर्ती खल्वयं त्वामेवास्तमयमानमन्वस्तमयिष्यते । निर्वाणं हि सवितारं तरणिमणिरप्यनुनिर्वाति । (नेपथ्यं प्रति ।) साधु रे लक्ष्मण, साधु । कनिष्ठतरोऽपि [3]वरं भवान् , न पुनरयं वृथाज्येष्ठो रामस्ते ।

प्रागुच्चैःशिरसं[4] क्षुरप्रनखरैः क्रौञ्चाद्रिदन्तावलं
भित्त्वा हंसमयानि मौक्तिकफलान्याकीर्य पर्यापिताम् ।

मधुरे कौमारे । प्रलपति निरर्थकं ब्रवीति ।

एतावत्यपि दुष्टद्विजदमनेत्यादिनि तेनोक्तेऽपि । अमृष्यमाणम् अकृतक्षमम् । एवमुक्तवत्यपि लक्ष्मणे यदसौ जीवति तन्मम क्षमाया एव फलं बोध्यम् । मया क्षान्तं तावद्यतः । त्वदनुवर्त्ती त्वत्पश्चाल्लब्धजन्मा । अस्तमयमानम् अस्तं गच्छन्तम् विनश्यन्तम् । अन्वस्तमयिष्यते अनुपश्चादस्तं गमिष्यति अनुमरिष्यति, निर्वाणं सवितारम् अस्तंगतं सूर्यम् । तरणिमणिः सूर्यकान्तमणिः । अनुनिर्वाति पश्चात् शाम्यति । यथा सूर्येऽस्तंगते सूर्यकान्तमणिः शाम्यति तथैवायं लक्ष्मणस्त्वय्यस्तंगते पश्चादस्तं गमिष्यति इत्याशयः ।

वरम् मनाक् प्रियः, 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः ।

प्रागुच्चैरिति । प्राक् पूर्वसमये क्षुरप्राणि अस्त्रविशेषा एव नखराः तैः उच्चैः शिरसं प्रोन्नतशिरस्कम् उन्नतशिखरं च क्रौञ्चाद्रिदन्तावलम् क्रौञ्चगिरिरूपं करिणम् भित्त्वा विदार्य हंसमयानि हंसरूपाणि मौक्तिकानि आकीर्य परितो विक्षिप्य

अतः कुछ अण्ट-सण्ट बक रहा है ।

जामदग्न्य—(हंसकर) इतने पर भी मुझे तुम अक्षमाशील कह रहे हो ? तुम्हारा अनुवर्त्तन करनेवाला यह लक्ष्मण तुम्हारे नष्ट होने पर ही नष्ट होगा । सूर्यके अस्त होनेके बाद ही सूर्यकान्तमणि ठंढा पड़ता है । (नेपथ्यके प्रति) साधु लक्ष्मण साधु, छोटा होकर भी तुम ही अच्छा है, यह राम नहीं ।

नखोपम क्षुरप्रके द्वारा क्रौञ्चाद्रि रूप उन्नत गजको फाड़कर हंसमय मौक्तिक फलको बिखेर कर प्रमाणित की गई सैंही वृत्तिको अपनानेवाले मेरे विषयमें भी क्षत्रियोचित

---

१. 'एतावतापि' । २. 'त्वदनुवर्ती खल्वल्पं' ।
३. 'वरो' । ४. 'शिखरं' ।

सैंहीं वृत्तिमधिष्ठितेऽपि हि मयि क्षात्रेण कल्पेन ते
दिष्ट्या कौतुकमाभिरामिकमसि त्वं कोऽपि वीराङ्कुरः ॥४७॥

(नेपथ्ये ।)

भार्गव भार्गव, दुर्विज्ञानमिदमर्वाक्फलनिष्पत्तेराभिरामिकं साङ्ग्रामिकं वा ।

रामः—(सरोषं नेपथ्याभिमुखम् ।) आः वत्स, कोऽयमद्यतनस्ते [1]दुर्विनयप्ररोहो यद्गुरूनपि चेत्रीकरोपि ।

च पर्यापिताम् आत्मानं प्रापिताम् सैंहीं वृत्तिं सिंहव्यापारम् अधिष्ठिते प्राप्तेऽपि मयि दिष्ट्या भाग्यवशेन ते तव क्षात्रेण कल्पेन शौर्यप्रकटनेन आभिरामिकम् प्रीतिप्रदं कौतुकम् औत्सुक्यम्, त्वं कोऽपि वीराङ्कुरः वीरप्ररोहः असि । अयमाशयः यथा कोऽपि सिंहः स्वनखरैः कमपि प्रोन्नतशिरसं दन्तावलं विदार्य तन्मौक्तिकानि च विकीर्य स्वां सैंहीं वृत्तिमधितिष्ठति, तथैव मयि स्वक्षुरप्रास्त्रेण प्रोन्नतशिखरं क्रौञ्चाद्रिं विदार्य तद्विवरान्निर्गच्छतो हंसाश्वेतस्ततः संचार्य सैंहीं वृत्तिं प्राप्ते सत्यपि यत्त्वं क्षात्रेण स्वभावेन वीरत्वं प्रथयसि तत्सत्यं मम महत्यै प्रीतये जायते, निश्चितं तव वीराङ्कुरत्वमिति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

दुर्विज्ञानम् वेत्तुं कठिनम् । फलनिष्पत्तेः फलोत्पत्तेः । अर्वाक् प्राक् । रामस्येदं कौतुकमाभिरामिकं भवत्प्रीतिजननोद्देश्यकम् सांग्रामिकं युद्धार्थं वेति फलनिष्पत्तेः पूर्वमवगन्तुमयोग्यम्, फलानुमेयत्वात्प्रारम्भाणामित्याशयः ।

अद्यतनः अद्य जायमानः । दुर्विनयप्ररोहः अशिष्टाचारितोदयः । यद् गुरूनपि पूज्यानपि । चेत्रीकरोषि त्रिपथीकरोपि, कोऽयमद्य तवाविनयो यद् गुरूनपि नाद्रियस इत्यर्थः ।

व्यवहार करनेवाले तुममें वहुत कौतुक भरा है, तुम जरूर बहादुर हो ॥ ४७ ॥

(नेपथ्यमें)

भार्गव, भार्गव, फल-निष्पत्तिके पहले यह समझना कठिन है कि मेरा कुतूहल आभिरामिक है या साङ्ग्रामिक है ।

राम—(कोपसे नेपथ्यकी ओर) आः वत्स, आज तुम क्यों इतने अविनीत हो रहे हो कि गुरुजनों पर भी आक्षेप करते हो ।

---

१. 'विनयातिप्ररोहो यद्भृगूनपि' ।

(नेपथ्ये ।)

आर्य, [1]तूष्णीमयमस्मि । क्षमस्व जामदग्न्य, नियन्त्रितोऽहमार्येण ।

जामदग्न्यः—(विहस्य ।) [2]अरे राम, [3]कथमद्यापि वाचमेव सूनृतामस्मदभियोगप्रशमनीं [4]प्रथयसे । कवचहरोऽसि । शस्त्रैरेव प्रतिक्रियन्तां शस्त्राणि । किं च रे,

राजन्येभ्यो जन्म वैवस्वतेभ्यश्चक्रे चापाचार्यकं कौशिकश्च ।
क्षात्रीं चर्यामेवमुन्मुञ्चतस्ते गोत्राक्षेपी वज्रलेपः कलङ्कः ॥ ४८ ॥

रामः—(सगर्वस्मितम् ।) भगवन् , सत्यमेतत ।

तूष्णीम् मौनीभूतः । नियन्त्रितः उत्पथान्निवारितः ।

सूनृताम् प्रियाम् । अस्मदभियोगप्रशमनीम् मदीययुद्धोद्यमनिवर्तिनीम् । प्रथयसे विस्तारयसि । कवचहरः वर्मधारणक्षमः, प्राप्तयुद्धोपयुक्तावस्थ इत्यर्थः । शस्त्राणि प्रतिक्रियन्ताम् अस्त्राणामुत्तरं दीयताम् ।

राजन्येभ्य इति । तव रामस्य वैवस्वतेभ्यः सूर्यवंश्येभ्यः राजन्येभ्यः क्षत्रियेभ्यो जन्म उत्पत्तिः कौशिको विश्वामित्रश्च चापाचार्यकम् धनुर्वेदविद्यागुरुत्वं चक्रे कृतवान् । एवम् क्षात्रीं क्षत्रजात्युचितां चर्याम् परिपाटीम् उन्मुञ्चतः त्यजतस्तव कलङ्कः अपवादः वज्रलेपः अनपनेयः स्यादिति शेषः । सूर्यवंशे गृहीतजन्मनो विश्वामित्राद्धीतधनुर्वेदस्य च तव क्षात्रचर्यापरित्यागोऽपरिहार्यकलङ्कं जनयेदिति भावः ॥ ४८ ॥

(नेपथ्यमें)

आर्य, मैं अब चुप रहता हूं । जामदग्न्य, आप मुझे क्षमा करें, आर्य ने मुझे रोक लिया ।

जामदग्न्य—(हंसकर) अरे राम, अभी भी तुम हमारे कोप को शान्त करनेवाली बातें ही कर रहा है ? तूं तो युवा है, हमारे शस्त्रोंका उत्तर शस्त्रोंसे दो । और—

तुम्हारा जन्म सूर्यवंशियोंसे हुआ है, तथा तुम्हें विश्वामित्रने शस्त्र विद्या की शिक्षा दी है, यदि तू इसी तरह क्षात्र धर्मका त्याग करेगा तो तुम्हारे वंशका यह कलङ्क वज्र लेप हो जायगा ॥ ४८ ॥

राम—(सगर्वहास) भगवन् , आपका कथन सत्य है,

---

१. 'तूष्णीमस्मि' । २. 'रे रे' । ३. 'कथं वाचमेव' । ४. 'समर्थयसे' ।

जातः सोऽहं दिनकरकुले[1] क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यो
विश्वामित्रादपि भगवतो [2]दृष्टदिव्यास्त्रपारः।
[3]अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा
विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद्बिभेमि ॥ ४९ ॥

जामदग्न्यः—(सक्रोधम् ।) आः पाप दुर्मुख, वसिष्ठ इव विश्वामित्र इव स्वस्तिवाचनिको ब्राह्मणस्ते परशुरामः। (सव्यथम् ।) धिक्कष्टम्। एवमुच्चावचवाचः क्षत्रियाः श्रूयन्ते । (क्रोधातिशयं नाटयन् ।) अयमहं भोः,

जात इति। दिनकरकुले सूर्यवंशे क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यः वेदज्ञेभ्यो राजभ्यः राज्ञासुत्तमेभ्यो वा जात उत्पन्नः विश्वामित्राद् भगवतः दृष्टदिव्यास्त्रपारः अवाप्तदिव्यास्त्रविद्यः सोऽहम् रामः जनः अस्मिन्वंशे मदुत्पत्तिक्षेत्रे कुले यशः कथयतु अयशो वा कथयतु, विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः ब्राह्मणेऽस्त्रग्रहणमहतः साहसिक्यात् साहसाद् बिभेमि भयमनुभवामि। सत्यमहं क्षत्रियेभ्यो भास्वद्वंशे लब्धजन्मा विश्वामित्रादधीतास्त्रविद्यारहस्यश्चास्मि, कामं लोको मयि भवता सह योद्धमप्रवर्तमाने सति मदीये वंशे यशोऽयशो वाऽभिधत्तां, परमहं ब्राह्मणे शस्त्रग्रहणसाहसं कर्तुमशक्त इत्यर्थः। मन्दाक्रान्तावृत्तम् , तल्लक्षणं यथा 'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' इति ॥ ४९ ॥

स्वस्तिवाचनिकः यत्किञ्चिद्धनं प्राप्य स्वस्तीतिवचनप्रयोक्ता।

उच्चावचवाचः विविधालापाः। 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः॥

सूर्यवंशके क्षत्रिय श्रोत्रियोंसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, भगवान् विश्वामित्रने मुझे अस्त्रकलाकी शिक्षा दी है, लोग हमारे वंशको यश दें या अयश, ब्राह्मणके ऊपर शस्त्रग्रहणरूप साहसकार्यसे मैं डरता हूँ॥ ४९ ॥

जामदग्न्य—(सक्रोध) आः पाप कटुभाषी, क्या वसिष्ठ या विश्वामित्रकी तरह परशुराम भी तुम्हारा स्वस्ति मनानेवाला ब्राह्मण है ? (सखेद) धिक्, बड़े खेदकी बात है कि क्षत्रियोंकी यह ऊँच-नीच बातें सुननी पड़ रही हैं॥ (अतिकुपित होकर)

१. 'कुलक्षत्रिय-'। २. 'लब्धविद्यास्त्र-'। ३. 'अस्मिन्वंशे कलयतु'।

सहदशरथमद्योत्कृत्य पुत्रैश्चतुर्भि-
र्जनककुलकबन्धस्कन्धनिर्गत्वरीभिः ।
नवरुधिरलताभिः [1]क्लृप्तलीलापताकां
रणभुवमतिरौद्रीं रुद्रशिष्यः करोमि ॥ ५० ॥

रामः—([2]सरोषम् ।) आः जामदग्न्य, केयं [3]वाग्विभीषिका । दूरमतिक्रामति प्रसङ्गे कदाचिदिक्ष्वाकवोऽपि दुर्मनायन्ते ।

जामदग्न्यः—([4]सभ्रुकुटीभङ्गम् ।) ततः किम् ।

रामः—(सावष्टम्भम् ।) ततश्च ।

सहदशरथमिति । रुद्रशिष्यः शिवस्यास्त्रविद्यान्तेवासी अहं परशुरामोऽद्य चतुर्भिः रामादिभिः पुत्रैः सह दशरथं नाम राजानम् उत्कृत्य खण्डयित्वा जनककुलकबन्धानां हतजनकवंश्यजनच्छिन्नशिरोदेहानां स्कन्धेभ्यो गलदेशेभ्यो निर्गत्वरीभिः निस्सरन्तीभिः नवरुधिरलताभिः सद्यः शोणितवल्लरीभिः क्लृप्तलीलापताकाम् रचितपताकाम् रणभुवम् अतिरौद्रीम् निकामभीषणां करोमि । अद्याहं रुद्रशिष्यः सपुत्रचतुष्टयं दशरथं निहत्य जनककुलकबन्धस्कन्धनिर्गत्वरीभिः प्रत्यग्ररुधिरधाराभिर्धृतपताकां रणभुवं भीषणां विदधामि । मालिनीवृत्तम् । 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥ ५० ॥

वाग्विभीषिका वचनद्वारा भयप्रदर्शनम् । प्रसङ्गे वाग्व्यापारे । दूरमतिक्रामति वर्धमाने सति । दुर्मनायन्ते दुर्मनसः कुपिता इवाचरन्ति, वाकोवाक्यवशात् कदाचिदिक्ष्वाकूणामपि कोपोदयः सम्भवीति भावः ।

ततः किम् वाकोवाक्यं विहाय त्वं किं कर्तुमिच्छसीति भावः ।

चारों पुत्रोंके साथ दशरथको काटकर जनकवंशियोंके कबन्धोंसे निकलनेवाली नवरुधिरधारारूप पताकायें फैलाकर मैं अभी रणभूमिको अतिभयङ्कर बना देता हूं ॥ ५० ॥

राम—(सकोप) आः जामदग्न्य, यह क्या वचन-विभीषिका दिखा रहे हो ? बातके अधिक बढ़ जानेपर कदाचित् इक्ष्वाकुवंशी भी कुपित हो जा सकते हैं ॥

जामदग्न्य—(भृकुटी चढ़ाकर) इससे क्या ?

राम—(जोर देकर) इससे—

---

१. 'लुप्त-' ।　　२. 'सकोपम्' ।　　३. 'विभीषा' ।　　४. 'सभ्रुकुटिदन्यम्' ।

तैस्त्रिःसप्तभिरेव राजविजयैर्यत्ते भुजस्तम्भयोः
कृत्वा तोरणमालिकां पुनरमुं द्वाविंशमारिप्सते ।
द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना तच्चापविद्याद्भुतं
शंभोस्तस्य हि केवलेन धनुषा कृष्टेन तुष्टिर्न मे ॥ ५१ ॥

जामदग्न्यः—([1]सरोषम् ।) किमात्थ रे, किमात्थ । ('द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना' इत्यादि श्लोकोत्तरार्धं पठित्वा सव्यथम् ।) अहो सर्वतः समिध्यमानदारुणस्य रोषजातवेदसो विदेहदिलीपयोः कुलं नाम कति भविष्यन्त्याहुतयः । ([2]उच्चैः ।) भो भोः सप्तद्वीपकुलपर्वतवर्तिनो राजानः चेतयध्वं चेतयध्वम् ।

तैस्त्रिःसप्तभिरिति । (यत् तव चापविद्याद्भुतम्) तैः सर्वजनविदितैः त्रिः सप्तभिः एकविंशतिसङ्ख्यकैः एव राजविजयैः क्षत्रियजातिपराभवैः ते तव परशुरामस्य भुजयोः स्तम्भयोरिव स्तम्भोपमस्थूलदृढयोर्भुजयोः तोरणमालिकां कृत्वा तोरणं यथा मालयाऽलङ्करोति तथैकविंशत्या क्षत्रविजयैस्तव भुजस्तम्भावलङ्कृत्येत्यर्थः । अमुं द्वाविंशं मज्जयरूपं राजविजयम् आरिप्सते कर्त्तुमिच्छति, तत् त्वयि वर्त्तमानं त्वया स्थितं चापविद्याद्भुतम् अस्त्रविद्यारूपमाश्चर्यम् अधुना सम्प्रति द्रक्ष्यामि, हि यतः तस्य शम्भोः धनुषा चापेन केवलेन कृष्टेन मे मम रामस्य तुष्टिः सन्तोषो न । त्वदीयं तच्चापविद्याकौशलं द्रक्ष्यामि यत् त्रिःसप्तवारान् राजविजयं कृत्वा तैर्विजयैस्तव भुजस्तम्भौ तोरणमालिकाभिरिवालङ्कृतवत्, अमुना कृतेन हरधनुःकर्षणमात्रेण मम मनस्तोषो नास्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५१॥

समिध्यमानदारुणस्य दीप्यमानस्य भीषणस्य च । रोषजातवेदसः कोपाग्नेः । कति कियत्संख्याः आहुतयः हव्यप्रक्षेपाः । विदेहदिलीपकुलयोः खण्डनेन मम

इक्कीस बार किए गए राज-विजयसे तुम्हारे भुजस्तम्भोंने तोरणमाला धारण करके यह बाईसवां विजय प्रारम्भ करना चाहता है, अब मैं देखूंगा कि तुममें कितना चापविद्याकौशल है ? केवल उस महादेवके धनुषभङ्गसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ है ॥ ५१ ॥

जामदग्न्य—(सरोष) क्या कहता है रे क्या कहता है ? ('द्रक्ष्यामि त्वयि' इत्यादि श्लोकार्धको दुहराते हुए सखेद) अहो, हमारी जिस कोपाग्निमें सभी ओरसे ज्वालायें बढ़ रही हैं, उसमें विदेह तथा दिलीपके वंश कितनी आहुतियाँ बन सकेगा ? (उच्च स्वरसे) अजी सप्तद्वीप तथा कुलपर्वतोंपर रहनेवाले नृपगण, सावधान हो जाओ सावधान,

---

[1] 'ससंरम्भम्' । [2] 'उच्चैः' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

येन स्वां विनिहत्य मातरमपि क्षत्रास्रमध्वासव-
स्वादाभिज्ञपरश्वधेन विदधे निःक्षत्रिया मेदिनी ।
यद्बाणव्रणवर्त्मना शिखरिणः क्रौञ्चस्य हंसच्छला-
द्द्याप्यस्थिकणाः पतन्ति स पुनः क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः ॥५२॥

रामः—([1]सहर्षसंभ्रमम् ।)

नृपानप्रत्यक्षान्किमपवदसे नन्वयमहं

कोपस्य कियती मूर्त्तिः शान्तिर्वा भाविनीति भावः । सप्तद्वीपकुलपर्वतवर्त्तिनः सप्तसु-द्वीपेषु सप्तसु कुलपर्वतेषु च स्थिताः । चेतयध्वम् सावधाना भवत ।

येन स्वामिति । येन क्षत्रास्राणि क्षत्रियरुधिराण्येव मध्वासवाः मद्यानि तत्स्वा-दाभिज्ञः तत्स्वादविज्ञः परश्वधः परशुर्यस्य तादृशेन क्षत्रियरुधिररूपमद्यस्वादरसिक-परशुधारिणा परशुरामेण स्वां मातरं जननीं रेणुकाम् अपि विनिहत्य हत्वा पृथ्वी समस्ता धरा निःक्षत्रिया क्षत्रियसामान्यशून्या विदधे कृता, अद्यापि सम्प्रत्यपि यद्बाणव्रणवर्त्मना यदीयबाणच्छिद्रमार्गेण हंसच्छलात् निर्यन्मरालकुलव्याजात् क्रौञ्चस्य शिखरिणः क्रौञ्चाभिधस्य पर्वतस्य अस्थिकणाः पतन्ति सः मुनिर्भार्गवः परशुरामः पुनः क्रुद्धः कुपितः । अयमाशयः—हे सप्तद्वीपकुलाचलस्था राजानो, यूयं सावधाना भवत, यतः क्षत्रियरुधिररूपमद्यास्वादरसिककुठारः परशुरामो यो मात्रा सहैव सर्वानपि, राज्ञो विनिहत्य भुवं निःक्षत्रियामकृत, य एव च क्रौञ्चं नाम गिरिं स्वबाणैश्छिद्रवन्तम् व्यधित, यद्बाणच्छिद्रवर्त्मना तद्गिरेरस्थिखण्डा इव हंसा निपतन्ति, अन्यस्यापि व्रणितगात्रस्य यथाऽस्थीनि निपतन्ति तथेति । पुरा स्वपितुराज्ञया परशुरामो निजां मातरमहन्निति कथाऽत्र बोध्या । शार्दूलविक्री-डितं वृत्तम् ॥ ५२ ॥

नृपानिति । अप्रत्यक्षान् दृष्टिविषयबहिर्गतान् दूरस्थान् नृपान् राज्ञः किम्

क्षत्रिय शोणितरूप मदिराके स्वादको जाननेवाले परशुसे जिस परशुरामने अपनी माताको भी काटकर इस पृथ्वीको क्षत्रियशून्य बना दिया, जिसके बाणमार्गसे आज भी हंसोंके, छलसे क्रौञ्चपर्वतके अस्थिकण गिरा करते हैं वही परशुराम पुनः कुपित हो उठे हैं ॥५२॥

राम—(हर्ष तथा उतावलापनके साथ) जो सामने नहीं हैं उन नृपोंकी निन्दा

---

१. 'सहासम्' ।

शिशुक्रीडाभग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुरः ।
अहंकारक्रूरार्जुनभुजवनव्रश्चनकला-
निसृष्टार्थो बाहुः कथय कतरस्ते प्रहरतु ॥ ५३ ॥

जामदग्न्यः—([1]सकोपाटोपम् ।) आः पाप विकर्तनकुलकलङ्क, पुनस्तरां तदेव पार्वतीदयितकोदण्डदलनसाहसमुद्भावयसि[2] । अहह क्षत्रियोऽपि भार्गवस्य [3]कार्तवीर्यजयिनं भुजदण्डमन्विष्यति । अहो गरीयान्कालः । यदश्रुतचरमपि श्रावयति । अदृष्टचरमपि दर्शयति । अपि च रे राजन्यकीट,

---

किमर्थम् अपवदसे निन्दसि ? अशृण्वतां तेषां निन्दया न किमपि फलं लभ्यमित्यर्थः । ननु शिशुक्रीडया बाललीलया भग्नं खण्डितं त्रिपुरहरस्य शिवस्य धनुर्येन तथोक्तः अयमहम् तव पुरः अग्रतः अस्मीति शेषः, अहङ्कारेण भुजदर्पेण क्रूरस्य समुद्धतस्य अर्जुनस्य कार्त्तवीर्यस्य भुजवनानाम् सहस्रसंख्यकबाहूनाम् व्रश्चनस्य च्छेदनस्य कला सामर्थ्यम् तेन निसृष्टार्थः ज्ञातवस्तुसारः ते तव कतरो बाहुः प्रहरतु मयि प्रहारं करोतु इति कथय आदिश । अपराधिनि पुरःस्थे च मयि प्रहाराय स्वभुजादेश एव प्राप्तकालो न व्यर्थाऽपरराजनिन्देति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५३ ॥

सकोपाटोपम् सक्रोधावेशम् । विकर्त्तनकुलकलङ्क सूर्यवंशाधम । पार्वतीदयितस्य महादेवस्य कोदण्डो धनुस्तस्य दलने खण्डने साहसं स्वं सामर्थ्यम् उद्भावयसि प्रकाशयसि । अहह इति खेदातिशयव्यञ्जकम् । अन्विष्यति मृगयते । गरीयान् गुरुतरः, सर्वाधिकबलशाली । अश्रुतचरम् पूर्वं कदापि न श्रुतम् । अदृष्टचरम् पूर्वं कदापि न दृष्टम् । राजन्यकीट क्षत्रियाधम ।

क्यों करते हो ? बालक्रीडामें त्रिपुरारिके धनुषको तोड़ देनेवाला मैं तेरे आगे खड़ा हूँ। आज्ञा दो कि अहङ्कार भरे अर्जुन-बाहुओंके खण्डनकी कलामें निपुण तुम्हारा कौन-सा हाथ पहले मुझपर प्रहार करेगा ? ॥ ५३ ॥

जामदग्न्य—(कोपके वेगमें) आः पाप सूर्यकुलकलङ्क, फिर उसी शिवधनुर्भङ्गकी बात चलाता है, अहह !! क्षत्रिय होकर भी मेरे कार्त्तवीर्य-विजयी हाथकी खोज कर रहा है ? समय बड़ा बलवान् है, जो अश्रुतपूर्व वस्तु सुनाता तथा अदृष्टपूर्व वस्तु दिखलाता

---

१. 'साटोपम्' । २. 'साहसम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।
३. 'कार्तवीर्यभुजविजयिनम्—अन्वेषयति' ।

जानास्येव यथा पितुः परिभवन्होमार्जुनीमर्जुनो
मत्कोदण्डमनेकराजकवधस्वाध्यायमध्यापिपत्[1] ।
तेनैवास्ति भवत्सु यद्यपि मम क्रोधोऽयमौत्सर्गिक-
स्तत्संप्रत्युपसर्जनं गुरुधनुर्भङ्गादयं हेतुमान् ॥ ५४ ॥

रामः—[2]ऋषे जामदग्न्य, पटच्चरीभूता खल्वियं पुरातनी कीर्तिपताका । नन्विदानीमेव द्रष्टव्यम् । (नेपथ्याभिमुखम् ।) वत्स लक्ष्मण, धनुर्धनुः ।

जामदग्न्यः—([3]साक्षेपम् ।) [4]अरे अनात्मज्ञ क्षत्रियवटो,

जानास्येवेति । यथा पितुर्मम जनकस्य जमदग्नेः होमार्जुनीम् होमसाधनीभूतां सौरभेयीम् गाम् परिभवन् हरन् अर्जुनः कार्तवीर्यः मत्कोदण्डम् मम चापम् अनेकेषां राजकानाम् वध एव स्वाध्यायः तम् अध्यापिपत् पाठितवान् (तत्) जानास्येव । कार्त्तवीर्यो नाम राजा मम पितुर्होमधेनुं हरन्मम धनुस्सकलक्षत्रवधाय प्रेरितवानिति नाविदितं स्यात्तवेति भावः । तेनैव कार्त्तवीर्यकोपेनैव भवत्सु क्षत्रियेषु अयम् मम कोपः औत्सर्गिकः सामान्यः अस्ति, तत् सम्प्रति उपसर्जनं गुणीभूतम् अप्रधानम् , अयं साम्प्रतिकस्तु भवत्सु मम कोपः गुरुधनुर्भङ्गात् शिवचापदलनात् हेतुमान् सकारणकः । यद्यपि कार्त्तवीर्यापराधसमुत्थितो मम भवत्सु कोप आसीदेव, परमसौ सम्प्रति न प्रज्वलति, असौ गुणीभूतः, सम्प्रति तु गुरुचापभङ्गभवस्य कोपस्य यूयं विषया इति भावः । 'अर्जुनी सौरभेयी गौः' इत्यमरः ॥ ५४ ॥

पटच्चरीभूता जीर्णवसनस्वरूपतां गता । 'पटच्चरं जीर्णवस्त्रम्' इत्यमरः । पुरातनी प्राचीना । यशःपताका कीर्त्तिप्रशस्तिः ।

अनात्मज्ञ स्वरूपपरिचयशून्य । क्षत्रियवटो क्षत्रियशिशो ।

है । अरे क्षुद्र क्षत्रिय, जानते ही हो कि हमारे पिताकी होमधेनुका अपमान करनेवाले अर्जुनने मेरे धनुषको अनेक क्षत्रियवंधका पाठ पढ़ा दिया है, क्षत्रियोंपर मैं उसीसे कुपित रहता आया हूं, परन्तु इस सयय वह गौण हो रहा है, इस समय तो मैं गुरुके धनुषके भङ्गसे कुपित हो रहा हूँ ॥ ५४ ॥

राम—ऋषे जामदग्न्य, तुम्हारी यह कीर्तिपताका अब जीर्ण वस्त्र बन गई है, अभी देखना है—(नेपथ्यकी ओर) वत्स लक्ष्मण, धनुष तो देना ।

जामदग्न्य—(आक्षेपके स्वरमें) अरे अनात्मज्ञ क्षत्रिय कुमार,

---

१. 'अध्यापयत्' । २. 'ऋषे' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।
३. 'साक्षेपम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । ४. 'रे रे' ।

तच्चापमीशभुजपीडनपीतसारं
प्रागप्यभज्यत भवांस्तु निमित्तमात्रम् ।
राजन्यकप्रधनसाधनमस्मदीय-
माकर्ष कार्मुकमिदं गरुडध्वजस्य ॥ ५५ ॥

आकृष्टेन पुनरमुनैव धनुषा [1]किलास्मानभियोत्स्यसे । क्षत्रसत्त्रे दीक्षितानां तु चिरस्य [2]होतायं परशुरस्माकमस्त्येव ।

(इति रामस्य हस्ते धनुरर्पयति ।)

तच्चापमिति । ईशभुजपीडनेन महादेवकरकृतभूयस्समाकर्षणेन पीतसारं क्षपितसामर्थ्यम् तत् चापम् प्रागपि प्रागेव अभज्यत स्वयं भग्नम्, भवांस्तु निमित्तमात्रम् उपलक्षणमात्रम्, शिवव्यवहततया वृद्धं तद्धनुः स्वयमेव भग्नमभवद् भवतः कुतस्तद् भञ्जनक्षमत्वमित्यर्थः । (नन्वस्ति मयि सामर्थ्यं तादृशं तत्राह-राजन्यकेति) राजन्यकानां क्षत्रियाणां प्रधने मारणे साधनं सहायभूतम् इदं गरुडध्वजस्य कार्मुकम् वैष्णवं धनुराकर्ष नमय, स्वसामर्थ्यपरीक्षार्थमिदं मम चापं नमयेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अभियोत्स्यसे युद्धं करिष्यसि । रामो लक्ष्मणाय 'धनुर्धनुः' इत्युक्तवान्, तदुत्तरमिदं परशुरामवचनम्, इदं ममैव धनुराकृष्य स्वबलं परीक्ष्य चानेनैव मया सह युद्धं करिष्यसि, कृतमन्यधनुरानयनादेशप्रदानेनेति तात्पर्यम् ।

ननु यदि त्वं स्वं चापं मह्यं ददासि तत्केन पुनस्त्वं योत्स्यसे इत्युत्तरमाह-परशुरामः । क्षत्रेति । क्षत्रसत्त्रे अस्मिन् क्षत्रियवधयागे । दीक्षितानां कृतसङ्कल्पानाम्, होता होमकर्त्ता । अहमनेन परशुनैव योत्स्य इत्यर्थः ।

महादेवके भुजों द्वारा पीडित होनेसे दुर्बल वह धनुष पहले भी टूट जा सकता था, तूँ तो निमित्तमात्र हो गया है। सकलक्षत्रिय संहारी मेरे इस वैष्णव चापको तो चढ़ाओ ॥ ५५ ॥

इसी धनुषको चढ़ाकर हमसे लड़ो। क्षत्रवध-यज्ञमें बहुत दिनोंसे लगे रहनेवाले मेरे लिये तो यह परशु है ही ॥

(रामके हाथमें धनुष देता है)

---

१. अभियोक्ष्यसे । २. 'अयम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

रामः—(गृहीत्वा ।) भार्गव, समन्तादुद्घातिनी भूमिरियम् । तदेहि विमर्दक्षमं प्रदेशान्तरमवतराव: ।

जामदग्न्यः—(सरोषं परिक्रामन् ।) भो भोः क्षात्रेण ब्राह्मेण च तेजसा विकत्थमानाः, तदत्र

भवतु शरणदो वा सर्वशस्त्राभिसारः
प्रतिविदधतु वाऽस्मिन्नाशिषो वैजयिक्यः ।
अदशरथमरामं निर्विदेहेन्द्रमुर्वी-
वलयमिह विधत्ते रोषणो रैणुकेयः ॥ ५६ ॥

(इति निष्क्रान्तौ ।)

(नेपथ्ये ।)

समन्तात् सर्वतः । उद्घातिनी नतोन्नता । विमर्दक्षमम् युद्धयोग्यं समतलम् , प्रदेशान्तरम् अन्यत्स्थानम् ।

विकत्थमानाः आत्मश्लाघापरायणाः, ब्राह्मतेजसा क्षात्रतेजसा चाभिमानवन्तः ॥

भवत्विति । सर्वशस्त्राभिसारः सर्वैर्योधैः एकदैव सर्वशस्त्रैःकृतं युद्धम् वा शरणदः रामस्य रक्षायामुद्यतो भवतु, अस्मिन् रामस्य मया क्रियमाणे वधे वैजयिक्यः विजयप्रयोजिकाः विजयाशंसिन्यः आशिषः युष्माकं शुभाशंसाः वा प्रतिविदधतु प्रतिकारपरायणा भवन्तु । इह अत्र देशे काले च रोषणः कुपितः रैणुकेयः रेणुकापुत्रः परशुरामः उर्वीवलयम् इदं भूमण्डलम् अदशरथम् दशरथशून्यम् अरामम् रामविरहितम् निर्विदेहेन्द्रम् जनकवर्जितं च विधत्ते, सर्वेषु योधेषु सर्वैरपि शस्त्रैरेकदैव रक्षापरायणेषु सत्स्वपि सर्वेषु लोकेषु शुभाशंसापरेष्वपि सत्सु सम्प्रत्यहं दशरथरामजनकान्मारयामीत्यर्थः । मालिनी वृत्तम् ॥ ५६ ॥

राम—(लेकर) भार्गव, यह जगह निम्नोन्नत है, अतः आइये, युद्धके योग्य समरभूमिमें चलें ।

जामदग्न्य—(सकोप चलते हुए) हे क्षात्र तथा ब्राह्मतेजके अभिमानियो,
सकलशास्त्रका ज्ञान शरणप्रद हो, या विजयके आशीर्वाद प्रतिकर्त्ता हों, मैं रेणुकापुत्र परशुराम कुपित होकर इस भूमण्डलको दशरथ तथा रामसे रहित बनाने जा रहा हूँ ॥५६॥

(दोनों जाते हैं)

(नेपथ्यमें)

भो भोः पौरजानपदाः, प्रवर्त्यतां माङ्गलिकमातोद्यम् । [1]प्रसज्यतामयमपि वैदेहीविवाहमहोत्सवो जामदग्न्यविजयोत्सवेन ।

कन्या काचिदिहापि कर्मणि पणः स्यादित्यसूयावल-
त्सीतापाङ्गमयूखमांसलमुखज्योत्स्नाविलिप्तां दिवम् ।
कुर्वाणेन रघूद्वहेन चकृषे नारायणीयं धनुः
संधायाथ [2]शरश्च भार्गवगतिच्छेदादमोघीकृतः ॥ ५७ ॥

प्रवर्त्यताम् वाद्यताम् । माङ्गलिकम् मङ्गलसाधनम् । आतोद्यम् वीणामुरजवंशकांस्यवाद्यम् , 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः ।

प्रसज्यताम् योज्यताम् । जामदग्न्यविजयोत्सवोऽपि वैदेहीविवाहमहोत्सवेन सह योज्यतामिति भावः ।

कन्या काचिदिति । (यथा पूर्ववृत्ते हरधनुर्भङ्गेऽहं पण आसम् तथा) इह नारायणीयधनुर्भङ्गात्मकेऽपि कर्मणि काचित् कन्या पणः शुल्कं स्यात् इति सापत्नसम्भावनाजन्यया असूयया अमर्षेण वलतः सञ्चारिणः अपाङ्गस्य नेत्रप्रान्तस्य मयूखैः किरणैः मांसलया प्रभूततां गतया मुखज्योत्स्नया विलिप्ताम् लिप्तां दिवं व्योम कुर्वाणेन विदधता यदत्रापि कर्मणि काचित् कन्या पणः स्यात्तदा सा मम सपत्नी भविष्यतीति सपत्नीर्ष्यया सीतया कूणितत्रिभागया दृशा दृश्यमानो रामः स्वमुखप्रतिफलत्सीतानयनमयूखैः समेधितकान्तिमुखं निजं व्योमनि क्षिपन् दिवं तत्कान्तिलिप्तां करोति—तथाविधेन रघूद्वहेन राघववंशश्रेष्ठेन नारायणीयं धनुः चकृषे आकृष्टम् , शरश्च बाणश्च सन्धाय तत्र धनुष्यारोप्य भार्गवगतिच्छेदात् परशुरामस्वर्गमार्गनिरोधद्वारा अमोघीकृतः वैयर्थ्यान्निवारितः । रामेण नारायणीये धनुषि शरमारोप्यानेन किं ते छिनद्मीति पृष्टः परशुरामो भोगनिःस्पृहतया स्वां

हे पुरवासियों, माङ्गलिक वाद्य बजानेका प्रबन्ध करो, वैदेही-विवाहोत्सवके साथ जामदग्न्य-विजयोत्सव भी मना लिया जाय ।

इस कार्यमें भी कदाचित् कोई कन्या पणरूपमें स्थापित हो ऐसा सोचकर असूयासे सीताके अपाङ्गकी किरणोंसे आकाशको आलोकित करानेवाले रघुनाथने नारायणी चापको आकृष्ट कर दिया, और उसपर बाण-सन्धान करके उस बाणको भार्गवकी उत्तरगतिच्छेदके द्वारा अमोघ बना दिया ॥ ५७ ॥

---

१. 'प्रसर्पतामयं वैदेहीविवाहोत्सवो जामदग्न्यविजयमहोत्सवेन'; 'प्रसज्जतामयमपि—विजयेन' । २. 'शरं च' ।

([1]ततः प्रविशतो रामजामदग्न्यौ ।)

रामः—भगवन्भार्गव,

परैराहूतानां विहितमपि शस्त्रं भवतु नः
प्रकृत्या विप्रेभ्यः पुनरकृतशिल्पा रघुभुवः ।
चिरादण्डीरेण त्वयि तदपि रामे न गणितं
तपोविद्यावीरव्रतमय [2]मयि क्षाम्यतु भवान् ॥ ५८ ॥

जामदग्न्यः—(विहस्य ।) कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन ।
यदर्थमस्माभिरिह प्रकोपितस्तदद्य [3]दृष्ट्वा तव धाम वैष्णवम् ।

स्वर्गतिमेव च्छेत्तुं तमन्वरुणत्स च तामेव च्छित्त्वा स्वं बाणममोघीचकारेति भावः । 'विलिसीम्' इत्यत्र 'क्तादल्पाख्यायाम्' इति ङीष् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५७ ॥

परैराहूतानामिति । परैः शत्रुभिः आहूतानाम् युद्धार्थमामन्त्रितानाम् नः अस्माकं राघवक्षत्रियाणाम् शस्त्रम् शस्त्रग्रहणम् विहितम् विधिसमर्थितमपि भवतु स्तान्नाम, पुनः परन्तु रघुभुवः रघुवंश्याः प्रकृत्या स्वभावतः विप्रेभ्यः ब्राह्मणानुद्दिश्य अकृतशिल्पाः अविहितशस्त्रविद्याभ्यासाः । चिरात् बहोः कालात् अण्डीरेण धृतगर्वेण मया तदपि ब्राह्मणविषये शस्त्रग्रहणस्यायुक्तत्वम् अपि त्वयि त्वत्प्रसङ्गे न गणितम् न विचारितम् , हे तपोविद्याव्रतमय, तपोमय, विद्यामय, व्रतमय, च, भवान् मयि क्षाम्यतु मृष्यतु, अनुचितं तदाचरितं क्षमतां भवानित्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५८ ॥

कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन—नापराधं कृतवान् भवान्मयीति भावः ।

यदर्थमिति । अस्माभिः यदर्थम् यस्य वैष्णवस्य धाम्नो दर्शनार्थम् अस्मिन् विषये अत्र प्रसङ्गे प्रकोपितः क्रोधं लम्भितः असि, तत् वैष्णवं धाम दृष्ट्वा प्रत्यक्षी-

(राम और जामदग्न्यका प्रवेश)

राम—भगवन् भार्गव, दूसरों द्वारा ललकारे जानेपर भले ही हम शस्त्रग्रहण करनेको बाध्य हो जांय, परन्तु स्वभावतः हम ब्राह्मणोंपर शस्त्र नहीं उठाते हैं, गर्वी होकर मैंने उस नियमका पालन नहीं किया, हे तप तथा विद्या-वीरताके व्रतधारी, आप हमें क्षमा करें ॥ ५८ ॥

जामदग्न्य—(हंसकर) वत्सने मेरे प्रति क्या अपराध किया है ?

मैंने आपको जिसलिए कुपित किया था, आपके उस वैष्णव तेजको देखकर हमारे

१. 'ततः प्रविशति रामः परशुरामश्च' । २. 'मम' । ३. 'दृष्टम्' ।

विशीर्णसर्वामयमस्मदान्तरं चिरस्य कंचिल्लघिमानमश्नुते ॥ ५९ ॥

रामः—इत इतो [1]भगवन् ।

जामदग्न्यः—(रामस्य चिबुकमुन्नमय्य सस्मितम् ।) वत्स, अप्रशस्तः खल्वारण्यकानां जनपदेषु चिरप्रचारः । [2]तत्क पुनरस्मान्नेष्यसि ।

रामः—भगवन्, [3]भगवतो याज्ञवल्क्यस्यावसथे कृतातिथेयसंविधानौ तातजनकौ भवन्तमनुपालयतः ।

एहि विष्टरपादार्घ[4]मधुपर्कैरुपस्थितान् ।
इक्ष्वाकूंश्च विदेहांश्च पुनीहि भगवन्नमून् ॥ ६० ॥

कृत्य अद्य अस्मदान्तरम् ममान्तःकरणम् विशीर्णसर्वामयम् अपेतसमस्तरोगम् सत् चिरस्य बहोः कालात् कञ्चित् लघिमानम् लाघवम् अश्नुते भजति । वैष्णवं तेजो दृष्ट्वाऽपेतसकलमनोमलस्य मम हृदयं लघूभूतमिति भावः । वंशस्थविलं वृत्तम्, 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' इति तल्लक्षणात् ॥ ५९ ॥

अप्रशस्तः निषिद्धः । आरण्यकानाम् वनवासिनाम् । जनपदेषु ग्रामनगरादिषु । चिरप्रचारः बहुकालपर्यन्तं वासः ।

आवसथे आश्रमे निवासस्थाने । कृतातिथेयसंविधानौ समाहृतातिथ्योपकरणौ । तातजनकौ दशरथविदेहौ । अनुपालयतः प्रतीक्षेते ।

एहि विष्टरेति । विष्टरः आसनम्, पादार्घः पाद्यम्, मधुपर्कश्च तैः त्वदर्चनार्थमाहृतैः विष्टरपादार्घमधुपर्कैः (सह) उपस्थितान् अमून् इक्ष्वाकून् विदेहांश्च उभयवंश्यान् पुनीहि पवित्रीकुरु, भगवन् परशुराम । एहि आगच्छ ॥ ६० ॥

हृदयका सारा रोग दूर हो गया, हमारे हृदयका भार हलका हो गया है ॥ ५९ ॥

राम—आप इधर आइये ।

जामदग्न्य—(रामकी ठुड्डी पकड़कर उठाते हुए) वत्स, वनवासियोंके लिए अधिक समय तक गांवमें रहना निन्दित है, अतः मुझे कहाँ ले जाओगे ?

राम—भगवन्, भगवान् याज्ञवल्क्यके आश्रममें आतिथ्यका आयोजन करके हमारे पिता तथा जनक आपके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

आइये, आसन, पाद्य तथा मधुपर्कसे आपकी सेवाके लिए उपस्थित इक्ष्वाकु तथा विदेहके वंशज को पवित्र करें ॥ ६० ॥

---

१. 'भवान्'; 'भगवान्' । २. 'तत्कथम्' ।
३. 'भगवतः' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । ४. 'पाद्यार्घ' 'पाद्यार्घ्य' ।

जामदग्न्यः—वत्स, अपरिहार्यमेव[1] ह्यातिथ्यं राजन्यश्रोत्रियाणाम्। किं पुनरेवंविधवैखानसोचिताचारस्खलितविलक्षो न शक्नोमि धर्माचार्यं याज्ञवल्क्यमुपेत्यावलोकितुम्[2]। आचारस्तु दूरादपि [3]कृतः कृतः स्यात्। (किंचिदुच्चैर्नेपथ्याभिमुखम्[4]।)

यस्य स्मृतीः [5]प्रतीक्षन्ते चतुर्वर्गे मनीषिणः।
नमो भगवते तस्मै याज्ञवल्क्याय योगिने॥ ६१॥

(नेपथ्ये।)

गायत्री [6]द्रुपदा देवी पाप्मानमपहन्तु ते।
पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम्॥ ६२॥

अपरिहार्यम् अपरित्यक्तव्यम्। आतिथ्यम् सत्कारः। राजन्यश्रोत्रियाणाम्—वेदविद्याविदां राज्ञाम् राजश्रेष्ठानां वा। किं पुनः—किन्तु। वैखानसोचिताचारस्खलितविलक्षः शान्तित्यागलज्जितः। आचारः प्रणामादिः।

यस्येति। मनीषिणो विद्वांसो यस्य स्मृतीः संहितावचनानि चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टये प्रतीक्षन्ते प्रमाणमामनन्ति, तस्मै योगिने अवलम्बितसमाधये भगवते याज्ञवल्क्याय नमः॥ ६१॥

गायत्रीति। गायत्री मन्त्रात्मिका सावित्री देवी तथा द्रुपदा 'द्रुपदादिव मुमुचानः' इत्यादिमन्त्रात्मिका च देवी ते तव पाप्मानम् पापम् अपहन्तु नाशयतु पावमान्यः पवित्रताजनकतया पठिताः मन्त्रविशेषाः त्वां पुनन्तु पवित्रतां नयन्तु, ते परं ब्रह्म ब्रह्मज्ञानम् ऋध्नोतु वर्धताम्॥ ६२॥

जामदग्न्य—क्षत्रिय-श्रोत्रियों द्वारा आयोजित आतिथ्य अपरिहार्य है, किन्तु मैंने तपस्वियोंके आचरणसे अपनेको स्खलित कर लिया है, अतः मुझे धर्माचार्य याज्ञवल्क्यके सामने जानेमें लज्जा होती है। आचार तो दूरसे भी किया जा सकता है।

(नेपथ्यमें ऊपरकी ओर देखकर)

विद्वान् लोग चतुर्वर्गके निर्णयमें जिनकी स्मृतिकी प्रतीक्षा करते हैं, उस योगिराज याज्ञवल्क्यको नमस्कार॥ ६१॥

(नेपथ्यमें)

गायत्री तथा द्रुपदादि मन्त्र तुम्हारे पापको नष्ट करें, पावमानी ऋचायें तुम्हें पवित्र करें, तथा तुम्हारा ब्रह्मज्ञान समृद्ध हो॥ ६२॥

---

१. 'एव हि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति। २. 'अवलोकयितुम्'।
३. 'कृतकृत्यः'। ४. 'अभिमुखः'। ५. 'अपेक्षन्ते'। ६. 'त्रिपदा'।

जामदग्न्यः—भगवन्, अपत्रपमाणो न भवन्तं द्रष्टुमुत्सहे। तद्-नुमन्यस्व [1]मामरण्याय।

(नेपथ्ये।)

शिवास्ते पन्थानो व्रज निजगृहेभ्यो निजगृहा-
न्किमन्यत्सर्वेषां गुणमय! [2]शिरोमाल्यमसि नः।
त्रिलोकीनिर्माणस्थितिनिधनबन्धोर्मधुभिदो
भवान्षष्ठी[3] मूर्तिर्भृगुकुलमधिष्ठाय रमते॥ ६३॥

जामदग्न्यः—वत्स रामभद्र।

रामः—आज्ञापय।

अपत्रपमाणः साधुजनोचितानाचारपरित्यागलज्जितः। अनुमन्यस्व अनुजानीहि। अरण्याय वनं गन्तुम्।

शिवास्त इति। ते तव पन्थानः शिवाः कल्याणमयाः सन्तु इति योजनीयम्, निजगृहेभ्यः निजानां स्वजनानामस्माकं गृहेभ्यो निजगृहान् स्वीयानाश्रमान् व्रज गच्छ, अन्यत् किम् उच्यताम्, हे गुणमय सकलगुणालय, नः अस्माकम् शिरोमाल्यम् आदरणीयः असि। त्रिलोक्याः लोकत्रयस्य निर्माणं सृष्टिः, स्थितिः पालनम्, निधनं विनाशश्च तद्बन्धोः तत्कर्त्तुः मधुभिदो विष्णोः षष्ठी मूर्त्तिः परशुरामरूपा तनुर्भवान् भृगुकुलम् अधिष्ठाय स्थित्वा सनाथीकुर्वन् रमते व्यवहारपरायणतया क्रीडति। 'मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः। रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्की च ते दश' इत्यवतारगणना। रामः परशुरामः, रामो रामचन्द्रः, रामः बलरामश्चेति क्रमः॥ ६३॥

जामदग्न्य—भगवन्, लज्जाके कारण मैं आपका दर्शन नहीं करना चाहता हूँ, अतः मुझे वनगमनकी अनुमति दें॥

(नेपथ्यमें)

तुम्हारे मार्ग कल्याणमय हों, आत्मीयजनोंके यहाँसे अपने घर जाओ, हे गुणमय, और क्या कहें, आप हमारे शिरोभूषण हैं, संसारके निर्माण-रक्षासंहारकारी भगवान् विष्णुके षष्ठ अवतारके रूपमें आप भृगुकुलमें रम रहे हैं॥ ६३॥

जामदग्न्य—वत्स रामभद्र।

राम—आज्ञा करें।

---

१. 'अरण्यगमनाय'। २. 'शिरोरत्नम्'। ३. 'मूर्तिः षष्ठी'।

जामदग्न्यः—निवर्तस्व । नूनमिदानीं कृतकौतुकागारमङ्गलोपचारः [1]श्वशुरकुललोकस्त्वां प्रतीक्षते । (इति परिष्वज्य निष्क्रान्तः ।)

रामः—(सोद्वेगम् ।) कथं गतो भगवान् । तदहमपि तातसमीपमेव गच्छामि । (इति [2]परिक्रामन्पुरोऽवलोक्य ।) कथं तातश्च जनकश्चेत एवाभिवर्तेते । (इत्युपसर्पति ।)

(ततः प्रविशतो जनकदशरथौ राजानावन्योन्यं परिष्वज्य ।)

जनकः—

सुचरितमिदमैतिहासिकानां [3]हृदि न विरंस्यति यत्तवैष पुत्रः ।
भृगुसुतपरशूदराद्विराजां सहजविजित्वरमाचकर्ष तेजः ॥ ६४ ॥

दशरथः—(पुरोऽवलोक्य सहर्षम् ।) कथमागत एव वत्सो रामभद्रः ।

निवर्त्तस्व मदनुगमनं विहाय परावर्त्तस्व । कौतुकागारः परिणयगृहम् । तत्र मङ्गलम् नानाविधाचारद्वारकं शुभाशंसनम् , तदुपचारः परिपाटी ।

सुचरितमिति । तव एषः रामलक्ष्मणः पुत्रो जामाता सुतश्च भृगुसुतस्य परशुरामस्य परशूदरात् कुठारान्तरालात् विराजां क्षत्रियाणां सहजविजित्वरम् स्वभावतो विजयशीलम् तेजः यद् आचकर्ष आकृष्य वहिर्नीतवान् इदं सुचरितम् रामस्य चरित्रम् ऐतिहासिकानाम् इतिहासविदां हृदि न विरंस्यति-न मलिनतां गमिष्यति । तव पुत्रेण रामेण परशुरामकुठारापहृता क्षत्राणां बलसम्पत्पुनरुद्धृतेति कीर्त्तिमैतिहासिका अनवरतं स्मरिष्यन्तीति भावः ॥ ६४ ॥

जामदग्न्य—लौटिये, कौतुक-मङ्गलाचार करके श्वशुरकुलके आदमी निश्चय आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे । (आलिङ्गन करके जाते हैं)

राम—(उद्वेगके साथ) क्यों, भगवान् चले गये । अतः मैं भी पिताजीके पास जाता हूं । (चलते हुए आगे देखकर) क्यों, पिताजी तथा जनक इधर ही आ रहे हैं । (समीप जाते हैं) ॥

(दशरथ तथा जनक आकर परस्पर लिपट जाते हैं)

जनक—ऐतिहासिकोंके हृदयोंसे यह सुचरित कभी भी दूर नहीं होगा, कि आपके इस पुत्रने भृगुपतिके उदरसे क्षत्रियोंके स्वाभाविक तेजको बाहर निकाल लाया ॥ ६४ ॥

दशरथ—(आगे देखकर सहर्ष) क्यों, रामभद्र भी आ ही गये,

---

१. 'कुल' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २. 'पुरतोऽवलोक्य च' । ३. 'न हृदि' ।

जनकः—सखे महाराज दशरथ, पश्य पश्य।

चिरात्क्षात्रं तेजस्त्रिजग[1]द्वजैत्रं जनयिता
विधाता सर्वेषामुपरि सवितारं [2]कुलभृताम्।
विनेता वर्णानां भृगुपतिभुजादर्पनिकषो
महावीरः श्रीमानय[3]ममृतमक्ष्णोर्विकिरति ॥ ६५ ॥

दशरथः—(निर्वर्ण्य। सस्नेहम्।) सखे सीरध्वज, रघुराजधर्माधिकारसर्वधुरीणः शिशुरपि वत्सोऽयम्। तदस्मिञ्जरसा दुर्वहं वर्णाश्रम-

चिरादिति। चिरात् बहोः कालात् परतः क्षात्रं तेजः क्षत्रियजातिबलम् त्रिजगद्वजैत्रम् लोकत्रयविजयकरम् जनयिता विधाता, कुलभृतां तत्तद्वंशप्रवर्त्तकानाम् चन्द्रादीनाम् मध्ये सवितारम् सूर्यम् उपरि विधाता सर्वाधिकं प्रकर्षं प्रापयन्, वर्णानां ब्राह्मणादीनां विनेता सत्पथप्रवर्त्तकः, भृगुपतिभुजादर्पनिकषः परीक्षितपरशुरामभुजवीर्यश्च श्रीमान् पुण्यलक्ष्मीको महावीरो रामोऽयमक्ष्णोः मन्नयनयोरमृतं विकिरति सुधामिव वर्षति। यो बहोः कालात् क्षात्रं तेजो विश्वविजयि प्रमापितवान्, सर्वेषामपि वंशानां मध्ये सूर्यवंशं प्रतिष्ठिततमं कृत्वा तत्तद्वंशादिपुरुषाणां मध्ये सूर्यस्य प्रतिष्ठां समेधितवान् सर्वान् ब्राह्मणादीन् वर्णान् सत्पथे प्रवर्त्तितवान्, भृगुपतेर्भुजवीर्यं च परीक्षितवानसौ महावीरो रामो मम नयनयोरमृतवृष्टिमिव करोतीत्यर्थः। 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः ॥ ६५ ॥

रघुराजानाम् राघववंश्यनृपाणाम्, धर्माधिकारे सर्वविधधर्मपालने सर्वधुरीणः सर्वविधभारवहनक्षमः। जरसा दुर्वहम् वृद्धतया मया वोढुमशक्यम्। वर्णाश्रमभारम्—वर्णानामाश्रमाणां च रक्षाकार्यम्। आरोप्य दत्वा। रामं यौवराज्येऽभिषिच्येत्यर्थः। शेषमायुः अवशिष्टं वयः। उपयुञ्जामहे उपभोक्तुमिच्छामः, यापयितुं कामयामहे, ईदृशम्—पुत्रे लक्ष्मीं निधाय तपस्यारसिकम्। साधु—सम्यक्। राम-

जनक—सखे महाराज, देखिये,

क्षात्रतेजको त्रिजगद्विजयी बनानेवाला तथा सभी कुलप्रवर्त्तकोंके ऊपर सूर्यको प्रतिष्ठित करनेवाला, सभी वर्णोंका विजेता, तथा भार्गवके दर्पको शान्त करनेवाला, यह महावीर राम आँखोंमें अमृतकी वर्षा कर रहा है ॥ ६५ ॥

दशरथ—(देखकर) (सस्नेह) सखे, सीरध्वज, यह राम लड़का होनेपर भी रघुवंश के धर्माधिकारके भारको उठानेमें समर्थ है। अतः मैं चाहता हूँ कि मैं बूढ़ा हो

१. 'उपजीव्यम्'। २. 'कुलकृताम्'। ३. 'अमृतमयम्'।

भारमारोप्य [1]वयमपि क्वापि तपोवने दिलीपकुलोचितेन विधिना शेष-[2]मायुरुपबुभुक्षामहे।

जनकः—सखे दशरथ, साधु ते हृदयमीदृशम्। [3]क्रमादेतदनुष्ठातव्यम्।

रामः—(उपसृत्य।) [4]तातौ, अभिवादये।

जनकः—एह्येहि वत्स रामभद्र। (इति सहर्षमालिङ्गति।)

दशरथः—(राममालिङ्ग्य।) सखे जनक, रामभद्रमभिषेक्तुं जामदग्न्यविजयप्रीतिरेव श्रेयानवसरः। कालक्षेपे पुनः को हेतुः।

(प्रविश्य।)

लक्ष्मणः—इयमार्यया मन्थरयोपनीता मध्यमाम्बायाः पत्री।

(राजानौ सवितर्कमन्योन्यं पश्यतः।)

रामः—(सहर्षम्।) वत्स लक्ष्मण, अपि सपरिवारायाः कुशलमम्बायाः कथयत्यार्या मन्थरा।

मभिषेक्तुम्—रामस्य यौवराज्याभिषेकं कर्त्तुम्। जामदग्न्यविजयप्रीतिः परशुरामविजयजन्यः सन्तोषः। श्रेयान् अवसरः उत्तमः कालः।

मध्यमाम्बायाः कैकेय्याः। पत्री लिपिः।

अस्मत् प्रवासदौर्मनस्यम् अस्माकं प्रवासेन परदेशस्थत्वेन जायमानं दुःखम्॥

गया हूँ, मुझे जो भार दुर्वह है उसे रामपर रख दूँ, और दिलीपकुलोचित मार्गसे किसी तपोवनमें आयुके दिनोंका उपभोग करूं।

जनक—सखे, ठीकही आपके हृदयमें ऐसी बात है, क्रमशः ऐसा कर लीजियेगा।

राम—(समीप जाकर) तात, प्रणाम करता हूँ।

जनक—आओ वत्स रामभद्र, (गले लगाते हैं)

दशरथ—(रामको गले लगाकर) सखे जनक, जामदग्न्यकी जीतका आनन्दोत्सव ही रामभद्रके अभिषेकका उत्तम अवसर है, समय वितानेमें क्या हेतु ?

लक्ष्मण—आर्या मध्यमा अम्बाने यह पत्री भेजी है।

(दोनों राजा सवितर्क परस्पर देखते हैं)

राम—(सहर्ष) वत्सलक्ष्मण, सपरिवार मध्यमा अम्बाका कुशल तो बताती है मन्थरा ?

---

१. 'वयमपि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।　　२. 'उपभोक्ष्यामहे'।

३. 'एवमनुष्ठातव्यम्'।　　४. 'तातौ' इति पुस्तकान्तरे नास्ति।

लक्ष्मणः—[1]आर्य, अथ किम् ।

रामः—नूनमस्मत्प्रवासदौर्मनस्यमम्बां पीडयिष्यति ।

जनकः—(लक्ष्मणहस्तात्पत्रिकां गृहीत्वा वाचयति ।) स्वस्ति । महाराजं दशरथं कैकेयी[2] विज्ञापयति । यथा

तन्मे वरद्वयमुरीकृतपूर्वमेव
याचे बिभर्तु भरतस्तव राज्यलक्ष्मीम् ।
वर्षाणि तिष्ठतु चतुर्दश दण्डकायां
सौमित्रिमैथिलसुतासहितश्च रामः ॥ ६६ ॥

(इति राजानौ मूर्च्छतः ।)

रामः—यदादिशत्यम्बा । (इति शिरसि पत्रिकां [3]दत्त्वा ।) वत्स लक्ष्मण, निजामस्मदाराधनसहाध्यायिनीं प्रजावतीमादाय [4]पुरो भव ।

तन्मे वरद्वयमिति । तत् मे मह्यम् उरीकृतपूर्वम् पूर्वमङ्गीकृतम् एव वरद्वयं याचे अर्थये, (तयोरेकेन) भरतस्तव राज्यलक्ष्मीं बिभर्तु पालयतु (द्वितीयेन) रामः सौमित्रिमैथिलसुताभ्याम् लक्ष्मणसीताभ्याम् सहितः रामः दण्डकायां दण्डकावने चतुर्दशवर्षाणि तिष्ठतु च ॥ ६६ ॥

अस्मदाराधने अस्माकं सेवायाम् , सहाध्यायिनीम् सङ्गिनीम् , त्वं सीता च सहैवास्माकमाराधने इति तवासावस्मदाराधनसहाध्यायिनी भवति । प्रजावतीम् भ्रातृजायाम् । 'प्रजावतीदोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेवे'ति कालिदासः ।

लक्ष्मण—आर्य, और क्या ?

राम—निश्चय ही हमारे प्रवाससे माता पीड़ित होगी ।

जनक—(लक्ष्मणके हाथसे पत्री लेकर पढ़ते हैं) स्वस्ति, महाराजसे कैकेयी विज्ञापित करती है, हमारे जो दो वर आपने पहले स्वीकृत किये थे, उनमें मैं भरतका राज्याभिषेक माँगती हूँ और लक्ष्मण तथा सीताके साथ चौदह वर्ष पर्यन्त राम दण्डकावनमें रहें ॥६६॥

(दोनों राजा मूर्च्छित होते हैं)

राम—माताकी जैसी आज्ञा । (पत्रिका सिरपर लेकर) वत्स लक्ष्मण, हमारी आराधनामें तुम्हारी सहायता करनेवाली अपनी भौजाईको साथ लेकर आगे बढ़ो ।

---

१. 'आर्य' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २. 'देवी कैकेयी' ।
३. 'गृहीत्वा' । ४. 'पुरस्ताद्भवेति' ।

लक्ष्मणः—[1]तथा। (इति निष्क्रान्तः ।)

रामः—तातौ, [2]समाश्वसितं समाश्वसितम् ।

जनकः—(आश्वस्य ।) अहह ।

पाणिर्गृहीतो रघुपुंगवेन [3]देवः पुराणः श्वशुरो विवस्वान् ।
पिता स्वयं केकयचक्रवर्ती कर्मेदमेतादृशमाः किमेतत् ॥ ६७ ॥

(इति मूर्च्छति ।)

(रामः [4]पटाञ्चलेन वीजयति ।)

दशरथः—(आश्वस्य ।)

कोऽप्येष [5]वाङ्मनसयोरतिवृत्तवृत्ति-
र्भावो हुताशनमयश्च तमोमयश्च ।

पाणिरिति । रघुपुङ्गवेन दशरथेन पाणिर्गृहीतः विवाहविधिना स्वीकृतः, देवो-विवस्वान्सूर्यः पुराणः श्वशुरः, पिता जनकः साक्षात् स्वयं केकयचक्रवर्त्ती केकयानां सम्राट्, तथापि तव ईदृशम् रामवनवासप्रार्थनात्मकं कर्म ? एतत् किम् ? कुत आगतमिति शेषः ॥ ६७ ॥

कोऽप्येष इति । वाङ्मनसयोः वाचो मनसश्च अतिवृत्तवृत्तिः अविषयः वचसो

लक्ष्मण—(जो आज्ञा) (जाता है)

राम—तात, धीरज धरें ।

जनक—(आश्वस्त होकर) अहह !! रघुराज (दशरथ) ने पाणिग्रहण किया, भगवान् सूर्य इसके श्वशुर हैं, पिता हैं केकयदेशके चक्रवर्त्ती, फिर भी इसके यह कार्य, आः, यह कैसे हुआ ? ॥ ६७ ॥

(मूर्च्छित होते हैं)

(राम वस्त्रान्तसे हवा करते हैं)

दशरथ—(आश्वस्त होकर) वाणी तथा मनका अतिक्रमण करनेवाला एवं ज्वालामय

---

१. 'यदाज्ञापयत्यार्यः' । २. 'समाश्वसितां समाश्वसिताम्' । ३. 'देवश्च साक्षात्' । ४. 'रामस्तथैव पटान्तेन' । ५. 'अनिवृत्तकर्मा'; 'अतिवृत्तवर्त्मा' ।

भोक्तृत्वमात्रमिह मे पुनरीदृशं मां
हा वत्स राम कथमुत्सहसे विहातुम् ॥ ६८ ॥

(विमृश्य ।) हा वत्से जानकि, निशाचराणामातिथेयीभवितुं दशरथगृहे[1] प्रविष्टासि । (इति मूर्च्छति ।)

रामः—तातौ, [2]समाश्वसितं समाश्वसितम् ।

जनकः—(आश्वस्य । आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा ।) साधु सखि कैकेयि, साधु । यदस्या विश्वंभरादुहितुर्मे वत्सायाः पत्युरनुवृत्तिरेव प्रसादीकृता (विमृश्य । सव्यथम् ।)

मनसोऽपि वाऽविषयः हुताशनमयः सन्तापकतया वह्निमयः अज्ञानजनकतया तमोमयश्च कोऽपि अनिर्वचनीयस्वरूपो भावः ममावस्था जायत इत्यर्थः। इह अस्यां विषमयामवस्थायां मे पुनः भोक्तृत्वमात्रम् केवलमनुभवितृत्वम् न जनकत्वं न वा प्रतिकारक्षमत्वम् अस्ति, हा ईदृशम् इमां कष्टामवस्थां प्राप्तम् मां हे वत्स राम, त्वं कथं विहातुं त्यक्त्वा वनं गन्तुमुत्सहसे इच्छसि ? ईदृश्यामवस्थायां मां परित्यज्य तव वनगमनमयुक्तमिति भावः ॥ ६८ ॥

आतिथेयी अतिथिः, निशाचरगृहे गन्तुमेव दशरथगृहे गतासीत्यर्थः । विश्वम्भरादुहितुः धरासुतायाः । पत्युरनुवृत्तिः पत्यनुगमनम् ।

तथा अन्धकारमय यह भाव है, इसमें यद्यपि मैं भोक्तामात्र हूं, तथापि हे राम, तुम मुझे क्यों छोड़ रहे हो ॥ ६८ ॥

(सोचकर) हा सीते, राक्षसोंके आतिथ्यके लिए ही तुमने दशरथके गृहमें प्रवेश किया ।

राम—तात, धीरज धरें,

जनक—(आश्वस्त होकर) (आकाशमें हाथ जोड़कर) साधु सखि कैकेयि, साधु, पृथ्वीकी पुत्री इस सीताको तुमने पतिका अनुगमन ही उपहारमें दिया ॥

(विचारकर सखेद)

---

१. 'गृहमनुप्रविष्टासि' । २. 'समाश्वसितां समाश्वसिताम्' ।

धनुष्मन्तौ वत्सौ दशरथभुजैरूष्मलतमाः[1]
प्रदेशास्ते वत्सा शिशुरशिववृत्ता वनभुवः।
प्रियै राजा मुक्तैरसुभिरपमार्ष्टि स्वमयश-
श्चरित्रव्यत्यासः सखि कथमयं केकयकुले ॥ ६९ ॥

कष्टं च। वयमपि कथमनेन जनपदेषु [2]बहुलीभवता भरतयौवराज्य-लक्ष्मीकर्णपूरतमालपल्लवेन कैकेयीदुर्यशसा मूर्धानमुन्नमय्य लोकस्य मुखं द्रक्ष्यामः।

धनुष्मन्ताविति। वत्सौ रामलक्ष्मणौ धनुष्मन्तौ प्रशंसनीयधनुर्धरौ, ते प्रदेशाः रामेण गन्तव्या देशाः दशरथभुजैः दशरथप्रतापैः ऊष्मलतमाः साधुतेजःपूर्णाः परिपालिताः सन्तापिताश्च सन्तीति शेषः, वत्सा सीता शिशुः बालावस्था, वनभुवः काननस्थल्यः अशिववृत्ताः विघ्नबहुलाः, राजा दशरथः मुक्तैः परित्यक्तैः प्रियैः स्वैः प्राणैरयशो रामवनप्रेषणकलङ्कम् अपमार्ष्टि क्षालयति, हे सखि कैकेयि, केकयकुले तव पितुः केकयस्य वंशेऽयं चरित्रव्यत्यासः दुराचारभवः कलङ्कः कथं जातः। बालावपि रामलक्ष्मणौ धनुर्धरौ, रामगम्यादेशाश्च दशरथभुजवीर्यनिर्जिता इति च वनभुवां विघ्नबहुलत्वेऽपि शिशोरपि सीताया न किमपि शङ्कितव्यमस्ति, दशरथश्च प्राणानपहायैव स्वीयं रामवनप्रेषणकलङ्कं क्षालयति, तदयं सर्वोऽपि कलङ्कः केकयवंश एव त्वया निहित इति कारणं तस्य न पश्याम इत्याशयः। शिखरिणीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

बहुलीभवता प्रसरता। भरतस्य यौवराज्यलक्ष्म्याः कर्णपूरः कर्णाभरणं यस्त-मालपल्लवस्तत्स्वरूपेण, भरतराज्यलक्ष्म्याः सततसन्निहितेनेत्यर्थः। कैकेयीदुर्यशसा कैकेयीकलङ्केन।

राम-लक्ष्मण धनुर्धर हैं, दशरथके भुजप्रतापसे वह देश पहलेसे ही साधित है, फिर भी वन अमङ्गलमय होते हैं, अपने प्रिय प्राणोंका त्याग करके दशरथ अपने अयशका क्षालन कर रहे हैं, हे सखि, तुम्हारे कुलका चरित इस प्रकार क्यों बदल गया ॥ ६९ ॥

बड़ा कष्ट ! हम देशमें फैलनेवाले भरतकी राज्यलक्ष्मीके कर्णभूषणतुल्य इस कैकेयीके कलङ्कके कारण कैसे सिर उठाकर चलेंगे ?

---

१. 'उल्बणतमाः'। २. 'बहुलीभविष्यता'।

रामः—(उत्थाय ।) तात जनक, यथा सुस्थं तातं शृणोमि तथा [1]भवता [2]विधातव्यम् । (इति निष्क्रान्तः ।)

दशरथः—(आश्वस्योत्थाय च ।) वत्स रामभद्र, परिपालय माम् । (इति जनकेन धार्यमाणो निष्क्रान्तः ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति दशरथविप्रलम्भो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।



सुस्थम् प्राप्तसुस्थभावम् , प्रसन्नम् ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे' चतुर्थाङ्क 'प्रकाशः' ।



राम—(उठकर) जिस प्रकार मैं पिताजीको सुस्थ सुन पाऊँ, आप वैसा प्रयास करेंगे । (जाते हैं)

दशरथ—(आश्वस्त होकर और उठकर) वत्स रामभद्र, मेरी रक्षा करो ।

(जनकसे अवलम्बित दशरथका प्रस्थान)

(सबका प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥



---

१. 'भवतैव' । २. 'तथा विधातव्यम्' ।

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः [1]श्रवणाजाम्बवन्तौ ।)

जाम्बवान्—ततस्ततः ।

श्रवणा—ततो मिथिलाया निष्क्रम्य मन्थराकलेवरमवकीर्य मारुतिप्रत्यवेक्षितं स्वशरीरमधिष्ठाय [2]गङ्गायां शृङ्गवेरपुरं नाम निषादपक्कणमागत्य[3] शबरीभूतास्मि ।

जाम्बवान्—ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च ममानुपदमेव तस्मिन्निमौ रामलक्ष्मणावियं सीतेति सर्वतः शब्दो महानभूत् ।

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च कावेतौ रामलक्ष्मणाविति कर्णधाराधिपतिना

---

१ मिथिलाया निष्क्रम्य विदेहनगराद् बहिर्भूय । अवकीर्य परित्यज्य । मारुतिप्रत्यवेक्षितम् हनुमता सुरक्षितम् । गङ्गायाम् गङ्गातटे । पक्वणम् शबरालयम् । शबरीभूता चाण्डालरूपं धृतवती ।

ममानुपदम् मत्पश्चात् । तस्मिन् शबरालये ।

कर्णधाराधिपतिना कर्णधाराणाम् नाविकानाम् अधिपतिना राज्ञा गुहेन । अनुयुक्ता पृष्टा । निवेदितवती उक्तवती ।

(श्रवणा तथा जाम्बवान्का प्रवेश)

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद मिथिलासे निकलकर मन्थराके कलेवरको छोड़ हनूमान्की सुरक्षामें वर्त्तमान अपने शरीरमें प्रवेश करके गङ्गातटस्थ शृङ्गवेर पुरमें आकर शबरी बन गई ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—मेरे पीछे ही उस शृङ्गवेर पुरमें–यह हैं राम-लक्ष्मण, यह है सीता–इस प्रकारके शब्द होने लगे ।

जाम्बवान्—(सहर्ष) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद कर्णधाराधिपति गुहने मुझसे पूछ दिया कि यह राम-लक्ष्मण

---

१. 'श्रमणा–' । २. 'गङ्गातीरे' । ३. ''आगत्य भूतास्मि' ।

गुहेनाहमनुयुक्ता निवेदितवत्यस्मि[1]।

पुत्रीयता दशरथेन मुनिप्रसादा-
त्प्राप्ताः पुराणपुरुषस्य कलाश्चतस्रः।
तासामयं गुणमयः प्रथमः कुमारो
[2]वीरोद्धतः पुनरसावपरस्तृतीयः ॥ १ ॥

जाम्बवान्—श्रवणे, साधूक्तम्। ततस्ततः।

श्रवणा—ततश्चोदकान्तनिवर्तितानुयात्रिकबन्धुवर्गः [3]ससंभ्रमोपगतेन गुहेनोपनीतां नावमधिरुह्य

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनाऽसौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानांतरं नाविकाय।

पुत्रीयतेति। पुत्रीयता आत्मनः पुत्रमिच्छता दशरथेन मुनेः ऋष्यश्रृङ्गस्य प्रसादात् अनुग्रहातिशयात् पुराणपुरुषस्य नारायणस्य चतस्रः कला अंशाः प्राप्ताः पुत्ररूपेण लब्धाः, तासां कलानां मध्ये अयं गुणमयः सकलगुणनिधानम् प्रथमः कुमारः रामः, वीरोद्धतः वीरोद्धतगत्या परिक्रामन् असावपरः तृतीयः कुमारो लक्ष्मणः अस्तीति शेषः। ऋष्यश्रृङ्गविहितयागमहिम्ना दशरथेन ये चत्वारः पुत्राः प्राप्तास्तेषु प्रथमोऽयं रामस्तृतीयश्चायं लक्ष्मण इत्यर्थः ॥ १ ॥

ततश्चेति। ततश्च तदनन्तरम् उदकान्तात् जलसमीपात् निवर्त्तितः परावर्त्तितः अनुयात्रिकः अनुगच्छन् बन्धुवर्गो येन तथोक्तः, 'आ उदकान्तं स्निग्धोऽनुगन्यते' इति श्रुत्यनुसारेण जलसमीपदेशादनुयायिबन्धुजनान्विसृज्येत्यर्थः। ससंभ्रमोपगतेन सत्वरमुपस्थितेन। गुहेन निषादेन। उपनीताम् आनीताम्। अधिरुह्य आरुह्य।

तीर्त्वा भूतेशेति। आत्मना तृतीयः द्वाभ्यां सीतालक्ष्मणाभ्यां सहितः असौ रामः

कौन हैं? इसपर मैंने उत्तर दिया कि—

पुत्रकी इच्छासे यज्ञ करनेवाले दशरथने मुनिवरके अनुग्रहसे पुराणपुरुष विष्णुकी चार कलायें प्राप्त कीं, उनमें प्रथम यह राम हैं और तृतीय हैं यह वीरोद्धत लक्ष्मण ॥१॥

जाम्बवान्—श्रवणे, तुमने ठीक उत्तर दिया। इसके बाद?

श्रवणा—इसके बाद जलाशयके पाससे पीछे चलनेवाले आत्मीयजनोंको लौटाकर, शीघ्रतया गुहद्वारा उपस्थापित नावपर चढ़कर—

सीता तथा लक्ष्मणके साथ रामने गङ्गा पार किया और उस गुहको लक्ष्मणके साथ

---

१. 'अस्मि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति। २. 'धीरोद्धतः'। ३. 'उपगतेन'।

व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानः क्षणमचलमथो चित्रकूटं प्रतस्थे ॥ २ ॥

जाम्बवान्—हन्त महत्करुणम् ।

श्रवणा—आर्य, करुणभयादेव तस्मिन्निङ्गुदीतरुमूले कुमारयोर्ज[1]टाग्रहणवृत्तान्तमन्तरितवत्यस्मि ।

जाम्बवान्—श्रवणे, सर्वमेतत्कल्याणोदर्कं [2]भविष्यति ।

भूतेशमौलिस्रजम् शिवशिरोमाल्यभावं भजन्तीम् अमरधुनीं गङ्गां तीर्त्वा उत्तीर्य तस्मै नाविकाय सौमित्रिमैत्रीमयम् लक्ष्मणेन सह सख्यस्वरूपम् आतरम् तरपण्यम् उपहृतवान् दत्तवान् । सीतालक्ष्मणाभ्यां द्वाभ्यां सहितः आत्मना तृतीयोऽसौ रामः शिवशिरोमाल्यरूपतया प्रथितां गङ्गामुत्तीर्य नाविकाय तस्मै लक्ष्मणेन सह मैत्रीमेव तरपण्यं समर्पितवानित्यर्थः । अथो अनन्तरम् व्यामग्राह्यस्तनीभिः व्यामः बाह्वोस्तिर्यगन्तरभागः तद्ग्राह्यौ पीनतया बाहुद्वयग्राह्यौ स्तनौ यासां तादृशीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकेन कुतूहलेन उदञ्चती अक्षिणी नयने यत्र तत्तथा कुतूहलप्रचलितनयनं क्षणं कृच्छ्रात् कष्टम् अन्वीयमानः अनुगम्यमानः चित्रकूटं नामाचलं प्रतस्थे ययौ । अत्र कृच्छ्रानुगमने कारणमुक्तं व्यामग्राह्येत्यादिना । 'आतरस्तरपण्यं स्यात्' इत्यमरः । 'व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्' इति च । स्रग्धरावृत्तम् ॥ २ ॥

करुणभयात् तवापि शृण्वतः शोकः स्यादिति भयेन । इङ्गुदीतरुमूले तापसतरोरधस्तात् । कुमारयोः रामलक्ष्मणयोः । जटाग्रहणवृत्तान्तम् जटानिर्माणवृत्तम् । अन्तरितवती त्यक्तवती ।

कल्याणोदर्कम् शुभफलम् । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः ।

मैत्रीरूप उतराई अर्पित की । इसके बाद विशालतम स्तनोंवाली शबरियों द्वारा आँखोंमें कौतुक भर कर अनुगम्यमान हो वह राम कठिनाईके साथ चित्रकूटाचलकी ओर बढ़े ॥२॥

जाम्बवान्—अहा ! बड़ा करुण दृश्य रहा होगा !

श्रवणा—आर्य, करुण होनेके कारण ही मैंने उस इङ्गुदी-तरुमूलमें किये गये कुमारोंके जटाग्रहण-वृत्तान्तको छोड़ दिया है ॥

जाम्बवान्—श्रवणे, इस सबका परिणाम अच्छा ही होगा ।

---

१. 'जटाजूट—' ।　　२. 'भविष्यति ततः' ।

श्रवणा—अहं तु निषादपतिप्रीतये तत्रैवातिष्ठम् । अतीते च गणरात्रे [1]सप्रकृतिजनपदः पितुः [2]स्वर्गारोहणवार्ताभिधायी [3]द्वितीयो दाशरथी रामभद्रमयोध्यामुपनेतुं तेनैव पथा चित्रकूटमुपगतः ।

जाम्बवान्—([4]सशङ्कम् ।) ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च तस्मिन् 'आर्य, लोके कैकेयानामाकल्पमनल्पमकीर्तिस्तम्भं निखनता [5]केनापि च्छलितस्तातः । तत्संप्रति गृहाण [6]रघूणामधिराज्यम्' इति पुनः पुनश्चिरमनुबन्धी रामेण सृष्टिकया प्रत्यादिष्टः कृतजटापरिग्रहो भरतः शरभङ्गमुनिप्रेषितामस्य [7]पादुकां [8]भद्रास-

---

निषादपतिप्रीतये निषादराजाज्ञापूर्त्या तत्सन्तोषजननार्थम् । तत्रैव रामाश्रमे, गणरात्रे बह्वीषु निशासु । 'गणरात्रं निशा बह्व्यः' । इत्यमरः । सप्रकृतिजनपदः प्रजाभिर्देशवासिभिश्च सह । पितुः दशरथस्य ।

स्वर्गारोहणवार्त्ताभिधायी मृत्युं कथयन् । द्वितीयो दाशरथिः दशरथस्य द्वितीयः पुत्रो भरतः । उपनेतुम् परावर्त्तयितुम् । पथा मार्गेण ।

कैकेयानाम् केकयवंश्यानाम् । आकल्पम् प्रलयकालपर्यन्तम् । अनल्पम् अतुच्छम् । अकीर्तिस्तम्भं निखनता अयशःस्तम्भं रोपयता । छलितः वञ्चितः । अनुबन्धी आग्रहपरायणः । सृष्टिकया सशपथम् । 'सृष्टिका शपथेऽपि च' इति रत्नकोषः । प्रत्यादिष्टः निषिद्धः । कृतजटापरिग्रहः धृतजटः । शरभङ्गमुनिप्रेषिताम् तदाख्यमुनिद्वारा प्रहिताम् । अस्य रामस्य । पादुकाम् उपानहम् । 'अथ पादुका,

---

श्रवणा—मैं तो निषादको प्रसन्न करनेके लिये वहीं ठहर गई । कुछ रात्रियोंके व्यतीत हो जानेपर भरत प्रजाजनको साथ लेकर वनमें आये, उन्होंने पिताके निधनकी बात कही, और रामभद्रको अयोध्या ले जाना चाहा तथा उसी मार्गसे चित्रकूट गये ॥

जाम्बवान्—(सशङ्क) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद भरतने रामसे कहा—'आर्य, लोकमें कैकेयीको कलङ्कित करनेके लिए अकीर्त्ति स्तम्भ गाड़कर किसीने पिताजीको धोखा दे दिया था, अतः आप अपना रघुवंश राज्य स्वीकार करें' । इस तरह बार-बार प्रार्थना करनेपर भी रामने

---

१. 'प्रकृतिपौरजानपदः' । २. 'स्वर्गाधिरोहण–' ।
३. 'दाशरथिर्द्वितीयः' 'भरतो दाशरथिर्द्वितीयः' । ४. 'सातङ्कम्' ।
५. 'केनापि भूतेन' । ६. 'रघूणां धुरमिति पुनः पुनरनुबन्धी' ।
७. 'अस्य रामस्य' । ८. 'आरोप्य' ।

नमधिरोप्य प्रजानामाभ्युदयिकमवेक्षमाणस्तदैव[1] नन्दिग्रामं [2]गतवान्।

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) हन्त फलितमस्मद्व्यवसायश्रवणापरिश्रमाभ्याम् । ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च शावाशौचमास्थितस्य क्षत्रियस्य[3] प्रतिषिद्धमस्त्रग्रहणमिति छिद्रान्वेषिभिर्जनस्थानवास्तव्यैः खरदूषणप्रभृतिभिस्तत्र [4]विराधो नाम राक्षसस्तीक्ष्णः प्रहितः।

जाम्बवान्—(विहस्य ।) धिङ्मूर्खाः, आतिपातिके हि कार्ये राज्ञां सद्यः [5]शुद्धिः । ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च [6]विराधवधाक्षिप्तहृदये दुःसहशोकदीर्घाह्लीमौर्ध्व-

---

पादूरुपानत्' इत्यमरः । भद्रासनमारोप्य सिंहासने स्थापयित्वा । आभ्युदयिकम् अभ्युदयम् । अवेक्षमाणः परिपालयन् । अस्मद्व्यवसायश्रवणापरिश्रमाभ्याम् मम श्रवणायाश्चायासः सफलो जातः, शावाशौचम् मृतकाशुद्धिम् । आस्थितस्य प्राप्तस्य । प्रतिषिद्धम् वर्जितम् । छिद्रान्वेषिभिः रन्ध्रगवेषणतत्परैः । जनस्थानवासिभिः मलयाद्रिसमीपस्थरक्षोवासस्थानवर्त्तिभिः । तीक्ष्णः खरः । 'खरात्मत्यागिनोस्तीक्ष्णः' इति धरणिः । आतिपातिके कालातिपातासहिष्णौ । सद्यः शुद्धिः तत्काल एव शौचम् । विराधस्य वधेन आक्षिप्तम् आकृष्टं हृदयं यस्य तथोक्ते विराधवधं कृत्वा खिद्यमानमानसे रामे । दुःसहशोकदीर्घाह्लीम् दुःसहेन कष्टभोग्येन

प्रत्याख्यान कर दिया । तब भरतने भी जटा बना ली और वह शरभङ्ग द्वारा प्रेषित रामभद्रकी पादुकाको गद्दीपर बैठा करके प्रजाओंके अभ्युदयकी देख-रेख करते हुए नन्दिग्राममें चलकर रहने लगे ।

जाम्बवान्—(सहर्ष) अहा, हमारा व्यवसाय और श्रवणाका परिश्रम सफल हुआ । इसके बाद ?

श्रवणा—मरणाशौचकी दशामें क्षत्रियोंके लिए अस्त्रग्रहण निषिद्ध है ऐसा समझकर छिद्रान्वेषी वनवासी विराध, खर, दूषण प्रभृतिके द्वारा रामके पास भेजा गया ॥

जाम्बवान्—धिक्कार है उन मूर्खोंको, शीघ्र सम्पाद्य कार्यमें राजाको सद्यःशुद्धि होती है, इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद विराधके वधसे रामका हृदय खिन्न हो उठा, दुःख तथा

---

१. 'अवेक्षिष्यमाणः' । २. 'गतः' । ३. 'क्षत्रस्य निषिद्धम्' ।
४. 'विराधनामा' । ५. 'विशुद्धिः' । ६. 'वधक्षणाक्षिप्तहृदये दुःख-' ।

देहिकीं पितुः क्रियामतिवाह्य भगवता चतुःसमुद्रमुष्टिंधयेन विन्ध्याचलचापलारम्भविस्रब्धघातिना वातापिदानवदीर्घ[1]यात्रामङ्गलकलशेन [2]कलशयोनिना सनाथामरण्यवीथीं प्रतिष्ठमाने दाशरथौ पथि धाराधरो नाम वायसः सहसैव वैदेहीमुपाद्रवत् ।

शोकेन पितृमरणजन्यकष्टेन दीर्घाणि दुःसहविशालानि अहानि दिनानि यस्यां तादृशीम् । पितुः दशरथस्य । औध्र्वदेहिकीं क्रियाम् मरणानन्तरसम्पाद्यां श्राद्धक्रियाम् । अतिवाह्य समाप्य । चतुःसमुद्रेति । चतुर्णां समुद्राणां समाहारश्चतुःसमुद्रम्, तन्मुष्टीकृत्य धयति पिबतीति चतुःसमुद्रमुष्टिंधयेन, राक्षसेषु युद्धे पराजितेष्वपि पुनः पुनः सागरे निलीय स्वं गोपयित्वा देवानुपद्रवत्सु शक्रः प्रार्थितोऽगस्त्यः सागरं पीतवानिति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् । विन्ध्याचलेति । विन्ध्याचलस्य चापलेन चाञ्चल्यप्रयोजितो य आरम्भः सूर्यमार्गावरोधप्रयासस्तस्य विस्रब्धघातिना विश्वासोत्पादविधया हन्त्रा पुरा सुमेरुस्पर्द्धया वर्धमाने विन्ध्ये सूर्यमार्गावरोधाज्जगति व्याकुले सति देवैरर्थितोऽगस्त्यः स्वशिष्यं विन्ध्यमुपसृत्य पादप्रणते तस्मिन् 'यावदहं परावर्त्ते तावदित्थमेव स्थेयं न चोत्थेयमि'त्यभिधाय दक्षिणां दिशम् पुनः प्रत्यावृत्तये गत इति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् । विन्ध्याचलकर्त्तृकस्यारम्भस्य विस्रब्धघाती हि मुनिरगस्त्यो भवति प्रतार्य तत्समार्पनादिति बोध्यम् । वातापिदानवेति । वातापिदानवस्य तदाख्यासुरभेदस्य या दीर्घयात्रा मरणं तत्र मङ्गलकलशेन सिद्धिकरेण यथा यात्रायां मङ्गलकलशः सिद्धिकरस्तथवागस्त्यो वातापेर्मृत्यौ सिद्धिकर इति तथा विशेषणम् । पुरा आतापिवातापी नाम राक्षसौ परस्परं विचार्य मांसभोजनाय कञ्चन निमन्त्रयामासतुः, तस्मिन्नायाते;मेपस्वरूपमेकं द्वयोर्हत्वा संस्कृत्य चापरो निमन्त्रितातिथिं भोजयति, भुक्तवति तस्मिन् आतापे वहिर्भवेति वातापीरितं श्रुत्वा भोक्तुरुदरं विदार्य भुक्त आतापिर्निर्याति, म्रियते च मांसभोक्ताऽतिथिरथ तन्मांसं तौ सुखमत्तः, संयोगात् कदाचिदगस्त्यमपि निमन्त्र्य व्यवहर्त्तुं प्रवर्त्तमानस्य भुक्तस्यातापेरुदरे एव जीर्णताऽजनीति तन्मरणे मङ्गलकलशायितमगस्त्येनेति कथात्र विशेषणे मूलम् । कलशयोनिना अगस्त्येन ।

शोकसे पिताका श्राद्ध करके राम जब चारों सागरोंको उठाकर पी जाने वाले विन्ध्याचलके उन्नमनको रोकनेवाले तथा वातापि दानवको दीर्घयात्रा करानेमें मङ्गलकलश समान अगस्त्यमुनिसे सनाथ वनकी ओर जा रहे थे तब धाराधर नामका काक हठात् वैदेहीके साथ उपद्रव कर बैठा ।

---

१. 'दीर्घनिद्रा—' । २. 'कलशयोनिनाऽगस्त्येन मुनिना सनाथमरण्यानीं प्रविष्टमाने' ।

जाम्बवान्—(स्वगतम् ।) इदं तावदपशकुनं नाम । (प्रकाशम् ।) ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च

रक्षोभिचारचरुभाण्डमिव स्तनं यो
देव्या विदेहदुहितुर्विददार काकः ।
ऐषीकमस्त्रमधिकृत्य तदा तमक्ष्णा
काणीचकार चरमो रघुराजपुत्रः ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—ततस्ततः ।

श्रवणा—ततश्च ।

क्रमेणैव सुतीक्ष्णादीनुपस्थाय महामुनीन् ।

सनाथाम् युक्ताम् । अरण्यवीथीम् वनम् । प्रतिष्ठमाने गच्छति । दशरथौ रामे । वायसः काकः ।

इदम् काककृतमुपद्रवणम् । अपशकुनम् अशुभसूचकम् ।

रक्षोऽभिचारेति । यः काकः रक्षसां राक्षसानाम् अभिचारे मारणप्रयोजनके यागभेदे चरुभाण्डम् हव्यपाकपात्रमिव देव्याः विदेहदुहितुः सीतायाः स्तनं विददार दलितवान्, चरमो रघुराजपुत्रः प्रथमो दशरथसुतो रामः ऐषीकम् वीरणशलाकाकृतम् अस्त्रम् बाणम् अधिकृत्य आदाय तं काकं धाराधरं नाम अक्ष्णा काणीचकार एकमक्षि विभेद तस्येति भावः । 'हव्यपाके चरुः पुमान्' इत्यमरः, 'चरमो ज्येष्ठकनिष्ठयोः' इति विश्वप्रकाशः ॥ ३ ॥

क्रमेणैवेति । रघूद्वहः रघुवंशतिलकः रामः क्रमेण यथाक्रमम् सुतीक्ष्णादीन् सुतीक्ष्णतृणबिन्दुशरभङ्गप्रभृतीन् महामुनीन् महर्षीन् उपस्थाय प्रणामादिना

जाम्बवान्—(स्वगत) यह तो अपशकुन है । (प्रकट) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद जिस काकने राक्षस-वध यज्ञके चरुभाण्डतुल्य देवीके स्तनोंको वेदारित किया था, उसे बड़े रघुराजपुत्रने ऐषीक अस्त्र (शरकण्डेके बाण) से काना बना देया ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद क्रमशः सुतीक्ष्ण आदि महामुनियोंकी चरणवन्दना करके

अगस्त्यशासनादास्ते पञ्चवट्यां रघूद्वहः ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—(सहर्षम् ।) तर्हि [1]हस्तगत एवास्माकम् । कियदन्तरमृष्यमूकजनस्थानयोः ।

श्रवणा—आर्य, न खल्वद्यापि श्रोतव्यं शृणोषि ।

जाम्बवान्—अवहितोऽस्मि ।

श्रवणा—तत्र च कामुकी [2]रामभद्रमनुप्रविश्य [3]रसं दास्यामीति संकल्पितपतिद्रोहपातकिनी शूर्पणखा लक्ष्मणरोषहुतभुजि कर्णनासौष्ठमयीभिस्तिसृभिराहुतिभिः प्रायश्चित्तयांचक्रे ।

सत्कृत्य अगस्त्यशासनात् अगस्त्यादेशं प्राप्य पञ्चवट्यां तन्नामके स्थाने आस्ते वर्त्तते ॥ ४ ॥

हस्तगतः करगतः प्राप्तकल्पः । कियदन्तरम् कियद्व्यवधानम् ।

न तावदद्यापि श्रोतव्यं शृणोषि सम्प्रत्यपि श्रोतव्यमवशिष्यते श्रोतुम् । कामुकी मैथुनेच्छाशालिनी । रामभद्रम् अनुप्रविश्य रूपयौवनललितैर्मोहयित्वा । रसम् विषविशेषम् । सङ्कल्पितस्य मनसावृतस्य । पत्युः रामस्य । द्रोहकारिणी अशुभाभिलाषिणी । लक्ष्मणरोषहुतभुजि लक्ष्मणस्य कोपपावके । प्रायश्चित्तयांचक्रे प्रायश्चित्तं कृतवती । रामं पतित्वेन मनसि वृत्वा तस्य द्रोहं विषदानरूपं चिन्तयित्वा विहितपापा शूर्पणखा कर्णनासौष्ठमयीस्तिस्र आहुतीर्लक्ष्मणकोपपावके दत्तवती, अन्यापि कृतपापा पावके यथाशास्त्रमाहुतीर्ददाति तथेति भावः ॥

अगस्त्यकी आज्ञासे राम पञ्चवटीमें निवास कर रहे हैं ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—(सहर्ष) तब तो वह हमारे हाथमें ही है । ऋष्यमूक तथा उस वनमें कितना अन्तर है ?

श्रवणा—आर्य, अभी तो आपने कामकी बात सुनी ही नहीं ।

जाम्बवान्—कहो, सावधान हूँ ।

श्रवणा—वहाँपर कामपरवशा शूर्पणखा पहुँची, उसने सोचा कि रामके साथ सम्बन्ध जोड़कर आनन्द करूंगी, और उन्हें विष दे दूंगी,-इस प्रकार जो उसने सङ्कल्पित पतिका द्रोह सोचा इसके लिये उसे लक्ष्मणके कोपानलमें कान-नाक-ओष्ठरूप तीन आहुतियाँ देकर प्रायश्चित्त करना पड़ गया ।

---

१. 'हस्तस्थः' । २. 'राममनु-' । ३. 'विषं' ।

जाम्बवान्—(सातङ्कम् ।) अहह महाननर्थकन्दः संवृत्तः । अथ भगिन्यास्तादृशं विडम्बनमवलोक्य खरादिभिः किं प्रतिपन्नम् ।

श्रवणा—(विहस्य ।) आर्य, किं प्रतिपन्नम् । यद्रामभद्रे धृतधनुषि प्रतिपद्यते ।

जाम्बवान्—(सहर्षहासम् ।) तत्किं तेऽपि [1]वालिसाहायकोपस्थायिनो विराधयात्राप्रहतमध्वानमनुप्रपन्नाः ।

श्रवणा—अथ किम् ।

जाम्बवान्—श्रवणे, प्ररूढमिदानीं रामरावणयोर्वैरम् ।

श्रवणा—(हसन्ती ।) आर्य, मन्ये [2]खरदूषणप्रभृतीनामभिभवाभिधाने केवलं क्लेशयिष्यति वाचमात्मनः । पुनरनक्षरमपि शूर्पणखामुखमावेदयिष्यति दशकंधरस्य ।

अनर्थकन्दः अनिष्टमूलम् । संवृत्तः जातः । विडम्बनम् अपमानं धर्षणञ्च । प्रतिपन्नम् अनुष्ठितम् ।

वालिसाहायकोपस्थायिनः वालिनः साहायकाय सहायतायै उपस्थायिनः तत्र सन्निहिताः । विराधयात्राप्रहतम् विराधेन क्षुण्णम् । अध्वानम् मार्गम् । अनुप्रपन्नाः अनुसृतवन्तः ॥

प्ररूढम् पुष्टिं गतम् ।

अभिभवाभिधाने पराजयकथने । क्लेशयिष्यति खेदयिष्यति । अनक्षरम् विना शब्दप्रयोगम् । विकृतं शूर्पणखामुखं विनैवोक्तिं सर्वं वस्तुवृत्तं रावणाय निवे-

---

जाम्बवान्—(डरकर) बड़े भारी अनर्थकी जड़ जम गई । अपनी बहनकी वह दशा देखकर खरादि राक्षसोंने क्या किया ।

श्रवणा—(हंसकर) रामभद्रके समान धनुर्धरके रहते जो करना चाहिए ।

जाम्बवान्—(सहर्षहास) क्या वालिकी सहायतामें आये हुए वे भी विराधके द्वारा गतमार्गसे चले गये ।

श्रवणा—और क्या ?

जाम्बवान्—श्रवणे, अब तो राम-रावणका वैर जम गया ।

श्रवणा—(हंसती हुई) मैं समझती हूँ खरदूषण आदिकी कथा कहकर वह केवल अपनी वाणीको कष्ट देगी, नहीं तो शूर्पणखाका मुख ही विना शब्दके सारी बात बता देनेमें पर्याप्त है ॥

---

१. 'साहायकस्थायिनो' । २. 'खरप्रभृतीना' ।

जाम्बवान्—(सस्मितम् ।) श्रवणे, [1]लघूत्थमनर्थमुत्प्रेक्ष्य प्रमुग्धोऽस्मि ।

ऐक्ष्वाकेण पुरापि कौशिकमखादारभ्य लङ्केश्वरो
धत्ते शाश्वतिकं विरोधमधुना [2]त्वेते हता बान्धवाः ।
उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिरलंभूष्णुश्छलज्ञो बली
दृप्तः शूर्पणखानिकारमपरं दृष्ट्वा कथं मृष्यते ॥ ५ ॥

शनैः शनैरनयोर्विरोधे संधुक्षमाणे [3]तुल्यव्यसनस्थो दाशरथिरसदयिष्यति, तच्छूर्पणखा किमर्थं तद्बोधनाय स्वां वाचं क्लेशयिष्यतीत्यर्थः । लघूत्थम् अचिरभाविनम् । अनर्थम् विपदागमम् । उत्प्रेक्ष्य सम्भाव्य । प्रमुग्धः किङ्कर्तव्यताविचारशून्यः ।

ऐक्ष्वाकेणेति । पुरा पूर्वकालात् एवापि लङ्केश्वरो रावणः कौशिकमखात् विश्वामित्रयागसमयात् आरभ्य ऐक्ष्वाकेण रामेण शाश्वतिकं सार्वकालिकम् विरोधं वैरम् धत्ते बिभर्त्ति, यदैव रामेण विश्वामित्रयागे ते ते राक्षसा अहन्यन्त तत एव कालाद्रावणस्तेन सततं धृतवैर एवास्तीत्यर्थः, अधुना सम्प्रति तु एते बान्धवाः स्वकुल्याः खरादयो हताः मारिताः, एतेन तद्वैरं प्रवृद्धमिति वेदितव्यम् । अस्यां स्थितौ उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिः उत्साहशक्तिः उत्साहकृतं सामर्थ्यम् , मन्त्रशक्तिः मन्त्रणाकृतं सामर्थ्यम् , प्रभुशक्तिः प्रभावश्च ताभिः तिसृभिः शक्तिभिः अलं भूष्णुः अतिसमर्थः छलज्ञो वञ्चनाकलानिपुणश्च बली बलवान् दृप्तः गर्वोद्धतश्च रावणः अपरम् सद्यः समुपनतम् शूर्पणखानिकारम् नासाकर्णादिकृन्तनकृतमपमानम् दृष्ट्वा कथं मृष्यते केन प्रकारेण क्षमते ? आदितो वर्त्तमानो मध्ये सन्धुक्षितः सम्प्रत्युद्दीपितोऽयं रावणनिकारो न शक्नोति निर्वातुमिति महाननर्थः समुपस्थितो वेद्य इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

शनैः शनैः मन्दं मन्दम् । अनयोः रामरावणयोः । सन्धुक्षमाणे प्रज्वलति ।

जाम्बवान्—(मुस्कुराकर) शीघ्र उपस्थित अनर्थको देखकर मुग्ध हो रहा हूं ।

रावण विश्वामित्रके यज्ञके समयसे ही रामके साथ शाश्वतिक विरोध रखता है अब तो उसके बन्धुजन भी मारे गये हैं । उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिसे युक्त, छलज्ञ, बलवान् और गर्वी रावण शूर्पणखाके इस कान नाशको कैसे सहन करेगा ? ॥ ५ ॥

धीरे-धीरे इनके वैरके बढते जानेपर समान विपत्तिमें पतित तथा असहाय रामके

---

१. 'लघूत्थानम्' । २. 'चैते' । ३. 'स्वल्पव्यसनस्थो' ।

हायः सूर्यसूनुना संधातुमीषत्करः स्यात्।

श्रवणा—आर्य, किमिदानीमनुष्ठेयमस्ति । मम हि शिष्यपुत्रो निषादचक्रवर्ती गुहो लक्ष्मणमित्त्रम्। अनेन सोपानेन सुखाधिरोहो रघुपतिरस्माकम्।

जाम्बवान्—(सहर्षस्मितम्।) श्रवणे, [1]यद्यसि सुग्रीवपक्षपातिनी, तद्गच्छ सत्वरमुपस्थापय निषादराजम्।

(इति श्रवणा निष्क्रान्ता।)

(नेपथ्ये। एकतः।)

तुल्यव्यसनस्थः समानदुःखभोगी। असहायः सहायान्तररहितः। सूर्यसूनुना-सुग्रीवेण। सन्धातुम् सन्धिं कारयितुम्। ईषत्करः सुकरः। रामो रावणेनापकृतः सन् वैरं वहति, सुग्रीवोऽपि वालिना सह, रामस्य कोऽपि कानने सहायो नास्ति, तदसौ सुग्रीवेण सन्धिं कुर्यादिति नितरां सङ्गतं सूपपादञ्चेति भावः। अनुष्ठेयम् कर्त्तव्यम्। शिष्यस्य पुत्रः शिष्यपुत्रः शिष्यः पुत्र इति वा। निषादचक्रवर्त्ती निषादराजो गुहः। अनेन-सोपानेन उपायेन। सुखाधिरोहः अनायासगम्यः. लक्ष्मणस्य गुहो मित्रं स च मम शिष्यपुत्र इति परम्परासम्बन्धेन गुहद्वारा रामः सूपगमः सन्धेय इत्याशयः।

उपस्थापय लक्ष्मणसमीपमानय। तद्द्वारा सुग्रीवरामयोः सन्धिं घटयेति भावः। निषादराजम् गुहम्।

साथ सूर्यपुत्र सुग्रीवके लिए मैत्री सहज सम्पाद्य हो जायगी।

श्रवणा—अब क्या करना है ? मेरा शिष्यपुत्र निषादराज गुह लक्ष्मणके मित्र हैं, इस जरियेसे हम रामके पास सुखपूर्वक पहुँच सकते है।

जाम्बवान्—(सहर्ष हंसकर) श्रवणे, यदि तुम्हें सुग्रीवके प्रति प्रेम है तो जाकर शीघ्र निषादराजको बुला लाओ।

(श्रवणा जाती है)

(नेपथ्यमें एक ओरसे)

---

१. 'सत्यमसि'।

भो भो लक्ष्मण, वैशेषिककन्दली[1]पण्डितो जगद्विजयमानः पर्यटामि। क्वासौ [2]रामः। तेन सह [3]विवदिष्ये।

(अन्यतः।)

भो भो परिव्राजक, कालसर्पखलीकारखर्जूलता न खलु सुखकरी वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य।

जाम्बवान्—[4]कथं लक्ष्मणपरिव्राजकौ [5]संलपतः। शृणोमि तावत्। ([6]इत्यवधत्ते।)

(नेपथ्ये। पुनरेकतः।)

वैशेषिककन्दलीपण्डितः वैशेषिककन्दलीनामा वैशेषिकशास्त्रव्याख्याग्रन्थः प्रसिद्धस्तत्पण्डितः। विजयमानः शास्त्रार्थे पराजयन्। पर्यटामि सर्वतो भ्रमामि। विवदिष्ये शास्त्रार्थकलहं प्रवर्त्तयिष्यामि।

कालसर्पखलीकारखर्जूलता कालसर्पो विषधरो महानागस्तस्य खलीकारे द्रोहाचरणे खर्जूलता कण्डूशालिता। वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य वृश्चिकमन्त्रज्ञस्य। सुखकरी सुखजनिका। यथा वृश्चिकमन्त्रं जानतः कालसर्पद्रोहः पराभवाय जायते, तथैव साधारणपण्डितस्य तव रामेण शास्त्रार्थे प्रवृत्तिः पराभवं जनयेदतो मौनमास्स्वेति भावः।

अजी लक्ष्मण, मैं वैशेषिक शास्त्रका पण्डित हूँ और जगद्विजय करता हुआ घूम रहा हूँ। कहाँ है वह राम? उसके साथ शास्त्रार्थ करूंगा।

(दूसरी ओरसे)

अजी परिव्राजक, बीछूका मन्त्र जानकर काले नागसे खेल करना कल्याणप्रद नहीं होता है।

जाम्बवान्—क्यों, लक्ष्मण और परिव्राजक संलाप कर रहे हैं? सुनूं तो, (सावधान होता है।

(नेपथ्यमें फिर एक ओर से)

---

१. 'पण्डितोऽस्मि'। २. 'ते रामभद्रः'। ३. 'विवदितव्यम्'।
४. 'कथं पथि'। ५. 'मिथः प्रलपतः'; 'संप्रलपतः'।
६. 'इत्यवधत्ते इति पुस्तकान्तरे नास्ति'।

आः लक्ष्मण, सर्वविद्रावणः खल्वहम्। को मया जनितमानभङ्गो न पराजीयते।

(नेपथ्ये। पुनरन्यतः।)

किं भवान् रावणः।

(जाम्बवान्सविशेषमवदधाति।)

(नेपथ्ये। पुनरेकतः।)

भो वाचोयुक्तिज्ञ, सर्वेषां विद्रावणः खल्वहमिति रामस्य व्याहृतमन्यथाभिसंधाय वाक्छलेन प्रत्यवतिष्ठमानो निगृहीतोऽसि। तन्मुञ्च मां भिक्षायै।

(अन्यतः।)

सर्वविद्रावणः सर्वेषां विजेता, सर्वज्ञो रावणश्चेति कुक्षिगतोऽर्थः।

वाचोयुक्तिज्ञ वचनपटो, मया सर्वेषां विद्रावणो जेतेत्यर्थे सर्वविद्रावण इति ..., त्वं पुनस्तत्सर्ववित् रावण इत्यर्थकं संभावयसीत्यहो तव वाक्पाटवमित्यर्थः। समस्य समासमन्यादृशं कृत्वा। व्याहृतम् उक्तम्। अन्यथाऽभिसन्धाय ...न्यार्थकं मत्वा। वाक्छलेन वक्रोक्तिद्वारा। प्रत्यवतिष्ठमानः उत्तरं ददत्। निगृहीतः ...शास्त्रार्थदोषग्रस्तो जातः। 'यथाऽयं नेपालादागतः नवकम्बलवत्त्वात्' इति वादिना... युक्ते—'कुतोऽस्य नवकम्बलाः एककम्बल एवायमिति ब्रुवाणः प्रतिवादी वाक्...लनाम्ना निग्रहस्थानेन पराजीयते तथा त्वमपि सर्वविद्रावण इति मया सर्वविजेतृ...ऽभिप्रायेण प्रयुक्ते भवान् सर्वज्ञो रावण इति प्रतिपद्योत्तरं प्रयुञ्जानो वाक्छलेन ...हीत इत्यर्थः।

आः लक्ष्मण मैं सबको परास्त करनेवाला या सर्वज्ञ रावण हूँ मैंने किसका मान-भङ्ग ...ीं किया ? किसे परास्त नहीं किया ?

(नेपथ्यमें फिर दूसरी ओरसे)

...ा आप रावण हैं ?

(जाम्बवान् और सावधान होता है)

(नेपथ्यमें फिर एक ओरसे)

अजी 'वाक्पटो, सर्वविद्रावणः' यह रामने कहा आपने उसका अर्थ कुछ दूसरा समझ या, अतः आप वाक्छल करनेके कारण निगृहीत हो गये। अतः छोड़िये शास्त्रार्थ, मैं ...क्षाको जाऊं।

(दूसरी ओर)

किं त्वया, [1]किंतरां च रावणेन । अहमप्युत्सुकोऽस्मि । त्वरितं गच्छामि ।

जाम्बवान्—कथमेतदस्फुटार्थमेव निर्वहणम् । मन्ये पुनरेष परिव्राजकच्छलेन रावण एव कोपादुक्तमप्यपलप्य स्वं नाम द्रागपक्रान्तः । (सर्वतो निरूप्य ।) अये, [2]पुराणप्रियसुहृदस्माकं दक्षिणस्या दिशः परापतञ्जटायुरिव लक्ष्यते । [3]तदेनमनुपालयामि तावत् । दूरदृशो हि गृध्राः । कदाचिदेष लङ्काद्वीपवृत्तान्तमप्युपलभेत ।

(प्रविश्य ।)

जटायुः—प्राप्तैवेयमस्माभिः [4]पञ्चवटी । यदमूर्गोदावरीतरङ्गसीकरसेकसुकुमारमांसलपरिसरारण्यमालिन्यो जनस्थानसीमानः । अपि च ।

उत्सुकः आश्रमगमनौत्सुक्यवान् ।

अस्फुटार्थम् अस्पष्टाभिधेयम् । निर्वहणम् उपक्रान्तोपसंहारः 'उपक्रान्तस्य संहारो भवेन्निर्वहणं त्विदम्' इति भरतः । कोपादुक्तमपि स्वं नाम अपलप्य कोपवशादुक्तमपि स्वं नाम चातुर्येण गोपयित्वा । द्रागपक्रान्तः शीघ्रं पलायितः ।

पुराणप्रियसुहृत् प्राचीनः प्रियबन्धुः । परापतन् समागच्छन् । अनुपालयामि प्रतीक्षे । दूरदृशः सुदूरदेशस्थवस्तुग्रहणसमर्थदृष्टयः । उपलभेत साक्षात्कुर्यात् ।

गोदावरीति । गोदावर्याः तन्नामनद्याः तरङ्गाणाम् सीकरसेकेन जलकणस्पर्शेन मांसलाः पुष्टिं नीताः परिसरारण्यमालाः समीपभूमिगतवनपङ्क्तयः, तद्वत्यः । जनस्थानसीमानः दण्डकारण्यभागाः ।

आपसे और रावणसे मुझे क्या काम ? मैं भी उत्सुक हूँ, शीघ्र जाता हूँ ।

जाम्बवान्—क्यों, यह निर्वहण अस्फुटार्थ ही रह गया । मैं समझता हूँ यह रावण ही परिव्राजक वेषमें आया था, क्रोधवश उसके मुखसे रावण यह अपना नाम निकल आया था । उसका अपलाप करके तेजीसे निकल गया । (चारों ओर देखकर) अरे, यह तो हमारे प्रियमित्र जटायु दक्षिणदिशासे आते दीख रहे हैं, अतः इनके आनेकी प्रतीक्षा करता हूँ, गृध्रकी दृष्टि बड़ी तेज होती है, कदाचित् वह लङ्काकी बात भी जानता हो ?

(प्रवेश करके)

जटायु—मैं पञ्चवटीमें पहुँच गया । यही हैं गोदावरीकी तरङ्ग-विन्दुओंके सेकसे सुकुमार तथा समृद्ध वनसे शोभित पञ्चवटीकी सीमायें और—

---

१. 'किं च' । २. 'पुराणसुहृत्' । ३. 'अनुलपामि' । ४. 'पञ्चवटीभूः' ।

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर-
प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमयः ।
याः कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवीनिःशङ्कमेणीकुलम् ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—(किंचिदुपसृत्य ।) कुतः पुनरियता वेगेन वयस्यो जटायुः ।

जटायुः—(दृष्ट्वा ।) कथं जाम्बवान् । सखे, क्षमस्व । न [1]सभाजयिष्यामि तावद्भवन्तम् । मया हि मलयाचलकुलायादार्यसंपाति[2]पादा-

दृश्यन्त इति । मधुमत्ताभिः वसन्तर्तुसुलभमकरन्दपानमत्ताभिः कोकिलवधूभिः कोकिलाभिः निर्धूताः विदलिताः ये चूताङ्कुराः रसालमञ्जर्यस्तत्प्राग्भारेभ्यः तत्समूहेभ्यः प्रसरन्तीभिः निर्गच्छन्तीभिः परागसिकताभिः कौसुमरजोरूपवालुकाभिः दुर्गाः व्याप्ततया दुःसञ्चाराः तटीभूमयः तीरदेशाः दृश्यन्ते, यास्तटीभूमीः कृच्छ्रात् अतिलङ्घ्य कथञ्चित् अतीत्य धारावाहिभिः सन्ततवर्षिभिः तैरेव रेणूत्करैः परागसमूहैः एणीकुलम् मृगीणां समूहः लुब्धकभयात् आखेटकभीतेः लुप्तपदवीनिःशङ्कम् मार्गस्य निह्नुततया गतभयम् अस्ति । अयमाशयः—वसन्ते मधु पीत्वा माद्यन्त्यः कोकिलस्त्रियो रसालमञ्जरीर्दशन्त्यस्तन्निर्गतपरागसिकताभिस्तटीभूमीर्दुर्गमाः कुर्वते, ताश्च तटीभूमीः कथञ्चिदतीत्य स्थितं हरिणीकुलं तैरेव पतद्भिः परागनिवहैस्तन्मार्गे लुप्ते सति केन पथा हरिणीकुलं गतमिति लुब्धकैर्ज्ञातुमशक्ये सति तेभ्यो निःशङ्कं तिष्ठतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

इयता एतावता । वेगेन शीघ्रतया ।

न सभाजयिष्यामि त्वां सम्प्रति संभाषणादिना न सत्करिष्यामि । मलयाचलकुलायात् मलयपर्वतवर्त्तिनीडात् । सम्पातिर्नामजटायुषो भ्राता । अभिवाद्य

मधुपानसे मत्त कोकिलाओं द्वारा कम्पित चूताङ्कुरोंके समुदायसे फैलनेवाले परागोंके कणोंसे दुर्ग तटीवाले प्रदेशोंको किसी तरह पार करके उन्हीं परागकणोंसे आगमन-मार्गके लुप्त हो जानेपर यहाँ हरिणोंका दल अशङ्क होकर बैठा रहता है ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—(थोड़ा समीप जाकर) मेरे प्रिय जटायु, कहाँसे इतने वेगसे आ रहे हो ?

जटायु—(देखकर) क्यों जाम्बवान् , मित्र, क्षमा करना । मैं आपका सत्कार नहीं कर सकूंगा । मैं मलयाचलस्थित अपने घोसलेसे आर्य सम्पातीके चरणोंकी वन्दना करके

१. 'सम्भावयिष्यामि' ।　　२. 'पादावभिवन्द्य' ।

नभिवाद्य निवर्तमानेन मारीचसहचरः संचरन्निमामरण्यानीमभिलक्षितो राक्षसराजः। तदतिविषममाशङ्कमानं मां वत्सरामभद्रस्नेहस्त्वरयति।

जाम्बवान्—(स्वगतम्।) वयमप्येतदेव [1]प्रतिपित्सामहे। (प्रकाशम्।) सखे, [2]त्वरस्व। (इति निष्क्रान्ताः।)

जटायुः—(परिक्रम्यावलोक्य च।) इयमग्रे पञ्चवटी। (सवितर्कम्।)

नीतो दूरं [3]कनकहरिणश्रद्धया रामभद्रः
पश्चादेनं द्रुतमुपसरत्येष वत्सः कनिष्ठः।
बिभ्यद्बिभ्यत्प्रविशति ततः पर्णशालां च भिक्षु-
र्धिक्कष्टं[4] भोः प्रथयति निजामाकृतिं रावणोऽयम्॥ ७॥

प्रणम्य। मारीचसहचरः मारीचसखः। इमामरण्यानीम् सञ्चरन् एतद्वनाभिमुखमागच्छन्। अभिलक्षितः दृष्टः। अतिविषमम् महद्भयम्, त्वरयति शीघ्रतां कर्तुं प्रेरयति। रामभद्रस्य किमपि व्यसनं रावणादुपस्थितं स्यादिति त्वरितं यामि, अत एव प्रियसखमपि त्वां न संभावयामि तत्त्वया क्षन्तव्यमिति भावः। एतत् रामभद्रवृत्तम्। प्रतिपित्सामहे ज्ञातुमिच्छामः।

नीतो दूरमिति। कनकहरिणे स्वर्णमृगे या श्रद्धा आदरः लोभजनितः सुवर्णमृगप्रत्ययस्तया रामभद्रः दूरं नीतः सुदूरं गमितः, पश्चात् एषः कनिष्ठो वत्सः लक्ष्मणः एनं दूरंगतम् रामम् द्रुतम् सत्वरम् उपसरति अनुगच्छति। ततश्च भिक्षुः परिव्राजकवेषो रावणः बिभ्यत् बिभ्यत् भीतभीतः पर्णशालाम् रामोटजं प्रविशति, भोः धिक्कष्टम् अतिभयमुपस्थितम्, अयं भिक्षुवेषो रावणः निजाम् आकृतिं स्वरूपं प्रथयति विस्तारयति। मन्दाक्रान्तावृत्तम्॥ ७॥

लौट रहा था तो मैंने देखा कि मारीचके साथ रावण इसी महावनकी ओर आ रहा है। इसीसे मुझे बड़ी शङ्का हो गई है, और मेरा प्रेम मुझे रामभद्रसे शीघ्र मिलनेको प्रेरित कर रहा है,

जाम्बवान्—(स्वगत) हम भी यही जानना चाहते थे। (प्रकट) मित्र, शीघ्रता करो।

जटायु—(चलकर तथा देखकर) यही तो आगे पञ्चवटी है। (विचार करके)

कनकमृगकी प्रीतिसे राम बहुत दूर ले जाये गये, पीछेसे उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी उनका अनुसरण कर रहे हैं, एक साधु डरते-डरते उनकी पर्णशालामें प्रवेश कर रहा है, हाय, हाय, यह तो रावण है जो अपनी आकृति प्रकट कर रहा है॥ ७॥

---

१. 'प्रतिपत्स्यामहे'। २. 'त्वरस्व त्वरस्व'। ३. 'हरिणच्छद्मना'। ४. 'धिग्धिक्कष्टम्'।

अहह।

आर्यपुत्रार्यपुत्रेति रुदन्तीं कुररीमिव।
रथमारोप्य वैदेहीमेष पापः क्व यास्यति ॥ ८ ॥

([1]साटोपं परिक्रामन्।) अरे रे रावण,

वधूटीमिक्ष्वाकोर्निजकरतलस्पर्शमलिना-
मिमां कुर्वाणस्य स्फुरति हृदि शोभैव भवतः।
कुले येषां किं तु त्वमसि गणितास्तेऽपि गुरवो
न सप्त ब्रह्माणः कथमिव पुलस्त्यप्रभृतयः ॥ ९ ॥

(पुनराकाशे।) अलीकाट्टहासधूमधूसरितदशवक्त्रवल्मीक, किमात्थ

आर्यपुत्रेति। पापः एषः रावणः कुररीम् उत्क्रोशपक्षिणीम् इव 'आर्यपुत्र आर्यपुत्र' इति रुदन्तीम् आक्रोशन्तीम् वैदेहीम् सीताम् रथमारोप्य स्यन्दने स्थापयित्वा क्व यास्यति कुत्र गमिष्यति ॥ ८ ॥

वधूटीमिति। इक्ष्वाकोः तदाख्यवंशस्य इमां वधूटीम् नवीनां वधूं निजकरतलस्पर्शमलिनां स्वबाहुसंसर्गदूषितां कुर्वाणस्य विदधानस्य स्वीयबाहुस्पर्शेन कलङ्कयतो भवतः हृदि शोभाप्रसन्नताजनितो विकास एव स्फुरति प्रकटति, न तु लज्जेति, कामं भवतो हृदये तथाविधेनापि कुकर्मणा लज्जा मा जनीति भावः, किन्तु परन्तु त्वं येषां कुले वंशे असि जातोऽसि तेऽपि सप्त ब्रह्माणः पुलस्त्यप्रभृतयः सप्तर्षयो गुरवः कुलश्रेष्ठाः न गणिताः न विभाविताः, तेऽपि कुकृत्यमिदमाचरता त्वया स्वपूर्वजाः कलङ्किता इति महदनुचितमाचरितमित्यर्थः ॥ ९ ॥

अलीकेति। अलीकः वृथा योऽट्टहासः उच्चैर्हसितम्, स एव धूमस्तेन धूसरितः पांशुलीकृतः दशवक्त्र एव वल्मीकः कीटभेदस्तत्सम्बोधने रूपम् ॥

आर्यपुत्र, आर्यपुत्र, कहकर कुररीकी तरह रोती हुई सीताको रथपर बैठाकर यह पापी कहाँ ले जायगा ? ॥ ८ ॥

(वेगसे चलता हुआ) अरे रावण, सूर्यकुलकी वधूको अपने हाथके स्पर्शसे मलिन बनानेवाले तेरे हृदयमें यह बात भली ही लगती होगी, परन्तु क्या तुमने उन पुलस्त्य प्रभृति अपने पूर्वजोंके विषयमें भी सोचा है जिनके वंशमें तुम उत्पन्न हुए हो ॥ ९ ॥

(फिर आकाशमें) मिथ्या अट्टहाससे अपने मुखको धूमिल बनानेवाले पापी राक्षस,

---

१. 'इति साटोपम्'।

रे राक्षसापसद, किमात्थ ।

'जगद्विलोभिसीताख्यमामिषं हरतो मम ।
अयं किल जरद्गृध्रः करादाच्छिद्य नेष्यति' ॥ १० ॥ [1]इति ।

आः पाप, [2]कथमेवमभिदधासि । तिष्ठ तिष्ठ ।

भुजविटपमदेन व्यर्थमन्धंभविष्णु-
विगपसरसि चौरंकार[3]माक्रुश्यमानः ।
त्वदुरसि विदधातु स्वामपस्कारकेलिं
कुटिलकरजकोटिक्रूरकर्मा जटायुः ॥ ११ ॥

राक्षसापसद नीचराक्षस ।

जगद्विलोभीति । अयं गृध्रो जटायुः जगतां विलोभि लोभजनकं स्पृहणीयम् सीताख्यम् सीतानामकम् आमिषं मांसम् भोग्यवस्तु हरतः नयतो मम रावणस्य करात् आच्छिद्य बलादादाय नेष्यति किलेत्यलीके । यथा गृध्रो मांसं हरतो जनस्य करात्तन्मांसमादाय गच्छति तथैव मया ह्रियमाणां सीतां हरिष्यतीति सम्भावनाऽलीकैवेति भावः । 'उत्कृष्टे पलले भोगे भोग्यवस्तुनि चामिषम्' इति विश्वः ॥ १० ॥

भुजविटपमदेनेति । भुजविटपमदेन बाहुशाखादर्पेण व्यर्थम् वृथैव अन्धंभविष्णुः अन्धीभवन् आक्रुश्यमानः मयाऽन्यैश्च निन्दापूर्वकम् शब्दाय्यमानः त्वम् चौरङ्कारम् चौर इव अपसरसि पलायसे, धिक् त्वाम्, सम्प्रति कुटिलानां दारुणवक्राणां नखराणां कोटिभिः अग्रभागैः क्रूरकर्मा भीषणव्यापारः जटायुर्नामगृध्रः त्वदुरसि तव वक्षोदेशे स्वाम् निजाम् अपस्कारकेलिम् नखविलेखनक्रीडाम् विदधातु करोतु । बाहुबलदर्पितस्य तव पलायनं नोचितम्, तिष्ठ, तव वक्षसि जटायुरहं नखविलेखनक्रीडामाचरामि, त्वदीयमुरो निजैर्दारुणैर्नखैर्विदारयामीति भावः । मालिनीवृत्तम् ॥ ११ ॥

क्या कहा तुमने ? क्या कहा ?

संसारको लोभित करनेवाले सीतारूप आमिषको मैं हरकर लिये जा रहा हूं, क्या यह गृध्र इसे मेरे हाथोंसे छीनकर ले जायेगा ? ॥ १० ॥

अरे पापी, इस तरह क्यों कहता है ? ठहरो तो ।

अपने बाहुसमुदायके मदमें व्यर्थ गर्व करनेवाला तू चोरकी तरह ललकारे जानेपर भी भागा जा रहा है, धिक्कार है तुमको, तुम्हारी छातीपर अपने कुटिलनखोंसे क्रूरकर्म करनेवाला यह जटायु अपनी अपस्कारकेलि-पटुता प्रकट करेगा ॥ ११ ॥

---

१. 'इति' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २. 'कथमभिदधासि' । ३. 'आक्रुष्यमाणः' ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः ।

(ततः [1]प्रविशति लक्ष्मणः ।)

लक्ष्मणः—अहो दुर्निवारदारुणक्रोधशोकलज्जागहनो विषमोऽयं दशाविवर्तः । यस्मिन्निति कर्तव्यताभिधानमप्यस्माकमनौपयिकम् । तथाहि

तत्तादृग्दशकण्ठवञ्चनरुषा धूमायमानो गिरं
नार्धोक्तप्रविलीनवर्णविधुरामार्यः [2]समाप्नोति मे ।
चापे तातजटायुजीवितकथापर्यन्तधूमायित-
क्रोधोत्पीडनिपीतशोकजडिमा दृष्टिस्तु विश्राम्यति ॥१२॥

दुर्निवारेति । दुर्निवाराः निवारयितुं शमयितुं कठिनाः अतएव दारुणाः कष्टप्रदा महत्यश्च क्रोधशोकलज्जाः क्रोधः शत्रुं प्रति कोपः, शोकः प्रियजनवियोगजन्मा खेदः, लज्जा कुलवधूरेकाऽस्माभिर्न पारिता रक्षितुमित्यात्मावमानजननी त्रपा, ताभिर्गहनो भीषणः, विषमः अतिदुस्सहः दशाविवर्त्तः अवस्थापरिणामः। इतिकर्त्तव्यताभिधानम् किङ्कर्त्तव्यमिति निश्चित्य कथनम् । अनौपयिकम् अयुक्तम् ।

तत्तादृगिति । मे आर्यः मम पूजनीयो रामः तत् तादृक् यत् दशकण्ठवञ्चनं रावणकृतं सीताहरणात्मकं प्रतारणम् तेन या रुट् रोषः तया धूमायमानः धूममुद्गमन् (अग्निरिव स्थितः) अर्धोक्त एव प्रविलीनः अर्धोच्चारित एव प्रकर्षेण लयं गतो यो वर्णः अक्षरम् तेन विधुराम् विपर्यस्ताम् अंशत उदितामंशतो निह्नुताक्षरां च वाचं वाणीं न समाप्नोति निश्शेषीकरोति, अर्धोक्त एव वचने विरमतीत्यर्थः । तु किन्तु तातस्य पितृसखत्वाच्छ्रेष्ठस्य जटायोर्जीवितकथापर्यन्तेन जीवनवृत्तसमाप्तया धूमायितः धूमोद्गारी यः क्रोधोत्पीडः कोपातिशयः तेन निपीतः

(दोनों का प्रस्थान)

लक्ष्मण—दुर्निवार तथा दारुण कोप, शोक तथा लज्जासे विषम यह दशा-परिवर्त्तन है, जिसमें क्या किया जाय यह भी नहीं समझमें आ रहा है । क्योंकि—

रावण द्वारा किये गये वञ्चनसे उत्पन्न कोपके कारण अन्तर्दह्यमान हमारे आर्य आधा कहकर रुक जाते हैं, बातको समाप्त नहीं कर पाते हैं, तात जटायुकी जीवनकथासे उनका कोप धूमिल हो जाता है, उनकी आंखें शोकसे जड होकर जटायुपर जा लगती हैं ॥१२॥

१. 'प्रविश्य' । २. 'समाप्नोत्ययम्' ।

([1]नेपथ्याभिमुखः ।) इत इत आर्य मारीचमथन, दृश्यन्ताममूरवाचीं ककुभमभिवर्धमाना [2]विन्ध्यवनवीथिभूमयः ।

([3]प्रविश्य ।)

रामः—(आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा ।)

कुले वा शौर्ये वा भुजसमुदये वा तपसि वा
बभूवुर्न प्राञ्चस्त्वमिव भवितारो न चरमे ।
अहो [4]दिङ्मोहस्ते [5]समजनि चिरादेष न खलु
प्रवीराणां पन्था दशवदन येनासि चलितः ॥ १३ ॥

निश्शेषमवसायितः शोकजडिमा शोककुण्ठितत्वं यस्यास्तादृशी रामस्य दृष्टिः चापे धनुषि विश्राम्यति स्थिरीभवति । जटायुनिधनजन्यकोपवशान्निश्शेषसमापित-दुःखबाष्पा रामस्य दृष्टिर्धनुरीक्षते, कोपोदयेन दुःखोद्रेकस्य समाप्ततया प्रतिकर्तुं धनुरवलोकते इत्याशयः ॥ १२ ॥

मारीचमथन मारीचहन्तः, अवाचीं ककुभम् दक्षिणां दिशम् , अभिवर्धमानाः अभिमुखं प्रवृत्ताः, दक्षिणदिशाभिमुखगामिन्यः ।

कुले वेति । रे दशवदन रावण, कुले वंशे, शौर्ये पराक्रमे वा, भुजसमुदये बाहु-समूहे वा, तपसि तपोऽनुष्ठाने वा त्वमिव त्वया समानाः प्राञ्चः पूर्वतमाः लोकाः न बभूवुः, न वा चरमे पश्चाद् भाविनः त्वमिव भवितारः त्वया समा भविष्यन्ति । रे रावण, कुलगौरवे पराक्रमे भुजबाहुल्ये तपश्चर्यायां वा त्वत्सादृश्यं न प्राचां पुरुषाणामजायत न वा भाविलोकानां भविष्यति तदित्थमप्रतिमस्त्वमसीति भावः । अहो आश्चर्यम् ते तव चिरात् दिङ्मोहः दिग्भ्रमः एषः समजनि जातः, त्वं भ्रान्तः

(नेपथ्यकी ओर) आर्य इधर आइये, मारीचमथन, देखिये यह दक्षिण दिशाकी ओर फैली हुई विन्ध्यवन वीथी ।

(प्रवेश करके)

राम—(आकाशकी ओर लक्ष्य करके) कुल गौरवमें, वीरतामें, बाहुशालितामें, तपस्या में, न कोई तुम्हारे समान हुआ है और न आगे चलकर होगा, अहो, तुमको यह दिग्भ्रम कहांसे हो गया, हे रावण, तुमने जिधरसे चलना प्रारम्भ किया है यह मार्ग वीरोंका नहीं है ॥ १३ ॥

---

१. 'मुखम्' । २. 'विन्ध्याचल–' । ३. 'ततः प्रविशति रामः' ।
४. 'धिङ्मोहः' । ५. 'कथयति'; 'कथमिह' ।

(विमृश्य । सखेदस्मितम् ।) हंहो पौलस्त्य,

सिद्धश्रोत्रपरम्परापरिगतैरेभिः प्रपौत्रस्य ते
वृत्तैरद्य पुलस्त्यवर्जमभितः स्मेरेषु देवर्षिषु ।
विष्वग्वृत्तिरसंगता नमयितुं दुर्वारलज्जाभर-
म्लानश्रीस्तु चतुर्मुखी भगवतो धातुः कथं वर्तते ॥ १४ ॥

(क्षणमनुध्याय ।) हा प्रिये विदेहराजपुत्रि । (इति संवरणं नाटयति ।)

लक्ष्मणः—(उपसृत्य ।) आर्य, कोऽयमभिषङ्गो नाम भवादृशान-प्यास्पदीकरोति ।

सन् परस्त्रीहरणकर्मणि प्रवृत्तो भूरित्याश्चर्यजनकम् , येन यथा परस्त्रीहरणात्मना चलितः प्रस्थितः असि असौ पन्थाः प्रवीराणां न खलु निश्चयेन वीरास्तं पन्थानं नैवाश्रयन्ति, त्वं च तमेवाश्रित इत्यवश्यं तवायं दिग्भ्रम इति ॥ १३ ॥

सिद्धश्रोत्रेति । सिद्धानां देवयोनिभेदानां कर्णपरम्परा श्रोत्रपरम्परा तत्र परिगतैः सिद्धानां श्रवणसमुदायपतितैः ते तव पौलस्त्यस्य प्रपौत्रस्य रावणस्य वृत्तैः सीता-हरणात्मककुकृत्यवृत्तान्तैः पुलस्त्यवर्जम् पुलस्त्यं विहाय इतरेषु अन्येषु देवर्षिषु स्मेरेषु विकसितमुखेषु सत्सु विष्वग्वृत्तिः सर्वतोमुखी अत एव नमयितुम् नम्रतां प्रापयितुम् असङ्गता अशक्या दुर्वारेण दुरुपशमेन लज्जाभरेण त्रपाराशिना म्लान-श्रीः मलिनकान्तिः धातुः ब्रह्मणः चतुर्मुखी मुखचतुष्टयी कथं वर्त्तते कां दशामनु भवति ? सिद्धैः कर्णाकर्णिकया निवेदितानि रावणस्य दुर्वृत्तानि श्रुत्वा यदा पुल-स्त्यातिरिक्ताः सर्वे देवर्षयो हसिष्यन्ति, तदा ब्रह्मणः कीदृशी दशा भविष्यति ? ब्रह्मा हि रावणकुलप्रथमपुरुषः, स्वकुलजस्य दुर्वृत्तमाकर्ण्य त्रपेत ब्रह्मा, यदि स त्रपया मुखमपि नमयितुमिच्छति तदपि न शक्यं कर्त्तुं विरुद्धासु चतसृष्वपि दिशासु स्थितानां मुखानां नमयितुमशक्यत्वात् , अतश्च विषमा भवेद् ब्रह्मणोऽ-वस्था, तदित्थमाचारस्तव नोपयुक्त इति ॥ १४ ॥

(विचार करके खेदकी हंसीके साथ) हे पौलस्त्य,

सिद्धोंकी कर्णपरम्परया तुझ प्रपौत्रके इस वृत्तान्तको सुनकर, पुलस्त्यको छोड़ अन्य ऋषियोंके हंसने लगनेपर, चारों ओर फैले हुए मुखोंको ब्रह्मा झुका भी नहीं सकेंगे, फिर न जाने किस तरह रहेंगे ॥ १४ ॥

(क्षणभर सोचकर) हा प्रिये विदेहतनये, (मूर्च्छित होते हैं)

लक्ष्मण—(समीप जाकर) आर्य, यह कैसा दुःख है जो आपको भी सता रहा है ?

[1]पतिते व्यसने [2]दैवाद्दारुणे [3]दारुणात्मनि ।
संवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः ॥ १५ ॥

रामः—([4]दीर्घं निःश्वस्य ।) वत्स,

सहजधैर्यवशंवदवृत्तयो हृदि रुषश्च शुचश्च नियन्त्रिताः ।
इह तु किं करवै यदपत्रपा किमपि मामवमत्य विजृम्भते ॥१६॥

लक्ष्मणः—(पुरोऽवलोक्य ।) आर्य, [1]अयमग्रे तातजटायुषो वीर-[2]लोकसाधनसिद्धक्षेत्रमरण्यानीसंनिवेशः । पश्य ।

पतित इति । दैवात् भाग्यवशात् दारुणात्मनि महात्मनि जने दारुणे भीषणे व्यसने दुःखे पतिते आगते सति धैर्यं हि महतां मनः वज्रेण संवर्मयति आवृणोति । 'दारुणो भीषणे गुरौ' इति शाश्वतः ॥ १५ ॥

सहजेति । सहजस्य स्वाभाविकस्य धैर्यस्य वशंवदा अधीना वृत्तिः सत्ता व्यापारो वा यासां तादृश्यः स्वाभाविकधैर्यवशवर्त्तिन्यो रुषः कोपाः शुचः शोकाश्च नियन्त्रिताः नियमिताः, किन्तु यत् अपत्रपा लज्जा परपुरुषदर्शनजन्मा ह्रीः माम् अवमत्य विजित्य विजृम्भते स्फुरति इह अत्र विषये किङ्करवै करवाणि? यद्यपि स्वाभाविकं धैर्यमाधाय तदधीना रुषः शुचश्च मया निगूहिताः, परं धैर्येण निगूहितुमशक्या लज्जा यन्मां पराभूय स्फुरति तत्र मया किङ्क्रियतामिति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् , तल्लक्षणं यथा 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ १६ ॥

वीरलोकसाधनासिद्धिक्षेत्रम् वीरलोकप्राप्तिस्थानम् (जटायुर्यत्र रावणेन युद्ध्वा वीरलोकमापत् तादृशम्) अरण्यानीसन्निवेशः वनप्रदेशः ।

दैववश भयानक विपत्तिके आ जानेपर महाजनोंके हृदय अपने धैर्यको ही कवच बनाते हैं ॥ १५ ॥

राम—(दीर्घ श्वास लेकर) स्वाभाविक धैर्यके वशमें रहनेसे कोप तथा शोकको किसी तरह रोक लिया है, परन्तु इसका क्या करूं कि लज्जा मुझे हटाकर विजृम्भित हो रही है ॥ १६ ॥

लक्ष्मण—(आगे देखकर) आर्य, यही है आगे तात जटायु द्वारा किये गये वीरलोक साधनका सिद्धक्षेत्र वनप्रदेश, देखिए—

---

१. 'पतति व्यसने'; 'पतितव्यसने' । २. 'दारुणात्' ।
३. 'दारुणात्मनः' । ४. 'दीर्घमुष्णं च' ।

भग्नोऽयं कथमस्ति रावणरथस्तातेन वज्राङ्कुर-
³क्रूरापस्किरमाणभङ्गुरनखत्रोटित्रुटद्बन्धनः ।

रामः—(सकरुणम् ।)

हा सीरध्वजराजपुत्रि स तदा दृष्टस्त्वया धन्यया
पक्षीन्द्रो दशकण्ठकुञ्जरशिरःसंचारिपञ्चाननः ॥ १७ ॥

(इति लक्ष्मणमवष्टभ्य ध्यानं नाटयति ।)

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) ⁴महादोषः खल्वयमतिप्रसज्यमानो ⁵मानसः शोकाख्यो विकारः । तदन्यतः प्रेरयामि⁶ । (प्रकाशम् ।) आर्य, पश्य पश्य ।

भग्नोऽयमिति । तातेन पितुः सख्या जटायुषा वज्राङ्कुरवत् क्रूराभ्याम् दारुणाभ्यां भीषणाभ्याम् अपस्किरमाणाभ्यां विदारयन्तीभ्यां च अत एव भङ्गुराभ्यां कुटिलतां गताभ्यां नखत्रोटिभ्यां नखाग्रभागाभ्याम् त्रुटद् भ्रश्यद् बन्धनम् सन्धिबन्धनं यस्य तथोक्तः (कुपितजटायुनखत्रुटितसन्धिबन्धनः) अत एव च भग्नः अयं रावणरथः कथमस्ति केन प्रकारेणात्र तिष्ठति ? हा सीरध्वजराजपुत्रि, जनकनन्दिनि, धन्यया त्वया सीतया दशकण्ठो रावण एव कुञ्जरः करी तस्य शिरस्सु सञ्चारी आक्रामन् पञ्चाननः सिंहः स पक्षीन्द्रः खगजातिश्रेष्ठः जटायुः दृष्टः, यत्त्वं रावणशिरसि करिशिरसि सिंहमिव घूर्णमानं जटायुषमपश्यस्तत्त्वं धन्यासीति भावः, 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

अवष्टभ्य आश्रित्य । ध्यानं नाटयति ध्यानस्थ इव भवति ।

अतिप्रसज्यमानः नितरां वर्धमानः । अन्यतः प्रेरयामि ध्यानमाकर्षामि ।

तात जटायुद्वारा वज्रकठोर नखाङ्कुर-प्रहारसे जिसके बन्धन तोड़ डाले गये हैं, वैसा यही टूटा हुआ रावणका रथ पड़ा है ।

राम—(करुणासे) हा विदेहपुत्रि, दशकण्ठरूपी गजपर सिंहकी तरह आक्रमण करनेवाले उस तात जटायुको तुमने देखा था, अतः तुम धन्य हो ॥ १७ ॥

(लक्ष्मणको थामकर सोचने लगता है)

लक्ष्मण—(स्वगत) बढ़ता हुआ यह शोक नामक मनोविकार बड़ा बुरा होता है । अतः इनको दूसरी ओर आकृष्ट करता हूं । (प्रकट) आर्य देखिये—

१. 'अयमेवाग्रे' । २. 'सिद्धिक्षेत्रमरण्यसंनिवेशः' । ३. 'अपस्क्रियमाण-' । ४. 'महान्दोषो हि' क्वचिन्नास्ति । ५. 'मानसः' इति । ६. 'प्रतिसारयामि' ।

विन्ध्यगिरिराजकन्यान्तःपुरमेतास्तरङ्गमालिन्यः ।
[1]वेतस्वतीभिरद्भिस्तौर्यत्रिकगुणनिकां दधते ॥ १८ ॥

रामः—(उन्मील्य चक्षुषी दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य ।) वत्स, दर्शनीयमेतत् ।

कुमुदवनविशायजाग्रदम्भोरुहकृतयामिकविभ्रमा रमन्ते ।
मदकलकरिकर्णतालनृत्यन्मुखरमयूरमनोरमास्तटिन्यः ॥ १९ ॥

(इति परिक्रामतः ।)

विन्ध्यगिरिराजेति । विन्ध्यगिरिराजस्य विन्ध्याचलाख्यपर्वतेन्द्रस्य कन्यान्तःपुरम् अन्तःपुरशब्दस्य तद्वासिवाचिलक्षकतया कन्याजनः एताः तरङ्गमालिन्यो नद्यः (विन्ध्यपुत्रीरूपा एता नद्यः) वेतस्वतीभिः वानीरवृक्षसंयुक्ताभिः अद्भिः तौर्यत्रिकगुणनिकाम् गीतवाद्यनृत्याभ्यासं दधते धारयन्ति । 'स्न्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्', 'अभ्यासे गुणनी, योग्या', 'तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यम्' इति च सर्वत्रामरः ॥ १८ ॥

कुमुदवनेति । कुमुदवनेन सह विशायेन पर्यायेण जाग्रद्भिः विकसद्भिः (रात्रौ कुमुदानि जाग्रति दिवा चाम्भोरुहाणि इति पर्यायेण) अम्भोरुहैः कृतः यामिकानां प्रहरिणां विभ्रमो विलासो यासु ताः तथोक्ताः, मदकलाः मत्ताः ये करिणो हस्तिनः तेषां कर्णतालेन कर्णशब्देन नृत्यन्तः मुखराः शब्दायमानाश्च ये मयूराः तैर्मनोरमाः सुन्दर्यः तटिन्यः नद्यः रमन्ते क्रीडन्ति, अन्या अपि राजकन्याः प्रहरिभिः सुरक्षिताः मयूरनृत्यं पश्यन्त्यो रमन्ते तद्वदमूर्विन्ध्यगिरिकन्यारूपा नद्यः निशि कुमुदानि दिवा चाम्भोजानीति पर्यायेण प्रहरिभिः प्रारक्षिताः सत्यो मत्तकरिकर्णनादनृत्यन्मुखरमयूरमनोहरा इह रमन्त इत्याशयः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

विन्ध्यगिरिराजकी कन्याओंका अन्तःपुर स्वरूप यह नदियाँ बेंतके वृक्षोंसे होकर बहनेवाले अपने जलोंसे गीत-नृत्य-वाद्यरूप तौर्यत्रिकका अभ्यास सी कर रही हैं ॥ १८ ॥

(राम आंखें खोलकर दीर्घ तथा उष्ण श्वास लेकर) वत्स, यह तो देखने योग्य है,

यहां कुमुदवनके साथ बारी-बारीसे जागृत होनेवाले कमल पहरेदारकी शोभा धारण कर रहे हैं, मत्तकरियोंके कर्णतालसे नाचनेवाले मयूर यहांकी शोभा बढ़ा रहे हैं, इस प्रकार यहांकी नदियां बहुत सुन्दर दीख रही हैं ॥ १९ ॥

(दोनों चलते हैं)

---

१. 'बहुवेतसाभिः' ।

लक्ष्मणः—आर्य, अयमितो गिरिर्माल्यवान् ।

इह महिषविषाणव्यस्तपाषाणपीठ-
स्खलनसुलभरोहिद्गर्भिणीभ्रूणहत्याः ।
कुहरविहरमाणप्रौढभल्लूकहिक्का-
चयचकितकिरातस्रस्तशस्त्रा वनान्ताः ॥ २० ॥

रामः—(चिरं दृष्ट्वा सकरुणास्रम् ।)

प्रतिपरिसरं भूयानर्घः शिखण्डभृतां यथा-
मिलितमलिभिः संभुज्यन्ते कदम्बविभूतयः ।
अभिनवघनव्यूढोरस्कः प्रवर्षति माल्यवान्

इह महिषेति । इह अस्मिन् प्रदेशे वनान्ताः वनभूमिसीमानः महिषाणां विषाणैः शृङ्गैः व्यस्तेषु विपर्यस्तेषु पाषाणपीठेषु प्रस्तरखण्डेषु स्खलनेन पादप्रच्यवनेन सुलभाः सर्वदा सम्भविन्यः रोहिद्गर्भिणीनाम् गर्भवतीनां मृगीणां भ्रूणहत्याः गर्भस्थशिशुवधा येषु तथोक्ताः, तथा कुहरेषु पर्वतगह्वरेषु विहरमाणानां तिष्ठताम् प्रौढानां विशालकायानां भल्लूकानां हिक्काचयेन चकितानां संभ्रान्तानां किरातानां शवराणां स्रस्तानि भयस्खलितानि शस्त्राणि येषु तथोक्ताश्च सन्तीति शेषः । अत्र वनप्रान्तेषु महिषा विषाणैः पर्वतशिलाः विपर्यासयन्ति, तासां विशृङ्खलस्थितया तत्र चरन्त्यो हरिण्यो गर्भवत्यः स्खलन्ति तेन तासां गर्भाः स्रवन्ति, किञ्च पर्वतगह्वरस्थस्य प्रौढभल्लूकस्य हिक्काचयेन चकितानां किरातानां हस्तेभ्योऽस्त्राणि स्खलन्ति, एतादृशोऽयं वनप्रान्त इत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ २० ॥

प्रतिपरिसरमिति । प्रतिपरिसरं सर्वासु पर्यन्तभूषु शिखण्डभृतां मयूराणाम् भूयान् अर्घः महोत्सवः (अस्ति), अलिभिः भ्रमरैः यथामिलितं यथोपस्थितं कदम्बविभूतयः नीपपुष्पाणि संभुज्यन्ते संभोगविषयीक्रियन्ते । अभिनवघनव्यूढोरस्कः नूतनमेघपूर्णमध्यभागः माल्यवान् नाम गिरिः विषधरवधूनां भुजगाङ्ग-

---

लक्ष्मण—आर्य, इधर यह माल्यवान् नामक पर्वत है,

यहांके वनान्तमें महिषोंके शृङ्गोंसे उलटे गये पाषाण-खण्डोंपर गिरनेके कारण हरिणियोंके गर्भपात प्रसिद्ध हैं, और कन्दराओंमें रहनेवाले प्रौढ़ भालुओंके हिक्का शब्दसे चकित होनेवाले किरातोंके हाथोंसे बाण अनायास निकल जाते हैं ॥ २० ॥

राम—(बड़ी देर तक देखकर) प्रतिपरिसरमें मयूरोंके उत्सव हो रहे हैं, कदम्बकी यथालभ्य विभूतियोंको मिल-जुलकर भ्रमरगण पी रहे हैं, नवीन मेघमण्डलसे भरा

विषधरवधूगर्भाधानप्रियंकरणीरपः ॥ २१ ॥

वत्स लक्ष्मण, धारय माम् । न शक्नोमि स्तम्भयितुमात्मानम् ।

इयमविरलश्वासा शुष्यन्मुखी [1]भिदुरस्वरा
तनुरवयवैः [2]श्रान्तस्रस्तैरुपैति विवर्णताम् ।
स्फुरति जडता बाष्पायेते दृशौ [3]गलति स्मृति-
र्मयि रसतया शोको भावश्चिरेण विपच्यते ॥ २२ ॥

(इति लक्ष्मणेन धार्यमाणो निमीलिताक्ष एव ।) हा प्रिये दण्डकारण्य-विहारसब्रह्मचारिणि । (इति पुनः संवृणुते ।)

नानां गर्भाधानरूपं प्रियं क्रियते आभिस्तथोक्ताः अपः प्रवर्षति । अत्र वर्षासमये सर्वासु पर्यन्तभूमिषु मयूराणामुत्सवः प्रवर्त्तते भ्रमरा यथालाभं कदम्बकुसुमानि भुञ्जते, नूतनवारिदपूर्णमध्यभागो माल्यवान्नामायं गिरिः सर्पवनितागर्भाधान-प्रियङ्करणीरपो वर्षति । एतादृशोऽयं वर्षासमय उपस्थित इत्यर्थः ॥ २१ ॥

इयमविरलेति । अविरलश्वासा सततप्रवृत्तश्वासा शुष्यन्मुखी शोषयुक्तानना भिदुरस्वरा घर्घरस्वरशालिनी इयं तनुः ममेदं शरीरम् श्रान्तस्रस्तैः क्लान्ततया विवशतां गतैः अवयवैः करचरणादिभिरङ्गैः विवर्णताम् मलिनतामुपैति गच्छति । जडता अचेतनत्वं स्फुरति प्रसरति, दृशौ नयने वाष्पायेते अश्रु वमतः, स्मृतिः स्मरणशक्तिर्गलति नश्यति, मयि मम चित्ते शोको नाम करुणस्थायी भावः चिरेण रसतया रसरूपेण विपच्यते परिणतो भवति, करुणरसस्थायी शोको मयि स्थित एव स ह्यन्येषामपि स्वोपोद्बलकानां श्वासाधिक्यमुखशोषाङ्गस्रंसनजाड्याश्रुपातादीनां समवधानाद्रसरूपतां गच्छतीत्यर्थः । हरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

दण्डकारण्यविहारसब्रह्मचारिणि–दण्डकावाससङ्गिनि सीते ।

हुआ यह माल्यवान् विषधर ललनाओंके गर्भाधान करानेवाले जलकी वृष्टि कर रहा है ॥

वत्स लक्ष्मण पकड़ लो मुझे, मैं अपनेको संभालनेमें असमर्थ हो रहा हूं ।

श्वासवेगसे निकल रहा है, मुख सूखता है, स्वर-भङ्ग हो रहा है, अवयवोंके श्रान्त तथा स्रस्त हो जानेसे शरीर विवर्ण हो रहा है, जड़ता बढ़ रही है, आंखोंसे अश्रु प्रवाहित हो रहा है, स्मरणशक्ति लुप्त हो रही है, मुझमें शोक करुणरसके रूपमें परिणत हो रहा है ॥ २२ ॥

---

१. 'मधुरस्वरा' । २. 'श्रान्तश्रान्तैः' । ३. 'गलिता' ।

लक्ष्मणः—(सखेदमात्मगतम् ।) केन पुनरेष रसो रसान्तरेण तिरस्क्रियते ।

(नेपथ्ये ।)

आः पाप कबन्धहतक, अयं न भवसि ।

रामः—(आकर्ण्य । ससंभ्रमम् ।) वत्स लक्ष्मण, दुरात्मना दनुकबन्धेन कलहायमानो वयस्यस्ते गुह इव श्रूयते । बहुच्छलानि रक्षांसि । तत्त्वरितमभ्युपपद्यस्व ।

लक्ष्मणः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

रामः—(पार्श्वतोऽवलोक्य । सकरुणम् ।) देवी वामशीले सीरध्वजराजनन्दिनि[1], इयं ते [2]विश्वविस्रम्भमर्मवेदिनी निचुलनिकुञ्जलेखा । इह हि—

स्ववपुषि नखलक्ष्म स्वेन कृत्वा भवत्या
कृतमिति चतुराणां दर्शयिष्ये सखीनाम् ।

रसान्तरेण अन्येन रसेन । तिरस्क्रियते दूरीक्रियते । केन प्रसङ्गेन रामस्यायं शोको विस्मार्यते इति भावः ।

स्ववपुषीति । स्ववपुषि निजशरीरे स्वेन आत्मना नखलक्ष्म नखक्षतचिह्नं कृत्वा भवत्या सीतया कृतं रामशरीरे नखक्षतं विहितमिति चतुराणां विदग्धहृदयानां सखीनां दर्शयिष्ये प्रत्यक्षीकारयिष्यामि, तथा च तव रहस्यभङ्गः स्यादिति

(लक्ष्मणके द्वारा अवलम्बित तथा आंखें बन्द किए हुए) हा दण्डकारण्यसङ्गिनि प्रियतमे, (फिर मूर्च्छित होते हैं)

लक्ष्मण—(सखेद स्वगत) किस रसान्तरसे इस शोकको अन्तरित किया जा सकेगा ।

(नेपथ्यमें)

आः पापी अभागा कबन्ध, अब तुम नहीं बच सकेगा ।

राम—(सुनकर घबराहटके साथ) वत्स, सुन रहा हूं जैसे तुम्हारे मित्र गुहका ए कबन्धके साथ झगड़ा हो रहा है, राक्षस बड़े छली होते हैं, अतः शीघ्र जाओ ।

लक्ष्मण—जो आज्ञा । (जाते हैं)

राम—(चारो ओर देखकर) हे वामशीले विदेहपुत्रि, तुम्हारे सकल रहस्योंको जाननेवाली वेत्र-निकुञ्ज परम्परा यही तो है । यहां—

मैं अपने शरीरपर नखचिह्न बनाकर तुमसे कहता था कि जाता हूं तुम्हारी सखियोंसे

---

१. 'सीरध्वजनन्दिनि' ।　　२. 'नर्मविस्रम्भमर्मभेदिनी' ।

इति रहसि मया ते भीषितायाः स्मरामि
स्मरपरिमलमुद्राभङ्गसर्वंसहायाः ॥ २३ ॥

(इति धनुरवष्टभ्य लक्ष्मणवृत्तान्तदत्तचेतास्तथैवास्ते ।)

(ततः प्रविशति लक्ष्मणो गुहश्च ।)

गुहः—जयतु[1] जयतु देवः ।

विनेता वर्णानामयमभयदुर्गं दिविषदां
कनिष्ठः काकुत्स्थो जयति जगदाश्चर्यचरितः ।
यदस्त्रैः पाप्मानं रजनिचरजन्मग्रहसृजं
विजित्य स्वर्लोकानविकलमुपातिष्ठत दनुः ॥ २४ ॥

मया रामेण रहसि एकान्ते भीषितायाः भयं प्रापितायाः ते सीतायाः स्मरः कामः तस्य परिमलो विमर्दोत्थः सुगन्धः तस्य मुद्रा चिह्नं तस्याः भङ्गे सर्वंसहायाः सर्वविधमपि कष्टं सोढुं प्रवृत्तायाः स्मरामि । रामोऽहं स्वेन स्वतनौ लक्ष्म नखस्य कृत्वा सीतया कृतमिदमिति तव सखीनां दर्शयिष्ये इत्येवं सीतां यदाऽभीषयत्तदा सा रहस्यभङ्गभीता सती कामचिह्नस्य तस्य नखक्षतस्य भङ्गाय सर्वमपि कष्टं सोढुमुद्यताभूत् एतादृश्याः सीताया रामः स्मरतीति भावः । स्मरतियोगे कर्मणि षष्ठी । मालिनीवृत्तं, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ २३ ॥

विनेतेति । वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां विनेता सत्पथप्रवर्त्तकः, दिविषदां देवानाम् अभयदुर्गं निर्भयवासोपयुक्तं दुर्गमस्थानम्, जगतः आश्चर्यं विस्मयजनकं चरितं यस्य तादृशः तथोक्तः कनिष्ठः काकुत्स्थो लक्ष्मणः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते, यस्य लक्ष्मणस्य अस्त्रैः प्रहरणैः रजनिचरेषु राक्षसेषु जन्मग्रहसृजं जन्मग्रहणकारणीभूतं पाप्मानं पापं विजित्य पराभूय दनुर्नाम राक्षसः अविकलं सर्वात्मना

कहनेकी सीताने यह नखचिह्न कर दिये हैं, इस प्रकार कहनेपर तुम भयभीत हो उठतीं थीं, उस अवस्थाकी तुम्हारी कामकला-विमर्द-सहिष्णुताकी याद आ रही है ॥ २३ ॥

(धनुष लेकर लक्ष्मणके वृत्तान्तमें मन लगाये उसी तरह बैठा रहता है)

(लक्ष्मण तथा गुहका प्रवेश)

गुह—जय हो जय हो महाराजकी ।

वर्णोंको उचित शिक्षा देनेवाले, देवोंको अभयदान देनेवाले, जगत्में आश्चर्य चरित वाले कनिष्ठकाकुत्स्थकी जय हो, जिनके अस्त्रोंसे राक्षसयोनिमें जन्म देनेवाले पापोंको धोकर यह दनु निर्बाधभावसे स्वर्ग पहुँच गया है ॥ २४ ॥

१. 'जयति जयति'।

रामः—साधु वृत्तम्। शिवाः सन्तु तस्य देवयानाः पन्थानः। वत्स गुह, वियति विवर्तमानः कश्चिदचल इव लक्षितः किमसौ तेनैव योजनबाहुना प्रहरणीकृतः।

गुहः—देव,

दुन्दुभिं नाम दैत्येन्द्रं निष्पिपेष कपीश्वरः।
तस्य कङ्कालकूटोऽयं कुमारेण विलोडितः॥ २५॥

तन्निमित्तजन्मा संप्रति [1]वालिनो महानभियोगः संभाव्यते।

लक्ष्मणः—ततः किम्।

स्वर्लोकान् उपातिष्ठत प्राप्तः, दनुः पूर्वं कोऽपि गन्धर्वः शापाद्राक्षसयोनिं प्राप्य लक्ष्मणास्त्रात् शापान्तं प्राप्य स्वर्गमलभतेति कथात्र मूलम्। यद्यपि कनिष्ठः काकुत्स्थः शत्रुघ्नो न लक्ष्मणस्तथापि सन्निहितत्वादत्र लक्ष्मण एव तथा विवक्षितो बोध्यः। शिखरिणीवृत्तम्॥ २४॥

साधु वृत्तम्–उत्तमं जातम्, देवानां यानं यैः ते देवयानाः पन्थानो मार्गाः शिवाः कल्याणमयाः। वियति व्योमनि। विवर्त्तमानः अस्तव्यस्तभावेन स्थितः। अचलः पर्वतः। लक्षितो दृष्टः। योजनबाहुना दनुकबन्धेन, प्रहरणीकृतः लक्ष्मणोपरि क्षेप्तुमस्त्रभावं गमितः॥

दुन्दुभिमिति। कपीन्द्रो वाली पुरा दुन्दुभिं नाम दैत्येन्द्रं राक्षसं निष्पिपेष निहतवान्, अयं तस्य कङ्कालकूटः अस्थिराशिः कुमारेण लक्ष्मणेन विलोडितः धनुष्कोट्या विपर्यासितः। वालिनिहतस्य दुन्दुभेरस्थिराशिरयं लक्ष्मणेन धनुष्कोटया चालितो न दनुप्रहरणमिति भावः॥ २५॥

तन्निमित्तजन्मा लक्ष्मणेन यद् दुन्दुभिकङ्कालकूटं धनुष्कोटया क्षिप्तं तत्कारणः, कोऽयं वीरो यस्तावतोऽस्थिकूटस्य विपर्यासं कृतवान्, पश्येयं तस्य बलमिति बुद्ध्या। अभियोगः आक्रमणम्।

राम—ठीक है, देवलोकका मार्ग उसके लिए कल्याणमय हो। वत्स गुह, आकाशमें किसी पर्वतसदृश वस्तुको चलते देखा था, क्या योजनबाहुने ही उसे प्रहरण बनाया था।

गुह—दुन्दुभि नामक दैत्यको वानरराजने मारा था, यह उसी का कङ्कालकूट था जिसे कुमार लक्ष्मणने स्थानसे खिसका दिया है॥ २५॥

इसके कारण हो सकता है कि वाली बड़ा उत्पात मचावे।

लक्ष्मण—इससे क्या ?

---

१. 'पुनर्वालिनो'।

रामः—वत्स, मा मैवम्। माननीयः खल्वसौ पुराणवीरो महेन्द्रसूनुः। (गुहं प्रति।) कुतः पुनरागच्छतो वत्सस्य योजनबाहुरन्तरायः संवृत्तः।

गुहः—देव, व्योमयानेन सत्वरमपक्रामति रावणे सीतादेव्याः—

रामः—([1]साशङ्कमात्मगतम्।) किं पुनरस्याः।

गुहः—यदुत्तरीयमुत्प्लुत्य हनूमानग्रहीत्, [2]तदेतदेव गुणानुरागिणा कुमारसुग्रीवेण सभाजयितुमुपस्थितवतो मम हस्ते देवस्य प्राभृतीकृतम्। (इति रामस्य हस्ते सीताया उत्तरीयमर्पयति।)

रामः—(गृहीत्वा हृदये निधाय। सास्रम्।) हा देवि विदेहराजनन्दिनि, कथमुत्तरीयशेषा दृश्यसे। (इति निमीलिताक्षो [3]लक्ष्मणमवष्टभ्नाति।)

पुराणवीरः प्राचीनः प्रसिद्धश्च शूरो महेन्द्रसूनुः इन्द्रपुत्रो वाली। आगच्छतः आश्रमं प्रत्यावर्त्तमानस्य। वत्सस्य लक्ष्मणस्य। योजनबाहुः दनुकबन्धः। अन्तरायः मार्गरोधको विघ्नः।

व्योमयानेन आकाशमार्गेण, सत्वरम् वेगेन। अपक्रामति पलायमाने। साशङ्कम् सीतादेव्याः इत्यर्धोक्ते किंजातमिति शङ्का।

उत्तरीयम् ऊर्ध्ववस्त्रम्। गुणानुरागिणा गुणैकपक्षपातिना। सभाजयितुं भवन्तं सत्कर्त्तुम्। उपस्थितवतः समायातस्य। प्राभृतीकृतम् उपहाररूपेण दत्तम्। 'प्राभृतं तु प्रदेशनम्' इत्यमरः।

उत्तरीयशेषा उत्तरीयमात्रावशेषा, केवलमुत्तरीयमेव दृश्यते न त्वमिति खेदस्य विषय इत्यर्थः।

राम—वत्स ऐसा मत कहो, इन्द्रपुत्र तथा पुराणवीर वाली हमारे आदरके योग्य हैं, (गुहके प्रति) तुम कहांसे आ रहे थे कि बीचमें योजनबाहु आ खड़ा हुआ था ?

गुह—आकाशमार्गसे रावण वेगसे भागा जा रहा था तब सीतादेवीके—

राम—(साशङ्क स्वगत) उसको क्या ?

गुह—जिस उत्तरीयको उछलकर हनुमानने ले लिया था, मैं हनुमानके पास सुग्रीवको धन्यवाद देने गया था तब हनुमानने आपको अर्पित करनेके लिए वह उत्तरीय मुझे दे दिया है॥ (रामके हाथमें सीताका उत्तरीय अर्पित करता है)

राम—(लेकर तथा हृदयसे लगाकर) (रोते हुए) हा देवि, विदेहराजपुत्रि, अब

---

१. '(साशङ्कम्।) किं तस्याः'; 'किमस्याः'। २. 'तदेतदेव'। ३. 'अवलम्बते'।

लक्ष्मणः—(निःश्वस्य ।) सखे निषादराज, कुशलं सुग्रीवस्य ।

गुहः—अद्य त्वयि वार्तामनुयुञ्जाने ।

रामः—(स्वगतम् ।)

जानन्नेव दशाननोऽपहरते नः प्रेयसीमस्ति [1]वा
चन्द्रापीडमुपासितुं स हि शिरोदाम स्वयं कृत्तवान् ।
तत्त्रासो रजनीचरस्य न पुनः कण्ठाटवीकर्तना-
द्धिग्बाणैर्मम चन्द्रहासहतकक्षुण्णोऽयमध्वा वृतः ॥२६॥

वार्त्तामनुयुञ्जाने कुशलं पृच्छति सति, यदद्य त्वं सुग्रीवस्य कुशलं पृच्छसि तदेतेन तव कुशलप्रश्नेन सम्भावितसाहायकोऽसौ कुशलमनुभवतीत्यर्थः ।

जानन्नेवेति । दशाननः रावणः नः अस्माकं प्रेयसीम् प्रियतमां सीताम् जानन् एव एतेन कर्मणा भाविनं स्वविनाशं विदन्नेव अपहरते चौर्येण स्वपुरीं नयति, अस्ति वा युज्यत एतत्, हि यतः सः रावणः चन्द्रापीडं चन्द्रभूषणम् उपासितुम् आराधयितुम् स्वं शिरोदाम निजां शिरःपरम्पराम् स्वयं कृत्तवान् निजहस्तेन खण्डितवान् तत् तस्मात् रजनीचरस्य रावणस्य पुनः कण्ठाटवीकर्त्तनात् पुनः शिरश्छेदनात् त्रासो भयं न । धिक्, खेदास्पदमिदं यत् मम बाणैः शरैः चन्द्रहासहतकेन अतिनिराशेन चन्द्रहासनाम्ना रावणखड्गेन क्षुण्णोऽभ्यस्तः अध्वा वृतः प्रार्थितः । रावणो निजं नाशं जानन्नेव सीतां हरति, युक्तमिदं यतोऽसौ रावणः स्वयं स्वकण्ठानां छेदनं कृतवानसौ कण्ठच्छेदविषये निर्भयः, खेदस्य त्वयं विषयो यन्मम बाणैश्चन्द्रहासकृतं रावणशिरश्छेदनात्मकमेव कार्यं कर्त्तव्यत्वेन वृतमित्यर्थः ॥ २६ ॥

केवल तुम्हारा उत्तरीय ही देख रहा हूँ । (आँखें बन्द करके लक्ष्मणको पकड़ते हैं)

लक्ष्मण—(साँस लेकर) सखे निषादराज, सुग्रीव तो सकुशल हैं ?

गुह—आज जब आप कुशल पूछ रहे हैं तब उनका कुशल ही है ।

राम—(स्वगत) रावणने जान-बूझकर ही मेरी प्रियतमाका अपहरण किया है, उसको शिरश्छेदका भय नहीं है क्योंकि उसने शिवकी आराधनामें स्वयम् अपने मस्तक काट दिये थे । धिक्कार है हमारे बाणोंको जिनको चन्द्रहास द्वारा क्षुण्ण मार्ग अपनाना है ॥

---

१. 'अस्तु' ।

लक्ष्मणः—आर्य, [1]कथमस्मासु वनौकसोऽपि सौजन्यमनुरुध्यन्ते।

रामः—किमुच्यते। सुग्रीवः सनाभिरयमस्माकम्। अस्य हि प्रभवो [2]भगवानैक्ष्वाकस्य राजर्षिवंशस्य प्रसविता सहस्रदीधितिः। (हृदयस्थमुत्तरीयं दृष्ट्वा।) वत्स गुह, स्पृहयामि सुग्रीवहनूमतोर्दर्शनाय। तदृष्यमूकगामिनं [3]मार्गमावेदय।

गुहः—(सहर्षमात्मगतम्।) कथमचिरादेव फलवती [1]जाम्बवतो मन्त्रशक्तिः। (प्रकाशम्।) इत इतो मतङ्गाश्रमवर्त्मना देवः।

(इति सर्वे परिक्रामन्ति।)

गुहः—देव, पश्य पश्य।

विदधति मुदमक्ष्णोर्नूतनानूपनीप-
प्रहसनसहचर्यानित्यनृत्यन्मयूराः।

वनौकसः वनवासिनो वानरादयः। सौजन्यम् सद्भावम्। अनुरुध्यन्ते-कामयन्ते।

सनाभिः सगोत्रः। सुग्रीवस्य सूर्यपुत्रतया सनाभित्वमभिप्रेतं रामेण। अस्य सुग्रीवस्य। प्रभवः जनकः। प्रसविता उत्पादकः। सहस्रदीधितिः सूर्यः। स्पृहयामि इच्छामि। आवेदय कथय। फलवती सफला। मन्त्रशक्तिः मन्त्रणा। (जाम्बवान् रामसुग्रीवयोः सख्यं सम्भावयतिस्म, रामस्य सुग्रीवदर्शनस्पृहोक्त्या तत्साफल्यं प्रतीङ्गितं कृतम्॥

विदधतीति। नूतनानां नवविकसितानाम् अनूपनीपानाम् जलप्रायदेशस्थ-कदम्बानाम् प्रहसनं विकासस्तत्सहचर्यया तत्सहवासेन नित्यं सततं नृत्यन्तो

लक्ष्मण—आर्य, हमारे साथ यह वन्यजन्तुगण क्यों सौजन्य प्रकाशित किया करते हैं?

राम—इसमें क्या कहना है? सुग्रीव हमारे सवंश्य हैं, क्योंकि उनके भी जन्मदाता वही सूर्य हैं जो इक्ष्वाकुवंशके प्रवर्त्तक हैं। (हृदयस्थ उत्तरीयकी ओर देखकर) सुग्रीव तथा हनूमानको देखनेके लिए तरस रहा हूँ। अतः मुझे ऋष्यमूक जानेवाला मार्ग बताओ।

गुह—(सहर्ष स्वगत) क्यों, जाम्दवानकी मन्त्रणा शीघ्र ही सफल हो रही है। (प्रकट) इधरसे मतङ्गाश्रम होकर आप जा सकते हैं।

(समीका प्रस्थान)

गुह—देव, देखिये—नवीन विकसित नूतन और जलप्राय देशस्थित नीप वृक्षोंके साहचर्यसे जहाँ मयूर नृत्य किया करते हैं, ऐसे फल भरे जम्बूकुञ्जोंमें शब्दायमान

---

१. 'किमस्मासु'। २. 'भगवान्' इति क्वचिन्नास्ति। ३. 'आदेशय'।

फलपुलकितजम्बूकुञ्जकूजत्कपोत-
प्रियशबरपुरंध्रीबन्धवो [2]विन्ध्यलेखाः ॥ २७ ॥

रामः—(सर्वतो निरूप्य । सखेदम् ।)

समन्तादुन्मीलद्बहललहरीलङ्घनकला-
लघुप्रेङ्खत्पम्पानिलविदलदेलासुरभयः ।
अविद्यावैदेहीशतलिपिकरीणां मम धिया-
ममी हस्तालम्बं विपिनविनिवेशा विदधते ॥ २८ ॥

मयूराः यासु तथोक्ताः, तथा फलैः पुलकिताः पूर्णाः ये जम्बूकुञ्जाः जम्बूकाननानि तेषु कूजन्तः शब्दायमानाः ये कपोताः पारावताः तत्प्रियाणां स्नेहिनीनां शबर-पुरन्ध्रीणाम् व्याधादिपत्नीनाम् बन्धवः मित्रभूताः विन्ध्यलेखाः विन्ध्यपर्वतमालाः अक्ष्णोः दर्शकजननयनयोः मुदम् प्रीतिं विदधति कुर्वन्ति । जलप्रायदेशस्थप्रत्यग्र-प्रफुल्लकदम्बकुलसहवासनृत्यन्मयूरास्तथा फलपूर्णजम्बूवनशब्दायमानकपोतप्रिय-शबरवधूमित्रभूता इमा विन्ध्यपर्वतमाला दर्शकलोचने तर्पयन्तीत्यर्थः । 'जलप्राय-मनूपं स्यादि'त्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ २७ ॥

समन्तादिति । समन्तात् सर्वतः उन्मीलन्तीनां प्रसरणशीलानां बहलानां बहुसंख्यानाम् लहरीणां तरङ्गाणां लङ्घनकलया अतिक्रमणक्रियया लघु क्षिप्रं प्रेङ्खन् सञ्चरणशीलो यः पम्पानिलः पम्पासरोवरवायुस्तेन विदलन्तीभिः विकसन्तीभिः एलाभिः सुरभयः सुगन्धपूर्णाः, अमी विपिनविनिवेशाः वनप्रदेशाः अविद्यावैदेहीशतस्य मिथ्याकल्पितसीताशतस्य लिपिकरीणां सर्वासु दिक्षु सीतामेव भावयित्वा चित्रयन्तीनाम् मम धियां बुद्धीनाम् हस्तालम्बं साहायकं विदधते । सर्वतो विसृमरबहलतरङ्गावलीसञ्चरणप्रेरितपम्पासरोवातसम्पर्कविकसितैलाकुसुम-गन्धपूर्णा अमी विन्ध्यवनप्रदेशाः सर्वतः भावनोपनीतसीताचित्रनिर्माणपरायणाया

कपोतसे स्नेह करनेवाली शबरियोंके प्रिय यह विन्ध्य पर्वतके प्रदेश आनन्द उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

राम—(चारों ओर देखकर, सखेद) मिथ्या वैदेहीकी कल्पना करनेवाली हमारी बुद्धिको यहाँके वनसन्निवेश सहायता प्रदान कर रहे हैं जो वनसन्निवेश चारो ओर प्रसारित होने वाली तरङ्गोंको लांघकर धीरे-धीरे बहनेवाली वायुसे विकसित एलाकी सुगन्धियोंसे परिपूर्ण हैं ॥ २८ ॥

१. 'जाम्बवती' । २. 'विन्ध्यपादाः' ।

लक्ष्मणः—आर्य, इतस्तावत् ।

भयभ्रष्टप्रेयोविरहनिरहंकारहरिणी-
मुखालोकोन्मीलद्गुरुकरुणरुग्णां सहचरीम् ।
विलोक्य म्लेच्छन्तीमलमलमिति [1]प्राक्प्रणिहितं
शरव्याल्लुब्धानां हृदयमपराद्धं न तु शराः ॥ २९ ॥

रामः—(सास्रम् ।) हा देवि जानकि,

मारीचमृगयाव्यग्रे मयि प्राप्ते च रावणे ।

मम धियः सहायतामिव कुर्वन्ति, इमान् वनोद्देशान् निरीक्ष्याहमनवरतं सीतामेव भावयन् दशापि दिशः सीतामयीः पश्यामीति तात्पर्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २८ ॥

भयभ्रष्टेति । भयेन भ्रष्टस्य पलायितस्य प्रेयसः प्रियतमस्य विरहेण निरहङ्कारा गतगर्वा विषादयुक्ता या हरिणी मृगी तस्याः मुखालोकेन दर्शनेन उन्मीलन् जायमानो यो गुरुर्महान् करुणः शोको दया वा तेन रुग्णां व्यथमानमानसाम् अलम् अलम् , मैवं, मैनां हिंसीरिति म्लेच्छन्तीं चारुभाषया निषेधन्तीम् सहचरीम् प्रियाम् विलोक्य दृष्ट्वा लुब्धानां व्याधानां हृदयं शरव्यात् लक्ष्यतां नीतात् ततः प्राणिनः स्खलति अन्यत्र याति, शराः तत्संहिताः शराः वाणास्तु न स्खलन्ति नान्यत्र यान्ति तैरसौ प्राणी व्यापाद्यत एव तेषां पूर्वसंहिततया लक्ष्यवेधस्यावश्यं भावित्वादिति भावः । व्याधभयभ्रष्टसहचरविरहविषण्णमृगीमुखालोकोदयहृयया प्रियया मैनां हिंसीरिति निषिध्यमानस्य व्याधस्य स्वप्रियामुखमुदितकरुणं निरीक्ष्य हृदये ततो लक्ष्यादन्यत्र गामिनि सत्यपि पूर्वसंहितास्तच्छरा न लक्ष्यादपराद्धा भवन्तीति बोध्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २९ ॥

मारीचेति । मयि रामे मारीचमृगयाव्यग्रे काञ्चनमृगरूपधारिमारीचवधोद्यते

लक्ष्मण—आर्य, इधर देखिये,

भयसे भागे हुए प्रियतमके विरहसे दुःखिनी हरिणीके मुखको देखकर दयाद्रुत होनेवाली अपनी सहचरीको देखकर भी उसके द्वारा प्रहार करनेके निषेधके किये जानेपर भी शिकारी शबरोंका हृदय लक्ष्यसे चूक जाता है परन्तु उनके वाण लक्ष्यसे नहीं चूकते ॥२९॥

राम—(साश्रु नयन होकर) हा देवि जानकि,

मै जव मारीचकी शिकारमें चला गया और रावण आ पहुँचा, तब तुम्हारी आँखें

---

१. 'प्रणिहिताः' ।

आसामिव कुरङ्गीणां तवोत्पश्यामि लोचने ॥ ३० ॥

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) कः पुनरुपायो येन [1]विनोद्यते हृदयमार्यस्य ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो वनौकसः, कथयन्तु भवन्तः । [2]केनास्मत्कीर्तिकामिनीकेलिचङ्क्रमणक्रीडापर्वतो विवर्तितोऽयं दनुराजकङ्कालकूटः ।

गुहः—(दृष्ट्वा । सभयसंभ्रमम् ।) देव, पश्य पश्य । कनकमयसहस्रपत्त्रपुण्डरीकवैकक्ष्यकप्रभापटलेन[3] दुन्दुभिकरङ्कव्यतिकरजन्मना च

गते रावणे च प्राप्ते उटजद्वारमागते सति तव लोचने नयने आसां व्याधहस्तगतानां भयभ्रष्टपतिकानां च कुरङ्गीणां हरिणीनां लोचने इव कातरे सखेदे च उत्पश्यामि संभावयामि । यथामूपां मृगीणां नयने कातरे सखेदे च तथैव मयि मृगयार्थं दूरंगते रावणे च प्राप्ते सति तवापि नयने कातरे सखेदे चाभूतामिति मम संभावनेति भावः ॥ ३० ॥

विनोद्यते सान्त्वनां प्राप्यते ।

अस्मदिति । अस्माकं कीर्त्तिः वलवत्ताख्यातिरेव कामिनी वनिता तस्याः केलिचङ्क्रमणं लीलाविहारः तदर्थः क्रीडापर्वतः कृत्रिमपर्वतः, विवर्त्तितः-विपर्यस्य विघटितः । दनुराजकङ्कालकूटः-दानवास्थिचयः । अयं कङ्कालकूटो मत्कीर्त्तिरूपाया नायिकायाः क्रीडाविहाररूपतया स्थितः केनाद्य विघटित इत्यर्थः ।

कनकेति । कनकमयानां स्वर्णमयानां सहस्रपत्रपुण्डरीकाणां सहस्रदलकमलानां वैकक्षिकं वक्षसि तिर्यग् न्यस्तं माल्यं तस्य प्रभापटलेन कान्तिसमूहेन । दुन्दुभेः दानवभेदस्य करङ्कः कङ्कालः तस्य व्यतिकरो विपर्यासः तज्जन्मना तदु-

---

भी इन्हीं हरिणियोंकी आंखोंके समान हो गई होंगी, ऐसी मैं सम्भावना करता हूं ॥३०॥

लक्ष्मण—कौन सा उपाय है जिससे आर्यके हृदयको बहलाया जा सके ।

(नेपथ्यमें)

हे वनवासियों, आप बतावें कि किसने हमारी कीर्त्तिकामिनीके क्रीड़ापर्वतरूप इस दनुराज कङ्कालराशिको उलट दिया है ?

गुह—(देखकर सभय) देव देखिये, कनकमय कमलकी कान्ति-समुदायसे और दुन्दुभिनामक दैत्यके कङ्काल-राशिके उलटाये जानेसे उत्पन्न कोपसे तिगुना रक्तवर्ण शरीर

---

१. 'विनोदयते' । २. 'कामिनीचङ्क्रमणकेलिपर्वत' । ३. 'प्रभामण्डलेन' ।

रोपरागेण त्रिगुणपिशङ्गीं तनुमादधानः प्लवगराजोऽयमित एवाभिवर्तते।

पौलस्त्यावयवौघसंकटभुजामूलक्षणोन्मूलित-
द्वैराज्याममरावतीं कृतवते वीराय [1]यस्मै हरिः।
नित्यालोकनकौतुकव्यसनिनीः [2]शङ्के सहस्रं दृशः
पिण्डीकृत्य दलच्छलेन कनकाम्भोजस्रजं दत्तवान् ॥२१॥

दितेन रोपरागेण कोपजनितलौहित्येन त्रिगुणपिशङ्गीम् त्रिधापिशङ्गवर्णाम्, (वानरस्य तनुः स्वतः पीतरक्ता पिशङ्गी, सा हि स्वर्णकमलमालया पुनः पिशङ्गीकृता पुनश्च सैव दनुकङ्कालविपर्यासजन्मकोपजनितलौहित्येन पिशङ्गीकृतेति त्रिधापिशङ्गी तत्तनुरत्र निर्दिष्टा) 'वैकक्षिकं तु तत्, यत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि' इत्यमरः। 'करङ्को मस्तकास्थिनि' इति च। प्लवगराजः-वानराधीशो वाली इत एवाभिवर्त्तते-एतदभिमुखमेवायाति॥

पौलस्त्येति। हरिः इन्द्रः पौलस्त्यस्य रावणस्य अवयवौघेन करचरणाद्यवयवसमुदायेन सङ्कटं व्याप्तं यत् भुजामूलं कक्षप्रदेशः तेन उन्मूलितम् समापितम् द्वैराज्यम् राजद्वयाधिकृतत्वं यस्यास्तां तथोक्ताम् अमरावतीं शक्रपुरीं कृतवते यस्मै वीराय वालिने नित्यालोकनकौतुकव्यसनिनीः पुत्रस्य वालिनः सर्वदा विलोकनाय कौतुकव्यसनिनीः समासक्ताः दृशः स्वीयनयनानि दलच्छलेन कमलदलव्याजेन पिण्डीकृत्य समाहृत्य कनकाम्भोजस्रजं कनककमलमाल्यं दत्तवान्। वाली रावणं कक्षे निधाय सप्तसु समुद्रेषु स्नानपूर्वकं सन्ध्यावन्दनमन्वतिष्ठत् तावत् कालपर्यन्तं स्वर्गस्य द्वैराज्यमपगतं, सति रावणे वहिःस्थे स्वर्गे शक्रस्य रावणस्य च समेऽधिकारे तत्र द्वैराज्यमिवासीत्, तदियतेऽपि कालाय स्वर्गे इन्द्रस्यैकाधिपत्यं स्थापयित्वा वाली स्वपितरं शक्रं सन्तोषितवान्, सन्तुष्टेन पित्रा वालिने कनककमलमाल्यं वितीर्णं शङ्के न तत्कनककमलमाल्यं किन्तु पुत्रदिदृक्षाव्याकुलानि इन्द्रस्य सहस्रं नयनान्येव मालाभावापन्नानि सन्तीति भावः॥२१॥

लिए यह वानरराज इधर ही आ रहे हैं।

रावणके अवयव-समुदायसे व्याप्त भुजमूल वाला होकर इस वालीने कुछ देरके लिए स्वर्गको द्वैराज्य-भयसे मुक्त कर दिया था, इसीलिये इन्द्रकी हजार आँखें इस वालीको सतत देखते रहना चाहती थी, तब इन्द्रने उन आँखोंको पत्र रूपमें परिणत करके सहस्र कमलका माल्य वालीके गले डाल दिया था॥ २१॥

---

१. 'तस्मै'। २. 'मन्ये'।

[1]क्षणं च देवस्य महावीरसंवादगोष्ठीयमृष्यमूकयात्रामन्तरयिष्यति। [2]तदहमग्रतो गत्वा दिष्ट्या वर्धयामि सूर्यतनयम्।

रामः—एवमस्तु।

गुहः—वाचिकं पुनरेतावत्कुमारसुग्रीवस्य यत् 'मित्रपर्यायान्तरितं देवस्य दास्यमिच्छामि' इति।

रामः—(अपवार्य।) वत्स लक्ष्मण, एवमाह वयस्यस्ते गुहः। किं च [3]मन्त्रोत्साहसंपन्नानामपि प्रभुशक्तिमपेक्षन्ते सिद्धयः। तदहं वालि-

---

महावीरसंवादगोष्ठी–वीरेण वालिना सह वार्त्तालापः। ऋष्यमूकयात्रामन्तरयिष्यति–विलम्बयिष्यति॥

दिष्ट्या सौभाग्येन, रामस्त्वया सह मिलितुमागच्छतीति सौभाग्यसूचनयेत्यर्थः। वर्धयामि सौभाग्यभाजं करोमि। सूर्यतनयम् सुग्रीवम्।

वाचिकम् सन्देशवाक्। मित्रपर्यायान्तरितम् मित्रशब्दनिगूढम्। देवस्य भवतः। कुमारसुग्रीवः सन्दिशति यदहं भवतो रामस्य दास्यं कामये, यद्यपि मम दास्यं मित्रतया निगूहितं स्थास्यति तथापि मनसाऽहं दासः स्थास्यामीति भावः।

एवमाह—पूर्वोक्तस्वरूपं सुग्रीवसन्देशं कथयतीत्यर्थः। मन्त्रोत्साहसम्पन्नानां मन्त्रशक्त्या उत्साहशक्त्या च युक्तानाम्। सिद्धयः साफल्यानि। प्रभुशक्तिम्–कोषदण्डजं तेजः। अपेक्षन्ते स्वजन्मनि कारणतयेच्छन्ति। मन्त्रोत्साहशक्ती यद्यप्यस्मासु विद्येते परं प्रभुशक्तिर्नास्ति, न च तामन्तरा कार्यं सिद्ध्यति, सिद्धेः शक्तित्रितयजन्यत्वात् अतो मया सुग्रीवेण सन्धिं कृत्वा यदि प्रभुशक्तिरासादिता भवति

क्षणभर आपको इस वीरके संवादमें चित्रकूट यात्राके प्रति विघ्न होगा। अतः मैं आगे बढ़कर सूर्यपुत्रको सौभाग्य सूचनासे अभिवर्द्धित करता हूँ।

राम—यही हो।

गुह—कुमार सुग्रीवने इतना मौखिक संवाद भी कहा था कि मैं रामका मित्र शब्दमें छिपा दास्य प्राप्त करना चाहता हूँ।

राम—(छिपाकर) वत्स, तुम्हारा मित्र गुह इस तरह कह रहा है। मन्त्रोत्साह सम्पन्न होनेपर भी सिद्धिके लिए प्रभुशक्तिकी अपेक्षा होती है। अतः मैं वालिके स्थान-

---

१. 'क्षणं च वीरसंवाद–'। २. 'तदयम्'। ३. 'मन्त्रोत्साहशक्ति–'।

स्थाने [1]सुग्रीवमभिषिच्य तत्कोपदण्डाभ्यां समग्रशक्तिर्वैरपारं गन्तुमिच्छामि।

लक्ष्मणः—(सस्मितम्।) यद्येवमुपयुज्यमानमिन्द्रसूनुमुपेक्ष्य सुग्रीवेणोपयोक्ष्यमाणेन संधिरिति वक्रः खल्वयं पन्थाः।

रामः—(सस्मितम्।) वत्स, [2]साध्वेव ब्रवीषि। किं तु।

दृप्यत्पौलस्त्यकण्डूभिदुरभुजभरोष्मायमाणः कपीन्द्रो
नायं नः संदधीत क्वचिदपि हि विधौ नैव साहाय्यकामः।
सोऽहं [3]सुग्रीवमेतद्दमनदृढतरं मित्रमिच्छामि पश्चात्

तदा सिद्धिः सुलभा निश्चिता चेति। वालिस्थाने वालिनाऽधिष्ठिते राज्ये। तत्कोपदण्डाभ्याम्—सुग्रीवस्य धनेन सैन्येन च। समग्रशक्तिः पूर्णशक्तिः, मन्त्रोत्साहप्रभावाख्यशक्तित्रययुक्तः। वैरपारं गन्तुमिच्छामि वैरं शोधयितुं कामये।

यद्येवम्—यदि भवान् प्रभुशक्तिं लब्धुं सुग्रीवेण सन्धिं करोति तदा। उपयुज्यमानम् सम्प्रत्येव प्रभुशक्तिं समर्पयितुं क्षममाणम्। इन्द्रसूनुम्-वालिनम्। उपयोक्ष्यमाणेन लब्धे राज्ये प्रभुशक्तिं दातुं समर्थीभविष्यता। वक्रः कुटिलः। वाली सम्प्रति सहायतां कर्त्तुं प्रभुः, तं विहाय पश्चात्सहायतां कर्त्तुं क्षंस्यमानेन सुग्रीवेण सन्धिः कुटिलो मार्गः चिरेण लक्ष्यप्रापणादिति भावः।

दृप्यदिति। दृप्यतः सगर्वस्य पौलस्त्यस्य रावणस्य कण्डूतिभिदुरः रणकण्डूतिविनाशको यो भुजभरः बाहुबलम् तेन ऊष्मायमाणः तेजःशाली अयं कपीन्द्रो वाली नः अस्मान् न सन्दधीत न सन्धिना गृह्णीयात्, हि यतः वाली क्वचिदपि विधौ कुत्रापि कार्ये नैव साहाय्यकामः सहायतां नापेक्षते, सोऽहं वालिनः साहाय्यनिरपेक्षतया सन्धातुमशक्यत्वेन एतस्य वालिनो दमनेन विनाशनेन दृढतरं बलवन्तम् सुग्रीवम् मित्रमिच्छामि मित्रं कर्त्तुमिच्छामि,

---

पर सुग्रीवका अभिषेक करके सुग्रीवके कोष तथा दण्डसे पूर्ण शक्ति बनकर वैरका पार पाना चाहता हूँ।

लक्ष्मण—यदि यही बात है तो वर्त्तमानमें सहायक हो सकने वाले वालीको छोड़कर भविष्यमें सहायक हो सकने वाले सुग्रीवके साथ सन्धि करना तो टेढ़ा रास्ता है।

राम—(हंसकर) वत्स तुम भी ठीक ही कहते हो, किन्तु—

दर्पपूर्ण पौलस्त्यकी खुजलाहटको दूर करनेवाले भुजोंसे युक्त यह वालि हमसे सन्धि

---

१. 'आधाय'। २. 'साध्वेव'। ३. 'दृढतमं'।

पारस्त्रैणेयपुत्रव्ययशिथिलशुचं [1]शक्रमाराधयामि ॥ ३२ ॥

लक्ष्मणः—[2]साधुदर्शिनी बुद्धिरार्यस्य। किं च विधूतशापेन दनुनापि देवभूयं [3]गतिमभिलम्भितेन संदिष्टमार्यस्य यथा 'अस्य निपादपतेर्वचसि देवेनावधातव्यम्' इति।

रामः—तद्गुहोऽपि प्रतिदूत्यमर्हति।

लक्ष्मणः—(गुहं प्रति।) वयस्य, एवमस्मद्गिरा सुग्रीवो वक्तव्यः—

पश्चात् सुग्रीवमैत्रीद्वारा स्वकार्ये साधिते सति पारस्त्रैणेयस्य परकीयस्त्रियां लब्धजन्मनः पुत्रस्य व्ययेन विनाशेन शिथिलशुचं धृताल्पशोकं शक्रम् इन्द्रम् आराधयामि परमार्थबोधनद्वारा प्रसादयामि। रावणविजयसगर्वस्यास्य बालिनः क्वापि विषये मत्साहाय्यानपेक्षतया सन्धातुमशक्यतया बालिनिग्रहं कृत्वा बलवत्तरीकृतं कृत्वा प्रभुशक्तिसम्पत्तिमवाप्याहं सम्प्रति रावणेन सह जातं वैरं निर्यातयितुमिच्छामि, पश्चाच्च वास्तविकपरिस्थितिबोधनद्वारा परस्त्रीगृहीतजन्मनः पुत्रस्य बालिनो वधेन किञ्चित् कुपितं शक्रं प्रसादयिष्यामीति भावः, 'पारस्त्रैणेयस्तु परस्त्रियाः' इत्यमरः ॥ ३२ ॥

साधुदर्शिनी यथावद्वस्तुसाक्षात्कारकरी। आर्यस्य रामस्य बुद्धिः। विधूतशापेन लक्ष्मणास्त्रद्वारा निवृत्तशापेन। दनुना तदाख्यराक्षसेन देवभूयम् देवत्वम्। गतिमभिलम्भितेन मरणोत्तरकालभाविस्वरूपं गतिः तां प्रापितेन। आर्यस्य भवतो रामस्य सन्दिष्टम् वाचिकमुक्तम्। अवधातव्यम् ध्यानं दातव्यम्।

प्रतिदूत्यं प्रतिदूतकर्म। यथा सुग्रीवम् इमं दूतभावेन प्रेषितवान्, तथाऽहमपि इममेव सुग्रीवं प्रति प्रतिदूतभावेन प्रेषयामीत्यर्थः।

नहीं करना चाहेगा, क्योंकि उसको हमारी सहायता अपेक्षित नहीं है। अतः मैं चाहता हूँ कि इसके दमनसे दृढ़ हो जानेवाले सुग्रीवको मित्र बना लूँ, पीछे परस्त्री-गर्भोत्पन्न पुत्रके मरणसे दुःखी इन्द्रको प्रसन्न कर लूंगा ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आपकी बुद्धि ठीक सोचती है। शापके समाप्त हो जाने पर देवत्वको प्राप्त करके उस दनुराक्षसने भी आपको संवाद कहा था कि आपको निषादपतिकी वार्तोपर ध्यान देते रहना चाहिये।

राम—तब हमको गुहको प्रतिदूतके रूपमें भेजना चाहिये।

लक्ष्मण—(गुहसे) वयस्य, हमारी ओरसे तुम सुग्रीवसे यह कहना—

---

१. 'आराधयावः;' 'आराधयामः'। २. 'साधुदर्शनीया'। ३. 'गतिं लम्भितेन'।

'पिताऽयं रेतोधास्तव तरणिरस्मत्कुलगुरु-
र्मनुर्वैमात्रेयस्तदपि सहजं मित्त्रमसि नः।
अथापि ज्ञातेयं शिथिलयसि [1]कापेयचपलः
शरास्तन्मे वालिक्षतजरसलोलाः प्रतिभुवः' ॥ ३३ ॥

रामः—(विहस्य ।) वत्स [2]गुह, एष खलु पौलस्त्यगतेनामर्षेण धूमायमानो यथा कयाचिद्वाचा सौमित्रिरभिदधातु नाम। सततसमिध्यमानजानकीविरहवैश्वानरेण रामचेतसा पुनरग्निसाक्षिकमेव सुग्रीवो मित्त्रमभ्युपगतः।

पिताऽयमिति। अस्माकं कुलगुरुः अस्मद्वंशप्रवर्त्तकः अयं तरणिः सूर्यस्तव रेतोधाः वीर्याधानकर्त्ता पिता, मनुः अस्मत्पूर्वपुरुषः तव वैमात्रेयः विमातृगर्भजो भ्राता, तत् त्वं नः अस्माकं सहजं स्वाभाविकं मित्रम् बन्धुः असि, समानवंशजातस्य तव मया सह स्वाभाविकं बन्धुत्वमस्तीति मम कार्यविषये त्वया सम्प्रत्युपक्रियमाणेनावश्यमवधातव्यमित्यर्थः। अथापि कापेयचपलः कपिस्वभावचञ्चलः सन् यदि ज्ञातेयं ज्ञातिभावं सम्बन्धिकर्त्तव्यं शिथिलयसि त्यजसि तत् तदा मे मम वालिनः क्षतजस्य शोणितस्य रसे आस्वादे लोलाः लुब्धाः शराः प्रतिभुवो लग्नकाः। यदि सवंश्यो मया सम्प्रत्युपकृतश्च त्वं कपिस्वभावोपनतचापल्येनास्मत्कार्येऽनवधानमाचरसि तदा वालिशोणितपानलुब्धा मम शरास्तवापि दशां वालिनो दशामिव विधास्यन्तीति भावः। 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः। ज्ञातेयं बन्धुता तेषां क्रमाद् भावसमूहयोः' इत्यमरः॥ शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३३ ॥

पौलस्त्यगतेन—रावणविषयकेण। अमर्षेण कोपेन। धूमायमानः—धूममुद्वमन्, कोपवशादुद्रिक्तभावः, विवेकपथात्संभावितच्युतिः। यथा कयाचिद्वाचा—किमपि वक्तव्यमवक्तव्यं वा। अभिदधातु कथयतु। सततम् अनवरतम्, समिध्यमानः—प्रज्वलन्, जानकीविरहः सीतावियोग एव वैश्वानरः अग्निर्यत्र तथाभूतेन। रामचेतसा रामस्य हृदयेन, लक्ष्मणो रावणे कोपेन यथा-तथा ब्रूतां नाम परमहन्तु

तुम्हारे वीर्यदाता पिता हमारे कुलगुरु हैं, मनु तुम्हारे वैमात्रेय भाई हुए, अतः तुम हमारे सहज मित्रोंमें हो। फिर भी यदि कपि-स्वभाव-चापल्यसे तुम ज्ञातिभावको शिथिल करोगे तो वालिके रुधिरसे रञ्जित हमारे शर इसके न्यायकर्त्ता होंगे ॥ ३३ ॥

राम—(हंसकर) वत्स गुह, रावणविषयक कोपसे प्रज्वलित हृदय यह लक्ष्मण

---

१. 'तरलः'। २. 'वयस्य'।

गुहः—(सहर्षम् ।) परमनुगृहीतोऽसौ देवेन विकर्तनतनयः । (सपरिहासस्मितं च ।)

सुग्रीवे यदि पक्षपातमधुरं देव त्वदीयं मनः
　　किं नस्तेन विदांकरोतु भगवानम्भोजिनीवल्लभः ।
नव्येनात्मजराज्यलाभरभसोद्भूतेन यस्तेजसा
　　पूर्वस्मादधिकेन दुःसहतरो लोकेषु वर्तिष्यते ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणः—(विहस्य ।) कथं तपनतनयस्य राज्यमङ्गीकारिता वयं वयस्येन ।

सीतावियोगाग्निं मनसि प्रज्वलन्तं साक्षिणं कृत्वा सुग्रीवं मित्रं स्वीकृतवानित्यर्थः । परमनुगृहीतः अत्यनुकम्पितः । विकर्त्तनतनयः सूर्यपुत्रः सुग्रीवः ।

सुग्रीव इति । हे देव, त्वदीयं मनो यदि सुग्रीवे पक्षपातमधुरम् स्नेहशालि, नः अस्माकम् तेन किम्—तत्र किमस्माभिः कर्त्तव्यम्, तत् तव सुग्रीवस्नेहम् भगवान् सर्वसमर्थः अम्भोजिनीवल्लभः कमलिनीकुलप्रियः सूर्यः विदाङ्करोतु जानातु । यः सूर्यः नव्येन अभिनवेन आत्मजस्य पुत्रस्य राज्यलाभरसेन राजपद-प्राप्तिजन्मनानन्देन उद्भूतेन सञ्जातेन पूर्वस्मात् अधिकेन पूर्वतः समधिकेन तेजसा दुःसहतरः अतितीव्रः लोकेषु वर्त्तिष्यते जास्यते । यदि त्वं सुग्रीवे स्निग्ध-मन्तःकरणं बिभर्षि, तत्रास्माकं किमपि नास्ति कर्त्तव्यमिदं तु पश्यतु स भास्करः यः पुत्रस्य राज्यलाभेन द्विगुणिततेजाः सन् सम्प्रति दीपिष्यते, इत्यर्थः, एतेन रामसुग्रीवसख्ये सूर्यस्य साक्षिभावस्तत्र च सुग्रीवराज्यलाभः फलमिति वस्तु व्यञ्जितं बोध्यम् ॥ ३४ ॥

तपनतनयस्य सूर्यपुत्रस्य सुग्रीवस्य । अङ्गीकारिताः प्रतिज्ञापिताः । सुग्रीवाङ्

चाहे जिन शब्दोंमें कहें, हमने तो अपने हृदयमें सतत ज्वलित सीता-विरहानलको साक्षी करके सुग्रीवको मित्र बना लिया ।

गुह—(सहर्ष) आपने सूर्यपुत्रके साथ बड़ी कृपा की । (परिहासकी हंसीके साथ)

यदि आपका हृदय सुग्रीवके ऊपर प्रेमसे भरा है तो इससे हमको क्या, जानें भगवान् सूर्य जो पुत्रके नवीनराज्य लाभसे समृद्ध तेजके द्वारा पहलेकी अपेक्षया अधिक उग्ररूपमें अब तपा करेंगे ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण—(हंसकर) हमारे इस मित्रने किस प्रकार सुग्रीवके राज्यलाभकी स्वीकृति हमसे ले ली ।

रामः—(सस्मितम् ।) वत्स गुह, न तावत्प्रकाशमेवं प्रतिशुश्रूषति मे हृदयम् ।

गुहः—(सप्रश्रयस्मितम् ।) स्वामिन् , इयमेव [1]महतां शैली ।

सन्तो मनसि[2]कृत्यैव प्रवृत्ताः कृत्यवस्तुनि ।
कस्य प्रतिश्रृणोति स्म कमलेभ्यः श्रियं रविः ॥ ३५ ॥

(नेपथ्ये ।)

भो भो वनौकसः, कथयन्तु भवन्तः । दुन्दुभिकङ्कविक्षेपसंभाव्यमानगम्भीरावष्टम्भनिर्भरेण केनास्माकमियं चिरस्य भुजकाण्डकण्डूतिरपनेष्यते ।

राज्यं दास्याम इति प्रतिज्ञां लम्भिताः ॥

प्रकाशम् प्रकटम् । प्रतिशुश्रूषति प्रतिज्ञां कर्तुमिच्छति:, मनसि सङ्कल्पितस्यार्थस्य प्रकटप्रतिज्ञां कर्त्तुं वैयर्थ्यान्नेच्छति ।

सन्त इति । सन्तः साधवो जनाः मनसिकृत्य हृदये सङ्कल्पं कृत्वा एव कृत्यवस्तुनि स्वकर्त्तव्ये प्रवृत्ताः तत्परा भवन्ति, रविः कमलेभ्यः श्रियं लक्ष्मीं कस्य जनस्य पुरः प्रतिश्रृणोति अङ्गीकरोतिस्म । यथा सूर्यो विनैव प्रतिज्ञां कमलकुलाय लक्ष्मीं वितरति, तथैव भवानपि सुग्रीवाय विनैव प्रकटप्रतिज्ञां राज्यलक्ष्मीं वितरीष्यतीति भावः । विशेषेणात्र सामान्यं समर्थितमित्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

दुन्दुभीति । दुन्दुभेः दानवेन्द्रस्य करङ्कविक्षेपेण अस्थिकूटविपर्यासद्वारा गम्भीरः महान् अवष्टम्भनिर्भरः स्वपराक्रमविश्वस्तः तेन । भुजकाण्डकण्डूतिः भुजस्थिता

राम—(हंसकर) वत्स गुह, हमारा हृदय प्रकट रूपमें इस तरहकी प्रतिज्ञा नहीं करना चाहता है ।

गुह—(नम्रताके साथ हंसकर) स्वामिन् , यही तो बड़ोंकी शैली होती है,

सज्जन, अपने कर्त्तव्यको मनमें रखकर ही काममें लगते हैं, सूर्यने कमलोंको शोभा प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा किसके सामने की थी ? ॥ ३५ ॥

(नेपथ्यमें)

हे वनवासियो, आप कहें कि दुन्दुभि-कङ्कालके विक्षेपसे संभाव्यमान गभीर पराक्रमशाली कौन वीर हमारी चिरकालिक भुजकण्डूको दूर करेगा ?

---

१. 'वो महतां' । २. 'कृत्वैव' ।

गुहः—(स्वगतम् ।)

मन्ये दर्पामयाविभ्यां नित्यं दोर्भ्याममर्षणः ।
[1]जाम्बवत्प्रेरणादीप्तः प्राप्तोऽयं प्लवगेश्वरः ॥ ३६ ॥

तदहमपि वीरयात्रादर्शनसुखं मुहूर्तमनुभवामि ।

(प्रविश्य ।)

वाली—([2]पुरोऽवलोक्य ।) अये, प्रसन्नोज्ज्वलाकृती कावेतौ । नियतमाभ्यामेकेन दानवनाथकङ्कालोत्क्षेपनिमित्तेन भवितव्यम् । (स्मृतिमभिनीय । सवितर्कम् ।) आः संदिष्टमस्मासु प्रियसुहृदा लङ्केश्वरेण । यथा—

'प्रक्लृप्तकान्तारकुमारभक्तिर्दौर्भागिनेयो जनकेन मुक्तः ।

रणलिप्सा । कोऽयं दनुकङ्कालं विपर्यस्तं कृत्वा स्वभुजसारं प्रकाश्य मम युद्धाभिलापं पूरयितुमिच्छतीत्याशयः ॥

मन्ये इति । दर्पामयाविभ्याम् अहङ्काररूपेण रोगेण ग्रस्ताभ्याम् दोर्भ्याम् निजबाहुभ्याम् नित्यम् सदा अमर्षणः धृतकोपः जाम्बवतो नाम मन्त्रिणः प्रेरणया अनुशासनेन दीप्तः प्रज्वलितश्च सन् अयम् प्लवगेश्वरो वाली प्राप्तः समागत इति मन्ये संभावयामि ॥ ३६ ॥

वीरयात्रादर्शनसुखम् वीराणां युद्धप्रयाणावलोकनजन्यमानन्दम् ।

प्रसन्नोज्ज्वलाकृती सौम्यतेजस्विनौ । नियतम् निश्चयेन । दानवनाथकङ्कालोत्क्षेपनिमित्तेन दन्वस्थिकूटविपर्यासकारिणा । अनयोरेवैकः कोऽपि तदस्थिकूटं विपर्यस्तं कृतवानिति निश्चितमिति भावः ।

प्रक्लृप्तेति । प्रक्लृप्ता मनसि धृता कान्तारे वने कुमारे सुग्रीवे च भक्तिः अनुरागो येन तादृशः वनवासप्रियः सुग्रीवानुरक्तश्चेत्यर्थः, दौर्भागिनेयः दुर्भगायाः पत्युर-

---

गुह—(स्वगत) मालूम पड़ता कि दर्प रोगके रोगी अपने भुजोंसे अमर्पग यह वानरराज जाम्बवान्‌से प्रेरित होकर यहाँ आ गया है ॥ ३६ ॥

वाली—(आगे देखकर) प्रसन्न उज्ज्वल आकारवाले यह दोनों कौन हैं ? निश्चय इन्हीं दोनोंमें से किसी एकने दनुकबन्धको उलटा होगा । (याद करके, वितर्कके साथ) आः, हमारे सुहृद् लङ्कापतिने संवाद दिया था, :—

'जङ्गल तथा सुग्रीवकी भक्ति करनेवाला, अभागी माताका बेटा, पिता द्वारा त्यक्त,

---

१. 'प्रेरणात्' ।   २. 'अवलोक्य च' ।

मनुष्यसामन्तसुतो निषङ्गी सहानुजस्तिष्ठति दण्डकायाम् ॥३७॥

तौ चास्माकं तत्र विहारिषु निशाचरेषु पाटच्चरीं वृत्तिमातिष्ठमानौ भवद्भिः प्रतिकर्तव्यौ' इति। [1]तत्किमयमयं च तौ स्याताम्।

रामः—वत्स लक्ष्मण, [2]शृणु। किमयं ब्रवीति। महावीरः।

लक्ष्मणः—(किंचिदुपसृत्य।) [3]इत आवाम्। इत इतो भवान्।

वाली—[4]भोः कावेतौ युवाम्।

लक्ष्मणः—महाभाग, राघवौ क्षत्रियावावाम्।

वाली—आयुष्मन्, आकारविशेषा एव [5]गमयन्ति जातिविशेषान्। तद्विशेषं ब्रूहि।

प्रियायाः कौसल्यायाः पुत्रः जनकेन पित्रा दशरथेन मुक्तः परित्यक्तः, मनुष्याणां सामन्तस्य राज्ञो दशरथस्य सुतः पुत्रः निषङ्गी धनुर्धरः सन् सहानुजः कनिष्ठभ्रात्रा सहितः दण्डकायां तदाख्ये कानने तिष्ठति। एतत्सन्देशवचनम् ॥ ३७ ॥

तत्र दण्डकायाम्। विहारिषु यथारुचि व्यवहरत्सु। पाटच्चरीम् दास्यवीम् वृत्तिम्। आतिष्ठमानौ कुर्वन्तौ। प्रतिकर्त्तव्यौ प्रतिविधेयौ, हन्तव्यौ।

दशरथसुतौ दण्डकावनवासिनो राक्षसानुत्पीडयिष्यतस्तौ त्वया मन्मित्रेण वालिना दमनीयावित्ययमर्थो रावणेन मयि वालिनि सन्दिष्टमासीदिति भावः॥

राघवौ-रघुवंशजातौ।

आकारविशेषाः-विशिष्टा आकाराः। गमयन्ति-बोधयन्ति, अतो भवदीयजातेराकारेणैव मया प्रतिपन्नतया न तदुक्तिर्युक्ता तव, विशेषं पृष्टस्तं ब्रूहि इत्याशयः।

धनुर्धर, नरराजका पुत्र अपने छोटे भाईके साथ दण्डका वनमें वास कर रहा है ॥ ३७ ॥

वे दोनों वहाँ रहनेवाले हमारे राक्षसोंके प्रति लुटेरेकी वृत्ति धारण करेंगे, अतः तुम उनका प्रतिकार करना'। तो क्या वे दोनों यही हैं॥

राम—वत्स लक्ष्मण, सुनो तो, यह वीर क्या बोल रहा है।

लक्ष्मण—(थोड़ा समीप जाकर) हम दोनों इधर हैं, आप इधर आइये।

वाली—अजी, तुम दोनों कौन हो?

लक्ष्मण—महाभाग, हम दोनों रघुवंशी क्षत्रिय हैं॥

वाली—आयुष्मन्, आकार विशेष ही जाति-विशेषका ज्ञान करा देते हैं, विशेष कहो,

---

१. 'अनयोः'। २. 'शृणु' इति क्वचिन्नास्ति।

३. 'इत इतः'। ४. 'भो भोः'। ५. 'अवगमयन्ति'।

लक्ष्मणः—ननूक्तमेव राघवावावाम् ।

वाली—(साभ्यसूयमिव ।) आः,

वपुरपि विवृणोति क्षत्त्रतां को विशेषो
रघुषु यदभिधत्से राघवावित्यभीक्ष्णम् ।
परिकलयितुमिष्टं नाम सांस्कारिकं वा-
महह कथमपत्यप्रत्ययान्निश्चिनोमि ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः—([1]सधैर्यसंरम्भम् ।) भोः, आवां तौ रामलक्ष्मणौ ।

वाली—(सविमर्शमात्मगतम् ।) कथं 'तौ' इति सर्वनामपदेन प्रसिद्धावित्याह । तत्किमनयोरे[2]वान्यतरः पिनाकधन्वनो दमयिता । सोऽपि रामभद्रो रामः स्यात् । भवतु । एवं तावत् । (प्रकाशं विहस्य ।)

वपुरपीति । वपुः अपि शरीरमेव क्षत्रताम् क्षत्रियजातिसमुन्नताम् विवृणोति प्रकाशयति, तदलं क्षत्रियत्वोक्त्येत्यर्थः । यत् अभीक्ष्णम् सततम् 'राघवौ' इति अभिधत्से कथयसि तत् पृच्छामि रघुषु को विशेषः कीदृशी विलक्षणताऽस्ति ? रघुषु वैलक्षण्यविरहेण तदभिधानमपि ममाग्रे न विशेषाधायकमित्यलं तदुक्त्यापीत्यर्थः । वाम् युवयोः सांस्कारिकं पित्रा नामकरणसंस्कारकाले गृहीतं नाम परिकलयितुं मया ज्ञातुमिष्टम् अभिलषितम्, अहहेति खेदे, अपत्यप्रत्ययात् रघोरपत्यं भवानित्युक्तिमात्रेण कथं निश्चिनोमि अवधारयामि । विशेषप्रतिपित्सायाः सामान्योत्तरशाम्यत्वाभावेन न शान्ता मम जिज्ञासेति भावः; मालिनीवृत्तम् ॥ ३८ ॥

तौ प्रसिद्धौ ।

पिनाकधन्वनः—पिनाकाख्यस्य हरधनुषो, दमयिता—भञ्जकः, अथवा पिनाकं

लक्ष्मण—कह तो दिया कि हम रघुवंशी हैं ।

वाली—(क्रोधसे) आः, देहही क्षत्रियत्व बता रही है, रघुओंमें क्या विशेषता है कि बार-बार अपनेको राघव कह रहे हो ? तुम्हारे संस्कार द्वारा दत्त नाम जानना चाहता हूँ, उसको अपत्य-प्रत्ययसे कैसे निश्चित कर सकता हूं ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण—(धैर्यपूर्वक) हम दोनों वेही राम-लक्ष्मण हैं ?

वाली—(सविचार स्वगत) क्यों, सर्वनामपदके द्वारा प्रसिद्ध व्यञ्जित कर रहा है, तो क्या इन दोनोंमें से ही एक पिनाक-धनुषका भञ्जनकर्त्ता है ? वही रामभद्र राम हैं क्या ? अस्तु, (प्रकट हंसता हुआ)

---

१. 'संभ्रमम्' । २. 'एव' इति क्वचिन्नास्ति ।

एको वेषपरिग्रहः परिकरः साधारणः कर्मणा-
माकृत्योर्मधुरत्वमेव सदृशं तुल्यैव गम्भीरता ।
तद् द्रष्टुं चिरमुत्सुकोऽस्मि कतरो वां रामभद्रः पुनः
सर्वक्षत्रवधव्रती भृगुपतिर्येनावकीर्णीकृतः ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणः—(सविनयमिव ।) आर्य [1]सांक्रन्दने, लक्ष्मणस्तावदहम् ।

वाली—[2]अयमप्यपरो दाशरथिः कौशिकान्तेवासी रामः ।

लक्ष्मणः—अथ किम् ।

वाली—(सहर्षोल्लासम् । किंचिदुच्चैः ।) भो रामभद्र,

एष त्रैवर्ण्यमात्रव्यवसितजगतो भार्गवस्यास्त्रगर्भा-

धनुर्यस्य तस्य शिवस्य दमयिता अवमन्ता तद्धनुर्भञ्जनमत्र तद्दमनम् ।

एक इति । वेषस्य जटावल्कलादेः परिग्रहः ग्रहणं धारणम् एकः तुल्यः, कर्मणां धनुर्धारणादीनाम् परिकरः सन्नाहः साधारणः अविभिन्नरूपः, आकृत्योः शरीरावयवसमुदाययोः मधुरत्वम् मनोहरत्वम् सदृशम् तुल्यमेव, गम्भीरता दुरवगाहप्रकृतिता तुल्या समाना एव, पुनः किन्तु येन रामेण सर्वक्षत्रवधव्रती सर्वक्षत्रियवधव्रतधरः भृगुपतिः परशुरामः अवकीर्णी भ्रष्टक्षत्रवधव्रतः कृतः सः रामभद्रः वां युवयोर्मध्ये कतरः कः ? तद् द्रष्टुं विविच्य ज्ञातुम् चिरम् बहुकालात् उत्सुकः उत्कण्ठितोऽस्मि सर्वथा समयोर्युवयोः परशुरामविजेता रामः कतर इति विशिष्य ज्ञातुमुत्सुकस्य ममौत्सुक्यं शमयेति भावः । 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः ॥ ३९ ॥

साङ्क्रन्दने सङ्क्रन्दनस्य इन्द्रस्य पुत्र ।

एष त्रैवर्ण्येति । त्रयाणां ब्राह्मणवैश्यशूद्राणां वर्णानां समाहारस्त्रैवर्ण्यं तत्र

तुम दोनोंके वेष, कार्य, आकृतिगत माधुर्य, गम्भीरता आदि सब एक-सा ही है, अतः मैं यह जाननेको आतुर हो रहा हूँ कि तुम दोनोंमें राम कौन है जिसने सर्वक्षत्रिय संहारव्रती परशुरामको क्षतव्रत बना दिया ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण—(नम्रताके साथ) आर्य इन्द्रपुत्र, मैं लक्ष्मण हूँ ।

वाली—तो यह रहा कौशिकका चेला राम ।

लक्ष्मण—और क्या ?

वाली—(हर्षोल्लासके साथ, कुछ उच्च स्वरसे) अजी रामभद्र,

मेरा आज सुप्रभात है कि संसारसे क्षत्रियजातिका लोप कर देने वाले भार्गवके अस्त्र

---

१. 'सांक्रन्दनेय' । २. 'अथायमपरः' ।

द्राक्प्रक्षत्त्रजातिस्त्वमसि पथि गिरामद्य नः सुप्रभातम् ।
कक्षोष्मस्वेदसद्यःशमितदशमुखास्फोटकण्डूविकारो
[1]वीरश्राद्धो भुजस्त्वां परिचरतु चिरं चक्षुषी नन्दतां च ॥४०॥

रामः—(दृष्ट्वा सहर्षम् ।) स एष महाबाहुः संक्रन्दनसूनुः ।

येन वीरेण गुप्तायां किष्किन्धायामियं मही ।
रावणाभिभवक्लान्ता [2]शश्वदुच्छ्वासमश्नुते ॥ ४१ ॥

व्यवसितं व्यवस्थापितं जगद् येन तादृशस्य क्षत्रियजातिसमापनेन भुवनं वर्णत्रयमात्राश्रयं कृतवतः, भार्गवस्य परशुरामस्य अस्त्रगर्भात् कुठाररूपास्त्रभागाभ्यन्तरभागात् आकृष्टा बहिर्निस्सारिता क्षत्रजातिः येन तादृशः भार्गवपरशुनिलीनक्षत्रजातिसमुद्धर्त्ता त्वं रामः गिरां वचसां पथि मार्गे वचसा संबोधयितुं योग्यः समीपस्थः असि, अद्य नः अस्माकं सुप्रभातम् सुष्ठु दिनं जातं यत्त्वं मिलित इत्यर्थः । कक्षस्य भुजमूलस्य ऊष्मस्वेदः ऊष्मप्रवृत्तं घर्मजलं तेन उपशमितः शान्ति गमितः दशमुखस्य रावणस्य आस्फोटकण्डूविकारः युद्धार्थकण्डूतिरूपा विक्रिया येन तादृशः रावणं स्वकक्षे निक्षिप्य प्रशमिततद्युद्धाभिलाषः वीरश्राद्धः वीरेषु श्रद्धाशाली भुजो मम बाहुः त्वां चिरं परिचरतु युद्धद्वारा सेवतां, चक्षुषी नयने नन्दतां प्रसन्नतां प्राप्नुतां च । यो भवान् भुवं निःक्षत्रियां कृतवतो भार्गवस्य कुठारधारानिमग्नां क्षत्रियजातिमुद्धृतवान् स मम पुरो जात इत्यद्य मम सुप्रभातम्, सम्प्रति रावणभुजगर्वसर्वङ्कषोऽयं वीरश्रद्धाशाली मम बाहुस्त्वां युद्धचर्यया सेवतां नयने च त्वां निरीक्ष्य प्रमोदमनुभवतामित्याशयः ॥ ४० ॥

येन वीरेणेति । रावणाभिभवेन रावणकृतानेकविधावमानक्रियया क्लान्ता खिन्ना इयं मही पृथ्वी येन वीरेण वालिना गुप्तायां पालितायां किष्किन्धायां शश्वत्

गर्भसे क्षत्रियजातिको बाहर निकालनेवाले तुमसे बातें करनेका अवसर मिला है, (मेरी इच्छा है कि) भुजमूलकी घर्मबिन्दुओंसे तत्काल दशमुखके कण्डू-विकारको शमित कर देनेवाला और वीरोंपर श्रद्धा रखनेवाला यह हमारा भुज तुम्हारी परिचर्या करे और आँखें आनन्दित हों ॥ ४० ॥

राम—(देखकर सहर्ष) यही हैं वह महाबाहु इन्द्रपुत्र वाली ।

जिस वीरके द्वारा पालित किष्किन्धामें रावणके उत्पातोंसे पीड़ित यह पृथ्वी निरन्तर आश्वस्तभावको पाती है ॥ ४१ ॥

---

१. 'वीरश्रद्धः' । २. 'किंचित्' ।

(इति परिक्रामति ।)

लक्ष्मणः—महाभाग, अयमार्यः । इत इतो भवान् ।

वाली—(उपसृत्य ।) रामभद्र,

सुरासुराणामसुभिर्दीव्यतां सभिको मुनिः ।
अद्य मे नारदस्तुष्टो येनासि भुजगोचरः ॥ ४२ ॥

रामः—महावीर, किमुच्यते । मूर्धाभिषिक्तोऽसि [1]समरशौण्डानाम् । तथा हि ।

देवः स त्वामसूत द्विषदुपमृदितस्वर्वधूवेणिबन्ध-
प्रेक्षाधारालवैरप्रसृमरसमरोड्डामरौजा बिडौजाः ।

सततम् उच्छ्वासम् सुखनिःश्वासम् अश्नुते प्राप्नोति । अन्यदेशावच्छेदेन रावणखेदितापीयं धरा किष्किन्धाऽवच्छेदेन रावणभयाभावात्सुखमुच्छ्वसितीति भावः॥४१॥

सुरासुराणामिति । असुभिः प्राणैर्दीव्यताम् क्रीडताम् सततं युद्धरतानामित्यर्थः सुरासुराणां देवानां दानवानाञ्च सभिकः युद्धरूपद्यूतक्रियाध्यक्षः मुनिः नारदः अद्य मे मम तुष्टः प्रसन्नो येन मे भुजगोचरः बाहुविषयः असि । सदा युद्धे प्राणैर्दीव्यतां देवासुराणां सभिको द्यूतकलाप्रवर्त्तकः देवानसुरांश्च योधयन् नारदोऽद्य मद्भुजगोचरं भवन्तं ज्ञात्वाऽऽवयोर्युद्धमवश्यभावि पश्यन्नानन्दमनुभविष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥

मूर्धाभिषिक्तः शिरोमणीभूतः प्रधानमित्यर्थः । संग्रामशौण्डानाम् रणप्रियवीराणाम् ।

देवः स त्वामिति । य इन्द्रः द्विषद्भिः शत्रुभिः राक्षसैः उपमृदितस्य कृष्टस्य स्वर्वधूवेणिबन्धस्य देवाङ्गनाकेशपाशस्य प्रेक्षया दर्शनेन धारालं प्रवृद्धं यद् वैरं

(चलता है)

लक्ष्मण—महाभाग, यही हैं आर्य राम, आप इधर आवें ।

वाली—(समीप जाकर) रामभद्र, देवों तथा दानवोंके प्राणोंसे खेलनेकी इच्छा रखनेकी इच्छा रखनेवाले नारद आज मुझपर प्रसन्न हुए हैं जिससे तुम हमारे भुजगोचर हुए हो ॥ ४२ ॥

राम—महावीर, क्या कहा जाय, समरशूरोंके लिए तुम अग्रगण्य हो ।

शत्रुओंद्वारा देवाङ्गनाओंके मृदित वेणीबन्धको देखकर बढ़नेवाले धारा प्रवाह वैरके कारण समरमें अद्वितीय ओज प्रकट करनेवाले उस इन्द्रने तुम्हें जन्म दिया है जो चुभाकर

---

१. 'शौण्डोऽसि' ।

यो विद्धोत्खातबाणव्रणनिवहनिभं निर्भरोद्भ्ङ्गुरभ्रू-
भीमः श्रीमद्भिरङ्गैरुदवहत रुषा रज्यदक्ष्णां सहस्रम् ॥४३॥

अपि च—

वन्दीकृत्य जगद्विजित्वरभुजस्तम्भौघदुःसंचरं
रक्षोराजमपि त्वया विदधता संध्यासमाधिव्रतम् ।
प्रत्यक्षीकृतकार्तवीर्यचरितामुन्मुच्य रेवां समं
सर्वाभिर्महिषीभिरम्बुनिधयो विश्वेऽपि विस्मापिताः ॥४४॥

तेन प्रसृमरं प्रसरणशीलं तथा समरे युद्धे उड्डामरम् उत्कटं च ओजः तेजो यस्य तथोक्तः अत एव रुषा कोपेन निर्भरम् अत्यर्थम् उद्भङ्गुरया कुटिलया भ्रुवा भीमः भीषणः सन् श्रीमद्भिः स्वाभाविकशोभाशालिभिः अङ्गैः शरीरावयवैः पूर्वं विद्धाः पश्चादुत्खाता ये बाणाः शराः शत्रुप्रयुक्तास्तेषां व्रणनिवहनिभं क्षतसमूहतुल्यं रज्यत् रक्तीभवत् अक्ष्णां सहस्रम् नयनसहस्रम् उदवहत दधार, सः विडौजाः इन्द्रस्त्वां जगद्विदितशौर्यशालिनमसूत जनयामास । अयमाशयः-राक्षसकृष्टस्वर्गरमणीकेशपाशालोकनवर्द्धमानवैरसमेधितयुद्धोत्कटौजोयुक्तः अत्यर्थकुटिलभ्रूभीषणमुखश्च य इन्द्रः स्वाङ्गवर्त्ति विद्धनिस्सारितबाणसमुदयव्रणोपमं कोपरक्तं निजं नयनसहस्रमवहत स इन्द्रस्तव जनक इति युज्यत एव तव समरशौण्डत्वमिति । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ४३ ॥

वन्दीकृत्येति । त्वया बालिना जगतां विजित्वरैः विजयिभिः भुजस्तम्भौघैः स्तम्भोपमैर्भुजनिवहैः दुःसञ्चरं निःस्पन्दीकृततया चलितुमशक्तं रक्षोराजं रावणमपि वन्दीकृत्य स्वकक्षकारायां निरुद्धं विधाय सन्ध्यासमाधिव्रतम् सन्ध्योपासनकालिकप्राणायामनियमं विदधता सम्पादयता सता प्रत्यक्षीकृतं दृष्टं कार्त्तवीर्यस्य सहस्रार्जुनस्य चरितं बाहुभिर्धारानिरोधरूपं यया तादृशीं रेवां नाम नदीमुन्मुच्य परित्यज्य सर्वाभिः महिषीभिः समं विश्वे सर्वेऽपि अम्बुनिधयः सागराः विस्मापिताः आश्चर्यें निमज्जिताः । बाली पुरा रावणं स्वकक्षे निधाय सप्तस्वपि सागरेषु

निकाले गये अस्त्रोंके घावके समान रक्त तथा सहस्र-संख्यक नयनोंको अपने सुन्दर सर्वाङ्गपर धारण करते हैं, तथा जो भ्रूभङ्गके कारण भीषण प्रतीत होते हैं ॥ ४३ ॥

विश्वविजयी रावणको भी अपने भुजस्तम्भोंमें वन्दी बनाकर तुमने सन्ध्यावदनकालिक समाधि धारण की, कार्त्तवीर्यके चरितको प्रत्यक्ष देखनेवाली रेवाको छोड़कर समुद्रकी सभी स्त्री-नदियाँ तथा सारा संसार तुझ द्वारा किये गये उस सन्ध्या-समाधिके दर्शनसे विस्मित हो उठे ॥ ४४ ॥

वाली—(विहस्य ।)

चिराय रात्रिंचरवीरचक्रमाराङ्कवैज्ञानिक पश्यतस्त्वाम् ।
सुधासधर्माणमिमां च वाचं न शृण्वतस्तृप्यति मानसं मे ॥ ४५ ॥

किं तु—

येनाच्छिद्य समस्तपार्थिवकुलप्राणान्तकं कार्मुकं
रामः संप्रति लम्भितो भृगुभुवामुत्सर्गसिद्धां स्रुचम् ।
द्रष्टुं वीर चिराय धाम भवतस्तद्भूर्भुवःस्वस्त्रयी-
[1]हृन्मर्मव्रणरोपणौषधमिमौ बाहू बहूत्ताम्यतः ॥ ४६ ॥

सन्ध्यामन्त्रतिष्ठत्तत्र संसारविजयगर्वितैरपि भुजै रावणो न सञ्चरितुमशकत् इति रावणो वन्दीभूत इव तत्कक्षेऽतिष्ठत्, तदित्थं रावणमपि वन्दीकृत्य वाली सर्वानपि सागरान्विस्मयसागरनिमग्नानकार्षीत्, न केवलं सागरा व्यस्मयन्त किन्तु सागरगृहस्थिताः सर्वा अपि नद्यो व्यस्मयन्त, केवलं रेवा न व्यस्मयत यतोऽसौ कार्त्तवीर्यस्यापि भुवनाद्भुतं चरितं पूर्वं दृष्टवती, सोऽपि भुवनाद्भुतमेव कृत्यं कृतवानतो न व्यस्मयत रेवा तत्रेति भावः ॥ ४४ ॥

चिरायेति । रात्रिञ्चरवीरचक्राणाम् राक्षसवीरसमूहानाम् मारो वध एव अङ्कः चिह्नं यस्य तादृशराक्षसवीरवधचिह्नशालिन् वैज्ञानिकयुद्धविद्याविशारद रामभद्र, त्वां चिराय चिरात् पश्यतः साक्षात्कुर्वतस्तथा तवेमां सुधासधर्माणममृतसमानां वाचं शृण्वतः निशामयतश्च मे मम वालिनः मानसं न तृप्यति न सन्तुष्यति ॥४५॥

येनाच्छिद्येति । येन तव धाम्ना समस्तपार्थिवकुलप्राणान्तकं समस्तक्षत्रियजाति-वधकरं कार्मुकं चापम् आच्छिद्य (परशुरामहस्ताद् दूरीकृत्य) त्याजयित्वा रामः परशुरामः भृगुभुवाम् भृगुवंशीयानाम् उत्सर्गसिद्धाम् स्वभावप्राप्तां स्रुचं यज्ञपात्रभेदं लम्भितः ग्राहितः । (यत् तव तेजः सकलक्षत्रसंहारकं चापं परशुरामकरादपनीय परशुरामं पुनरपि स्ववंशक्रमागतां स्रुचं ग्राहयामास), हे वीर, भूर्भुवःस्वस्त्रय्याः

वाली—(हंसकर) बहुत देर तक राक्षस-मण्डलीके वीर समुदायको मारनेकी कलामें निपुण तुमको देखकर तथा अमृतोपम तुम्हारी बातोंको सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है ॥ ४५ ॥

किन्तु—तुम्हारे जिस पराक्रमने सकलक्षत्रिय-संहारक परशुरामको धनुष छुड़ाकर भार्गववंशका स्वभावसिद्ध स्रुच ग्रहण करवा दिया, लोकत्रयके हार्दिक दुःखको मिटानेमें औषधके तुल्य तुम्हारे उसी पराक्रमको देखनेके लिये हमारे यह हाथ तड़फड़ा रहे हैं ॥४६॥

१. 'शोषणौषध—' ।

रामः—(सस्मितम् ।)

नन्वेतदधिमौर्वीकं युद्धसर्वस्वदक्षिणम् ।
[1]सज्जमस्त्येव मे रक्षोलक्ष्मीमूलहरं धनुः ॥ ४७ ॥

तन्महाभागोऽपि शस्त्रमादत्ताम् ।

वाली—(विहस्य ।) साधु भो महाक्षत्रिय, यथाधर्ममभिदधासि । किं[2] तु ।

नयो हि साङ्ग्रामिक एष दोष्मतां यदात्मजातिप्रतिबद्धमायुधम् ।
अयःकुशीभिः कपयो न शस्त्रिणस्तलं च मुष्टिश्च नखाश्च सन्ति नः ॥४८॥

लोकत्रय्याः हृन्मर्मव्रणरोपणौषधिं लोकत्रयवासिलोकहृदयव्यथानिवारकम् तत् प्रसिद्धं भवतो धाम तेजः द्रष्टुम् इमौ मम बाहू चिराय बहोः कालात् उत्ताम्यतः उत्सुकीभवतः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४६ ॥

नन्वेतदिति । एतत् अधिमौर्वीकम् आरोपितज्यम् युद्धसर्वस्वदक्षिणम् युद्धे सर्वस्वं दक्षिणा देयं यस्मै तादृशम् अथवा युद्धमेव सर्वस्वदक्षिणा यस्य तादृशम्, यथा प्रसन्नो नृपः कस्मैचित्सर्वस्वं दक्षिणारूपेण दत्ते, तथा धनुरिदं प्रसह्य युद्धं ददातीत्यर्थः । रक्षोलक्ष्मीमूलहरं रक्षसां श्रियां समूलविनाशकम् मम धनुः सज्जम् अस्त्येव, यथा तवाभिलाषस्तथाहमपि युद्धोद्यत एवास्मीति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

आदत्ताम् गृह्णातु । यथाधर्मम् धर्माविरुद्धम् । अभिदधासि कथयसि ।

नयो हीति । एष हि साङ्ग्रामिकः युद्धसंबन्धी नयः नीतिः नियमो वा यत् दोष्मतां बाहुबलशालिनाम् आत्मजातिप्रतिबद्धम् स्वजातिनियतम् यथाजातीयकम् आयुधं प्रहरणं भवेदिति । अतो मयाऽपि स्वजात्युपयुक्तं शस्त्रमेव धार्यमिति, कपयो वानराः अयःकुशीभिः लौहविकारैः युष्माभिर्बाणसंज्ञया व्यवह्रियमाणैरेभिर्लोहकाण्डैः शस्त्रिणो न भवन्ति, नः अस्माकं कपीनाम् तलम् करतलम् मुष्टिः नखाश्च शस्त्राणि सन्ति ॥ ४८ ॥

राम—(सस्मित) प्रत्यञ्चा चढ़ाये हुये तथा युद्धरूप सर्वस्वका दान देने वाला यह धनुष तैयार है, जिसने राक्षसोंकी लक्ष्मीकी जड़ काट दी है ॥ ४७ ॥

अतः आप भी शस्त्र ग्रहण करें ।

वाली—(हंसकर) महाक्षत्रिय, तुमने धर्मानुसार ठीक ही कहा । किन्तु—

युद्धका यही नियम है कि वीर अपनी जातिके लिए नियत अस्त्रग्रहण करते हैं, वानर लोहेकी अङ्कुशोसे अस्त्र वाले नहीं बनते, उनके अस्त्र हैं हस्ततल, नख तथा मुष्टि ॥ ४८ ॥

---

१. 'सज्यम्' । २. 'किं पुनः' ।

लक्ष्मणः—आर्य, साधूक्तं महाभागेन । नित्योपनतस्वाङ्गशस्त्रैव तैरश्ची जातिः ।

रामः—(विहस्य । धनुरास्फालयन् ।) अहह ।

स्वर्विघ्नप्रसरेण रावणिरसौ यद्दुर्यशोभागिनं
चक्रे गौतमशापयन्त्रित[1]भुजस्थामानमाखण्डलम् ।
[2]कक्षागर्तकुलीरतां गमयता वीर त्वया रावणं
तत्संमृष्टमहो विशल्यकरणी जागर्ति सत्पुत्रता ॥ ४९ ॥

सोऽपि त्वमस्माकमधुना दैवेन [3]शरव्यीकृतोऽसि ।

नित्योपनतस्वाङ्गशस्त्रा सततसन्निहितस्वशरीरावयवप्रहरणा । तैरश्ची जातिः पशुजातिः ।

स्वर्विघ्नप्रसरेणेति । असौ रावणिः रावणपुत्रो मेघनादः स्वर्विघ्नप्रसरेण स्वर्गोपद्रवसंपादनद्वारा गौतमशापेन यन्त्रितं कुण्ठीकृतं भुजयोः स्थाम स्थैर्यं बलं वा यस्य तथाभूतम् आखण्डलम् इन्द्रम् यत् दुर्यशोभागिनम् अपकीर्त्तिपात्रं चक्रे, हे वीर, त्वया वालिना रावणं कक्षा भुजमूलमेव गर्त्तः खातं तत्र कुलीरताम् बहुभुजशालितया कर्कटसादृश्यं गमयता प्रापयता त्वया तत् अयशः शक्रस्य संमृष्टम् अपसार्य दूरीकृतम्, अहो सत्पुत्रता सुपुत्रप्राप्तिः विशल्यकरणी सकलखेदहरी जागर्त्ति भवतीति शेषः । 'इन्द्रजिता तव पिता शक्रो जितः' इति त्वया तस्य पिता रावणः कक्षे स्थापयित्वा पराभूत इति पित्रपमन्तुर्वैरनिर्यातनात्सुपुत्रत्वं त्वया प्रकटीकृतमित्याशयः । पुराऽहल्यागामिनमिन्द्रं गौतमः 'तव बाहुबलं संग्रामे नश्यतु' इति शप्तवानिति पुराणविदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

सोऽपि एतादृशो वीरः शक्रपुत्रोऽपि । दैवेन भाग्यवशेन । शरव्यीकृतः लक्ष्यतां गतः । भाग्यदोषादेवैतादृशमपि त्वां हन्तुमहं बाधितो भूत्वा प्रवृत्त इत्यर्थः ।

लक्ष्मण—आर्य, आपने ठीक कहा, सदा सन्निहित स्वाङ्ग ही तिर्यग् जातिके अस्त्र रहते हैं ।

राम—(हंसते हुए धनुष चढ़ाकर) स्वर्गको सविघ्न करके मेघनादने गौतम-शापसे अस्तबल-भुज इन्द्रको जो अयशोभागी बना दिया था, उसका बदला तुमने रावणको अपने कांखरूप गढ़ेका केकड़ा बनाकर सधा लिया, सत्पुत्र होनेपर सभी मनोदुःख दूर हो जाते हैं, यह बात ठीक ही है ॥ ४९ ॥

भाग्यवश आज हमें उस बालीको भी बाणका लक्ष्य बनाना पड़ रहा है ।

---

१. 'निजस्थामानम्' । २. 'कक्षागर्भ-' । ३. 'शरव्यम्' ।

वाली—(सरोषम् ।) आः काकुत्स्थ,

अस्मद्दोर्मूलकूलंकषविषमभुजग्रन्थिभङ्गप्रसङ्ग-
क्रोशल्लङ्केशदत्तत्रिभुवनविजयख्यातिसर्वस्वदायः ।
यः कश्चिद्विक्रमोऽयं स खलु करचुलिक्षत्त्रसाधारणत्वा-
दन्तर्मन्दायमानो विजितभृगुपतिं त्वामजित्वा दुनोति ॥५०॥

तदेहि । विमर्दक्षमां भुवमवतरावः ।

अस्मद्दोर्मूलेति । अस्माकं दोर्मूलं भुजमूलं कक्षदेशस्तदेव कूलं तत्कषति अभिभवतीति तथोक्तो यो विषमभुजग्रन्थिरतिभीषणभुजसमुदयरूपो यो ग्रन्थिः तस्य भङ्गप्रसङ्गेन कक्षया सर्वत आच्छादनेन क्रोशता चीत्कुर्वता लङ्केशेन रावणेन दत्तः त्रिभुवनविजयख्यातिः एव सर्वस्वदायः सर्वसम्पत्तिरूपदेयं यस्मै तथाविधः यः कश्चित् अयं विक्रमः पराक्रमः (योऽयं मम पराक्रमः दोर्मूले न्यस्तस्य रावणस्य पिष्यमाणेषु सर्वेषु भुजभारेषु चीत्कुर्वता रावणेन समर्पितभुवनत्रयविजयख्यातिसर्वस्वः, रावणो यदा मया भुजमूले धृतस्तदा पिष्यमाणेषु तद्धस्तेषु स चीत्कारमारब्धवान्, तथाभूतश्चासौ मह्यं निजां त्रिभुवनविजयख्यातिं समर्पितवान् एतादृशस्यापि मम पराक्रम इत्यर्थः) करचुलिक्षत्रसाधारणत्वात् कार्तवीर्यपूर्वजक्षत्रियसाधारणत्वात् कार्त्तवीर्येणापि रावणो जितो मयापि स जित इति समत्वात् विशेषाभावादन्तर्मन्दायमानः मनसि लज्जमानः विजितभृगुपतिं पराजितपरशुरामं त्वाम् अजित्वा अविजित्य दुनोति मां परितापयति । रावणविजये कृतेऽपि मम पराक्रमो न तुष्यति तज्जयस्य कार्त्तवीर्येणापि कृतत्वात्, अतो यावत्परशुरामविजयिनं भवन्तं न जयति तावदुत्कृष्टताभावान्न मम सन्तोष इत्यर्थः, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५० ॥

विमर्दक्षमाम् समां युद्धोपयुक्ताम् ।

फलितम् सिद्धम् ।

वाली—(सरोष) आः काकुत्स्थ, हमारे भुजमूलमें वर्त्तमान रावणने अपने बाहुओंके टूटनेके डरसे चिल्लाकर जिसे त्रिभुवनविजयी होनेकी प्रतिष्ठा प्रदानकी, वह हमारा विक्रम करचुलिक्षत्रिय-कार्त्तवीर्य-साधारण होनेसे भीतरसे मन्द पड़ गया, जब तक परशुरामके जेता तुमको मैंने नहीं जीत लिया है, तब तक मुझे वह अपना पराक्रम सन्ताप ही देता है ॥ ५० ॥

अतः चलो, युद्धोपयुक्त भूमिमें चलें ।

गुहः—(स्वगतम् ।) दिष्ट्या [1]फलितमस्माकं मनोरथेन ।

लक्ष्मणः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) इदमन्यतो वानरद्वयमार्यस्य पार्ष्णिग्राहमिव [2]संभ्रमादनुप्लवते । तदहमपि धनुरारोपयामि ।

गुहः—(दृष्ट्वा । सहर्षम् ।) कुमार कुमार, अलमावेगेन । नन्वयं सुग्रीवो [3]रामभद्रगुणानुरागेण वालिमत्सरेण च द्विगुणितोत्साहः समरसीमानमापतति ।

लक्ष्मणः—दिष्ट्या स एष वैकर्तनिः । अथापरः कः ।

गुहः—अयमपि किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीरो भगवतः प्रभञ्जनस्य पारस्त्रैणेयः पुत्रो हनूमान् ।

लक्ष्मणः—(सहर्षम् ।) कथमयमसावाञ्जनेयः । अयं हि

पार्ष्णिग्राहम् शत्रुभावेन पृष्ठानुधावि । संभ्रमात् वेगात् । अनुप्लवते अनुसरति ।

आवेगेन भयेन । समरसीमानम् युद्धक्षेत्रम् ।

वैकर्त्तनिः सूर्यपुत्रः सुग्रीवः ।

किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीरः किष्किन्धेश्वरस्य वालिनः स्कन्धावारः सैन्यं तत्र एकवीरः अद्वितीयपराक्रमी । प्रभञ्जनस्य वायोः । पारस्त्रैणेयः परकीयस्त्रियां जातः । केसरिणः स्त्रियामञ्जनायां वायोरुत्पन्न इत्यर्थः ।

आञ्जनेयः अञ्जनापुत्रो हनुमान् ।

गुह—(स्वगत) भाग्यवश आज हमारा मनोरथ सफल हुआ ।

लक्ष्मण—(नेपथ्यकी ओर देखकर) यह दो वानर रामको बगलसे घेरनेके लिए तेजीसे आ रहा है अतः मै भी धनुप चढ़ाता हूँ ।

गुह—(देखकर) कुमार, कुमार, शीघ्रता मत करें, यह सुग्रीव रामके गुणों तथा वालीके द्वेषसे दुगुने उत्साहके साथ युद्धक्षेत्रकी ओर बढ़ रहे हैं ।

लक्ष्मण—भाग्यवश यही हैं वह सूर्यपुत्र, और दूसरा वह कौन है ?

गुह—यह है किष्किन्धेश्वरकी सेनामें प्रधान योद्धा, वायुदेवका परस्त्री-जातपुत्र हनूमान् ।

लक्ष्मण—(सहर्ष) क्यों, यही हैं अञ्जनाके पुत्र । यह ब्रह्माके शापसे अपने पराक्रम-

---

१. 'अस्मन्मनोरथेन' । २. 'अनुवर्तते' । ३. 'रामदेवगुणानुरोधेन' ।

ब्रह्मशापपरिक्लिष्टस्ववीर्यज्ञानयन्त्रितः ।
अन्यैरपि भुवं वीरैः कीर्यमाणामुपेक्षते ॥ ५१ ॥

नियतमनेन सख्या हृदयशल्यमस्माकमुद्धरिष्यते । इदं तु वर्तमान-[1]मेकतुलायुद्धमार्यस्य । [2]जयलक्ष्मीपरिग्रहयौतुके यशसि वयमयं [3]वा सुग्रीवो वा न केचिदंशाधिकारिणः ।

गुहः—(ससंभ्रमम् ।) कुमार, पश्य पश्य ।

सप्त तालानयं भित्त्वा वालिप्रहरणीकृतान् ।
हत्वा च वालिनं बाणो रामतूणीरमागतः[4] ॥ ५२ ॥

ब्रह्मशापेति । ब्रह्मणः शापेन परिक्लिष्टं व्याहतं यत् स्ववीर्यज्ञानं तेन यन्त्रितः अवरुद्धः सन् अन्यैरपि वीरैः कीर्यमाणाम् व्याप्ताम् भुवम् उपेक्षते दृष्ट्वापि नालोकते । 'पुरा हनुमतो वीर्यातिशयं दृष्ट्वा समुद्विग्नो ब्रह्माऽनेन वीर्येणासौ मम सृष्टिं संहरेदिति शङ्कमानस्तं 'स्वतस्ते पराक्रमज्ञानं न भवेदि'ति शप्तवान्' इति कथात्र बोध्या । तेन शापेन हनूमान् विना परोद्बोधनं न पराक्रमं प्रकाशयतीति भावः ॥ ५१ ॥

सख्या मित्रेण । हृदयशल्यम् मनोदुःखम् । उद्धरिष्यते दूरीकरिष्यते । एकतुलायुद्धम् द्वयोरेव धर्मयुद्धम्, अत्र कस्यापि साहाय्यं नापेक्ष्यत इति । जयलक्ष्मीपरिग्रहयौतुके-विजयलक्ष्मीवरणलभ्ये, यौतुके श्वशुरादिभिः प्रीतैर्दत्ते धने, अंशाधिकारिणः भागभाजः, जयलभ्ये यशसि, न कस्यापि भागः 'विद्याप्राप्तं शौर्यधनं यच्च सौदायिकं भवेत् । मैत्रमौद्वाहिकञ्चैव दायादानां न तद् भवेत्' इत्युक्तेः ।

सप्ततालानिति । अयम् रामप्रहितः बाणः वालिप्रहरणीकृतान् वालिना रामं प्रहर्तुमादीयमानान् सप्ततालान् तालवृक्षान् भित्त्वा विदार्य वालिनं च हत्वा मारयित्वा रामतूणीरम् निषङ्गम् आगतः परावृत्तः ॥ ५२ ॥

का ज्ञान नहीं होनेके कारण पृथ्वीको और वीरोंसे भी व्याप्त समझा करते है ॥ ५१ ॥

निश्चय इस मित्रके द्वारा हमारे हृदयका काँटा निकाला जा सकेगा । आर्यका द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया । जयलक्ष्मी-परिग्रहमें यौतुकके रूपमें मिलनेवाले यशमें हमारा तथा सुग्रीवका अंशाधिकार नहीं होगा ।

गुह—(घबड़ाकर) कुमार, देखिये देखिये ।

वालि द्वारा प्रहरण बनाये गये सात ताल वृक्षोंको छेदकर तथा वालीको मार करके रामका यह बाण पुनः रामके तूणीरमें आ गया ॥ ५२ ॥

---

१. 'द्यूत-' । २. 'पाणिपरिग्रह' । ३. 'वा' इति क्वचिन्नास्ति । ४. 'आगमत्' ।

अहह—

प्राणैः समं कनकपुष्करकण्ठमाला-
सूत्रेण दाशरथये विहितातिथेयः ।
दिक्कूलमुद्वहयशःसरिदादिशैलः
शेते स वीरशयने कपिचक्रवर्ती ॥ ५३ ॥

लक्ष्मणः—(सखेदम् ।) हा देव संक्रन्दन, क पुनरीदृशं महावीरप्रकाण्डमात्मजं सहस्रेणापि [1]लोचनैरालोकयिष्यसि ।

(नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनिर्मङ्गलगीतिश्च ।)

गुहः—(सहर्षम् ।) कथमयमार्यजाम्बवदभिमन्त्रितैः [2]शातकुम्भकलशैर्नीलः कुमारसुग्रीवमभिषिञ्चति । स्वयं चास्य देवो दाशरथिः कार्तस्वरपुण्डरीकमालया [3]कण्ठमलंकरोति ।

प्राणैः सममिति । सः कपिचक्रवर्त्ती वानरराजो वाली प्राणैः समं निजजीवितैः सह कनकपुष्करकण्ठमालासूत्रेण काञ्चनकमलरचितकण्ठमाल्येन दाशरथये [रामाय विहितातिथेयः कृतातिथिसत्कारः दिक्कूलम् दिशारूपस्तटः तदुद्वहा तत्प्रवाहिणी या यशःसरित् तस्या आदिशैलः उद्गमपर्वतः वीरशयने रणभूमौ शेते । अयं वाली यो निजैः प्राणैः सहैव रामाय स्वकण्ठस्थसुवर्णमाल्यमपि दत्त्वा तस्यातिथ्यं कृतवान् , यश्च दिगन्तविस्तारियशोरूपनद्या आदिशैल इव प्रभवभूमिः, सम्प्रत्यत्र रणभूमौ निहतः शेते इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

महावीरप्रकाण्डम् वीरश्रेष्ठम् । आत्मजं पुत्रं वालिनम् ।

शातकुम्भकलशैः सुवर्णघटैः । कार्त्तस्वरपुण्डरीकमालया स्वर्णकमलस्रजा,

---

अहह !! रामके आतिथ्यमें वालिने स्वर्णकमलकी मालाके साथ ही अपने प्राण भी उपहृत कर दिये, दिगन्त विस्तृत यशरूप नदीका मूलपर्वत वही वालि इस समय वीर-शयन रणभूमिमें सो रहा है ॥ ५३ ॥

लक्ष्मण—हा देव, इन्द्र, फिर कहाँ आप ऐसे वीरश्रेष्ठ पुत्रको सहस्रनेत्रोंसे देखेंगे ।

(नेपथ्यमें दुन्दुभि बजती है मङ्गल-गान होता है)

गुह—(सहर्ष) क्यों, यह नील जाम्बवान् द्वारा अभिमन्त्रित स्वर्णकलशोंसे कुमार

---

१. 'अवलोकयिष्यसि' । २. 'शातकुम्भकुम्भसलिलैः' । ३. 'कण्ठकाण्डम्' ।

लक्ष्मणः—[1]प्रियतरं नः।

(नेपथ्ये ।)

भो भो [2]वानराच्छभल्लगोलाङ्गूलयूथपतयः, सर्वानेष वो महाराजः सुग्रीवः समाज्ञापयति—'[3]सज्जयन्तु भवन्तः सर्वाणि यौवराज्योपकरणानि । अयमहं सीतादेव्याः प्रवृत्तिमन्वेष्टुं प्रहित्य [4]हनूमन्तमूर्ध्वमौहूर्तिके लग्ने कुमारमङ्गदमभिषेक्ष्यामि इति ।

लक्ष्मणः—

उत्सवः सोऽयमस्माकं सर्वथा हृदयंगमः ।
किं तु वाली विलीनोऽयं व्यथयिष्यति वासवम् ॥ ५४ ॥

सज्जयन्तु प्रस्तुतीकुर्वन्तु । यौवराज्योपकरणानि यौवराज्याभिषेकसाधनवस्तूनि, प्रवृत्तिमन्वेष्टुम्-वृत्तान्तं ज्ञातुम् । औध्र्वमौहूर्त्तिके मुहूर्त्तादूर्ध्वं जायमाने किञ्चित्कालानन्तरभाविनि, लग्ने शुभसमये ।

उत्सव इति । अयम् सः अङ्गदयौवराज्याभिषेकनिबन्धनः उत्सवः हर्षावसरः अस्माकं सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हृदयङ्गमः मनोरमः, किन्तु विलीनः मृतः अयं वाली वासवं स्वपितरमिन्द्रम् व्यथयिष्यति पीडयिष्यति । इन्द्रस्य पुत्रवधजन्मा खेदः स्यात्परं वयन्तु अङ्गदयौवराज्यदर्शनेन प्रमोदाय इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

सुग्रीवका अभिषेक कर रहे हैं । स्वयं राम सुग्रीवके गलेको स्वर्णकमलकी मालासे अलंकृत कर रहे हैं ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये और खुशीकी बात है ।

(नेपथ्यमें)

हे वानर, अच्छमल्लूक, गोलाङ्गूल, सेनापतियों, आप सभीको महाराज सुग्रीव आदेश दे रहे हैं कि आप सारे यौवराज्योपकरण प्रस्तुत करें । मैं सीताकी खोज करनेके लिए हनूमान्को भेजकर अगले मुहूर्त्त वाले शुभ समयमें कुमार अङ्गदको युवराजपदपर अभिषिक्त करूंगा ।

लक्ष्मण—यह उत्सव हम लोगोंको अतिप्रिय है, किन्तु यह मरा हुआ वाली इन्द्रको व्यथित बना देगा ॥ ५४ ॥

---

१. 'प्रियात्प्रियतरम्'; 'प्रियम्' ।
२. 'गोलाङ्गूलप्रभृतयो यूथपतयः' ।
३. 'सज्जयन्तु सज्जयन्तु' ।
४. 'औध्र्वमौहूर्तिके काले' ।

(अन्तरिक्षे पुष्पवृष्ट्यनन्तरम् ।) जय जय जगत्पते रामभद्र,

लक्ष्म्या वालिनिवर्हणप्रशमितद्वैराज्यवैराग्यया
किष्किन्धायतनैकदैवतमयं तारापतिर्दीप्यते ।
नप्तारं युवराजमङ्गदमपि श्रुत्वातिहर्षादभू-
दस्राम्भःपृषतौघमौक्तिकमयो गुम्फः सहस्रेक्षणः ॥ ५५ ॥

लक्ष्मणः—प्रियात्प्रियतरं नः । वयस्य गुह, तदेहि । आवामपि महोत्सवसंविभागिनौ भवावः । (इति निष्क्रान्तौ ।)

इति सुग्रीवाभिषेको नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

लक्ष्म्येति । वालिनः निवर्हणेन विनाशेन प्रशमितं शान्तिं नीतं द्वैराज्येन वालिसुग्रीवरूपराजद्वयेन वैराग्यम् विरागो यस्यास्तथाभूतया लक्ष्म्या राजश्रिया किष्किन्धायतनैकदैवतम् किष्किन्धारूपस्थानस्याप्रतिद्वन्द्वी प्रभुः अयं तारापतिः सुग्रीवः दीप्यते समधिकं प्रकाशते । सहस्रेक्षणः इन्द्रः अपि नप्तारं स्वपौत्रम् अङ्गदम् अपि युवराजं यौवराज्याभिषिक्तं श्रुत्वा निशम्य अतिहर्षात् आनन्दातिशयात् अस्राम्भसाम् अश्रुजलानाम् पृषतौघः विन्दुनिवहः स एव मौक्तिकानि तन्मयः गुम्फः ग्रथनम् आनन्दाश्रुमुक्ताखचितशरीरः अभूत् । वालिनिहते राजद्वयाकर्षणप्रशमनेन स्वस्थीभूता लक्ष्मीः किष्किन्धाप्रभुस्तारापतिः सुग्रीवोऽधिकं प्रकाशते, युवराजमङ्गदं श्रुत्वा हर्षाश्रुपूर्णसकलनेत्रतया अश्रुविन्दूनां मुक्तारूपतया च मौक्तिकगुम्फ इवाभाति भगवान् शक्र इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे'
पञ्चमाङ्क 'प्रकाशः'

(आकाशमें पुष्पवृष्टिके बाद)

जय हो जगत्पति रामभद्रकी ।

वालीके मारे जानेसे जिस लक्ष्मीका द्वैराज्य समाप्त हो गया, ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त करके किष्किन्धाका एक छत्र सम्राट् यह तारापति सुग्रीव अधिक प्रकाशित हो रहा है, और इन्द्र भी अपने पौत्र अंगदके यौवराज्याभिषेककी वार्ता सुनकर अतिहर्षसे आनन्दाश्रु-रूप मौक्तिक माल्य समान बन गये हैं ॥ ५५ ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये प्रियसे भी प्रियतर है, मित्र गुह, चलो, हम भी उस उत्सवके समभागी बनें। (दोनों जाते हैं)

पञ्चम अङ्क समाप्त ॥

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति माल्यवान् ।)

माल्यवान्—(सर्वतोऽवलोक्य सखेदम् ।) अहह कष्टम् ।

दग्धाः प्रदीप्तपावकपरिचयपिण्डस्थहेमवेश्मानः ।
क्षणमुत्पुच्छयमाने हनुमति लङ्कापुरोद्देशाः ॥ १ ॥

अपि च—

निजकिरणौघप्रमुषितनिम्नोन्नतरूपकर्मभेदेषु ।
मणिभवनेषु कृशानुज्वालाः फलतोऽनुमीयन्ते ॥ २ ॥

दग्धा इति । हनुमति तन्नामके रामदूते वानरे क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् उत्पुच्छयमाने स्वपुच्छं चालयति सति लङ्कापुरोद्देशाः लङ्कानगर्याः सर्वेऽपि प्रदेशाः प्रदीप्तस्य प्रज्वलितस्य पावकस्य वह्नेः परिचयेन सम्बन्धेन पिण्डीभावमुपगतानि हेमवेश्मानि काञ्चनगृहाणि यत्र तथाभूताः सन्तो दग्धाः भस्मीभूताः । हनुमतीषदेव स्वपुच्छं चालयति सति समस्तापि लङ्कापुरी तत्पुच्छनिर्गतपावकसम्बन्धाददह्यत, स्वर्णभवनान्यस्याः पिण्डाकारमलभन्तेति महतः खेदस्य विषय इत्याशयः । आर्यावृत्तम् ॥ १ ॥

निजकिरणौघेति । निजकिरणौघेन स्वकान्तिसमुदयेन प्रमुषिताः सर्वथा लुप्ताः निम्नोन्नतरूपाः उच्चावचाः कर्मभेदाः शिल्पविशेषाः येषां तादृशेषु मणिप्रभाभरान्तर्हितशिल्पकार्यसमुदयेषु मणिभवनेषु लङ्कानगरस्थमणिमयगृहेषु कृशानुज्वालाः वह्निदीधितयः फलतः दाहभस्मादिकार्यवशात् अनुमीयन्ते, न तु स्वरूपतस्तदवगमः, मणिकिरणानां वह्निसमप्रभत्वात् । मणिभवनेषु लग्नो वह्निः प्रभासाम्येन पृथक् प्रतीतिविषयो न भवति, किन्तु सन्तापभस्मविशरणादिफलैः प्रतीतिविषयः क्रियते इति भावः ॥ पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ २ ॥

(अनन्तर माल्यवान्का प्रवेश)

माल्यवान्—(चारो ओर देखकर सखेद) अहा, खेद है,

प्रज्वलित वह्निके सम्पर्कसे हेम-प्रासाद पिण्डाकार होकर जल रहे हैं, लङ्काको पूंछकी आगसे हनुमान्ने क्षणभरमें जला दिया ॥ १ ॥

और निजकिरण-समुदायसे निम्नोन्नतरूप कर्मभेदोंके छिप जानेसे मणिमय भवनोंमें लगी हुई आगकी ज्वाला फलसे ही अनुमित होती है ॥ २ ॥

(विमृश्य ।) अहो दुर्निवारता भवितव्यतायाः ।

दोःसंदोहवशंवदत्रिभुवनश्रीगर्वसर्वंकषः
कैलासोद्धरणप्रचण्डचरितो वीरः कुवेरानुजः ।
यत्रायं स्वयमस्ति सेयममरावत्यापि वन्द्या पुरी
नीता मर्कटकेन कामपि दशां धिग्दैवमावश्यकम् ॥ ३ ॥

[1]न किंचिदेतद्वा रावणदुर्नयेन । (सखेदमाकाशे ।) आः पौलस्त्य,

भवितव्यतायाः—भाविवस्तुनः दैवस्य वा, दुर्निवारता अप्रतिबध्यता, भाविवस्तु निश्चितं भवत्येवेति भावः। यद्यपि भवितव्यमिति तव्यप्रत्ययस्य भावविहिततया ततस्तल् न प्राप्नोति, समानार्थकप्रत्ययद्वयनिषेधात्तथापि भवितव्यमित्यत्र कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति नियमेन धर्मिपरत्वमास्थाय तल्प्रत्ययः कृतो बोध्यः, अत एव भवभूतिरपि प्रायुङ्क्त—'प्रायः शुभं च विदधात्यशुभञ्च जन्तोः सर्वङ्कषा भगवती भवितव्यतैव' ॥

दोःसन्दोहेति । दोःसन्दोहेन भुजसमुदायेन वशंवदायाः वशीभूतायाः त्रिभुवनश्रियः *लोकत्रितयसमृद्धेः गर्वस्य सर्वङ्कषः स्ववशीकारविधया गर्वापहारी*, कैलासोद्धरणप्रचण्डचरितः कैलासाचलचालनप्रकटीकृतभीषणकृत्यः अयम् वीरः कुवेरानुजो यत्र लङ्कायाम् स्वयमस्ति आत्मना वासं करोति, अमरावत्या इन्द्रनगर्या अपि वन्द्या स्वापेक्षया गौरवशालितया प्रशंसनीया पुरी लङ्कानगरी मर्कटकेन एकेन लघुना वानरेण कामपि वर्णयितुमशक्यां दशां परिस्थितिं नीता, आवश्यकं निश्चयेन भावि अवश्यम्भावि दैवम् भाग्यम् धिक्। यत्र रावणो वसति सा लङ्कापि एकेन लघुना वानरेणेमां दशां गमितेति भाग्यायत्तं सर्वम् इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

न किञ्चिदेतद्वा रावणदुर्नयेन रावणकृतदुराचारस्य पुरतो नेदं किञ्चित्, इतोऽपि भीषणामापदं रावणस्य दुराचारः फलिष्यतीति भावः ।

(विचार करके) अहो, भवितव्यता बड़ी दुर्निवार होती है ।

बाहु समुदायसे वशीकृत त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे गर्वित, कैलासको उठाकर प्रचण्ड चरित प्रकट करनेवाला यह वीर कुवेरानुज रावण, जहां पर स्वयं वर्त्तमान है, ऐसी तथा अमरावतीसे भी वन्दनीय यह लङ्कापुरी एक मर्कटके द्वारा इस दशाको पहुँचा दी गई, अवश्यं भावी दैवको धिक्कार है ॥ ३ ॥

रावणकी दुर्नीतिके आगे यह कुछ नहीं है । (सखेद आकाशमें) आः पौलस्त्य,

---

१. 'न किंचिदेतद्रावणस्य दुर्नयेन'; 'न किंचिदेव तावद्रवणस्य दुर्नयेन' ।

विद्याश्चतुर्दश चतुर्षु निजाननेषु
संबाधदुःस्थितवतीरवलोक्य वेधाः ।
[1]ताभ्योऽपराणि नियतं दश ते मुखानि
स्वस्य प्रणप्तुरकरोत्स कथं जडोऽसि ॥ ४ ॥

(क्षणं च ध्यात्वा [2]सव्यथम् ।) [3]कथमेवं विशीर्यतीव नः कुलमिदम् ।

खरादीनवधीद्रामो वत्समक्षं च मारुतिः ।
स्वयं निष्कामयामास दशास्यश्च विभीषणम् ॥ ५ ॥

विद्या इति । वेधाः ब्रह्मा चतुर्षु चतुःसंख्यकेषु निजाननेषु स्वमुखेषु चतुर्दश विद्याः संबाधदुःस्थितवतीः सङ्कीर्णदेशावस्थानकष्टमनुभवन्तीः अवलोक्य दृष्ट्वा ताभ्यः विद्याभ्यः ता विद्याः सुखं वासयितुम् नियतं निश्चयेन प्रणप्तुः स्वपौत्रस्य ते रावणस्य दश मुखानि अकरोत् स त्वं कथं जडः स्वहितचिन्तनविषये मूर्खः असि । ब्रह्मा स्वस्य चतुर्षु मुखेषु चतुर्दशविद्यानां वासे तासां विद्यानां सङ्कीर्णदेशावस्थान-कष्टं दृष्ट्वा तासां पृथक् पृथक् सुखवासाय स्वप्रणप्तू रावणस्य तव दशमुखानि कृतवान्, एतादृशस्यापि तव दुर्विनीतजन्माऽयं पराभवः कथं जायत इति शोच्य-तेति भावः, उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्म-शास्त्रं पुराणं च विद्या एताश्चतुर्दश' इति विद्याः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

विशीर्यतीव नश्यतीव ।

खरादीन् इति । रामः खरादीन् राक्षसान् मारुतिः हनूमांश्च वत्सम् अक्षं नाम रावणस्य पुत्रम् अवधीत् हतवान्, दशास्यः रावणश्च स्वयम् आत्मना विभीषणम् निष्कामयामास नगर्याः बहिः प्रेषितवान् । तदित्थं नः कुलं क्षीयत इति भावः ॥५॥

चौदह विद्याओंको अपने चारमात्रमुखोंमें क्लेशपूर्वक वास करते देखकर ब्रह्माने और अपने पौत्र रावणके दशमुख बना दिये जिससे सभी विद्यायें अलग-अलग मुखोंमें अबाध भावसे रह सकें, वही रावण इस समय क्यों जड़ हो रहा है ॥ ४ ॥

(थोड़ी देर सोचकर, सखेद) हमारा यह कुल क्यों इस तरह छिन्न-भिन्न होता जा रहा है ? ।

खरादिको रामने और वत्स अक्षको हनूमान्‌ने मार दिया, स्वयं रावणने भी विभीषण को निकाल दिया ॥ ५ ॥

१. 'आभ्यः' । २. 'सव्यथम्' इति क्वचिन्नास्ति ।
३. 'सकलमेव शीर्यतीव नः कुलम्' ।

अलं वा [1]दुर्विहितमतीतमुपालभ्य। [2]सम्प्रति सिन्धोरुदीचि तीरे निवेशितस्कन्धावारो दाशरथिः [3]किमारम्भ इति कथं प्रतीमः। (पुरो दृष्ट्वा।) कथं राघवचरितानि चरितुं प्रहितयोः शुकसारणयोः सारणः।

(प्रविश्य।)

सारणः—जयतु जयतु कनिष्ठमातामहः।

माल्यवान्—(अभिनन्द्य समीपमुपवेश्य च।) वत्स सारण, कच्चिदमुनैव पदेन सुग्रीवकटकादागतोऽसि।

सारणः—अथ किम्।

माल्यवान्—तद्यथानुभवमभिधीयतां तावत्।

सारणः—सारसंख्ये वनौकसामस्मन्मुखेनैव शततः प्रतीते माता-

दुर्विहितम् अनौचित्येनाचरितम्। अतीतम् भूतम्। उपालभ्य दूषयित्वा। उदीचि तीरे उत्तरतटे। निवेशितस्कन्धावारः स्थापितकटकः। किमारम्भः किंकर्मा कुत्र कार्ये लग्नः। चरितुम् चरभावेन ज्ञातुम्। प्रहितयोः प्रेषितयोः।

अमुनैव पदेन सम्प्रत्येव।

यथानुभवम् यथाज्ञातम्।

सारसंख्ये बलं गणना च। वनौकसाम् वानराणाम्। शततः अनेकधा।

बुरी तरह उपनत होनेवाले अतीतकी शिकायत करना व्यर्थ है, इस समय समुद्रके उत्तर तटपर सेनाका पड़ाव किये राम क्या कर रहा है यह कैसे जाना जाय? (आगे देखकर) क्यों रामकी स्थिति जाननेके लिये भेजे गये शुक और सारणमेंसे सारण है।

(प्रवेश करके)

सारण—जय हो, छोटे मातामहकी जय हो।

माल्यवान्—(अभिनन्दन करके समीपमें बैठाकर) वत्स सारण, अभी-अभी सुग्रीव कटकसे आ रहे हो क्या?

सारण—और क्या?

माल्यवान्—तब अपना अनुभव कहो।

सारण—वानरोंके बल तथा संख्याके विषयमें आपने मेरे मुखसे सैकड़ों बार सुना है,

---

१. 'दुर्दैवम्'। २. 'सम्प्रति' इति क्वचिन्नास्ति। ३. 'किमारभते'।

सहेनालमुक्त्वा । अधुना तु सेतुग्रथनाय मिलितेषु वानरसैनिकेषु [1]वानरमूर्तिधरोऽप्यहं महाराजविभीषणेन—(इत्यर्धोक्ते ससयम् ।) आर्य, चिरसंवासेन रामराजधानीप्रवादो मामनुबध्नाति ।

माल्यवान्—(साकूतम् ।) किमभिषिक्तः कनिष्ठवत्सो राघवेण ।

सारणः—अथ किम् ।

माल्यवान्—(क्षणमिव [2]स्तब्धं स्थित्वा निःश्वस्य ।) वत्स, निःशङ्कमभिधेहि ।

सारणः—कुमारविभीषणेन ज्ञात्वा संयम्य चाहं रामस्य दर्शितः ।

माल्यवान्—(साशङ्कम् ।) ततस्ततः ।

सारणः—ततश्च राघवेण निजसचिवनिर्विशेषमुपगृह्य[3] पुरस्कृत्य च प्रहितोऽस्मि ।

प्रतीते भवता ज्ञाते । सेतुग्रथनाय समुद्रे सेतुबन्धाय चिरसंवासेन बहुकालनिवासेन । यतोऽहं वानररूपमासाद्य चिरं रामकटके न्यवसं तेन तत्र यथा विभीषण-विशेषणतया महाराजपदमुच्चारयामि स्म, तथैवात्रापि तदभ्यासवशादुच्चारितवानिति भावः । रामराजधानीप्रवादः रामकटके कृतोऽभ्यासः । अनुबध्नाति अनुवर्त्तते । अभिषिक्तः अभिषेकं प्रापितः ।

ज्ञात्वा मां परिचित्य । संयम्य बद्ध्वा ।

निजसचिवनिर्विशेषम् स्वमन्त्रिसमानभावेन । उपगृह्य स्वसमीपे उपवेश्य । पुरस्कृत्य सत्कारं कृत्वा । प्रहितः रावणनगरं प्रेषितः ।

अतः उसे दुहराना व्यर्थ है। इस समय सेतु बांधनेके लिए एकत्रित वानरोंके साथ वानरमूर्त्ति धारण करके मैं कार्य करने लगा कि महाराज विभीषणने—(इतना कहकर समय) आर्य, राम-राजधानीमें चिरकाल तक रहनेसे मैंने ऐसा कह दिया है।

माल्यवान्—(साभिप्राय) क्या विभीषणको रामने अभिषिक्त भी कर दिया ?

सारण—और क्या ?

माल्यवान्—(थोड़ी देर स्तब्ध रहकर, निःश्वास छोड़कर) निडर होकर कहो बेटा,

सारण—कुमार विभीषणने मुझे पहचान लिया और बांधकर रामके पास पहुँचाया।

माल्यवान्—(आशङ्काके साथ) इसके बाद ?

सारण—इसके बाद रामने अपने मन्त्रीकी तरह बैठाया, आदर किया और भेज दिया।

---

१. 'मायावानरमूर्तिधरोऽपि महाराज-' । २. 'स्तब्धवत्' । ३. 'उपसंगृह्य' ।

माल्यवान्—(सहर्षम् ।) किमुच्यते. यावद्द्रव्यभावी [1]गुणो हि विजिगीषूणामुदात्तता । विशेषेण [2]पुनरयं रामभद्रः । [3]यतः ।

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो
विपक्षादम्भोजादुपगतवतो वा मधुलिहः ।
अपर्याप्तः कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय-
प्रबन्धः साधूनामयमनभिसंधानमधुरः ॥ ६ ॥

अथ शुकः किमासीत् ।

सारणः—अहमपि न जानामि ।

यावद्द्रव्यभावी सर्वेषु द्रव्येषु स्थितः व्यापी, विजिगीषूणाम् विजयं कामयमानानाम् । ये विजयेच्छवस्ते सर्वेऽप्युदात्ता भवन्त्येवेति रामस्योदात्तता स्वाभाविकीति भावः । 'न विकारं विकारस्य हेतौ यदवगाहते, तदुदात्तं गुणः' इति दण्डी । पुनरयं रामभद्रः अयं रामः पुनर्विशेषेणोदात्त इति त्वदुक्तं सत्यमेव स्यादिति भावः ।

अभेदेनेति । कुमुदम् उदरे स्वाभ्यन्तरभागे स्थितवतः वर्त्तमानान् विपक्षात् कुमुदशत्रोः अम्भोजात् पद्मात् वा उपगतवतः समायातान् मधुलिहो भ्रमरान् अभेदेन समभावेन उपास्ते परिचरति । अयम् एतादृशः साधूनाम् अनभिसन्धानमधुरः उपकारानुपकारपर्यालोचनशून्यतया हृद्यः कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचयप्रबन्धः आत्मपरोपासनाप्रकारः अपर्याप्तः असीम इति । कुमुदं यत्स्वोदरवर्त्तिनः स्वशत्रुपद्मसकाशादागतान्वा भ्रमरान्समभावेनाराधयति, तत् साधुजनानाम् उपकारादिविचाररहित्येन हृद्यः स्वपरोपासनाप्रकारो निस्सीमः स्थितो बोध्यः ॥६॥

माल्यवान्—(हर्ष के साथ) विजिगीषु जनमें उदारता सदा रहा करती है, खास करके रामके विषयमें क्या कहना है, क्योंकि:—

कुमुद अपने उदरमें बैठे हुए तथा शत्रुभूत कमलके पाससे आये हुए भ्रमरोंको एक भावसे सत्कृत करता है । साधुजन विना किसी कपटके निज-परकी पहचान विना किये ही आदर करते हैं, यह बात साधुजनोंमें पूरी मात्रामें रहती है ॥ ६ ॥

और शुक क्या हुआ ?

सारण—यह मैं भी नहीं जानता हूँ ।

---

१. 'हि गुणो' । २. 'असौ' । ३. 'किं च' ।

माल्यवान्—(विमृश्य ।) वत्सविभीषणस्य रामोपश्लेषेण सकुल्यं व्यसनमिति प्रमुग्धोऽस्मि ।

सारणः—आर्य, तथा [1]धर्मवृत्तिरार्यसन्तानश्च कुमारः कथं ज्यायांसं भ्रातरमवधूय [2]प्रतिपक्षवर्ती संवृत्तः ।

माल्यवान्—वत्स, दशग्रीवं पृच्छ । (निःश्वस्य ।) [3]अथवा दैवम् ।

सारणः—आर्य, यदि श्रवणार्होऽस्मि तदा निवेदय ।

माल्यवान्—वत्स, केसरिकलत्रसम्भवेन प्रभञ्जनसूनुना विलुण्ठितामशोकवनिकामवलोक्य [4]राजा तवायं विभीषणमवोचत् । यथा—'वत्स, पश्य मनुष्यपोतद्वयावष्टम्भेन[5] दुरात्मना कपिकीटेन कथं विजृम्भितम्' इति ।

सकुल्यं व्यसनम् स्वकुलोत्पन्नजनोत्पन्नं दुःखम् । प्रमुग्धः किङ्कर्त्तव्यविमूढः, धर्मवृत्तिः धर्मनिष्ठः । आर्यसन्तानः भद्रवंशोद्भवः । कुमारः विभीषणः । ज्यायांसम् ज्येष्ठम् । अवधूय तिरस्कृत्य, विहाय । प्रतिपक्षवर्त्ती शत्रुसङ्गतः ।

दशग्रीवं पृच्छ केन हेतुना विभीषणो रावणं विहाय राममाश्रित इति रावण एव वक्तुमर्हति तस्यैव तत्र कारणत्वादित्यर्थः । अथवा दैवम् भाग्यवशादेव रावणो विभीषणस्य वाक्यमपलतवानिति भाग्यमेवात्र प्रष्टव्यं न रावण इति भावः । श्रवणार्हः श्रोतुमधिकारी विश्वासपात्रं च । निवेदय कथय ।

केसरिकलत्रसंभवेन केसरिणो वानरभेदस्य । कलत्रे स्त्रियामञ्जनाभिधायाम , संभव उत्पत्तिर्यस्य तेन प्रभञ्जनसूनुना वायुसुतेन हनुमता । विलुण्ठिताम् विना-

---

माल्यवान्—(विचार कर) वत्स विभीषणका रामसे मिल जाना स्वकुलोत्पन्न व्यसन है, मैं इससे किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूँ ।

सारण—उस तरहके धर्मात्मा तथा आर्य आचारवाले विभीषण अपने बड़े भाईको छोड़कर शत्रुसे जा मिले ।

माल्यवान्—वत्स, यह बात रावणसे पूछो (सांस छोड़कर) अथवा भाग्यसे,

सारण—यदि मैं सुनने के योग्य होऊँ, तो बता दीजिये ।

माल्यवान्—केसरीकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न वायुके पुत्र हनूमान्के द्वारा उजाड़ दी गई अशोकवाटिकाको देखकर तुम्हारे राजा रावणने विभीषणसे कहा कि वत्स विभीषण, देखो, दो मनुष्य बालकोंके आश्रयमें रहनेवाले इस कपि-कीटका कर्त्तव्य तो देखो ।

---

१. 'धर्मप्रवृत्तिः' । २. 'प्रतिपक्षवृत्तिः सम्पन्नः', 'विपक्षवर्ती सम्प्रति संवृत्तः' ।
३. 'यदि वा' । ४. 'राजा ते दशास्यो'; 'राजा वतायम्' । ५. 'अवष्टम्भेन' ।

सारणः—ततस्ततः ।

माल्यवान्—ततो विभीषणः प्रणम्य व्यजिज्ञपत्—'देव,

जातिं मानय मानुषीमभिमुखो दृष्टस्त्वया हैहयः
स्मृत्वा वालिभुजौ न सांप्रतमवज्ञातुं च ते [1]वानराः ।
तत्पौलस्त्यमहाग्निहोत्रिणमहं त्वामेतदभ्यर्थये
सीतामर्पय मुञ्च च क्रतुभुजः काराकुटुम्बीकृतान् ॥ ७ ॥

सारणः—(सबहुमानाश्चर्यम् ।) अहह, 'वालिभुजौ' इति ब्रुवता मातामहेन किमपि[2] स्मारितोऽस्मि । आर्य,

---

शितान् । तवायं राजा रावणः । मनुष्यपोतद्वयावष्टम्भेन मनुजबालकद्वयबलेन कपिकीटेन वानराधमेन । विजृम्भितम् आचरितम् ।

व्यजिज्ञपत् रावणं विज्ञापितवान् ।

जातिमिति । मानुषी जातिम् मनुष्यान् मानय आदरेण पश्य, त्वया अभिमुखः संग्रामे सम्मुखीभूतः हैहयः कार्त्तवीर्यः दृष्टः स्वयमेव साक्षात्कृतः, (मनुष्यजातिरेव कार्त्तवीर्यस्त्वां संग्रामे दुरवस्थमकरोदतस्त्वया मनुष्यजातौ हीनताबुद्धिर्न कार्या) वालिभुजौ त्वत्पराभवितुर्वालिनो वानरभेदस्य भुजौ स्मृत्वा ध्याने कृत्वा सम्प्रति ते वानरा अवज्ञातुं न तिरस्कर्त्तुं न योग्या इत्यर्थः । तत् तस्मात् मनुष्यवानरयोरादरणीयत्वात् हे पौलस्त्य, अहं तव भ्राता महाग्निहोत्रिणम् अग्निहोत्रपरायणं त्वाम् अभ्यर्थये प्रार्थये-सीताम् अर्पय रामाय प्रत्यर्पय, काराकुटुम्बीकृतान् कारागारनिवेशितान् क्रतुभुजो देवांश्च मुञ्च मुक्तबन्धनान् कुरु, आभ्यामेव कर्मभ्यां कृताभ्यां तव सर्वथा सौस्थ्यं नान्यथेति भावः ॥ ७ ॥

सारण—इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद विभीषणने हाथ जोड़कर कहा—

मनुष्य जातिका आदर कीजिये क्योंकि आपने स्वयं हैहयको देखा है, बालिके बाहुओंको याद करके अब वानरोंका अपमान करना ठीक नहीं होगा । अतः पौलस्त्यके पुत्र तथा महान् अग्निहोत्री आपसे मेरी प्रार्थना है कि सीता रामको लौटादें और बन्दी किये गये देवोंको मुक्त कर दें ॥ ७ ॥

सारण—अहा ! 'वालिभुजौ' कहकर आपने कुछ याद करा दिया है, आर्य,

---

१. 'वानरान्' । २. 'किमपि' इति क्वचिन्नास्ति ।

किमाचक्षे सेतुक्षितिधरशिरःश्रेणिकषणैः
प्रकोष्ठे नीरोम्णः कपिभटभुजस्तम्भनिवहान् ।
सुमेरोर्मात्सर्यादनतिचिरसंरूढमृदुभिः
शिरोभिर्विन्ध्यो यद्भरमपि न सोढुं परिवृढः ॥ ८ ॥

(साशङ्कम् ।) ततस्ततः ।

माल्यवान्—ततश्च रोषान्धतामिस्रे[1] मज्जता राक्षसराजेन तथा चेष्टितं यथा विपक्षमप्याश्रितः ।

किमाचक्ष इति । सेतवे समुद्रे सेतुं रचयितुम् क्षितिधराणां पर्वतानां शिरःश्रेणयः श्रृङ्गसमूहास्तासां कषणैः सवेगमानयनैः प्रकोष्ठे कूर्परादधोभागे नीरोम्णः रोमरहितान् पर्वतश्रृङ्गसङ्घर्षणेन च्युतकेशान् कपिभटभुजस्तम्भनिवहान् वानरगणहस्तसमूहान् किम् आचक्षे कथयामि सुमेरोर्मात्सर्यात् स्पर्धावशात् अनतिचिरम् नूतनम् संरूढैः सञ्जातैः अत एव मृदुभिः सुकुमारैः शिरोभिः श्रृङ्गैः विन्ध्योऽपि यद्भरम् येषां कपिभटभुजस्तम्भनिवहानां भरम् अपि सोढुं न परिवृढः क्षमः । अयमाशयः—समुद्रे सेतुनिर्माणार्थं पर्वतश्रृङ्गाहरणेन प्रकोष्ठदेशे घृष्टरोम्णः कपिभटभुजस्तम्भनिवहानां विषये किं कथयामि, तेषां भारमपि केवलं विन्ध्योऽपि सुमेरुस्पर्धया समुद्भावितैर्नूतनैः शिरोभिः सोढुं न क्षमते किमुत तद्बलं सहेत, इत्याशयः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ८ ॥

रोषान्धतामिस्रे कोपरूपे गाढान्धकारे, नरके च, कोपस्य नरकत्वमपि दुःखमूलतया । विपक्षमप्याश्रितः विभीषणः शत्रुणा सन्धाय तमाश्रितः, कुपितरावणदुर्व्यवहारवशादेव राममाश्रित इत्यर्थः ।

सेतुके लिये लाये गये पर्वतोंके सघर्षसे कब्जेपर रोमरहित वानरभुज-स्तम्भोंके विषयमें क्या कहूं, सुमेरुकी डाहसे तत्काल बढ़नेवाले अपने नवीन मस्तकशिखरोंसे विन्ध्याचल जिनके भारको भी सहन नहीं कर सका ॥ ८ ॥

(साशङ्क) इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद रोषरूप अन्धकारमें डूबते हुए राक्षसराजने ऐसा किया कि विभीषण शत्रुसे भी जा मिला ॥

---

१. 'तमसि' ।

सारणः—(सखेदमाकाशे ।) हा देव पुलस्त्यनन्दन, कथं भवतैव वैधर्म्यदृष्टान्तेन [1]मानतो मूलोच्छेदनिमित्तान्निवर्तिष्यते लोकः । (साभ्यर्थनं च।)

अरिषड्वर्ग एवास्यास्तात पदानि षट् ।
तेषामेकमपि च्छिन्दन्खञ्जय [2]भ्रमरीं श्रियम् ॥ ९ ॥

(मन्त्रिणं प्रति ।) आर्य, यत्सत्यं राघवेण व्यूढां वानरवरूथिनीमुत्प्रेक्ष्य शङ्के—विभीषण [3]एव यन्नस्माकं कुलतन्तुरवशिष्येत ।

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) वत्स, द्वयोरपि कटकयोस्तत्त्वज्ञोऽसि । तत्किमिदानीमुचितम् ।

वैधर्म्यदृष्टान्तेन विपक्षे दृष्टान्तभूतेन, यो मानं रक्षति स विपद्यते यथा रावण इति दृष्टान्तेन लोको मूलोच्छेदे समूलविनाशे निमित्तात् कारणतां गतात् मानतोऽभिमानात् निवर्त्तिष्यते, यद्वा विगतो धर्मो विधर्मः स एव वैधर्म्यं तेन दृष्टोऽन्तो यस्य तादृशेन भवतेति प्रतिपाद्योऽर्थः ।

अरिषड्वर्ग इति । हे तात अरिषड्वर्गः कामक्रोधलोभमोहमदमानरूपः षड्वर्गः एव अस्याः लक्ष्म्याः षट् पदानि प्रयाणसाधनानि सन्ति, तेषां पदानाम् एकमपि पदम् छिन्दन् परित्यज्य खण्डयन् भ्रमरीं चञ्चलस्वभावां श्रियम् खञ्जय चलनेऽक्षमां स्थिरां कुरु। अभिमाने त्यक्ते तव लक्ष्मीः स्थिरा भवेदिति तथा कुर्वित्यर्थः । भ्रमर्या अपि षट् पादा लक्ष्म्या अपि कामादयः षट् सञ्चरणसाधनानीति लक्ष्मीर्भ्रमरीत्वेन रूप्यते ॥ ९ ॥

व्यूढाम् व्यूहं निर्माय स्थापिताम् । वरुथिनीम् सेनाम् । उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । शङ्के सम्भावयामि । कुलतन्तुः वंशसूत्रम् । तन्तुरिव तन्तुर्वंशधरः सन्तानशेष इत्यर्थः ।

सारण—(सखेद आकाशमें) हा देव पुलस्त्यपुत्र, क्या आपको ही विपक्ष दृष्टान्त बनाकर समूलोच्छेदमूल अभिमानसे लोग निवृत्त होंगे ।

काम-क्रोधादि अरिषड्वर्ग ही इस भ्रमरीकी तरह चञ्चला लक्ष्मीके छः चरण हैं, उनमें से किसी एकको भी काटकर आप लक्ष्मीको खञ्ज बनादें ॥ ९ ॥

(मन्त्रिवरके प्रति) आर्य ! रामने वानरसेनाका जो व्यूह रचा है उसे देखकर मैं समझता हूँ कि विभीषणही हमारे कुलके प्रवर्त्तक रूपमें बच सकेंगे ।

माल्यवान्—(निःश्वास छोड़कर) वत्स, तुम दोनों सैन्योंके तत्त्वज्ञ हो, बताओ अब क्या करना उचित है ? ।

---

१. 'अनुमानतः' । २. 'भ्रामरीम्' । ३. 'एवास्य' ।

सारणः—आर्य, नन्वेवं ब्रवीमि—राजपुत्रोऽङ्गदोऽसौ [1]बालो नव-[2]बुद्धिरामपात्रमिव यद्यदाधीयते तत्तदाचुचूषति।

माल्यवान्—ततः किम्।

सारणः—ततश्च भवतः पितृवैरिणौ रामसुग्रीवौ व्यापाद्य किष्किन्धायां भवन्तमभिषिच्य वालिसौहृदस्यात्मानमनृणमिच्छामि[3] इति [4]गूढप्रणिधिमुखेन दशकन्धरादेशमभिधाय सुग्रीवशिबिरादपवाह्यते। तस्मिन्नपक्रान्ते तु[5] स्वगृहमहिभयोपजापजर्जरमवेक्षमाणो वानरपतिः शिथिलितरामप्रयोजनः स्यात्।

कटकयोः रामरावणसेनासन्निवेशयोः। तत्त्वज्ञः यथार्थस्थितिवेत्ता। आमपात्रम् अपक्वं शरावादिभाण्डम्। आधीयते स्थाप्यते। आचुचूषति पिबति, आशु गृह्णाति, यथा आमपात्रे यज्जलादि दीयते तत्पात्रं तदाशु गृह्णाति तथैव बाले राजपुत्रेऽङ्गदे यदुपदेक्ष्यते भेदबुद्धिजनकं तत्सर्वमसौ स्वीकरिष्यति, तदङ्गद एव भेदनीतिं प्रयुज्यापरञ्जनीय इत्याशयः। आचुचूषतीति शुद्धं रूपं वा ग्राह्यम्। भवतः अङ्गदस्य। पितृवैरिणौ वालिशत्रू। व्यापाद्य हत्वा। अनृणमिच्छामि वालिना सह मम या मैत्री आसीत्तत्प्रत्युपकारं कृत्वा मुक्तो भवितुं कामये। गूढप्रणिधिमुखेन गुप्तचरद्वारा। अपवाह्यते अन्यत्र नीयते। तस्मिन् अङ्गदे। अपक्रान्ते भिन्नेऽन्यत्र गतेऽपरक्ते सति। अहिभयोपजापजर्जरम् स्वपक्षप्रभवभयेन उपजापेन भेदेन च जर्जरम् आकुलम्। 'महीभुजामहिभयं स्वपक्षप्रभवं भयम्', 'समौ भेदोपजापौ च' इत्युभयत्रामरः। शिथिलितरामप्रयोजनः। परित्यक्तरामकार्यः।

सारण—आर्य, मैं यह कहता हूँ कि राजकुमार अङ्गद अभी नवबुद्धिवाला है, उसे जो समझाया जायगा वही समझेगा, जैसे कच्चे पात्रमें जो चीज रखी जाती है उसेही वह चूसता है।

माल्यवान्—आप वालिपुत्रके पास गुप्तचर भेजकर यह कहवाइये कि रावणने कहा है—'तुम्हारे पितृवैरी राम-लक्ष्मणको समाप्त करके किष्किन्धाकी गद्दीपर तुमको बैठाकर मैं वालिके सौहृदका ऋण चुकाना चाहता हूँ' ऐसा कहवाकर अङ्गदको सुग्रीवशिबिरसे खिसका दिया जाय, उसके चले जानेपर अपने घरकी फूटसे जर्जर होकर सुग्रीव रामके प्रयोजनके प्रति शिथिल हो जायगा।

सारण—उसके बाद।

---

१. 'बालोऽसौ'। २. 'आममिव पात्रम्'।
३. 'अनृणमात्मानम्'; 'आनृण्यमात्मनः'। ४. 'निरूढ'। ५. 'च'।

माल्यवान्—(सस्मितम् ।) वत्स, साधु समर्थयसे । किं[1] पुनः स्वयमङ्गदो गर्भरूपोऽभिनवोज्ज्वलयौवराज्यसुखोपलालितो दुरपवाह एव । ये चास्य मातापितृबान्धवास्ते [2]सुग्रीवस्यापि सम्बन्धिनः कथमेनमुत्तिष्ठमानमनुजानीयुः ।

सारणः—यथा दृष्टमार्येण । किं च कालापेक्षी दण्डनीतिप्रयोगः । [3]तथा कथमपि महोत्साहैः कपिभिः सेतुकर्मणि प्रवृत्तं यथैतावता कालेन[4] सन्तीर्णमहार्णवो रामः [5]सुवेलशैलोपत्यकामध्यास्ते ।

समर्थयसे चिन्तयसि वदसि वा । किं पुनः किन्तु । गर्भरूपः बालकः प्रियश्च, अभिनवेन नवीनेन उज्ज्वलेन रमणीयेन यौवराज्येन उपलालितः प्रसन्नतां प्रापितः । दुरपवाहः अपवाहयितुमशक्यः सुग्रीवादपरञ्जयितुमशक्य इत्यर्थः । अङ्गदो नवीनं यौवराज्यं प्रापित इत्यसौ न भेदं प्राप्नुयान्न वा तस्मिन् भिन्नेऽपि तस्य संबन्धिनस्तमनुगच्छेयुः सुग्रीवस्यापि तैः सह सम्बन्धस्य समत्वात्तथा चाङ्गदस्य भेदाय प्रयासो न सफलः स्यादिति भावः ।

यथादृष्टमार्येण भवच्चिन्तितमेव सम्यक् । दण्डनीतिप्रयोगः षाड्गुण्यादिप्रयोगः । कालापेक्षी समयसाध्यः, नैतावता कालेन क्रियमाणो भेदप्रयोगः साफल्यं प्राप्नुयादित्यर्थः । सेतुकर्मणि समुद्रे सेतुबन्धनरूपे कार्ये तथा प्रवृत्तम् तावतोत्साहेन प्रवृत्तिः कृता, एतावता इयता वानरास्तावता वेगेन समुद्रे सेतुं बन्धुमध्यवसायभृतो यदेतावता कालेन समुद्रो बद्धः स्यात् , रामश्च समुद्रमुत्तीर्य सुवेलशैलोपत्यकामागतः स्यादिति भावः ॥

माल्यवान्—(हंसकर) कहते तो हो ठीक, परन्तु अङ्गद बच्चा है, और राज्यके सारे सुखोंसे लालित है, उसका बहकना कठिन है । इसके अतिरिक्त उसके जो मातृ-पितृ-बान्धव हैं वे सुग्रीव के बान्धव हैं, अतः यदि अङ्गद कुछ करना भी चाहे तो वे कैसे करने दे सकते हैं ।

सारण—आपका कहना ठीक है । यह भी तो एक बात है कि राजनीतिके प्रयोगमें समय लगता है । इधर वानरोंने सेतुका कार्य इस लगनसे प्रारम्भ किया था कि इतने समय तक राम समुद्र पारके सुवेल शैलके तटमें आगये होंगे ।

---

१. 'किं तु स्वयम्'; 'किं पुनरङ्गदः' । २. 'अपि सुग्रीवस्यैव' ।
३. 'यथा तु महोत्साहैः । ४. 'समुत्तीर्ण' । ५. 'सुवेलोपत्यका-' ।

माल्यवान्—(सविमर्शाङ्कितम् ।) अहह ।

असौ मनुष्यमात्रेण लङ्घितो यदि सागरः ।
प्रतापो दशकण्ठस्य भुवनैरपि लङ्घितः ॥ १० ॥

(सखेदं च ।)

पौलस्त्यस्य सुरासुरेन्द्रशिरसां निर्माल्यमङ्घ्रिद्वयं
कुर्वाणेन रघूद्वहेन घटिते सेतौ निधावम्भसाम् ।
अद्योन्मुद्रयति स्वहस्तविधृतं राजीवमिद्धो रविः
प्रत्यावृत्तरसस्य चामृतभुजामिन्दोः स्वदन्ते कलाः ॥११॥

असाविति । मनुष्यमात्रेण साधारणेन मनुष्येण रामेण असौ शतयोजनविस्तीर्णः सागरः लङ्घितः पारं प्राप्तो यदि चेत्तदा दशकण्ठस्य रावणस्य प्रतापः पराक्रमोऽपि भुवनैः संसारवासिभिर्लङ्घितः लघूकृत्याषमतः । यदि दैववशाद्रामः सागरमुत्तीर्ण-स्तदा दैववशादेव रावणस्य प्रतापोऽप्यस्तं गतो वेद्यः ॥ १० ॥

पौलस्त्यस्येति । पौलस्त्यस्य रावणस्य अङ्घ्रिद्वयं चरणयुगलं सुरासुरेन्द्रशिरसां देवदानवमस्तकानां निर्माल्यं त्याज्यं कुर्वाणेन करिष्यता रघूद्वहेन रामेण अम्भसां निधौ सागरे सेतौ घटिते निर्मिते सति अद्य रविः सूर्यः इद्धः दीप्तः सन् स्वहस्तविधृतं निजकरस्थापितं राजीवं पद्मम् उन्मुद्रयति विकासयति, प्रत्यावृत्तरसस्य पुनरागतस्वादस्य इन्दोः कलाश्च अमृतभुजां देवानां स्वदन्ते सन्तोषाय जायन्ते । निर्माल्यं त्याज्यतया शिरसि नादीयते, देवा दानवाश्च रावणस्य चरणद्वयं शिरसि कुर्वन्ति स्म, सम्प्रति रावणेऽप्रतिष्ठे हीनपराक्रमे च जाते देवा दानवाश्च रावणस्य चरणद्वयं स्वशिरस्सु नाधास्यन्ति, तथा च तन्निर्माल्यमिव कृतं रामेण, एतादृशे रामे सागरे सेतुं निर्माय लङ्कामागते सति प्रदीप्ततेजा भगवान् सूर्यः स्वकरस्थं कमलं विकासयिष्यति, पूर्वं तु रावणभयात्समग्रेण तेजसा तदुमशक्यतया तत्कमलं विकासयितुमसमर्थ आसीत् सूर्यः, सम्प्रति रावणस्यास्तप्रायतया तद्भयाभावात् समस्ततेजसो-

---

माल्यवान्—(विचार और आश्चर्यके साथ) अहह !! यदि वह साधारण मनुष्य होकर समुद्र पार कर गया, तो दशकन्धरके प्रतापको भी संसार लांघ गया, यह मान लेना चाहिये ॥ १० ॥

(सखेद) पौलस्त्यके चरणोंको सुर-असुरके इन्द्रोंके मस्तकोंके लिये निर्माल्यस्वरूप त्याज्य-अप्रणम्य-उपेक्ष्य बनानेवाले राघवने यदि समुद्रमें सेतु बना दिया तो अब सूर्य स्वतः अधिकप्रभ होकर निजकरकमलको विकसित कर लेंगे, और फिर चन्द्रमामें रस आजायगा जिससे उसकी कलायें देवोंको रुचने लगेंगी ॥ ११ ॥

([1]विमृश्य ।) वत्स सारण, वालिवधविशुद्धपार्ष्णेरनेकवानरानीकनायकेन साक्षादुपकृतेन सख्या सुग्रीवेण महापक्षस्य हनुमच्चरितज्ञातास्मदीयवृत्तेरयमेव सुविहितसकलाभियास्यत्कर्मणस्तस्याभियोगसमयः ।

सारणः—[2]आर्य, अयमेवात्मद्रव्यप्रकृतिसंपन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुरिति प्रथमोदाहरणं दाशरथिः ।

दितः सूर्यः स्वकरस्थं कमलं विकासयिष्यति, किंच चन्द्रः प्राग्रावणभयात्क्षीण आसीदतस्तत्रास्थितस्य स्वल्पतया स्वादो नासीत्, सम्प्रति तद्भयविगमे पुनरागतस्वादस्य तस्य कलाः देवेभ्यः स्वदन्ते इत्याशयः । अमृतभुजामिति संबन्धसामान्ये षष्ठी । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

वालिवधविशुद्धपार्ष्णिः वालिनो वधेन समाप्तपृष्ठदेशस्थशत्रुः । अनेकवानरानीकनायकेन बहुवानरसैन्यसनाथेन । साक्षादुपकृतेन वालिवधद्वारा सपक्षेणोपकृतेन । महापक्षस्य प्रबलपक्षस्य । हनूमच्चरितेन ज्ञाता अस्मदीयवृत्तिः अस्माकं स्थितिर्येन तथोक्तस्य । सुविहितं सर्वाङ्गसम्पन्नं सकलम् अभियास्यत्कर्म विपक्षोपरि आक्रमणापूर्वतनं कर्त्तव्यं येन तथाभूतस्य । अयमेव अभियोगसमयः आक्रमणकालः । वालिवधेन तस्य पृष्ठशत्रोरभावो जातः, सुग्रीवस्य सहायतां कृत्वा तमृणिनं विधाय स तदीयसैन्यशक्त्या संपन्नोऽभूत्, हनूमन्तं प्रेष्य तद्द्वारा सोऽस्मदीयां स्थितिं ज्ञातवान्, तदित्थं सर्वाणि युद्धपूर्वकर्त्तव्यानि कृत्वा सन्नद्धस्य रामस्यायमेवाक्रमणोचितः काल इति बोध्यम् ।

आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नः आत्मद्रव्याणि प्रकृतयश्च तत्सम्पन्नः, आत्मद्रव्याणि सम्पदः, ता उक्ता यथा 'बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा । भावशुद्धिर्दया सत्यं नियमश्चात्मसम्पदः' । प्रकृतयश्चोक्ता यथा 'अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोषो दण्डश्च पञ्चमः । एताः प्रकृतयः पञ्च विजिगीषोरुदाहृताः' । 'एताः पञ्च तथा मित्रं सप्तमः

(विचार करके) वत्स सारण, वालिके मारे जानेसे रामको पृष्ठभय नहीं रह गया, साक्षात् उपकृत तथा अनेकविध वानर सैन्यवाले सुग्रीवके साथ मित्रता हो जानेसे रामका पक्ष मजबूत हो गया, हनुमानके आचरणसे उसने हमारे सारे वृत्तान्त जान लिये, इसतरह उसने आक्रमणकी सारी तैयारी कर ली है, अतः रामके द्वारा आक्रमणका यही उपयुक्त समय है ॥

सारण—आर्य, विजिगीषुको स्वयं गुणवान् नीतिनिपुण होना चाहिये इसके प्रथम उदाहरण राम ही हैं ।

१. 'विमृश्य च' । २. 'आर्य, एवमेतत्' ।

माल्यवान्—(स्तम्भं नाटयित्वा ।)

यत्तस्मिन्निहतेऽपि वालिनि वयं क्षुद्रास्तथैवास्महे
[1]तद्युक्तं भुजयोर्बलादपि बलं दुर्गस्य दुर्निग्रहम् ।
मर्त्येनापि जगद्वि[2]लक्षणगुणग्रामेण रामेण तु
द्वे गव्यूतिशते हि नाम कियती तीर्णोऽयमर्णोनिधिः ॥ १२ ॥

(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य । आकाशे ।)

तर्षार्तिव्यतिलेलिहानरसनारम्यैर्मुखैरष्टभिः

पृथिवीपतिः । सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः' । नयस्य नीतिशास्त्रस्य । अधिष्ठानम् आश्रयो ज्ञाता । प्रथमोदाहरणम् आद्यो दृष्टान्तः । दाशरथिः रामः ।

यत्तस्मिन्निति । तस्मिन् प्रसिद्धपराक्रमे वालिनि निहते रामेण मारितेऽपि वयं क्षुद्राः नीचप्रकृतयः तथैव उदासीना एव आस्महे तिष्ठामः, तत् अस्माकमुदासीनवदासनं युक्तम्, यतः भुजयोर्बलात् बाहुद्वयपराक्रमापेक्षया दुर्गस्य बलं दुर्निग्रहम् अतिक्रमितुं कठिनम् । दुर्गस्य सागरस्य दुरतिक्रमतया वयं यद् वालिनिहतेऽपि स्वस्था अतिष्ठाम तदस्माकमाचरणं युक्तमेवासीदित्यर्थः ।

तु किन्तु मर्त्येनापि मनुष्यमात्रेणापि जगद्विलक्षणगुणग्रामेण लोकातिशायिगुणसमूहशालिना रामेण द्वे गव्यूतिशते चतुःशतक्रोशाः नाम कियती कियद्दूरं नाम अयम् अर्णोनिधिः सागरः तीर्णः तीरं प्राप्य पारं गतः । सागरं तीर्णवतो रामस्य कृते द्वे गव्यूतिशते कियती किंपरिमाणे अतितुच्छे इत्यर्थः, अत्युत्साहसम्पन्नोऽयं रामो यत्सागरं शतयोजनविस्तीर्णमपि ललङ्घ, तदधुना चिन्ताविषय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

तर्षार्तीति । हे वत्से नैकषि निकषायाः पुत्रि रावणमातः वत्सस्य रावणस्य

माल्यवान्—(ठिठक कर) उस वालिके मारे जाने पर भी हम क्षुद्र उसी तरह उदासीन बने बैठे रहे, फिर भी हमपर आक्रमण नहीं हुआ था इसका कारण तो यह था कि बाहुके बलसे भी दुर्गका बल अधिक दुर्जय होता है अतः सागर मध्यस्थ होनेसे हमपर अबतक आक्रमण नहीं हुआ । जगद्विलक्षणगुणशाली राम मानव होकर भी दो सौ योजन विस्तीर्ण इस सागरको पारकर लिया, अब आक्रमण होना ही चाहिये ॥ १२ ॥

(दीर्घ तथा उष्ण श्वास लेकर आकाशकी ओर) रावणके दशमुखोंमेंसे दो ही मुख:

---

१. 'तद्यत्तम्' । २. 'विजित्वर' ।

क्रन्दन्ती क्रमशः पपौ दशमुखी वत्सस्य यस्याः स्तनौ ।
वत्से नैकषि[1] विश्ववीरजननी-सीमन्तमुक्तामणिः
सा तादृग्भवती कथं गुणवतः पुत्रस्य किं द्रक्ष्यति ॥ १२ ॥

सारणः—[2]शान्तं शान्तम् । प्रतिहतममङ्गलम् । अनर्थशङ्कीनि बन्धुहृदयानि भवन्ति । किं च आर्य,

भुजनिवहविहङ्गिकावलम्बी निविडगुणौघधृतोऽपि राज्यभारः ।

दशमुखी दशानां मुखानां समाहारः तर्षेण पिपासया या आर्त्तिः पीडा तया व्यतिलेलिहानाः पुनः पुनः स्तनपानाभिलाषिण्यो रसना जिह्वाः ताभिः रम्यैः सुन्दरैः अष्टभिः मुखैः क्रन्दन्ती सती यस्यास्तव स्तनौ क्रमशः पर्यायेण पपौ पीतवती (हे रावणमातः बालस्य रावणस्य दशमुखानि युगपदेव मातुः स्तनद्वयं पातुमिच्छन्तिस्म, तत्र द्वयोरेव मुखयोः पानेऽवसरलाभसंभवः, शेषाणि मुखानि तृष्णया जिह्वां प्रसार्य रोदितुं प्रावर्त्तन्त) एतादृशस्यालौकिकस्य पुत्रस्य जननी भूत्वा विश्ववीरजननीसीमन्तमुक्तामणिः लोकैकवीरसुतजनकतया सकलवीरप्रसूवन्दनीया सा तादृक् भवती गुणवतः पुत्रस्य रावणस्य किं मरणरूपमनिष्टं कथं द्रक्ष्यति ? एतादृशस्य पुत्रस्य मरणरूपमनिष्टं भवत्या द्रष्टव्यमिति महत्कष्टमिति भावः ॥ १२ ॥

अनर्थशङ्कीनि अनिष्टसम्भावनापराणि, अतिस्नेहस्य पापशङ्कितया बन्धवः स्वबन्धूनामनिष्टमेव शङ्कन्तेऽत एव मयाऽपीत्थमाशङ्क्यते, वस्तुतस्तु वयमहितमापतद्वारयिष्याम एवेत्याशयः ॥

भुजनिवहेति । भुजनिवहो बाहुसमूह एव विहङ्गिका भारवहनसाधनकाष्ठम् (यत्र शिक्यद्वारा भार आलम्ब्य तिष्ठति 'बहँगी' इति भाषायां प्रसिद्धा) तदवलम्बी

स्तन पी सकते थे, क्योंकि तेरे दो ही स्तन थे, शेष आठ मुख तृष्णासे उत्पन्न आर्त्तिके कारण लपलपाती जीभोंसे सुन्दर बन गये थे, रो रहे थे, इस प्रकार तुम्हारा वही पुत्र क्यासे क्या होने जा रहा है, हे विश्ववीरजननी-शिरोमणि वत्से नैकषि ! तुम इस दशाको किस प्रकार देख सकोगी ? ॥ १२ ॥

सारण—शान्त शान्त, अमङ्गलका नाश हो, बन्धुजनके हृदय अनर्थकी शङ्का किया करते हैं । आर्य,

बाहुसमुदायरूप बहँगीपर लटकता हुआ निविडगुणराशिधृत होकर भी यह राज्य

---

१. 'कैकसि' । २. 'शान्तं पापम्' ।

स्वयमपि दशकंधरे धुरीणे स्खलति यदि [1]स्खलनं तदास्य रूपम् ॥१४॥

माल्यवान्—(अश्रूणि स्तम्भयन् ।) वत्स,

विद्वानपावृत्तमिव [2]स्वभाग्यं न तावदात्मानमहं ब्रवीमि ।
महामुनेर्विश्रवसस्तपोभिर्निवापबीजं यदि नः कुलं स्यात् ॥ १५ ॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण संभ्रान्तः शुकः)

तदाश्रितः, निविडगुणौघः घनतया स्थितो रज्जुभरः शिक्यरूपः तेन धृतः अवलम्बितोऽपि राज्यभारः स्वयं दशकन्धरे रावणे धुरीणे धूर्वहे सत्यपि यदि स्खलति पतति तदाऽस्य राज्यभारस्य स्खलनं पतनं रूपम् प्रकृतिः (एवेति मन्तव्यं स्यात्) भारपतने कारणत्रयं विहङ्गिकादोषः, शिक्यदोषः, वाहकदोषश्च, तदत्र राज्यभारे रावणस्य विंशतिर्भुजा एव विहङ्गिकारूपा इति न तद्दोषः, शिक्यदोषोऽपि नास्ति रावणीयघनगुणभाररूपशिक्योत्तम्भितत्वादस्य भारस्य, वाहकदोषस्तु वक्तुमशक्य एव स्वयं दशकन्धरस्य रावणस्य धूर्वहत्वादथापि यद्ययं राज्यभारो नश्यति तदाऽस्य राज्यस्य पतनं स्वाभाविकमेव न कारणसापेक्षमिति मन्तव्यं भवतीति तात्पर्यम् । एककन्धरेण धृतो भारः कदाचित्स्खलत्यपि दशकन्धरधृते तु भारे न तत्सम्भव इत्यपि व्यज्यते ॥ १४ ॥

विद्वानिति । स्वभाग्यम् निजशुभादृष्टम् अपावृत्तम् अपगतम् इव विद्वान् जानन् अहम् तावत् आत्मानं न ब्रवीमि स्वभाग्यविपर्ययं जानन्नप्यहं तमर्थं स्वमात्मानं नाभिदधे, स्वात्मनोऽपि निजभाग्यविपर्ययमहं गोपयामीत्यर्थः । महामुनेर्विश्रवसो रावणपितुः तपोभिः यदि नः कुलं निवापबीजं जलाञ्जलिदाननिमित्तं स्यात्, विश्रवस्तपःप्रभावादेव नः कुले कोपि जलाञ्जलिदानायावशिष्येत, न त्वस्माकं भाग्येनेत्यर्थः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १५ ॥

यदि स्वयं दशकन्धररूप भारवाहक स्खलित हो जायेंगे तो स्खलित होकर रहेगा ॥ १४ ॥

माल्यवान्—(आंसूको रोककर) वत्स, अपने भाग्यको अपगत जानता हुआ भी मैं इस वातको सवसे नहीं कहता हूँ, यदि इस वंशमें कोई पानी देनेवाला शेष रह जायेगा तो इसे विश्रवा मुनिके तपका माहात्म्य समझना ॥ १५ ॥

(पर्दा हटाकर घवडाये हुए शुकका प्रवेश)

---

१. 'स्खलितम्' । २. 'स्वभाग्यात्' ।

शुकः—

प्रहस्तधूम्राक्षमहोदरादीन्व्यापाद्य सेनाधिपतीनमात्यान् ।
स एष लङ्कामुपरुध्य रामः शाखामृगैरर्णवमातनोति ॥ १८ ॥

माल्यवान्—(सविषादम् ।) पुरस्तादेव दृष्टमिदमस्माभिः । देशकालव्यवहितस्यापि प्रमेयग्रामस्य [1]यथामुखीनमादर्शतलं हि स्थविरबुद्धिः । (विमृश्य । आकाशे ।) साधु रामभद्र, साधु । विजिगीषोरदीर्घसूत्रता हि कार्यसिद्धेरवश्यम्भावः ।

प्रहस्तेति स एष रामः प्रहस्तधूम्राक्षमहोदरादीन् तत्तत्संज्ञकान् सेनापतीन् अमात्यान् सेनानायकान्मन्त्रिणः व्यापाद्य हत्वा शाखामृगैः वानरैः लङ्काम् उपरुध्य समन्ततो वेष्टयित्वा अर्णवम् समुद्रम् आतनोति विस्तारयति, रामसैनिकेषु वानरेषु समुद्रं तरत्सु तैश्छन्नः सागरः स्वल्प इव सङ्कुचित इव प्रतीयतेस्म, सम्प्रति तेषु सैनिकवानरेषु लङ्कां परितो वेष्टयित्वा स्थितेषु सागरस्य विस्तारः प्रकटीभूत इति मन्ये रामो वानरैर्लङ्कामुपरुध्य सागरं विस्तारयतीवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

पुरस्तात् पूर्वम् । दृष्टम् ध्यानदृष्ट्याऽवगतम् । देशकालव्यवहितस्य दूरदेशे कालान्तरे च स्थितस्य, देशव्यवहितस्य कालव्यवहितस्य च । प्रमेयग्रामस्य वस्तुसमुदायस्य । यथामुखीनम् सम्मुखस्थवस्तुग्राहि । आदर्शतलम् दर्पणतलम्, यथा दर्पणे सर्वं सम्मुखीनं प्रतिफलति तथा स्थविरबुद्धावपि सर्वमेव दूरस्थितं भूतं भविष्यच्च वस्तुजातं प्रतिफलतीत्यर्थः । स्थविरबुद्धिः वृद्धजनप्रज्ञा । एतेन पुरस्तादेव दृष्टमिदमस्माभिरिति समर्थितम् । विजिगीषोः विजयं कामयमानस्य । अदीर्घसूत्रता क्षिप्रकारिता । कार्यसिद्धेः प्रारिप्सितविजयसिद्धेः, अवश्यंभावः निश्चयेन सिद्धिः, विजिगीषुर्यदि क्षिप्रमारभते कार्यं तदा तस्य कार्यमवश्यंभावीति भावः ।

शुक—प्रहस्त, धूम्राक्ष, महोदर प्रभृति सेनापति मन्त्रियोंको मार करके रामने लङ्काको घेर लिया है और वानरोंसे सागरको व्याप्त कर रखा है ॥ १८ ॥

माल्यवान्—(विषादसे) मैंने यह पहले ही समझ लिया था । वृद्धजनकी बुद्धिमें देश-कालसे व्यवहित रहनेवाले भी पदार्थ स्पष्ट झलका करते हैं । (विचारकर, आकाशमें) साधु रामभद्र, साधु, विजिगीषुमें अदीर्घसूत्रताको कामका अवश्य होना समझना चाहिये ।

---

१. 'संमुखीनम्' ।

सारणः—सखे शुक, अथ किंविधानो यातुधानेश्वरः ।

शुकः—(सखेदस्मितम् ।) सखे, किं तस्य विधानम् ।

श्रुत्वा दाशरथी सुवेलकटके साटोपमर्धे धनु-
ष्टंकारैः [1]परिपूरयन्ति ककुभः प्रोञ्छन्ति कौक्षेयकान् ।
अभ्यस्यन्ति तथैव चित्रफलके लङ्कापतेस्तत्पुन-
र्वैदेहीकुचपत्त्रवल्लिरचनाचातुर्यमर्धे कराः ॥ १७ ॥

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) हा वत्स रावण, कथमद्यापि सैव[2] हृद-

किंविधानः किमाचारः, यातुधानेश्वरः राक्षसराजो रावणः। रावणः किमाचरतीति प्रश्नाशयः ।

तस्य किं विधानम् न किमपि विशिष्याचरति राक्षस इत्युत्तरम् ।

श्रुत्वा दाशरथी इति । लङ्कापतेः रावणस्य अर्धे कराः विंशतिसंख्यकेषु भुजेषु दशभुजाः सुवेलकटके सुवेलनामकपर्वतस्य नितम्बभागे (समागतौ) दाशरथी रामलक्ष्मणौ श्रुत्वा दूतमुखान्निशम्य धनुष्टङ्कारैः ककुभः दिशः परिपूरयन्ति भरन्ति, कौक्षेयकान् खड्गान् प्रोञ्छन्ति मार्जनादिना तीक्ष्णयन्ति । पुनः अर्धे अवशिष्टाश्च रावणस्य दशकराः चित्रफलके सीतायाः सम्मुखावस्थापिते चित्रे तत् पूर्वाभ्यस्तम् वैदेही सीता तस्याः कुचयोः स्तनयोः पत्रवल्ल्याः पत्रावल्याः रचनायाः निर्माणस्य चातुर्यम् पाण्डित्यम् अभ्यस्यन्ति गुणयन्ति । सीतायाः कुचयोः कर्त्तुमिष्यमाणस्य पत्रावलीविरचनस्याभ्यासं कुर्वन्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

हृदयपरिस्पन्दमुद्राः मनसस्तव चपला गतिदशा, सम्प्रत्यपि कथं पूर्ववदेव

सारण—सखे शुक, अब रावण क्या कर रहे हैं ?

शुक—(खेदकी हंसीके साथ) सखे, उनके करनेको क्या पूछ रहे हो ?

२ राम-लक्ष्मणको सुवेल तटमें आये सुनकर रावणके आधे हाथ घमण्डके साथ धनुष्टङ्कारसे दिशाओंको निनादित कर रहे हैं, तलवारको पोंछ रहे हैं, और आधे हाथ पूर्वकी तरह चित्रफलक पर वैदेही-कुच-कुम्भों पर पत्ररचना-चातुर्यका अभ्यास कर रहे हैं ॥ १७ ॥

माल्यवान्—(निःश्वास छोड़कर) हा वत्स, क्यों, आज भी तुम्हारे हृदयकी चाल

---

१. प्रविदारयन्ति' । २. 'सैव ते हृदयपरिपन्थिनी परिस्पन्दमुद्रा' ।

यपरिस्पन्दमुद्रा। (शुकं प्रति।) वत्स, अथ गोपुरगौल्मिकबलाध्यक्षेण वत्सेन नरान्तकेन किं प्रतिपन्नम्।

शुकः—(निःश्वस्य।) [1]मातामह, कृतैव कुमारेण द्वारमर्यादा। परमङ्गदेन [2]सोऽपि। (इत्यर्धोक्ते सास्रमधोमुखस्तिष्ठति।)

माल्यवान्—हा वत्स दशग्रीवनन्दन, कथमिदं [3]तव द्रष्टुमेतावन्तं कालमस्माकमायुः।

(नेपथ्ये।)

भो भो महापार्श्वप्रभृतयः सैनिकाः,

व्यावर्तध्वमुपाध्वमुद्धुरशरज्वालामुखीं मातरं
देवीमस्त्रमयीं प्लवङ्गपशवः पश्यन्ति पृष्ठानि वः।

चपलं हृदयं वहसीति तात्पर्यम्।

गोपुरे पुरद्वारे यानि गौल्मिकबलानि सैनिकवीरास्तदध्यक्षेण पुरद्वारावस्थितसैन्यसमुदयप्रधानेन। प्रतिपन्नम् आचरितम्।

द्वारमर्यादा द्वारप्रतिष्ठा, द्वाररक्षकोचितं युद्धमित्यर्थः, अङ्गदेन सोऽपि नरान्तकोऽपि हत इति शेषः। दशग्रीवनन्दन रावणतनय नरान्तक। इदं तव मरणम्। एतावती मम दीर्घजीविता कथं तव मरणं द्रष्टुमेव सृष्टा विधात्रेति खेदध्वनिः।

व्यावर्त्तध्वमिति। व्यावर्त्तध्वम् निवर्त्तध्वम् युद्धान्मा पलायध्वम्, उद्धुरा उत्कटा या शरज्वालामुखीम् उत्कटशस्त्रज्वालाप्रकटनसमर्थाम् अस्त्रमयीम् देवीं मातरम् उपाध्वम् आराधयत, प्लवङ्गपशवः नीचा अमी वानराः वः युष्माकं

पुरानी ही है। (शुकसे) वत्स, गोपुरस्थित सेनाकी टुकड़ीके अध्यक्ष नरान्तककी क्या स्थिति है?

शुक—(निश्वास छोड़कर) मातामह, कुमार नरान्तकने द्वारकी प्रतिष्ठा रखी, परन्तु अङ्गदने उसे भी (इतना ही कहकर रोता हुआ सिर झुका लेता है)

माल्यवान्—वत्स रावणपुत्र, क्यों तुम्हारी यही दशा देखनेके लिये मेरी इतनी बड़ी आयु हुई।

(नेपथ्यमें)

अये महापार्श्व प्रभृति सैनिको,

लौटो, रणोन्मुख बाण-ज्वालामुखी देवी माताकी उपासना करो—ये अभागे वानर

---

१. 'मातामह इति कचिन्नास्ति। २. 'सोऽपीत्थम्'। ३. 'तव' इति कचिन्नास्ति।

चेतः शक्रजितोऽपि लक्ष्मणवधे बद्धोत्सवं मध्यमः
पौलस्त्यः स्वयमायुधं विधृतवानद्यापि रामाद्भयम् ॥१८॥

सारणः—(श्रुत्वा सहर्षम् ।) आर्य, जातं जातमवलम्बनम्[1] । यदयं प्रतिबुध्य कुमारकुम्भकर्णः पुरस्कृत्य च मेघनादमभ्यमित्रीणः संवृत्तः ।

माल्यवान्—(निःश्वस्य ।) स्वस्ति विजयेतां रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ[2] ।

शुकः—(सविषादमात्मगतम् ।) शान्तं शान्तम् । कथमविशिष्टकर्तृकर्मभावमुभयत्र द्विवचनं प्रयुक्तमार्येण ।

युद्धात्पलायमानानां पृष्ठानि पृष्ठदेशान् पश्यन्ति नैतद्युक्तमतो निवर्त्तध्वमिति भावः। शक्रजितः मेघनादस्यापि चेतः लक्ष्मणवधे बद्धोत्सवम् धृतमहोत्साहम् , मध्यमः पौलस्त्यः पुलस्त्यस्य मध्यमः पुत्रः, कुम्भकर्णः स्वयम् आयुधम् अस्त्रं धृतवान् युद्धोद्यतः जातः, अद्यापि रामात् भयम् । लक्ष्मणवधायेन्द्रजिति धृतव्रते कुम्भकर्णे च रणोन्मुखे रामाद् भयस्यानुचितत्वेन भवतां युद्धात्पलायनं नितरां निरर्थकं दुरर्थकं चेति भावः ॥ १८ ॥

प्रतिबुध्य निद्रां त्यक्त्वा । पुरस्कृत्य अग्रेकृत्वा, प्रशंसावचनैः सत्कृत्य वा । अभ्यमित्रीणः शत्रुसम्मुखीनः ।

अविशिष्टकर्तृकर्मभावम् विशिष्य कर्त्तारं कर्म वाऽबोधयत् । 'विजयेतां रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ' इत्यत्र रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ च' इत्युभयोः पदयुगलयोः द्विवचनान्ततोक्ता, कर्त्तरि कर्मणि च सा समा, तत्र कस्य कर्तृता कस्य वा कर्मतेति कथं ज्ञायतामित्याशयः ।

पशु तुम्हारी पीठ देख रहे हैं, इन्द्रजितका हृदय भी लक्ष्मणको मारनेके लिये उत्साहित हो रहा है, और कुम्भकर्णने भी स्वयम् अस्त्र पकड़ लिया है, आज भी रामसे भय ? ॥१८॥

सारण—(सुनकर सहर्ष) आर्य, हम लोगोंको अवलम्बन मिल गया, अब कुम्भकर्णकी नींद खुल गई है और वह इन्द्रजितको आगे करके शत्रुओंसे भिड़ने चले हैं।

माल्यवान्—(सांस लेकर) राम-लक्ष्मण (पर) कुम्भकर्ण मेघनाद (के ऊपर) विजयी हों ।

शुक—(सविषाद स्वगत) शान्त शान्त, आर्यने कर्त्ता-कर्मका भेद नहीं करके सामान्यतः द्विवचनका प्रयोग कैसे कर दिया ।

---

१. 'जातम्' इत्येकवारमेव क्वचित् । २. 'मेघनादौ च' ।

माल्यवान्—(सखेदम् ।) वत्सौ शुकसारणौ, अद्य खल्वियं [1]राक्षसलक्ष्मीः सर्वथा कुम्भकर्णमवलम्ब्य[2] वर्तते । इदं तु न विद्मः ।

अग्रजं वा दशग्रीवमनुजं वा विभीषणम् ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वीरः कमभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

(नेपथ्ये ।)

मा भैष्टं कमठेन्द्रपन्नगपती कश्चिन्न वैशेषिको
भूमेरद्य भरः पतिः पलभुजामाज्ञापयत्येष वाम् ।

शुकः—(सहर्षम् ।) नूनमस्मदीयैर्विशेषेण, किमपि विक्रान्तम् ।

(माल्यवानवधत्ते ।)

कुम्भकर्णमवलम्ब्य वर्त्तते तदधीना, यदि कुम्भकर्णो जयति तदा राजलक्ष्मी रक्ष्यतेऽन्यथा गतेयमिति तात्पर्यम् ।

अग्रजमिति । वीरः कुम्भकर्णः अग्रजं ज्येष्ठम् दशग्रीवं वा अनुजं कनिष्ठं विभीषणं वा कम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् विजयपराजयाभ्याम् अभिषेक्ष्यति योजयिष्यति ? स्वजये दशग्रीवं स्वपराजये विभीषणं वा कमयं वीरो युध्यमानः कुम्भकर्णो योजयिष्यति विजयश्रियेति न निश्चिनोमीत्यर्थः ॥ १९ ॥

मा भैष्टमिति । हे कमठेन्द्रः कूर्मराजः पन्नगपतिः शेषनागश्च तौ !, एषः पलभुजां रक्षसां पतिः रावणः वाम् युवाम् आज्ञापयति, युवाम् मा भैष्टम् भयं कुरुतम् , अद्य भूमेः पृथिव्याः भरः भारः कश्चित् वैशेषिकः अधिकः न, कुम्भकर्णशरीरपातेन

माल्यवान्—(सखेद) वत्स शुक और सारण, आज राक्षस-लक्ष्मी सर्वथा कुम्भकर्णपर अवलम्बित हो रही है । यह नहीं समझमें आ रहा है कि—

वीर कुम्भकर्ण अपनी विजयके द्वारा अग्रज रावणको अभिषिक्त करेंगे या अपनी पराजयके द्वारा अपने अनुज विभीषणको गद्दीपर बैठायेंगे ॥ १९ ॥

(नेपथ्यमें)

हे कूर्मराज तथा शेषनाग, आप भय न करें, पृथ्वीपर अब (राक्षसोंका) अधिक भार नहीं रहा, तुम्हारे मालिकका यही आदेश है ।

शुक—(हर्षके साथ) निश्चय हमारे सैनिकोंने कुछ विशेष विक्रम प्रदर्शन किया है ।

(माल्यवान् मनोयोग देता है)

---

१. 'राजलक्ष्मीः' । २. 'अवलम्बते' ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

दोःशैलौ हरता पृथक्पृथगथो मूर्धानमुत्क्षिप्नुना
रामेणापि लघूकृतं पतति यत्तत्कौम्भकर्णं वपुः ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स । (इति मूर्च्छितः पतति ।)

उभौ—(सास्रम् ।) आर्य, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

माल्यवान्—(आश्वस्य ।) [1]वत्सौ, जीवतो रामभद्रस्य मैथिलीहरणादेतदस्माभिरान्तरेण चक्षुषा विषयीकृतमेव । किमिदानीं [2]समाश्वसितव्यमस्ति ।

शुकः—धिक्कष्टम् । 'कौम्भकर्णं वपुः पतति' एतदपि [3]देवेनाज्ञापयितव्यम् ।

अधिको भारः स्यादिति युवाभ्यां न भेतव्यमिति भावः, भाराधिक्याभावे कारणमाह-दोः शैलाविति । यत् यस्मात् पृथक् दोःशैलौ पर्वतोपमौ कुम्भकर्णस्य भुजौ अथो पृथक् मूर्धानम् शिरः उत्क्षिप्नुना ऊर्ध्वं क्षिपता रामेण अपि लघूकृतम् अल्पभारतां नीतम् तत् कौम्भकर्णं वपुः शरीरं पतति । पृथिव्या भारस्तदा वर्धेत यदि समग्रं कुम्भकर्णशरीरं पतेत्, तदत्र नास्ति, कुम्भकर्णस्य बाहू शिरश्च रामः पृथक् पृथक् उपरि क्षिप्तवान्, अतश्च भारवृद्धेरसम्भवेऽलं भवतोर्भयेनेति तात्पर्यम् ॥२०॥

जीवतो रामभद्रस्य जीवन्तं रामभद्रमनादृत्य । मैथिलीहरणात् सीतापहारात् । आन्तरेण चक्षुषा भावनादृष्ट्या । विषयीकृतम् ज्ञातम् ।

देवेन महाराजरावणेन । आज्ञापयितव्यम् आदेष्टव्यम् । रावणः कुम्भकर्णशरीरपातविषये कथमादेष्टुमशक्यतातिदुःसहतयाऽस्य दुःखभारस्येति भावः,

---

(फिर नेपथ्यमें) बाहुरूप पर्वतोंको पृथक् तथा मस्तकको पृथक् फेंकनेवाले रामने जिसको हल्का बना दिया है वह कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स, (कहकर मूर्च्छित होकर गिरता है)

दोनों—(रोते हुए) आर्य, धीरज धरिये, धीरज धरिये ।

माल्यवान्—(आश्वस्त होकर) रामके जीते रहनेपर रावणने जब सीताका अपहरण किया उसी समय मैंने मनमें यह बात जान ली थी, अब क्या धीरज धरना है ? ॥

शुक—हाय, कष्ट, कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है, यह आज्ञा भी रावणको देनी पड़ गई ।

---

१. 'वत्स शुक' ।　२. 'समाश्वसितन्' ।　३. 'आज्ञापितव्यम्'; 'अज्ञायि' ।

माल्यवान्—वत्स, अद्यापि [1]रावणस्याज्ञा। नूनमन्योन्येषां वैहासिकाः कपयो दशकण्ठमुल्लुण्ठयन्ति[2]।

सारणः—आः क्षुद्राः,

यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव तत्कर्म कथयिष्यति।
मेघनाद[3]मजित्वैव धिक्प्रहासविभीषिकाम्॥ २१॥

(नेपथ्ये।)

भो भो यूथपतयः, विलुम्पन्तु भवन्तो लङ्कागोपुरप्राकारतोरणानि।

संनद्धेन्द्रायुधमविरलारम्भिगीर्वाणवाण-

अन्योन्येषाम् परस्परेषाम्। वैहासिकाः उपहासपरायणाः। उल्लुण्ठयन्ति उपहसन्ति, केचन वानरा आकाशे स्थिताः पक्षप्रतिपक्षभावमास्थाय रामपक्षगा रावणमेवं रावणपक्षगाश्च राममुपहसन्तः क्रीडन्ति, तेषामेव रामपक्षगा रावणपक्षोपहासायेत्थमादेशमुद्घोषयन्ति इति तात्पर्यम्।

यद्यस्तीति। यदि वीर्यम् अस्ति अस्ति एव, तत् वीर्यं कर्म क्रियमाणः पराक्रमातिशयः कथयिष्यति प्रकटं प्रत्याययिष्यति, अलमुपहस्य, यदि अस्मासु पराक्रमोऽस्ति तदा तं पराक्रममस्माकं कार्यं प्रकाशयिष्यत्येव, कृतमुपहासादिनेति भावः। मेघनादमजित्वा अपराभूय एव प्रहासविभीषिकाम् उपहासद्वारकं भयप्रदर्शनम् धिक्। यावन्मेघनादो न जीयते तावद् भयप्रदर्शनं नितान्तमनवसरदुःस्थं तस्य सर्वविधाशास्थानत्वादिति॥ २१॥

सन्नद्धेन्द्रेति। येन दुष्टग्रहेण शनैश्चरादिना दुष्टः ग्रहो ज्ञानं यस्य तादृशेन

माल्यवान्—वत्स, अब रावणकी आज्ञा क्या ?, आकाशमें उड़नेवाले कपिगण परस्पर रावणका मजाक कर रहे हैं।

सारण—धिक्कार है तुम क्षुद्रोंको,

यदि वीर्य है तो है ही, कर्त्तव्य ही उसे कहेगा, जब तक मेघनाद विजित नहीं होता है तब तक हंसना तथा डराना ठीक नहीं है॥ २१॥

(नेपथ्यमें)

हे सेनापतियो, लङ्काके गोपुरद्वार-तोरणोंको उतार लें,

जिस दुष्टग्रहरूप मेघनादने इन्द्रायुधसे प्रसूत अनारत वर्षारम्भ करनेवाले देवगणोंकी

---

१. 'रावणाज्ञां'। २. 'उल्लुठन्ति'; 'उल्लुठयन्ति'। ३. 'अजित्वापि'; 'अजित्वा तु'।

श्रेणीवर्षं तदवजगृहे येन दुष्टग्रहेण।

माल्यवान्—(सोद्वेगम् ।) आः, किमनेन श्रावयितव्योऽस्मि। (इति कर्णौ पिदधाति ।)

(पुनर्नेपथ्ये ।)

इष्ट्वा कांचित्प्रहरणमयीं वीरयज्वानमिष्टिं
दिष्ट्या सोऽयं समुपशमितः शक्रजिल्लक्ष्मणेन ॥ २२ ॥

माल्यवान्—सत्योऽयम् 'अतिदुःखो[1] निर्दुःखः' इति लोकप्रवादः। यदस्मिन्नपि समूलघातमभिघ्नति [2]व्यतिकरे तथैव [3]श्वसिमः।

इन्द्रजिता च तत् सन्नद्धेन्द्रायुधम् समुद्यतशक्रचापम् अविरलारम्भि सततसक्रियम् गीर्वाणत्राणश्रेणीवर्षं देवानां बाणवृष्टिः अवजगृहे प्रत्यवध्यत, यथा शनैश्चरादिदुष्टग्रहेण सशक्रचापं सक्रियं च वर्षं प्रतिबध्यते तथा येन दुष्टज्ञानेन इन्द्रजिता शक्रचापे उद्यते सक्रिये च सत्यपि प्रसह्य देवानां बाणवृष्टिः प्रतिबध्यते, यत्पुरतः सेन्द्रा अपि देवा बाणवृष्टिं कर्तुं न प्रभवन्ति इति भावः। इष्ट्वेति। सोऽयं समस्तभुवनख्यातः शक्रजित् काञ्चित् प्रहरणमयीम् अस्त्रस्वरूपाम् वीरयज्वानम् शूरयाज्ञिकाम् इष्टिं यागम् इष्ट्वा कृत्वा दिष्ट्या भाग्येन उपशमितः शमितः, यथा वृष्टिप्रतिबन्धकरस्य दुष्टग्रहस्य यागेन उपशमनं क्रियते तथा वीरयाज्ञिकाम् शस्त्रमयीं काञ्चिद् इष्टिं कृत्वा लक्ष्मणेनासौ मेघनादः शान्तिं नीतो हत इति हृदयम् ॥ २२ ॥

अतिदुःखः अतिदुःखभाक्। निर्दुःखः दुःखशून्यः, सततं दुःखेऽनुभूयमाने दुःखसात्म्यतयाऽनतिव्यथकत्वापत्तेरिति भावः। समूलघातमभिघ्नति मूलमुच्छिद्य

बाणवृष्टिको प्रतिबद्ध कर दिया था,

माल्यवान्—(उद्वेगसे) हाय, यह क्या सुनाता है ?

(कान बन्द करता है)

(फिर नेपथ्यमें)

बाणप्रहारमय कुछ यज्ञ करके वीरयाज्ञिक लक्ष्मणने उस प्रतिबन्धक मेघनादको प्रशमित कर दिया ॥ २२ ॥

माल्यवान्—अतिदुःखी निर्मुक्तदुःख हो जाता है यह लोगोंका कहना सत्य है क्योंकि समूलविनाश करनेवाली इस विपत्तिमें भी मैं जी रहा हूँ।

---

१. 'अतिदुःखोऽतिदुःखः'। २. 'व्यतिरेके'। ३. 'विश्वसिमः'।

शुकः—(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) यथा [1]समन्तादम्बरचरविमानवीथयः ककुभां मुखानि [2]पर्यवष्टम्भन्ति, तथा शङ्के दुर्वारदारुणक्रोधवडवानलनिपीयमानशोकसमुद्रो दाशरथिविजयाय संनह्यते देवः ।

सारणः—(सविषादमात्मगतम्) [3]कष्टम् । कथं दाशरथिविजयायेत्यविशिष्टोपपत्तिककर्तृकर्मकारकार्थविषयं वयस्यवचनम् ।

माल्यवान्—(उत्थाय ।) तदस्माभिरपि जरसा दूषितस्यात्मनः प्रक्षालनाय प्राप्तं शस्त्रधारातीर्थम् । ([4]इति सशुकसारणो निष्क्रान्तः ।)

विनाशकरे । व्यतिकरे विपत्तौ, इन्द्रजिन्निधनरूपायामित्यर्थः । समन्तात् सर्वतः । अम्बरचरविमानवीथयः देवयानपङ्क्तयः । ककुभां मुखानि दिगन्तरालानि । पर्यवष्टम्भन्ति आवृण्वन्ति । दुर्वारः वारयितुमशक्यो यो दारुणः भीषणः क्रोध एव वडवानलः और्वाग्निस्तेन निपीयमानः शोष्यमाणः शोकसमुद्रो यस्य तथोक्तः दुर्वारकोपवशात्स्तम्भितपुत्रमृत्युजन्यदुःखावेग इत्यर्थः । दाशरथिविजयाय रामजयाय सन्नह्यते परिकरं बध्नाति ।

'दाशरथिविजयाय' इत्यत्र दाशरथेर्विजयायेति षष्ठीसमासः । सा च षष्ठी कर्त्तरि कर्मणि चोभयत्र संभवति, तथा च दाशरथिकर्मको विजयः दाशरथिकर्त्तृको वा विजय इत्युभयथार्थः शक्यः कर्त्तुम्, अविशिष्टा सामान्या उपपत्तिः युक्तिः यत्र तादृशम्, कर्त्तृकारकविषयं कर्मकारकविषयं च वयस्यवचनम्, अत्र वयस्यवचने कर्त्तरि षष्ठी विवक्षिता कर्मणि वेति विशिष्योपपत्तिर्नोक्ताऽतो रामस्य जयो रावणेन रामेण वा रावणस्य जयो विवक्षित इति सन्दिह्यत इत्यर्थः ।

जरसा वृद्धावस्थया । दूषितस्य अनेकान् दोषान् प्रापितस्य । प्रक्षालनाय मार्जनाय । शस्त्रधारातीर्थम् अस्त्रधारास्वरूपम् जलाशयात्मकम् पुण्यस्थानम्, यथा

शुक—(ऊपर देखकर) यह जो आकाशचारियोंके विमानगण दिशाओंको आवृत कर रहे हैं उससे संभावना करता हूँ कि दुःसह क्रोधाग्निकी ज्वालासे रावणका शोक-सागर शुष्क हो गया है और वह राम-विजयके लिए तैयार हो रहे हैं ॥

सारण—(सविषाद स्वगत) हाय, 'राम-विजयके लिये' इस कर्त्ता-कर्मका स्पष्टीकरण विना किये ही वयस्यने यह शब्द कैसे कह दिया ।

माल्यवान्—(उठकर) इसलिए हम भी वार्धक्यदूषित इस आत्माकी शुद्धिके लिये शस्त्रधारा तीर्थ पा गये हैं । (शुक-सारणके साथ प्रस्थान)

---

१. 'अम्बरान्तरचर्यो' । २. 'पर्यवस्तम्भन्ति'; 'पर्यवस्कन्दन्ति' ।
३. 'कष्टं कष्टं दाशरथि–'; 'कथं दाशरथि–' । ४. 'इति निष्क्रान्ताः' ।

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति [1]विद्याधरद्वयमाकाशयानेन ।)

एकः—अहो, बहोः कालादनया गगनवीथ्या निरातङ्कमिव संचरावहे । ([2]अधोऽवलोक्य ।)

देवेन्द्रोपनिवेद्यनन्दनवनस्रक्तोरणश्लाघिनी
लङ्केयं दशकण्ठविक्रमसखी यस्यां समन्तादिमाः ।
युद्धालोकनकौतुकोन्मुखवधूसंकीर्णकर्णीरथा
रथ्याः किं कथयामि यान्ति यदमी न व्योम्नि वैमानिकाः ॥

दूषितस्य वस्त्रादेः शुद्धये क्वचन तीर्थे प्रक्षालनं क्रियते तथाऽहमस्य वार्धक्यदूषितस्यात्मनोऽत्र युद्धे प्राणत्यागेन शुद्धिं करोमीत्यर्थः ।

बहोः कालात् चिरकालानन्तरम् । अनया गगनवीथ्या अनेनाकाशमार्गेण । निरातङ्कम् निर्भयम् । इतः पूर्वं तु रावणभयाद् भीतभीता अत्र वर्त्मनि समचराम इत्यर्थः ।

देवेन्द्रोपनिवेद्येति । देवेन्द्रेण शक्रेण उपनिवेद्या रावणप्रसादनाय समर्पणीया या नन्दनवनस्रक् नन्दनवनप्रसूनमाला तस्यास्तोरणेन तन्निर्मितशोभितेन बहिर्द्वारेण श्लाघिनी आत्मनि श्लाघाशालिनी दशकण्ठविक्रमसखी रावणपराक्रमसङ्गिनी इयं पुरोदृश्या लङ्का, यस्यां लङ्कायां समन्तात् सर्वतः इमाः युद्धालोकनकौतुकेन युद्धदर्शनोत्कण्ठया उन्मुखीभिः वधूभिः राक्षसवनिताभिः सङ्कीर्णाः व्याप्ताः कर्णीरथाः स्त्रीरथा यासु तथोक्ताः रथ्याः प्रतोलीः किं कथयामि ? यत् अमी वैमानिकाः व्योम्नि

(विष्कम्भक)

(आकाशमार्गसे विद्याधर-युगलका प्रवेश)

एक—अहा, बहुत दिनोंके बाद इस आकाशमार्गमें निर्भय होकर चल रहा हूँ ।

(नीचे देखकर) देवेन्द्रद्वारा निवेदित नन्दनवनके पुष्पोंकी तोरणमाला धारण करके फूली न समानेवाली तथा रावणकी विक्रमसखी यही लङ्का है, जिसमें युद्धदर्शनोत्कण्ठित वनिताओंके रथोंसे गलियाँ भरी हुई हैं, किससे कहूँ, देवगण अभी भी रावणके भयसे युद्धको देखने आकाशमें नहीं आ रहे हैं ॥ २३ ॥

---

१. 'आकाशयानेन विद्याधरद्वयम्' । २. 'अधस्तादवलोक्य' ।

(सखेदाद्भुतम् ।) सखे हेमाङ्गद,

एताः पश्य पलादपत्तनभुवः सौत्रामणीनां दृशा-
[1]मस्राम्भोभिरदेवमातृकगृहारामाभिरामश्रियः ।
एतासु [2]प्रतिघातिविक्रमकथोपालम्भवैतण्डिकैः
क्लृप्तेन्द्रध्वजिनीजयानुकृतिभिर्डिम्भैरपि क्रीडितम् ॥२४॥

द्वितीयः—सखे रत्नचूड, किमुच्यते ।

न यान्ति, रावणं प्रसादयितुमिन्द्रो याः पुष्पस्रजोऽर्पयति ताभिरेव लङ्कायास्तोरणो भूष्यते, रावणस्य पराक्रमाणां चेयं सङ्गिनीति लङ्कापुरी नितान्तविलक्षणाऽस्ति, अस्यां हि पुर्यां रथ्यासु युद्धदर्शनोत्कानां राक्षसवधूनां रथाः व्याप्ताः, अतस्तेपु रथेपु स्थिताः राक्षसस्त्रियोऽस्मान् दृष्ट्वा कुपिताः स्युरिति भयेन वैमानिका अपि न निर्भयं व्योम्नि चलन्तीति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

एताः पश्येति । एताः सौत्रामणीनाम् इन्द्रसंबन्धिनीम् दृशां नेत्रसहस्रस्य अस्राम्भोभिः अश्रुजलैः अदेवमातृकैः नद्यम्बुसिक्तैः गृहारामैः अभिरामश्रियः रम्यशोभाः पलादपत्तनभुवः राक्षसनगरीभूमीः पश्य एता राक्षसनगरीस्थलीरालोकय यासु क्रन्ददिन्द्रनयनसहस्रस्रवदम्भःप्रवाहैः सिच्यमाना गृहारामा रमणीयां श्रियं धारयन्तीत्यर्थः । एतासु राक्षसनगरीस्थलीपु डिम्भैः बालकैः अपि क्लृप्तेन्द्रध्वजिनीजयानुकृतिभिः कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकरणैः अत एव प्रतिघातिनां विपक्षाणां विक्रमकथासु उपालम्भे अधिक्षेपे वैतण्डिकैः विवादपरैः क्रीडितम् खेलितम् । यत्र राक्षसपुरीस्थलीपु बाला अपि कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकृत्या शत्रुपराक्रमकथानिन्दया च क्रीडन्ति स्मेति भावः । एतेन रावणस्य पुर्या लोकोत्तरत्वमुक्तम् ॥ २४ ॥

(खेद तथा आश्चर्यसे) सखे हेमाङ्गद,

इन्द्रकी दृष्टियोंसे बराबर गिरते हुए अश्रुप्रवाहसे अदेवमातृक होकर सतत सिक्त होते रहनेसे रमणीय उद्यानवाली इन रावणपुरी-भूमियोंको देखो, इन भूमियोंमें परस्पर आक्रमणकी कथामें निपुण इन्द्रसेना-विजयकी अनुकृतिमें दक्ष राक्षस-बालक खेला करते रहे हैं ॥ २४ ॥

दूसरा—सखे रत्नचूड़, क्या कहा जाय,

---

१. 'बाष्पाम्भोभिः' । २. 'प्रतिपक्ष–' ।

रक्षांसीति पुरापि संश्रृणुमहे वीरस्तु कस्तादृशो
जागर्ति स्म जगत्त्रयीविपदलङ्कर्मीणदोर्विक्रमः ।
शश्वद्द्वारभुवि प्रशस्तिरचनावर्णायमानेक्षण-
श्रेणीसंभृतगोत्रभिन्मयजयस्तम्भो यथा रावणः ॥ २५ ॥

रत्नचूडः—सखे हेमाङ्गद, पश्य पश्य । पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीषु दीयमाने संनाहपटहे

दिग्दन्तावलदन्तमौक्तिकमयद्वास्तोरणस्रग्विणो
गीर्वाणाधिपतिप्रतीष्टनिगडोन्मृष्टान्यवन्दीशुचः ।

रक्षांसीति । पुराऽपि पूर्वमपि रक्षांसि सन्तीति संश्रृणुमहे परस्परमाकर्णयामः, तु किन्तु जगत्त्रय्याः लोकत्रयस्य विपदि पराभवरूपापत्तौ अलङ्कर्मीणः समर्थः दोर्विक्रमः बाहुबलं यस्य सः तथोक्तः लोकत्रयविजयिवीर्यः कः तादृशो वीरो यथा यादृशः शश्वत् सर्वदा द्वारभुवि रावणभवनद्वारदेशे प्रशस्तिरचनायां प्रशंसापद्धतौ वर्णायमाना अक्षरभावं गता या ईक्षणश्रेणी नयनपङ्क्तिः तया संभृतः युक्तः यः गोत्रभित् इन्द्रस्तन्मयः तत्स्वरूपः विजयस्तम्भो यस्य तथोक्तः रावणः अस्ति । अयमाशयः-राक्षसाः सन्तीति पूर्वमपि श्रुतं परं लोकत्रयपराभवकरदोर्विक्रमशाली तादृशो वीरः को यथाऽयम् स्वद्वारस्थितस्येन्द्रस्य नयनैरक्षररूपैर्लिखितप्रशस्तिरचनम् तमेवेन्द्रं विजयस्तम्भतां नयन् रावणो वीरोऽस्तीति । राक्षसेषु रावणसमो वीरो न कदापि जात इति भावः ॥ २५ ॥

पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीषु रावणनगररथ्यासु । सन्नाहपटहे संग्रामवादित्रप्रभेदे । दीयमाने वाद्यमाने सति ।

दिग्दन्तावलेति । दिग्दन्तावलानां दिग्गजानां दन्ताः कुम्भोत्थितानि मौक्तिकानि गजमुक्ताश्च तन्मयं तन्निर्मितम् द्वारम् तोरणस्रक् बहिर्द्वारमाल्यं च तद्वन्तः दिग्गजदन्तरचितद्वाराः दिग्गजकुम्भमुक्तारचिततोरणस्रजश्चेत्यर्थः, गीर्वाणाधिपतिना देवेन्द्रेण प्रतीष्टाः सोढाः निगडोन्मृष्टानाम् शृङ्खलानियन्त्रितानाम् अन्यबन्दीनाम्

राक्षसोंके विषयमें तो पहले ही सुनता रहा हूं, परन्तु त्रिलोकको विपदमें डाल देनेवाले विक्रान्त बाहुओंसे युक्त रावणके समान कौन हुआ है, द्वारदेशपर प्रशस्तिवर्णावलीके समान नयनोंको धारण करनेवाले इन्द्रको ही जिसने विजयस्तम्भका रूप दे डाला था ॥२५॥

रत्नचूड—सखे हेमाङ्गद, देखो देखो, रावण नगरीकी गलियोंमें मारू बाजेके बजाये जाने पर,

दिग्गजोंके मस्तकोंसे निकले मौक्तिकोंकी वन्दनवारको धारण करनेवाले, तथा इन्द्रके

वीरश्रीसहपांसुकेलिसुहृदो मन्दोदरीबन्धुता-
[1]शौटीरासुरसुन्दरीसुरभयः क्षुभ्यन्ति रक्षोगृहाः ॥२६॥

हेमाङ्गदः—(विहस्य ।) [2]नूनमिदानीमत्र

दृष्ट्वा [3]राघवमेकराक्षसवनस्वच्छन्ददावानलं
जानक्यां निजवल्लभस्य परमं प्रेमाणमालोक्य च ।
काङ्क्षन्ती मुहुरात्मपक्षविजयं भङ्गं च मुग्धा मुहु-
र्ध्यायन्ती [4]ध्रुवमन्तरालपतिता मन्दोदरी वर्तते ॥ २७ ॥

स्वातिरिक्तहठहृतस्त्रीणाम् शुचः शोकोच्छ्वासाः येषु तथोक्ताः, देवेन्द्रोऽपि वन्दीभूतः अन्या अपि हठहृताः स्त्रियो वन्दीभूतास्तत्र अन्याः स्त्रियो यच्छोकोच्छ्वासमुत्सृजन्ति तत्तत्र स्थितेनेन्द्रेण स्वतनौ सह्यते अर्थात् देवेन्द्रेण समं यत्र बहवोऽन्या वन्दीस्त्रियः सीदन्तीत्याशयेनेदं विशेषणम् । वीरश्रिया वीरलक्ष्म्या सह पांसुकेलिः धूलिक्रीडा तत्सुहृदः नित्यानुरक्तवीरलक्ष्मीका इत्यर्थः, मन्दोदरी नाम रावणमहिषी तया बन्धुता सखीभावस्तया शौटीरः गर्वो यासां तथाभूताः या असुरसुन्दर्यः राक्षसस्त्रियः ताभिः सुरभयो रमणीयाः रक्षोगृहा राक्षसभवनानि क्षुभ्यन्ति चञ्चलतां यान्ति । रणवाद्ये वाद्यमाने सति रक्षोगृहाः सञ्चरद्वीरराक्षसपादचारैः चञ्चलतां गच्छन्तीत्यर्थः । 'शौटीरस्तु मतो गर्वे' इति शाश्वतकोषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २६ ॥

दृष्ट्वेति । मन्दोदरी रावणमहिषी राघवम् रामम् एके अद्वितीयाः राक्षसा एव वनानि तेषां कृते स्वच्छन्ददावानलं निरर्गलं वनवह्निं दृष्ट्वा निजवल्लभस्य स्वप्रियस्य रावणस्य जानक्यां सीताविषये परमं प्रेमाणम् अतिप्रवृद्धामासक्तिं च आलोक्य दृष्ट्वा मुहुः आत्मपक्षस्य स्वीयराक्षसपक्षस्य विजयं काङ्क्षन्ती मुहुश्च भङ्गं राक्षसपक्षपराजयं ध्यायन्ती चिन्तयन्ती सती मुग्धा मूढबुद्धिः ध्रुवम् अन्तराल-

---

लिए बेड़ीको देकर अन्य बन्दीजनके बेड़ी-कष्टको छुड़ानेवाले, वीरलक्ष्मीके साथ धूलि क्रीड़ा करनेवाले, तथा मन्दोदरीके साथ स्नेह होनेसे गर्वयुत राक्षसियोंसे पूर्ण राक्षसोंके गृह क्षुभित हो रहे हैं ॥ २६ ॥

हेमाङ्गद—(हंसकर) निश्चय ही इस समय यहाँ,

राक्षसरूप वनके लिए स्वच्छन्द दावानल सदृश रामको देखकर तथा जानकी के लिए अपने पति रावणके हृदयमें परम प्रेम देखकर अपने पक्षका विजय चाहनेवाली तथा पराजय भी चाहनेवाली मन्दोदरी बीचमें पड़ी होगी ॥ २७ ॥

---

१. 'शौण्डीर–' । २. 'इदानीम्' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'एव' । ४. 'मुहुः' ।

रत्नचूडः—(सकरुणस्मितम् ।) वयस्य, विबुधराजविजयविक्रमक्रीतचेतसा वृद्धपितामहेन स्वयं परमेष्ठिना [1]प्रतिष्ठितेन्द्रजिन्नामधेयशेषस्य तादृशस्य तनूजस्य शुचा विचेष्टमानामरातिगृहिणीमपि नैवमुपक्रोष्टुमर्हसि । (पुरोऽवलोक्य च ।) हस्तदक्षिणेन [2]कथमयं द्विधा विभज्यते महाजनः । (निरूप्य च समहाकौतुकम् ।) सखे, पश्य पश्य ।

न्यञ्चन्न्यञ्चद्धरित्रीधृतचरणभरश्चन्द्रहासैक[3]दृष्टि-

पतिता द्विधाभावमाश्रयन्ती वर्त्तते । रामस्य राक्षसवधप्रवृत्ततया स्वपक्षस्य जयमिच्छति, रामस्य पराजये रावणेन सीतायां लब्धायां मां परित्यज्य रावणः सीतावश एव भविष्यतीति मास्तु तथेति स्वपक्षपराजयमिच्छति, तदित्थं रामजये राक्षसवंशनाशः रावणजये स्वीयं सापत्नकष्टं चेति उभयतः क्लिष्टां दशामनुभवन्ती मन्दोदरी नितरां सचिन्ता विद्यत इत्याशयः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दम्' इत्यमरः ॥२७॥

विबुधराजेति । विबुधराजविजये इन्द्रविजये यो विक्रमः पराक्रमातिशयस्तेन क्रीतं वशीकृतं चेतो यस्य तथोक्तेन, इन्द्रजिता शक्रपराभवकाले प्रदर्शितेन पराक्रमेण वशीभूतेनेत्यर्थः । परमेष्ठिना ब्रह्मणा । प्रतिष्ठितेन्द्रजिन्नामधेयशेषस्य ब्रह्मविहितेन्द्रजिदित्यभिधानमात्रावशिष्टस्य नाममात्रशेषस्य मृतस्येन्द्रजित इत्यर्थः । तनूजस्य शुचा पुत्रशोकेन । विचेष्टमानाम् व्याकुलीभवन्तीम् । अरातिगृहिणीम् विपक्षस्त्रियम् । उपक्रोष्टुम् निन्दितुम् । शत्रोरपि स्त्रियाः पुत्रविपत्तौ विह्वलतां गतायाः निन्दा न सद्भिराचरणीया, भाग्यदोषोपनतत्वात्सहानुभूतियोग्यत्वाच्चेति भावः ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिग्विभागेन । विभज्यते विभागवान् भवति । दक्षिणहस्तभागदिगवस्थितो लोकः कथं भागद्वये विभक्तो भवतीत्याशयः ।

न्यञ्चदिति । न्यञ्चन्ती पुनः पुनर्निम्नतां भजन्ती या धरित्री पृथ्वी तस्यां धृतः

रत्नचूड—(करुणा तथा हासके साथ) मित्र, इन्द्रको जीत लेनेवाले पराक्रमसे क्रीतहृदय वृद्ध पितामह ब्रह्माने स्वयं जिसका नाम इन्द्रजित् रखा, उस पुत्रके शोकमें अधीर होकर रोनेवाली शत्रु-स्त्रीका भी इस तरह उपहास करना उचित नहीं है, (आगे देखकर) दाहिने हाथकी ओर जन-समुदाय क्यों दो भागोंमें विभक्त होता जा रहा है ? (देखकर आश्चर्यके साथ) देखो देखो—

नीचे जाती हुई पृथ्वीपर चरण रखकर चन्द्रहासको एकटक देखता हुआ, एक साथ

---

१. 'प्रतिष्ठापित-'　　२. 'कथमत्र' ।　　३. 'चित्तः' ।

व्यावल्गद्यौगपद्योत्सुकसकलभुजाक्रान्तदिक्चक्रवालः ।
क्रोधक्रूराक्षिरक्तोत्पलरचितवियत्तोरणस्रञ्जि बिभ्र-
द्वक्त्राणि प्रत्यनीकप्रसरसरभसो निर्जिहीते दशास्यः ॥२८॥

हेमाङ्गदः—(निर्वर्ण्य ।) अहो, दृष्टचरमप्यस्य साङ्ग्रामिकमोजायितमयातयाममिव भीपयते । सखे रत्नचूड,

मरुत्वद्दम्भोलिक्षणघटितघोरश्वयथुना

अर्पितः चरणभरः पादसमुदायो येन तथोक्तः, चन्द्रहासैकदृष्टिः केवलं चन्द्रहासनामके स्वखड्गे बद्धदृष्टिः, व्यावल्गद्भिः सञ्चरद्भिः यौगपद्येन समकालम् उत्सुकैः स्वस्वपराक्रमप्रकाशनाय व्यग्रीभवद्भिः सकलैः भुजैः विंशत्या बाहुभिः आक्रान्तं व्याप्तम् दिक्चक्रवालं दिङ्मण्डलं येन तादृशः, क्रोधेन क्रूराणि भीषणानि अक्षीणि नेत्राणि एव रक्तोत्पलानि तैः रचिता वियति आकाशे तोरणस्रक् यैस्तादृशानि वक्त्राणि मुखानि बिभ्रत् धारयन् प्रत्यनीकप्रसरसरभसः शत्रुसम्मुखोपसरणत्वरावान् दशास्यो रावणः ओज्जिहीते लङ्कातो निर्याति, चरणभारनतायां पृथ्व्यां न्यस्तपादः स्वखड्गमात्रदत्तदृष्टिः समकालमेव पराक्रमप्रदर्शनाय व्याकुलीभवद्भिर्भुजैर्दिङ्मण्डलं व्याप्नुवन् कोपेन रक्तैर्नयनरूपरक्तकमलैर्यानि दशमुखानि व्योम्नि तोरणस्रजं निर्मान्ति तादृशानि वियति विक्षिप्तरक्ताभनयनानि मुखानि दधानो युद्धक्षेत्रगमने त्वरावानयं रावणो लङ्कानगराद् वहिर्भवतीति पश्येति वाक्यार्थः । रामायणे रावणस्य चत्वारश्चरणा उक्ता इत्यत्र चरणभरपदं दत्तम् । 'चक्रवालं तु मण्डलम्' इत्यमरः ॥ २८ ॥

दृष्टचरम् पूर्वदृष्टम्, भूतपूर्वे चरट् । अस्य रावणस्य । साङ्ग्रामिकम् युद्धे समर्थम् ओजायितम् ओजस्विता पराक्रमः । अयातयामम् जीर्णं परिभुक्तञ्च यातयामम्, तद्भिन्नमननुभूतपूर्वम् । 'यज्जीर्णं परिभुक्तं च यातयामं तदुच्यते' इत्यमरः । भीपयते भयं जनयति ।

मरुत्वदिति । अयं वीरो दशमुखः मरुत्वतः शक्रस्य दम्भोलिना वज्रेण क्षणम्

फड़कनेवाले बाहुओंसे सकल दिङ्मण्डलको व्याप्त करता हुआ, क्रोध-क्रूर नयन-कमलोंसे विरचित वन्दनवारयुक्त मुखोंको धारण करनेवाला तथा शत्रुसैन्यकी ओर बढ़नेकी तेजी दिखलाता हुआ रावण चला आ रहा है ॥ २८ ॥

हेमाङ्गद—(देखकर) अहो, पूर्वदृष्ट होनेपर भी रावणका यह सांग्रामिक तेज नवीनकी तरह भय पैदा कर रहा है, सखे रत्नचूड,

इन्द्रके वज्रने जिसपर थोड़ी देरके लिए शोथसा उत्पन्न कर दिया था, उस

निसर्गोदग्रेण प्रसभमुरसा पीतगगनः ।
श्रियं देवद्रीचीं निजभुजवनोद्दामकरिणी-
मयं कुर्वन्वीरः स्मरसि कथमासीद्दशमुखः ॥ २९ ॥

रत्नचूडः—सखे, किमुच्यते । महतामप्युपरि किमप्ययं रावणः ।

एनं कल्पतरूद्भवैरसुकरव्याजैः सदा भूषणै-
राराध्नोति सुराधिपः किमपरं दीनो नदीनां पतिः ।
दण्डाधिक्यभयात्कथं कथमपि स्कन्धोपनेयान्मणी-
नप्यस्मै परिशोधयत्य[1]पदिशन्निःसम्पदः स्वाकरान् ॥ ३० ॥

अल्पकालपर्यन्तं घटितः कृतः श्वयथुः शोथो यत्र तादृशेन शक्रवज्राहत्या क्षणं लब्धशोथेनापि शीघ्रमेव प्रकृतिं प्रपन्नेन निसर्गोदग्रेण स्वभावविस्तृतविशालेन उरसा वक्षसा पीतगगनः व्याप्ताकाशः सन् देवद्रीचीम् देवगणसम्बन्धिनीम् श्रियं लक्ष्मीम् निजभुवनोद्दामकरिणीम् स्वबाहुसमूहवासिनीं मस्तहस्तिनीं कुर्वन् कथम् आसीत्, स्मरसि तत् । इन्द्रवज्रप्रहारमपि क्षणान्निवर्त्तयतोरसा गगनं व्याप्य देवश्रियं स्वभुजेषु निवासयन्नयं रावणः कथं प्राक्रमतेस्म, तत्त्वं किं स्मरसीत्यर्थः ॥२९॥

एनमिति । सुराधिपः इन्द्रः कल्पतरूद्भवैः कल्पवृक्षप्रसूतैः असुकरव्याजैः असाध्यच्छलैः अन्यपुष्पाणि दत्त्वा कल्पवृक्षपुष्पाणीमानीति वञ्चनायामशक्यप्रयोगैः, अन्यपुष्पप्रदाने स्फुटपरिचेयभेदैः जगद्विलक्षणैः छलाविपर्ययैरित्यर्थः, भूषणैर्माल्याद्यलङ्कारैः सदा सर्वदा एनं रावणम् आराध्नोति सेवते, नदीनां पतिः सागरः अपि दीनः कृपणः सन् दण्डाधिक्यभयात् वर्त्तमानदण्डाधिकदण्डभीत्या स्वाकरान् स्वीयरत्नखनीन् निःसम्पदः इतोऽधिकरत्नसम्पद्रहिताः अपदिशन् निवेदयन् अस्मै

स्वभावोन्नत उरोदेशसे आकाशको व्याप्त करनेवाला, तथा देव-सम्बन्धिनी लक्ष्मीको अपने बाहुवनकी करिणी बनानेवाला रावण कैसा था, यह स्मरण करते हो ॥ २९ ॥

रत्नचूड—सखे, क्या कहा जाय, यह रावण सभी महाजनोंके ऊपर है ।

इस रावणको जिसकी नकल नहीं की जा सकती है ऐसे कल्पतरु-प्रसूत भूषणों द्वारा इन्द्र सदा आराधित किया करता है, फिर इस गरीब समुद्रका क्या कहना है ?

यह समुद्र दण्डकी अधिकताके भयसे किसी तरह मणियोंको कन्धेपर लाकर रावणको सौंपता है और यह भी निवेदन कर जाता है कि इससे अधिक मणि मेरे आकरमें हैं ही नहीं ॥ ३० ॥

---

१. 'अपि दिशन्' ।

हेमाङ्गदः—(सभयम् ।) कथमयं परापतित एवासमसमर[1]हर्षहेषमाणवनायुजवाजिनिवहवितीर्णकीनाशकासरकर्णज्वरेण प्रजविना रथेन कार्मुकपाणिर्महावीरः[2] ।

रत्नचूडः—(सभयाद्भुतम् ।)

कल्पान्तक्रूरसूरोत्करविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध-
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयोविलक्षः ।

रावणाय स्कन्धोपनेयान् स्कन्धवाह्यान् अतिस्थूलान् मणीन् रत्नानि परिशोधयति समर्पयति । इन्द्रोऽस्मै रावणाय कल्पतरूद्भवानि माल्यादिभूषणानि (येषु परपुष्पमाल्यादिसमर्पणद्वारा च्छलमपि कर्त्तुमशक्यन्तादृशानि) समुद्रोऽपि कदाचिदितोऽपि प्रखरं दण्डं दद्यादिति दीनः सन् स्थूलान् मणीनर्पयति, सूचयति च यदितोऽधिका मणयो न मदाकरेषु सन्तीति अनुल्लङ्घनीयाज्ञोऽयं रावण इत्यर्थः ॥३०॥

परापतितः समागतः । असमे अनुपमे समरे संग्रामे यो हर्षः उत्साहातिशयः तेन हेषमाणो हेषाशब्दं कुर्वन् यो वनायुजवाजिनिवहः वनायुदेशोत्पन्नाश्वसमूहः तेन वितीर्णः कीनाशकासरस्य यमराजमहिषस्य कर्णज्वरः श्रवणसन्तापो येन तथोक्तेन प्रजविना अतितीव्रगामिना । कार्मुकपाणिः चापहस्तः । अत्राश्वशब्देन यममहिषकर्णज्वरोत्पत्युक्त्या यमराजस्य तत्र रणक्षेत्रे सन्निधानं तेन च रणस्यातिभीषणत्वमुक्तम् ।

कल्पान्तेति । कल्पान्ते प्रलयकाले क्रूरः अतिप्रचण्डो यः सूरोत्करः सूर्यनिवहः तद्वद्विकटानि मुखानि यस्य तथाविधः मानुषेण मर्त्येन रामेण यत् द्वन्द्वयुद्धं परस्परसमसंग्रामः सैव क्रीडा तया कण्डूयन्तः खर्जूलाः ऊर्जस्वलाः बलवन्तो ये सकलाः भुजाः विंशतिबाहवः तेषाम् आलोकेन भूयोविलक्षः अधिकलज्जितः, गीर्वाणगोष्ठीनां देवसमाजानाम् गुरुर्महान् यः मदो गर्वः तस्य निकषः परीक्षास्थानभूतः नैकषेयः

हेमाङ्गद—(सभय) अद्वितीय युद्धरसहर्षसे शब्द करनेवाले अरबी घोड़ों द्वारा यमराजके भैंसोंका कर्णज्वर उत्पन्न करनेवाला तेज रथपर आरूढ़ धनुर्धर यह रावण आ ही गया ।

रत्नचूड—(भय तथा आश्चर्यके साथ)

प्रलयकालिक प्रखर सूर्य सदृश मुखवाला, मानुष-युगलसे युद्ध-क्रीड़ाकी इच्छा रखनेवाले हाथोंको देखकर अति लज्जित, देवगणके मदको दूर करनेवाला यह रावण युद्ध-

---

१. 'सहर्ष–' । २. 'महारथः' ।

सम्भूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहाशस्त्रसम्पातभीमा-
मुर्वी गीर्वाणगोष्ठीगुरु[1]मदनिकषो [2]नैकषेयः पिधत्ते ॥ ३१ ॥

हेमाङ्गदः—(सकौतुकम् ।) सखे, दक्षिणतः पश्य तावत् ।

अगस्त्याज्ञासद्यःशमितविपुलोच्छ्रायविषमा-
नुदस्यन्तः सेतावलगितवतो विन्ध्यशिखरान् ।
शिरःसंख्यासत्याकृतदशमुखालोकरभसा-
दुपेत्यातित्रस्ताश्चपलमपसर्पन्ति कपयः ॥ ३२ ॥

निकषागर्भसंभवो रावणः संभूय मिलित्वा उत्तिष्ठमानानाम् उद्यमं कुर्वताम् स्वपरबलानाम् निजस्य विपक्षस्य च सेनानाम् महद्भिः शस्त्रसम्पातैः भीमाम् भीषणाम् उर्वी पृथ्वीं विधत्ते आच्छादयति । प्रलयकालिकप्रचण्डसूर्यवद् भीषणमुखो द्विभुजेन मानवेन सहाहं कथं विंशत्या भुजैर्युद्धये इति बाहून् सलज्जं वीक्षमाणोऽयं रावणः स्वपराक्रमेण देवानां भुजदर्पं शमयन् स्वस्य शत्रोश्चोत्तिष्ठमानानां सैन्यानां शस्त्रसम्पातैर्धरणीमावृणोतीति भावः ॥ ३१ ॥

अगस्त्याज्ञेति । अगस्त्यस्य मुनेः आज्ञया सद्यःशमिताः तत्कालसमाप्ताः विपुलोच्छ्रायाः महोन्नतयो येषां ते तथोक्ताः अत एव विषमाः तीक्ष्णमुखाः तान् सेतौ रामनिर्मितसमुद्रसेतौ अलगितवतः अलग्नान् समुद्रे सेतुं निर्मातुमानीतानपि प्रयोजनाभावात्परित्यक्तान् विन्ध्यशिखरान् विन्ध्याद्रिशृङ्गाणि उदस्यन्तः रावणसैन्योपरि क्षिपन्तः शिरःसंख्यया मस्तकगणनया सत्याकृतस्य रावणोऽयमिति निश्चयितस्य दशमुखस्य आलोके दर्शने यो रभसः औत्सुक्यं ततः तस्मात् उपेत्य समीपं गत्वा तद्दर्शनादतित्रस्ताः सातिशयभीताः कपयः चपलम् सत्वरम् अपसर्पन्ति पलायन्ते । ये विन्ध्यशिखराः अगस्त्याज्ञया तत्कालमेव स्वमुन्नतत्वं परिहृतवन्तस्तेऽत्र सेतुनिर्माणार्थमानीताः परं कतिभिरेव सेतोः सम्पन्नतया अव-

---

स्थलको एक साथ सन्नद्ध स्वबल तथा परबलके द्वारा महाशस्त्रपात किये जानेसे भीषणतम बना रहा है ॥ ३१ ॥

हेमाङ्गद—(उत्कण्ठासे) सखे, दक्षिणकी ओर देखो—

अगस्त्यकी आज्ञासे जिन्होंने अपने उन्नमनको तत्काल रोक लिया ऐसे तथा सेतुमें नहीं काम आये विन्ध्य शिखरोंको प्रहरणके रूपमें फेंकनेवाले वानर सैनिक शिरकी संख्यासे प्रमाणित दशमुखोंको देखकर अतिभयभीत हो तेजीसे दूर भाग जाते हैं ॥ ३२ ॥

---

१. 'भटनिकषः' ।　२. 'कैकसेयो विधत्ते' ।

रत्नचूडः—(दृष्ट्वा सहासम् ।)

शस्त्रीकृतान्कपिभिरापततो [1]मुदैव
विक्रम्य चन्दनतरून्दधते पलादाः ।
तत्सङ्गिनस्तु भुजगाः क्षणपाशबन्ध-
दुःखासिकामवयवेषु दिशन्त्यमीषाम् ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गदः—(विहस्य[2] ।) इतोऽपि तावत् ।

रक्षःस्वयंवरविडम्बपराङ्मुखीभिः
पुष्पोत्करे सुरवधूभिरनुज्झितेऽपि ।

शिष्टान् विन्ध्यगिरिशिखरान् रावणसैन्यमुद्दिश्य क्षिपन्तो वानराः शिरांसि गणयित्वा रावणोऽयमिति निश्चित्य तद्दिदृक्षया रावणसमीपं गत्वा अतित्रस्ताः सन्तः सत्वरं ततो दूरमपसरन्तीति तात्पर्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३२ ॥

शस्त्रीकृतानिति । पलादाः राक्षसाः कपिभिः वानरैः शस्त्रीकृतान् प्रहरणभावेनादीयमानान् आपततः सम्मुखागतान् चन्दनतरून् विक्रम्य उत्प्लुत्य मुदैव हर्षेणैव दधते धारयन्ति, तु किन्तु तत्सङ्गिनः चन्दनतरुस्थिताः भुजगाः सर्पाः अमीषां राक्षसानाम् अवयवेषु अङ्गेषु क्षणं पाशबन्धेन दुःखासिकाम् दुःखस्थितिं दिशन्ति जनयन्ति, यद्यपि वानरक्षिप्तैश्चन्दनतरुभिः कपीनां क्लेशो न जायते तेषां कपिभिरुत्प्लुत्य धारणात्तथापि चन्दनतरुवर्त्तिभिर्भुजगैः कण्ठपाशीभवद्भिः पलादानामङ्गेषु दुःखस्य स्थानं क्रियते इत्याशयः । 'आसिका' पदं भाववुञन्तम्, स्थितिवाचि । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

रक्षःस्वयंवरेति । रक्षसाम् स्वयंवर एव विडम्बः गर्हितो व्यापारस्ततः पराङ्मुखीभिः विमुखतां गताभिः सुरवधूभिः सुराङ्गनाभिः पुष्पोत्करे पुष्पसमूहे अनुज्झिते अवृष्टेऽपि (संग्रामहतानां रक्षसां वरणे लज्जामनुभवन्तीभिर्देवबालाभिस्तेषां

रत्नचूड—(देखकर सहास)

वानरों द्वारा शस्त्रके रूपमें प्रहृत चन्दन-तरुओंको यह राक्षस आनन्दसे ऊपर ही लोक लेते हैं, उन चन्दन-तरुओंमें लिपटे हुए सर्प इन राक्षसोंको पाशबन्धका कष्ट कुछ देर तक अवश्य देते हैं ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गद—(हंसकर) इधर भी—

राक्षसोंके स्वयं वरणसे पराङ्मुख सुराङ्गनायें यद्यपि पुष्पवृष्टि नहीं करती हैं तथापि

---

१. 'मुदैवम्' । २. 'सहासम्' ।

शस्त्रीकृतेन तरुणा हरिणा हतोऽसौ
नक्तञ्चरः स्वपिति तत्कुसुमावकीर्णः ॥ ३४ ॥

रत्नचूडः—(चिरं विभाव्य ।) सखे, पश्य पश्य ।

स्वतनुरुचिभिर्दीर्घाह्नीं द्यामितः सृजतां निजै-
रध विदधतः कायाभोगैरकाण्डतमस्विनीम् ।
दधति नितरा[1]मुद्दीप्राणाम[2]धश्छिदुरश्रियो
हरिहुतभुजां धूमच्छायाममी रजनीचराः ॥ ३५ ॥

सत्काराय पुष्पवृष्टिकर्मण्यक्रियमाणेऽपि) हरिणा वानरेण शस्त्रीकृतेन प्रहरणतां प्रापितेन तरुणा वृक्षेण हतः ताडितोऽसौ नक्तञ्चरो राक्षसः कुसुमावकीर्णः पुष्पाच्छन्नः स्वपिति रणभूमौ शेते । देवबालाभिः पुष्पवृष्टावकृतायामपि वानरप्रहरणीकृततरुच्युतकुसुमानि रणे हतं तं राक्षसमाच्छादयन्तीत्यर्थः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥३४॥

स्वतनुभिरिति । छिदुरा भङ्गुरा पराजयेन विनश्वरा श्रीः कान्तिर्येषां तादृशाः अमी रजनीचराः राक्षसाः निजैः स्वीयैः कायाभोगैः देहविस्तारैः अकाण्डे असमय एव तमस्विनीं रात्रिं विदधतः कुर्वन्तः, स्वतनुरुचिभिः निजदेहकान्तिभिः इतः अत्र देशे दीर्घाह्नीम् चिरस्थायिदिवसाम् द्याम् आकाशं सृजताम् कुर्वताम् अधः निम्नदेशे भुवि नितरामुद्दीप्राणाम् अत्यर्थं दीप्यमानानाम् हरिहुतभुजाम् वानररूपाग्नीनाम् धूमच्छायां धूमकान्तिं दधति धारयन्ति । वानराः स्वपिङ्गलप्रभयाऽधो वियत् दीर्घदिवसं कुर्वते नक्तञ्चराश्च श्यामकाया रथस्थतयोपरि विनैव समयं रात्रिमुपस्थापयन्ति, तदित्थं प्रतीयते यद्दीप्रकान्तीनां वानराग्नीनामुपरि राक्षसानां देहकान्तिर्धूमलेखा विद्यत इति । उपमाऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

वानरोंद्वारा फेंके गये चन्दन तरुओंसे आहत राक्षस उस चन्दनतरुके फूलसे ढंका हुआ युद्धक्षेत्रमें सो रहा है ॥ ३४ ॥

रत्नचूड—(देर तक विचार कर) सखे, देखो देखो,

वानरगण आकाशमें उड़कर अपनी देहद्युतिसे आकाशको आलोकित कर रहे हैं उनके नीचे राक्षस अपनी देहोंके विस्तारसे अन्धकार फैला रहे हैं, इस तरह उन प्रभासित वानरोंके नीचे अप्रकाशमय यह राक्षसगण वानररूप अग्निकी धूमराशिके समान प्रतीत होते हैं ॥ ३५ ॥

---

1. 'उद्दीप्तानाम्' । 2. 'अथ' ।

हेमाङ्गदः—(सस्मितम् ।) सखे, पश्य पश्य ।

किमपि कपयः कर्माश्चर्यं महातरुशस्त्रिणो
विदधति यथा दिक्कूलेभ्यस्तथापसरन्त्यमूः ।
भुवमवपतद्रक्षःश्रेणीविमुक्तनभोन्तर-
प्रतिभरणिकानिःस्थामानो दशाननकीर्तयः ॥ ३६ ॥

रत्नचूडः—(ससंभ्रमम् ।) अहह, दारुणमुपस्थितम् ।

रक्षोनिपिष्टकपिमुक्तमहीध्रचूर्ण-
पूर्णान्तराभिरिषुवृष्टिभिरुज्जिहानः ।
[1]रोषाट्टहासदहनप्रसरैस्तडित्वां-
[2]ल्लङ्काधिपः किमपि सन्तमसं तनोति ॥ ३७ ॥

किमपीति । महातरुशस्त्रिणः विशालवृक्षप्रहरणाः कपयः किमपि विशिष्य वक्तुमनर्हम् आश्चर्यं विस्मयजनकं कर्म यथा विदधति कुर्वते तथा अमूः दशाननकीर्त्तयः रावणयशांसि अवपतन्तीभिः भूमौ निपतन्तीभिः रक्षसां श्रेणीभिः समुदायैः विमुक्तं त्यक्तम् यत् नभोऽन्तरम् आकाशमध्यं तस्य प्रतिभरणिकया पूर्त्या निःस्थामानो निर्बलाः दिक्कूलेभ्यो दिगन्तेभ्योऽपसरन्ति । रावणस्य कीर्त्तयो नभोमध्यस्य राक्षसव्याप्तत्वात् दिशामन्ते स्थिताः, वानरैर्महातरुप्रहारिभिर्निपातितेषु व्योमचारिषु राक्षसेषु पुनः शून्यस्य नभोदेशस्य पूर्तिं कर्तुं बाधिताः सत्यो रावणकीर्त्तयो दिगन्तेभ्योऽपसृत्य नभोमध्यं श्रयन्तीत्यर्थः । स्थाम बलम् । ध्रुवपदमुत्प्रेक्षामाह ॥ ३६ ॥

रक्षोनिपिष्टेति । रक्षोभिः निपिष्टाः निश्शेषचूर्णीकृताः कपिभिर्मुक्ताः प्रहृताः च महीध्राः पर्वताः तेषां चूर्णेन रजोरूपेण पूर्णं व्याप्तम् अन्तरं यासां ताभिरिषुवृष्टिभिः बाणवर्षणैः उज्जिहानः उद्यन् लङ्काधिपो रावणः रोषेण ये अट्टहासाः घोरहसितानि त एव दहनप्रसराः अग्निविस्तारास्तैस्तडित्वान् विद्युद्युक्तो मेघः किमपि

हेमाङ्गद—महानरुओंको शस्त्र बनानेवाले ये वानरगण कुछ ऐसा आश्चर्यजनक कार्य करते हैं जिससे गिरते हुए राक्षसोंके द्वारा त्यक्त आकाशदेशको भरनेमें व्यस्त रावणकी कीर्त्तियाँ दिगन्तसे अपसृत हो रही हैं ॥ ३६ ॥

रत्नचूड—(घबड़ाकर) अहह !! बड़ा दारुण युद्ध हो रहा है ।

राक्षसद्वारा चूर्ण किये गये वृक्षोंके चूर्णसे पूर्ण अन्तरालवाली बाणवर्षाके साथ आता हुआ यह रावण कोपकृत अट्टहासरूप अग्निके प्रसारसे एक प्रकारका गाढ़ान्धकार फैला रहा है ॥ ३७ ॥

---

१. 'दशन–' । २. 'लङ्कापतिः' ।

हेमाङ्गदः—(क्षणं निर्वर्ण्य ।) अहो, क्षुद्रैरपि सम्भूय भूयोभिरेको महान्सुकरः कदर्थयितुम् । यतः ।

दृप्यद्दिक्पालदन्तावलबहलमदावग्रहोग्राभिरक्ष्णां
तारामिर्दीप्यमानं दिशि विदिशि दशग्रीवमुद्ग्रीवयन्तः ।
एते निःशेषसेतुग्रथनसमधिकैः शस्त्रिणः शैलपादै-
रुद्दामानः कपीन्द्रा रजनिचरपुरीमुत्तरेण प्लवन्ते ॥ ३८ ॥

रत्नचूडः—(सविषादम् ।) हन्त महद्विपसमिव पश्यामि । यदसी

अवर्णनीयम् सन्तमसं गाढान्धकारं तनोति विस्तारयति । अन्यो मेघो यथा वृष्टिमातनोति तडित्वान् भवति तमश्च विस्तारयति तथाऽयं रावणो वाणवृष्टिं करोति कोपाट्टहासदहनैर्विद्युदुद्दीपितः, तमश्च विस्तारयतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

क्षुद्रैरिति । क्षुद्रैरपि भूयोभिः सम्भूय एको महान् कदर्थयितुं सुकर इति योजना । महान्तमप्येकं मिलिता बहवः क्षुद्रा अपि क्लेशयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ।

दृप्यदिति । निःशेषं समाप्तं यत्सेतुग्रथनं सेतुबन्धनं तस्मात् समधिकैः अवशिष्टैः शैलपादैः पर्वतखण्डैः शस्त्रिणः आयुधवन्तः सेतूर्वरितशिलाखण्डप्रहारिणः एते उद्दामानः वीर्योद्धताः कपीन्द्राः महाकपयः दृप्यतां दर्पशालिनां दिग्दन्तावलानां दिग्गजानाम् बहलः प्रभूतो यो मदः दानवारि तस्य अवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे उग्राभिः क्रूरभीषणाभिः अक्ष्णां नेत्राणां ताराभिः कनीनिकाभिः दिशि विदिशि दीप्यमानम् दशग्रीवं रावणम् उद्ग्रीवम् उत्थापितकन्धरं कुर्वन्तः लङ्कामुत्तरेण लङ्काया उत्तरदिशि प्लवन्ते उत्पतन्ति । समुद्रसेतूर्वरितशिलाखण्डप्रहरणा अमी वानरा लङ्काया उत्तरभागे परापतन्ति तान् द्रष्टुं रावण उद्ग्रीवो भूत्वा कुपितानि स्वनेत्राणि दिशि दिशि व्यापारयति रक्तवर्णतदक्षितारावीक्षणेन दिग्गजा बिभ्यति येन तेषां दानवारि सद्यः शुष्यतीत्यर्थः । रजनिचरपुरीमुत्तरेण इत्यत्र 'एनपा द्वितीया' इति द्वितीया, स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३८ ॥

हेमाङ्गद—(थोड़ी देर देखकर) बहुतसे क्षुद्र भी मिलकर एक महान्को कदर्थित कर सकते हैं, क्योंकि—

दर्पशाली दिग्गजोंके मदको सुखा देनेवाली आँखोंकी पुतलियोंसे दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले रावणको उद्ग्रीव बना देनेवाले यह सेतुबन्धसे बचे हुए पर्वत-खण्डोंको शस्त्ररूपमें प्रयुक्त करनेवाले उद्दण्ड वानरगण लङ्कापुरीके उत्तरभागमें दौड़ मचा रहे हैं ॥ ३८ ॥

रत्नचूड—(थोड़ी देर देखकर) हन्त, बड़ा भयङ्कर मालूम पड़ रहा है, यह राक्षस

[1]निष्कृपकृपाणपाट्यमानप्रतिभटविकटोरःकपाटकण्टकितकपोलभित्तयः [2]सन्तानपातिनीभिरनीकरुधिरधाराभिरतिप्रवृद्धवीरपानगोष्ठीमहोत्सवाः समन्तादभिद्रवन्ति यातुधानाः [3]प्लवङ्गमयूथपतीन् ।

हेमाङ्गदः—(सहर्षम् ।) सखे, कृतं विषादेन । यदेषः—

दशमुखशरपीडितापयानोद्यमपरिपुच्छयमानवानराणि ।
सरभसमभिसान्त्वयन्बलानि द्विपमभियोधयति प्लवङ्गराजः ॥३९॥

रत्नचूडः—(दृष्ट्वा सखेदहासाद्भुतम् ।) अहह,

निष्कृपेति । निष्कृपैः कठोरैः कृपाणैः खड्गैः पाट्यमानाः विदार्यमाणाः प्रतिभटानां विपक्षाणां विकटाः ये उरःकपाटाः कपाटवद् विस्तीर्णान्युरःस्थलानि तैः दृश्यमानैस्तैः कण्टकिताः सरोमाञ्चाः कपोलभित्तयः गण्डस्थलानि येषां तथोक्ताः, सन्तानपातिनीभिः प्रवाहरूपेण स्यन्दमानाभिः । अनीकरुधिरधाराभिः सैन्यशोणितप्रवाहैः अतिप्रवृद्धः बहुलीभवन् वीरपाणगोष्ठीमहोत्सवो येषां ते तथोक्ताः, 'युद्धे यत् क्रियते पानं वीरपानं तदुच्यते' समन्तात् सर्वतः । अभिद्रवन्ति आक्रामन्ति । प्लवङ्गमयूथपतीन् वानरसैन्यमुख्यान् । कृतं विषादेन खेदो मा कारि ।

दशमुखेति । प्लवङ्गराजः सुग्रीवः दशमुखस्य रावणस्य शरैः पीडिताः आहताः अपयाने युद्धक्षेत्रात्पलायने च उद्यमः उद्योगस्तेन उत्पुच्छयमानाः स्वान् पुच्छानुपरि क्षिपन्तो वानरा येषु तादृशानि बलानि स्वसैन्यानि सरभसम् त्वरया अभिसान्त्वयन् समयोचितवचनैरुत्साहयन् द्विपम् शत्रुम् अभियोधयति शत्रोरभिमुखयुद्धाय गच्छति । रावणबाणाहततया पलायनायोत्क्षिप्यमाणपुच्छान् वानरान् सान्त्ववचनैरुत्साहयन् सुग्रीवो रावणेनाभिमुखयुद्धमारभते इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

निर्दय खड्ग-खण्डित शत्रुपक्षी देशको देखकर कपोलको रोमाञ्चित करते हुए धाराप्रवाह रूपमें बहनेवाली सैन्य रुधिर-धारासे वीरपान-गोष्ठीको आयोजित करके वानरराजको आक्रमणका लक्ष्य बना रहे हैं ।

हेमाङ्गद—(सहर्ष) सखे, विषाद करना व्यर्थ है, यह वानरराज रावणके शरोंसे आहत होकर भाग खड़े होनेके लिये पूँछ उठाये हुए वानर-सैनिकोंको सान्त्वना देते हुए शत्रुसे लड़ रहे हैं ॥ ३९ ॥

रत्नचूड—(देखकर खेद हास तथा आश्चर्यके साथ) अहह !!

---

१. 'प्रतिभटोरः'; 'प्रतिभटविकटोरः' । २. 'सन्तत' । ३. 'प्रधानयूथपतीन्' ।

[1]अस्त्राणि प्लवगाधिपेन विहिताः पौलस्त्यवक्षः[2]स्थली-
संघट्टानलदत्तदावविपदः सीदन्ति भूमीरुहाः ।
उत्पाट्य प्रहितश्च शैलशिखरो लङ्केन्द्रहस्तावली-
निष्पिष्टो निजकुञ्जनिर्झरजलैर्जम्बालपिण्डायते ॥ ४० ॥

हेमाङ्गदः—(विहस्य ।) सखे, दशकन्धरमधिकृत्य न किंचिदेतत् ।

तथैतेनोद्धृत्य स्फटिकशिखरी सोऽपि विदधे
समन्तादामूलत्रुटितवसुधाबन्धविधुरः ।

अस्त्राणीति । प्लवगाधिपेन वानरराजेन सुग्रीवेण अस्त्राणि विहिताः अस्त्रत्वेन व्यवहृताः भूमीरुहाः वृक्षाः पौलस्त्यस्य रावणस्य वक्षःस्थल्यां हृदयदेशे सङ्घट्टेन सङ्घर्षणेन (उत्थितो योऽ) नलः तेन दत्ताः उत्पादिताः दावविपत् दवाग्निव्यसनं येषां तथोक्ताः सन्तः सीदन्ति अवसन्नतां यान्ति, प्लवगाधिपेन उत्पाट्य प्रहितः रावणं प्रति निक्षिप्तश्च शैलशिखरः पर्वतश्रृङ्गम् लङ्केन्द्रस्य हस्तावलीभिः भुजसमुदयैः निष्पिष्टः निरवशेषं चूर्णीकृतः सन् निजस्य पर्वतशिखरस्य यत् कुञ्जं तत्र ये निर्झराः जलप्रवाहास्तैः जम्बालपिण्डायते कर्दमपिण्डस्वरूपं भजते । रावणमुद्दिश्य सुग्रीवेण क्षिप्ता वृक्षास्तदुरःशिलापट्टे सङ्घर्षं प्राप्य तदुत्थितदावानलेनावसीदन्ति पर्वतशिखराश्च तद्भुजवननिष्पिष्टाः स्वकुञ्जप्रवाहिनिर्झरजलैः कर्दमपिण्डाकारं दधतीत्यर्थः । जम्बालः कर्दमः । निजशब्देनात्र शिखरो गृह्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४० ॥

दशकन्धरमधिकृत्य दशकन्धरविषये । न किञ्चिदेतत् त्वयोच्यमानमतितुच्छम् स हि सर्वं त्वदुक्तं कर्तुं ततोऽप्यधिकं च बलं दर्शयितुं क्षम इत्यर्थः ।

तथैतेनेति । एतेन रावणेन सोऽपि स्फटिकशिखरी कैलासपर्वतः उद्धृत्य उत्थाप्य तथा समन्तात् सर्वतः आमूलं त्रुटितेन छिन्नेन वसुधाबन्धेन पृथ्वीसम्बन्धेन विधुरः विरहितः विदधे कृतः येन अद्यापि सम्प्रत्यपि त्रिपुरहरनृत्यव्यतिकरः

वानरराजके द्वारा अस्त्र बनाये गये वृक्ष रावण की छातीसे टकराकर दावानलकी विपत्ति प्राप्त करके सीदित हो उठते हैं उखाड़कर चलाये गये शैलशिखर रावणके हाथोंसे चूर्णित होकर निकुञ्जस्थित निर्झर-जलसे कर्दम-पिण्ड बन जाता है ॥ ४० ॥

हेमाङ्गद—(हँसकर) सखे, रावणके लिये यह कुछ नहीं है,

इस रावणने कैलास पर्वतको उठाकर इस प्रकारसे सर्वांशतः पृथ्वीसंबन्ध-रहित

---

१. 'शस्त्राणि' । २. 'तटी' ।

अमुं येनाद्यापि त्रिपुरहरनृत्यव्यतिकरः
पुरस्तादन्येषामपि शिखरिणामुल्ललयति ॥ ४१ ॥

किं च तर्कयामि ।

शस्त्रीकृतस्तरुवरो हरिपुङ्गवेन लङ्केन्द्रवक्षसि मृणालमृदुः पपात ।
तत्र स्थितैस्तु कुसुमैः कुसुमेषुरेनं सीतावियोगविधुरं दृढमाजघान ॥४२॥

रत्नचूडः—(विहस्य ।) सखे, किमुच्यते [1]महासत्त्ववतामुपरि खल्वसौ रावणः । तथा हि ।

शङ्करस्य नृत्यलीला अन्येषां शिखरिणां पर्वतानां पुरस्तात् पूर्वम् अमुं कैलासम् उल्ललयति चालयति । अयं रावणः कैलासपर्वतं सर्वथोत्थाप्य तथा पृथ्वीसम्बन्धहीनमकरोद्यथाऽद्यापि शिवस्य नृत्यलीलायां प्रारब्धायां सर्वेषु पर्वतेषु स्थिरेषु पृथ्वीसम्बन्धस्य रावणेन शिथिलीकृततयाऽयं कैलास एव चलितुं प्रारभत इत्यर्थः, शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

शस्त्रीकृत इति । हरिपुङ्गवेन वानरप्रधानेन सुग्रीवेण शस्त्रीकृतः प्रहरणतां प्रापितः तरुवरो महावृक्षः लङ्केन्द्रवक्षसि रावणस्योरसि मृणालमृदुः कमलनालकोमलः पपात पतितः, तत्र स्थितैः प्रहरणीकृतवृक्षवर्त्तिभिः कुसुमैः पुष्पैः कुसुमेषुः कन्दर्पस्तु एनम् सीतावियोगविधुरं सीताऽप्राप्तिव्यथितं रावणं दृढम् आजघान बलवत् पीडयामास । वृक्षप्रहारजन्यव्यथाऽभावेऽपि पुष्पबाणव्यथा समधिकाऽभूदिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

महासत्त्ववताम् बलशालिषु मूर्धन्यानाम् । उपरि ऊर्ध्वम् । बलशालिष्वपि महाबलशाली रावण इत्यर्थः ।

बना दिया है कि अभी भी शिवजी अपने नृत्यके समय सभी पर्वतोंके सामने इसी पर्वतको नचाते हैं ॥ ४१ ॥

मैं तर्क करता हूँ,

वानरराज द्वारा शस्त्र बनाया गया तरुवर रावणकी छाती पर कमल-कोमल बनकर गिरता है, परन्तु सीताके वियोगमें दुःखी इस रावणको कामदेव उसी वृक्षपरके फूलोंसे पूर्ण आहत कर देता है ॥ ४२ ॥

रत्नचूड—(हंसकर) सखे, क्या कहा जाय, रावण सभी बलवानोंसे बढ़कर है ।

१. 'महासत्त्वतायां रावणः खल्वयम्'; 'महासत्त्ववतामुपरि रावणः खल्वसौ' ।

स्वेपूत्कृत्य हुतेषु मूर्धसु जवादग्नेः स्फुटित्वा बहि-
र्व्याकीर्णेष्वलिकेषु दैवलिपिभिर्दृष्ट्वाऽपि रामायणम् ।
चित्तेनास्खलितेन यस्तदधिकं ब्रह्माणमप्रीणय-
त्कस्तस्मै प्रथमाय मानिषु महावीराय वैरायते ॥ ४३ ॥

हेमाङ्गदः—सखे, पश्य पश्य भयानकमद्भुतं च वर्तते ।

विशिखौघविकीर्णगण्डशैले तरुसंचूर्णितशक्तितोमरे च ।

स्वेपूत्कृत्येति । स्वेषु शिरस्सु निजमस्तकेषु उत्कृत्य हुतेषु च्छित्त्वाऽग्नौ मन्त्रसंस्कारपूर्वकं दत्तेषु सत्सु जवात् वेगात् स्फुटित्वा विदीर्य बहिर्व्याकीर्णेषु इतस्ततो विकीर्णेषु अलिकेषु स्वकपालेषु दैवलिपिभिः भाग्याक्षरैः रामायणं रामकर्त्तृकरावणवधान्तं रामचरितं दृष्ट्वा प्रत्यक्षमालोक्यापि अस्खलितेन उत्साहभङ्गमनासादयता चित्तेन तदधिकं पूर्वापेक्षयाऽधिकरूपेण यो रावणो ब्रह्माणं स्वाराध्यं देवम् अप्रीणयत् तोषितवान्, मानिषु अभिमानशालिषु प्रथमाय श्रेष्ठाय महावीराय रावणाय कः वैरायते शत्रुत्वमाचरति ? यो रावणः स्वानि शिरांसि हुत्वा ब्रह्माणं प्रसादयितुमारभत, छिन्नहुतेषु शिरस्सु वह्निसन्तापाद्विदीर्य बहिर्विकीर्यमाणे यदासौ स्वभाललिप्यां रामकर्त्तृकं भाविनं स्ववधं पठितवांस्तदाप्यस्खलितधैर्यः पूर्वापेक्षयाऽप्यधिकेनोत्साहेन ब्रह्माणं प्रीणयितुं प्रवृत्तस्तेन रावणेन सह कः स्पर्धितुमर्हति ? न कोऽपि वीरस्तत्स्पर्द्धामधिकुरुत इत्याशयः । 'रामेण रावणवधो रामायणमिति स्मृतम्' इति त्रिकाण्डशेषः । 'ललाटमलिकं गोधिः' इत्यमरः ॥ ४३ ॥

विशिखौघेति । विशिखौघेन शरसमूहेन रावणेन विकीर्णाः निराकृताः गण्डशैलाः सुग्रीवप्रहृताः पर्वतशिलाः यत्र तादृशे, अथ च तरुणा सञ्चूर्णिताः शक्तयः तोमराश्चास्त्रभेदाः यत्र तादृशे च सुग्रीवप्रहिततरुद्वारा यत्र रावणप्रहृतयोः शक्ति-

---

रावणने अपने सभी मस्तक काटकर होम कर दिये, वे मस्तक फूटकर आगसे बाहर आकर बिखर गये, रावणने अपने ललाटों पर भाग्यलिपिके रूपमें लिखी सारी रामकथा देख ली, फिर भी अविचलित भावसे ब्रह्माकी आराधना करता रहा, उस महाभिमानी वीर रावणके साथ कौन वैर करेगा ॥ ४३ ॥

हेमाङ्गद—सखे देखो देखो, भयानक तथा आश्चर्यजनक बात हो रही है ।

रावणने सुग्रीव द्वारा प्रहृत शिलाखण्डको बाणोंसे विकीर्ण कर दिया और सुग्रीवने रावण द्वारा प्रहृत शक्ति, तोमर नामक अस्त्रोंको वृक्षाघातसे चूर्ण कर दिया, तब दोनोंने

कपिराक्षसराजयोरजस्रं तुमुले भान्ति तलातलिप्रपञ्चाः[1] ॥ ४४ ॥

नूनमिदानीं

श्वासोर्मिप्रतिबन्धतुन्दिलगलप्रच्छिन्नहारावली-
रत्नैरापतयालुभिः कृतफणप्राग्भारभङ्गभ्रमः ।
श्रोत्राभावनिरन्तरालमिलितैः स्तब्धैः शिरोभिर्भुवं
धत्ते वानरवीर[2]विक्रमभराद्भग्नैर्भुजङ्गाधिपः ॥ ४५ ॥

तोमरयोः चूर्णनं क्रियते तादृशे च, कपिराजराक्षसराजयोः तुमुले भीषणे युद्धे अजस्रं बहुलीभवन्तः तलातलिप्रपञ्चाः परस्परचपेटापातविस्तारा भान्ति शोभन्ते । यदा युद्धे सुग्रीवप्रहिताः पर्वतशिला रावणो बाणौघैर्न्यवारयद्यदा च रावणप्रहितयोः शक्तितोमरयोः सुग्रीवस्तरुद्वारा चूर्णं कृतवान्, तदा तौ परस्परं तलातलियुद्धमारब्धवन्तावित्यर्थः, तलैश्च तलैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तमिति तलातलि, तस्य प्रपञ्चाः विस्ताराः ॥ ४४ ॥

श्वासोर्मीति । भुजङ्गाधिपः सर्पराजः वानरवीरस्य सुग्रीवस्य विक्रमभरात् पादविन्यासभारवशात् आपतयालुभिः पुनः पुनर्नम्रीभवद्भिः, श्वासोर्मीणां निःश्वासतरङ्गाणां प्रतिबन्धेन तुन्दिलात् स्थूलतां गतात् गलात् कण्ठनालात् प्रच्छिन्नायाः छित्त्वा स्खलितायाः हारावल्याः रत्नैः कृतः फणप्राग्भारस्य सहस्रसंख्यकफणसमुदयस्य भङ्गस्य त्रुटनस्य भ्रमो भ्रान्तिर्यस्य तथाभूतः सन् श्रोत्राभावेन कर्णेन्द्रियरहितत्वेन निरन्तरालम् अव्यवधानेन मिलितैः स्तब्धैः भाराधिक्यनिश्चलैः भुग्नैः अवनतैश्च शिरोभिः भुवं धत्ते धारयति । वानरराजे युद्धे पादप्रक्षेपेण चलति सति तदीयभारेण पृथ्वी गुर्वी जायते, तां धारयतः शेषस्य फणा अवनमन्ति, धारणप्रयासाच्च श्वासनिरोधे कृते गलस्योच्छूनतया त्रुटिता रत्नावली भूमौ विकीर्णा भवति येन लोकः शङ्कते यदस्य फणा एव त्रुटिताः पतिताश्च, चक्षुःश्रवस्तया श्रोत्राभावेन शिरांस्य व्यवधानेन मिलितानि सन्ति स्तब्धानि च, तदित्थं महता श्रमेण फणिनायको भुवं धारयति ॥ ४५ ॥

तलाघात द्वारा भयङ्कर युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया है ॥ ४४ ॥

निश्चय ही इस समय,

वानर-वीरोंके विक्रमभारसे झुके हुए शेषनागके श्वास वायुसे मोटे गलेसे हारके रत्न टूटकर बिखर जाते हैं जिससे ऐसा भ्रम होता है मानो फणराशि गिर गई हो, कानके नहीं रहनेसे शेषनागके सिर निरन्तराल भावसे सट जाते हैं ॥ ४५ ॥

---

१. प्रहाराः । २. 'विक्रमभराभुग्नो' ।

(सविषादम् ।) अहह, बाहुयन्त्रेणापीड्य [1]वानरराजं सुग्रीवं किमाह [2]रावणः ।

[3]अस्मद्बाहुवनान्दोलसुलभं फलमाप्नुवन् ।
नियुद्धलाघवक्लान्त शाखामृग सुखी भव ॥ ४६ ॥

रत्नचूडः—(सहर्षम् ।) सखे, करणकौशलमोचितात्मा विपक्षदुर्वचनक्षुभ्यमानहृदयो हृदयङ्गममभिदधाति वानरेन्द्रः ।

विंशत्या युगपत्क्षमैरपि भुजैराकर्षणच्छेदयो-
[4]रच्छिन्नं दशमं शिरः कथयति च्छिन्नानि यानि क्रमात् ।

बाहुयन्त्रेण बाहुबन्धनेन । आपीड्य बलालिङ्गनविधया पीडयित्वा ।

अस्मदिति । हे शाखामृग वानर, नियुद्धे बाहुयुद्धे क्लान्त सञ्जातश्रम, अस्माकं बाहुवनेन भुजनिवहेन यः आन्दोलः कम्पनं तेन सुलभं फलं मृत्युरूपम् आप्नुवन् लभमानः सुखी भव । अन्योऽपि श्रान्तो वृक्षारोहणाक्षमो वानरः वनं कम्पयित्वा प्राप्तेन फलेन सुखीभवति, अयमपि युद्धश्रान्तो रावणबाहुनिपीडनसुलभेन फलेन मृत्युरूपेण शाश्वतं सुखमश्नुतामित्याशयः ॥ ४६ ॥

करणकौशलेन क्रियालाघवेन करपादादीन्द्रियचेष्टया । मोचितः रावणभुजपीडनान्मुक्तीकृतः आत्मा स्वदेहो येन तथोक्तः । विपक्षस्य शत्रो रावणस्य वचनेन क्षुभ्यमानं खिद्यमानं हृदयं यस्य तथोक्तश्च । हृदयङ्गमम् अतिमनोहरम् ।

विंशत्येति । तव विंशत्या भुजैः विंशतिसंख्यैर्बाहुभिः युगपत् एककाले आकर्षणच्छेदयोः दशानां तव शिरसामाकर्षणे छेदने च क्षमैः समर्थीभवद्भिरपि अच्छिन्नम्

(सविषाद) अहह !! बाहु-यन्त्रसे पीड़ित करके रावणने सुग्रीवसे क्या कहा ?

हमारे बाहुवनके आन्दोलनसे सुलभ फलको प्राप्त करके तुम सुखी हो जाओ, क्योंकि तुम लड़ते-लड़ते थक गये हो ॥ ४६ ॥

रत्नचूड—(सहर्ष) सखे, अपनी चतुराईसे अपनेको मुक्त करके शत्रुके वचनोंसे त्रुटित हृदय वानरेन्द्र बहुत अच्छा कह रहा है ।

आपके बीस हाथ एक ही साथ आपके मस्तकोंको खींच खींचकर काट रहे थे, तथापि जो दशम शिर अच्छिन्न ही बना रह गया, आपके शिवाराधक उन दश मस्तकोंको

---

१. 'वानरराजम्' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'दशग्रीवः' ।
३. 'अस्मद्बाहु' इत्यादिश्लोकात्पूर्वं क्वचित् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति । ४. 'अच्छिन्दन्' ।

तान्याराद्धमहेश्वराणि भवतः शीर्षाणि तुल्यं दश-
च्छिन्दानो दशभिर्नखैर्यदि पुनः शाखामृगेन्द्रः सुखी ॥४७॥

अपि च रे रे राक्षस,

दशमुखवधनाट्यसूत्रधारो रघुपतिरस्य च पारिपार्श्वकोऽहम् ।
प्रकरणफलवीजभावकानाममृतभुजां [1]समुपास्वहे समाजम् ॥ ४८ ॥

अखण्डितं ते तव रावणस्य दशमं शिरः यानि तव नव शिरांसि क्रमशश्छिन्नानि कथयति, आराद्धमहेश्वराणि आराधितशिवानि तानि सर्वाणि दशापि तव शीर्षाणि तुल्यम् समकालम् दशभिर्नखैश्छिन्दानः खण्डयन् शाखामृगेन्द्रो वानरराजो यद्यहं सुखी स्याम् । तव विंशतिर्भुजा एकदैव तव दशानां शिरसां छेदे आकर्षणे च क्षमा आसन्, परन्तु ते नवैव शिरांसि क्रमादच्छिदन्, इदं वस्तु तवावशिष्य-माणं दशमं शिरः कथयति, सम्प्रत्यहं यदि तव दशापि शिरांसि समकालमेव निजैर्दशभिर्नखैश्छेत्तुं प्रभवेयं तदैव सुखी स्यामित्यर्थः । दशमं शिरो यानि छिन्नानि कथयति तानि दशशीर्षाणीति कथं शक्यं कथयितुम्, नवशीर्षाणीति वक्तव्यम्, तदत्र ग्रन्थकृतः प्रमाद इव प्रतीयत इति जीवानन्दटीका । दशमं शिरो यानि छिन्नानि कथयति तानि नव, कथयितृ च दशमं शिर इति दशापि तव शीर्षाणी-त्येवं क्लिष्टं व्याख्यानमपि ग्रन्थलापनाय कर्त्तुं शक्यम् ॥ ४७ ॥

दशमुखेति । रघुपतिः रामः दशमुखवधस्य नाट्यस्य अभिनेयवस्तुनः सूत्रधारः प्रधाननटः, अहं सुग्रीवश्च अस्य रघुपतेः सूत्रधारस्य पारिपार्श्वकः 'सूत्रधारेण सहितः संलापं प्रकरोति यः । सूत्रधारसमो वापि स भवेत्पारिपार्श्वकः' इत्युक्तलक्षण-लक्षितः, तौ आवाम् प्रकरणं नाट्यम् तस्य फलं प्रतिपाद्यं वस्तुवीजं तत्कारणं तेषां भावकाः अनुभवितारो येऽमृतभुजो देवास्तेषां समाजम् परिषदम् समुपास्वहे आराधयावः । अभिनये प्रकरणबीजफलैः सामाजिकाराधनमेव सूत्रधारपारि-पार्श्वकयोः कर्त्तव्यं तदत्र दशमुखवधे नाटकेऽभिनेतव्ये रामसुग्रीवौ सूत्रधारपारि-

---

एक ही साथ अपने दश नखोंसे जब काट सकूंगा, तभी मैं वानरराज प्रसन्नताका अनुभव कर सकूंगा ॥ ४७ ॥

अरे राक्षस,

रामचन्द्र रावण-वध रूप नाटकके सूत्रधार है, और मै उनका पारिपार्श्वक हूँ, हम दोनों प्रकरण फल बीजके अनुभव करनेवाले देवोंके समाज को सन्तुष्ट कर रहे हैं ॥४८॥

---

१. 'समुपास्महे'।

[1]इत्यभिदधानेनैवोत्प्लुत्य निर्दयं शिरसि ताडितो रथध्वजदण्डावलम्बी कथंचिदाश्वसिति रावणः। (सर्वतोऽवलोक्य सहर्षम् ।) सखे, पश्य पश्य।

यन्माल्यग्रथनावशेषविकलैः सन्तानकैर्नाकिनां
भर्त्रे [2]गर्भगमेव दाम [3]निभृतं स्वर्मालिकैर्गुम्फितम्।
तस्मिन्नद्य दशास्यमूर्धनि नवप्रस्तावनामापदां
पश्यन्तो रभसौघभर्त्सितभियः क्रोशन्ति नः स्यन्दनाः ॥४९॥

पार्श्वको रावणवधः फलम्, तदन्यायादिर्बीजम्, तत्सर्वसमाहारः प्रकरणं देवाश्च तदानन्दोपभोगिनः सामाजिका इति बोध्यम् ॥ ४८ ॥

यन्माल्येति। यस्य रावणस्य मूर्ध्नः शिरसो माल्यं दाम तस्य ग्रथनात् गुम्फनात् अवशेषाणि उर्वरितानि विकलानि त्रुटितपत्राणि विगतसौरभ्याणि च यानि सन्तानकानि देवतरुकुसुमानि तैः नाकिनां भर्त्रे शक्राय स्वर्मालिकैः देवलोकमालाकारैः गर्भगम् केशपाशान्तरगम् एव दाम माल्यम् निभृतं प्रच्छन्नभावेन गुम्फितम् रचितम्, तस्मिन् दशास्यमूर्द्धनि अद्य सम्प्रति आपदां विपत्तीनां नवप्रस्तावनां नवीनमवतरणं पश्यन्तो नोऽस्माकं स्यन्दना रथाः रभसौघभर्त्सितभियः आनन्दातिरेकनिर्भीकाः सन्तः क्रोशन्ति घर्घरशब्दं कुर्वते। पूर्वं रावणमाल्यनिर्माणावशिष्टकुसुमैर्देवमालाकारा इन्द्रस्य कृते स्वल्पपरिमाणं माल्यं प्रच्छन्नभावेन निर्मान्तिस्म एतादृशी यस्य रावणस्य विभीषिकाऽऽसीत्, संप्रति तमेव रावणमापद्गतं पश्यन्तो हर्षातिरेकापसारितभियोऽस्माकममी रथा आनन्दभयाभावादिद्योतकं घर्घरशब्दं कुर्वत इत्यर्थः। 'केशमध्ये तु गर्भकम्' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

यह कहते हुए वानरराजने कूदकर रावणके सिरपर निर्दय प्रहार किया, जिससे आहत होकर रावणने रथध्वज-दण्डका अवलम्बन करके किसी प्रकार अपनेको संभाला। (चारो ओर देखकर) सखे, देखो देखो,

पहले रावणके लिये माल्य बनानेमें कल्पवृक्षके सभी फूल समाप्त हो जाते थे, तब देवमालाकार गण चुपके चुपके कलियोंकी माला इन्द्रको अर्पित करते थे, उसी रावणके सिर पर नवीन आपत्तिकी प्रस्तावनाको देखनेवाले हमारे रथ उस विषयमें निन्दा कर रहे हैं ॥ ४९ ॥

---

१. 'इत्यभिधायानेन'। २. 'गर्भकम्'। ३. 'निभृतैः'।

हेमाङ्गदः—(सविषादम् ।) अहह, [1]सोऽप्याश्वस्य दशकण्ठेनापि मुष्टिना ताडितो मूर्च्छितः कपीन्द्रो नीलहनूमद्भ्यामाश्वास्यमानोऽपसार्यते ।

रत्नचूडः—सखे, प्रधनस्य [2]हि प्रथमे पर्वणि शतकृत्वो विजयन्ते पराजीयन्ते च [3]वीराः । तत्र को विषादः ।

हेमाङ्गदः—(अन्यतोऽवलोक्य ।) सखे रत्नचूड, दिष्ट्या वर्धसे यदयमनुप्राप्तः

कुशिकसुतसपर्यादृष्टदिव्यास्त्रतन्त्रो
भृगुपतिसहयुध्वा वीरभोगीणवाहुः ।
दिनकरकुलकेतुः कौतुकोत्तानचक्षु-
र्वहुमतरिपुकर्मा कार्मुकी [4]रामभद्रः ॥ ५० ॥

आश्वास्यमानः धैर्यं प्राप्यमाणः । अपसार्यतेऽन्यत्र नीयते ।

कुशिकसुतेति । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य सपर्यया आराधनेन दृष्टं साक्षात् कृतं दिव्यास्त्रतन्त्रम् जृम्भकादिप्रयोगशास्त्रं येन तादृशः, भृगुपतिना परशुरामेण सह युध्वा सह युद्धं कृतवान्, वीरभोगीणवाहुः वीरोचितभोगार्हभुजशाली दिनकरकुलकेतुः सूर्यवंशपताकास्वरूपः, कौतुकोत्तानचक्षुः युद्धदर्शनौत्सुक्यविस्तारितनेत्रः बहुमतरिपुकर्मा आदृतशत्रुरणकौशलः कार्मुकी धनुर्धरश्च रामभद्र उपगत इति पूर्वोक्तेनान्वयः । 'केतुश्चिह्नपताकयोः' इत्यमरः ॥ ५० ॥

हेमाङ्गद—(सविषाद) रावणने आश्वस्त होकर वानरराजपर मुष्टि-प्रहार किया, वानरराज उस प्रहारसे मूर्छित हो गये, उनको नील तथा हनूमान् संभाल रहे हैं ।

रत्नचूड—युद्धके प्रथम पर्वमें वीर हजार वार हारते जीतते हैं, उसमें विषाद कैसा ?

हेमाङ्गद—(दूसरी ओर देखकर) तुम्हारे सौभाग्यसे यह आगये,

विश्वामित्रके चरणोंमें जिन्होंने अस्त्र-विद्या सीखी, जो परशुरामसे लड़े, जिनके वाहुओंको वीर भोग प्राप्त है वह उत्सुक नयनोंवाले तथा रावणके युद्धकी प्रशंसा करनेवाले सूर्यकुलकेतु धनुर्धर राम ॥ ५० ॥

---

१. 'सोऽपि' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'हि' इति क्वचिन्नास्ति ।
३. 'महावीराः' । ४. 'रामदेवः' ।

रत्नचूडः—(सहर्षं राममवलोक्य रावणं प्रति ।) [1]राक्षसराज,

बालेनापि विलूनधूर्जटिधनुःस्तम्भेन बाहूष्मभि-
येन स्वेदयता मनोहरमृजूचक्रे मुनिर्भार्गवः ।
सम्प्राप्तो रघुनन्दनः किमपरं तेनाधुना नेष्यते
धन्यो वालिसमानकर्तृकवधश्लाघातिभूमिं[2] भवान् ॥५१॥

हेमाङ्गदः—(सकौतुकम् ।) सखे, [3]तूष्णीमास्वहे तावत् । शृणुवः किं ब्रवीति रावणः । (कर्णं दत्त्वा ।) कथमेवमाह । साधु रे क्षत्रियडिम्भ, साधु ।

यत्कन्यामभिलष्यता निमिपतेर्न स्थाणवीयं मया

बालेनेति । येन बालेन अप्राप्तयौवनावस्थेनापि विलूनः खण्डितो धूर्जटेः शिवस्य धनुःस्तम्भो येन तादृशेन हरधनुर्भञ्जकेन बाहूष्मभिः भुजशौर्योष्मणा स्वेदयता स्वेदाक्तीकुर्वता मुनिर्भार्गवः परशुरामो मनोहरं रम्यं यथा स्यात्तथा ऋजूचक्रे सरलतां प्रापितः, स रघुनन्दनः सम्प्राप्तः समागतः, अपरं किम् अन्यत् किमुच्यताम्, तेन रघुनन्दनेन धन्यः भाग्यवतामग्रगण्यो भवान् रावणो वालिनो वधस्य कर्त्रा समानः कर्ता यस्य तादृशेन वधेन श्लाघातिभूमिं प्रतिष्ठातिशयं नेष्यते प्रापयिष्यते, यो बाल एव हरधनुरभञ्जयत्, यश्च यथा वंशाद्यनृजु वह्निस्वेदनादृजू क्रियते तथा स्वभुजवीर्योष्मणा स्वेदयित्वा भगवन्तं परशुराममृजूचकार, असौ रामो युद्धभूमिमागतः, असौ भवन्तं वालिनमिव हत्वा 'वालिवधकर्त्रा रावणो हत' इति प्रतिष्ठातिशयं प्रापयिष्यतीत्यर्थः । अत्र रावणस्तुत्या रामप्रकर्षो व्यञ्जितः, विजेतव्योत्कर्षप्रकाशनस्य विजेतृत्कर्षप्रकाशनस्वाभाव्यादिति बोध्यम् ॥ ५१ ॥

तूष्णीम् आस्वहे मौनमाश्रयावः । क्षत्रियडिम्भ क्षत्रियशिशो ।

यत्कन्यामिति । यत् निमिपतेः जनकस्य कन्यां सीतां नाम अभिलष्यता काम-

---

रत्नचूड—(सहर्ष रामको देखकर रावणसे) बालक होकर भी जिसने शिवधनुष तोड़ा, जिसने अपने बाहु-वीर्यकी गर्मीसे स्वेदित करके—परशुरामको सीधा कर दिया, वही राम आगया है, और क्या कहें, वह तुमको भी वालिके हन्ता द्वारा मारे जानेका गौरव प्राप्त करायेगा ॥ ५१ ॥

हेमाङ्गद—(कौतुकसे) मित्र, अब हम चुप हो जांय । सुनेंकी यह रावण क्या कहता हैं । (कान देकर) क्यों, यही तो कह रहा है—साधुरे क्षत्रिय बालक, साधु,

बाहुकी लीलासे तौल कर नीचे रख दिया है कैलासको जिसने ऐसा मैंने निमिपतिकी

---

१. 'रे राक्षसराज'। २. 'श्लाघ्यातिभूमिम्'। ३. 'आस्वः'।

दोर्लीलातुलितावतारितहरग्राव्णापि रुग्णं धनुः।
तद्द्रक्ष्यन्त्यधुना कियन्तमवधिं यावद्भवानित्यमी
देवेन्द्रद्विपदानदुर्दिनभिदो रौद्रार्चिषो मार्गणाः ॥ ५२ ॥

(सविस्मयम् ।) कथमद्यापि तृणीकृतजगत्त्रयः स एवास्य तावानहङ्कारग्रन्थिः।

रत्नचूडः—(सोत्प्रासस्मितम्।) [1]सखे, कथमिदमेव भवन्तं विस्मापयते।

मानाध्मातः स्वां किलोत्कृत्य तावन्मूर्धश्रेणीमेकशेषोत्तमाङ्गः।

यमानेन मया रावणेन दोर्लीलया भुजविलासेन तुलितः भारमवधारयितुमुत्थापितः पश्चादवतारितः हरग्रावा कैलासपर्वतो येन तथाभूतेनापि कैलासोत्थापनक्षमेणापि स्थाणवीयं धनुर्हरधनुर्न रुग्णम् न भग्नम्, तत् तस्मात् अधुना देवेन्द्रद्विपस्य ऐरावतस्य दानं मदवारि तस्य दुर्दिनं वृष्टिः तद्भिदः तच्छोषिणः रौद्रार्चिषः तीव्रप्रतापाः अमी मार्गणाः मम शराः कियन्तम् अवधिं कालं यावत् भवानिति द्रक्ष्यन्ति। सीतेच्छया मया कैलासोत्तोलनसमर्थेनापि शाम्भवं धनुर्यन्न खण्डितं तदधुना मम सुरगजदानवारिशोषणपटिष्ठा अमी तीव्रज्वालावर्षिणो वाणा भवान् कियन्तं कालं यावन्मम पुरस्तिष्ठतीति द्रष्टुमिच्छन्ति, अचिरेणैव भवन्तमिमे मम वाणाः संहरिष्यन्तीति यावत्। 'ग्रावाणौ शैलपाषाणौ' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ५२ ॥

तृणीकृतजगत्त्रयः लोकांस्त्रीनपि तृणाय मन्यमानः। अहङ्कारग्रन्थिः अभिमानबन्धः। विस्मापयते आश्चर्ये निमज्जयति।

मानाध्मात इति। मानेन आध्मातः पूर्णः अतिमानी अयं रावणः किल स्वां निजां मूर्धश्रेणीं शिरःपरम्पराम् उत्कृत्य छित्वा एकशेषोत्तमाङ्गः अवशिष्टैकमस्तकः

कन्याको चाह करके भी शिवधनुर्भङ्ग नहीं किया, सो आज हमारे यह इन्द्र-द्विपके मदवारिको शुष्क कर देनेवाले यह हमारे वाण देखेंगे कि तुम कितनी दूर तक इस दिशामें आसके हो, कितना शस्त्र-कौशल तुमने हासिल किया है ? ॥ ५२ ॥

(सविस्मय) क्यों अभी भी त्रिजगत् तृण समझनेवाला इसका अभिमान पूर्ववत् है।

रत्नचूड—(सहास उलाहनेके स्वरमें) क्यों आप इतनेहीसे विस्मित हो गये ?

इस अभिमानी रावणने अपने सभी मस्तकोंको काटकर जब एक मस्तक शेष रह

१. 'सखे' इति क्वचिन्नास्ति।

स्त्रीमर्धाङ्के वञ्चयित्वा मुखेन प्रीतः शम्भोरेकपादे पपात ॥ ५३ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य च सवितर्कम् ।) भगवतो दिवस्पतेरिव रथो दाशरथिमुपतिष्ठते ।

हेमाङ्गदः—(दृष्ट्वा सहर्षम् ।) सखे, स एवायं किं न पश्यसि । लोचनमार्गसहस्रचन्द्रकस्तबकितमाहेन्द्रकवचहस्तो मातलिः । (क्षणं निर्वर्ण्य विहस्य च ।)

विविधमणिमयूखमञ्जरीभिः कृतसुरचापसहस्रसंनिपाते ।
अधिसमरमहारयद्विमाने निजमपि कार्मुकमत्र देवराजः ॥ ५४ ॥

छिन्ननवशिराः, अर्धे हरगौरीरूपस्य शिवस्यार्धभागे स्त्रीम् गौरीम् वञ्चयित्वा त्यक्त्वा प्रीतः प्रसन्नः सन् शम्भोः एकपादे दक्षिणचरणे मुखेन निपपात मस्तकेन प्रणतवान् रावणेन दशसु नव शिरांसि छिन्नानि, एकेन शिरसा अर्धनारीश्वरस्य शम्भोः पादद्वयप्रणामस्य युगपदशक्यक्रियतया पार्वत्याः पादम् विहाय महादेवस्य पादे स्वं शिरः स्थापयामास तेन च प्रसादमन्वभूदित्यर्थः ॥ ५३ ॥

दिवस्पतेः इन्द्रस्य ।

लोचनेति । लोचनानां नेत्राणां मार्गसहस्रे सहस्रसंख्यकानामिन्द्रनेत्राणां सहस्रसंख्यके मार्गे चन्द्रकैः रन्ध्रैः स्तबकितः गुच्छीकृतः माहेन्द्रकवचो हस्ते यस्य तादृशः । मातलिः इन्द्रसूतः ।

विविधेति । देवराज इन्द्रः अधिसमरं युद्धक्षेत्रे विविधानां विचित्राणां मणीनां मयूखमञ्जरीभिः किरणनिवहैः कृतः आरोपितः सुरचापसहस्रस्य सहस्रसंख्यकेन्द्रधनुषां सन्निपातः समावेशो यत्र तादृशे अत्र विमाने निजं कार्मुकं धनुरपि अहारयत् प्रेषयामास । इन्द्रोऽत्र रथे स्वं चापमपि प्रेषयति न कवचमात्रमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

गया तब महादेवके अर्धाङ्गमें वर्त्तमान पार्वतीको वञ्चित करके रावणने अपना दशम मस्तक शिवके चरणोंपर रख दिया ॥ ५३ ॥

(ऊपरकी ओर देखकर वितर्कके साथ) मालूम पड़ता है इन्द्रका रथ रामके पास आरहा है ।

हेमाङ्गद—(देखकर सहर्ष) सखे, वही तो है क्या तुम नहीं देख रहे हो ? मातलि अपने हाथोंमें इन्द्रके हजार नेत्रोंके लिये बनाये गये हजार छिद्रोंसे युक्त इन्द्रका कवच लिये हुए हैं । (थोड़ीदेर देखकर सहास)

नानाप्रकार की मणिमयूख-मञ्जरियोंसे सहस्र इन्द्रचापोंसे युक्त प्रतीत होने वाले अपने इस रथ पर इन्द्रने अपना धनुष भी युद्धमें भेजा है ॥ ५४ ॥

(आकाशे कर्णं दत्वा ।) किमाह रावणप्रतीहारः—[1]अरेरे पुरुहूतसूत,

दर्पोऽयं भवतः सुरासुरचमूदोःकाण्डकण्डूविष-
ज्वालाजाङ्गलिकेन जङ्गलभुजां पत्यापि न त्याजितः ।
येनैन्द्रे रथवर्मणी रघुशिशोरस्योपनीते त्वया
राजद्विष्टमिदं विधाय स कथं शक्रोऽपि वर्तिष्यते ॥ ५५ ॥

रत्नचूडः—(श्रुतिमभिनीय ।) किमाह रामः—[2]सत्यमिदं भोः । यच्छीलः [3]स्वामी तच्छीलास्तस्य प्रकृतयः । [4]यदेवमपि स्वामिनो [5]मूलोच्छेदिना दुर्नयेन विकत्थन्ते ।

रावणप्रतीहारः-रावणद्वारपालो रावणसूतो वा । पुरुहूतसूत-देवेन्द्रसारथे ।

दर्पोयमिति । सुरासुराणां देवदानवानां याश्चम्वः सेनास्तासां ये दोःकाण्डाः भुजदण्डाः तेषां कण्डूः एव विषज्वाला तस्या जाङ्गलिकेन विषप्रशमनविद्याविदा जङ्गलभुजां मांसाशिनां पत्या रावणेन अपि अयं भवतो दर्पः अहङ्कारः न त्याजितः न शमितः, येन त्वया ऐन्द्रे रथवर्मणी स्यन्दनं कवचं च अस्य रघुशिशो रामस्य उपनीते उपायनीकृते, इदं राजद्विष्टम् राजद्रोहं रावणस्य शत्रवे रथवर्मप्रदानरूपं विधाय शक्रोऽपि कथं वर्त्तिष्यते जीविष्यति, देवदानवसैन्यभुजवीर्यदर्पप्रशमनपरेण राक्षसराजेनापि तव दर्पो न शान्तिं नीतो यदत्र रामाय त्वमिन्द्रस्य रथं कवचं चानीतवानसि, आस्तां नाम तव कथा, एतादृशं राजद्वेषं विधाय शक्रोऽपि कथमात्मानं रक्षिष्यतीति भावः । 'जाङ्गली विषविद्यायाम्' इति मेदिनी । 'जङ्गलं पिशितेऽस्त्रियाम्' इति च ॥ ५५ ॥

यच्छीलः यादृशस्वभावः । तच्छीलाः तादृशस्वभावाः । प्रकृतयः प्रजाः । मूलो-

---

(आकाशमे कान देकर) रावणका द्वारपाल क्या कहरहा है ? अरे इन्द्रसूत,

देवदानव सैन्यके बाहु-दण्डके विष की दवा करने वाले वैद्य राक्षसराजसे भी तुम्हारा यह दर्प शमित नहीं हुआ, कि तुमने यह इन्द्रके रथ, कवच इस राघवशिशुके पास लाने का साहस किया है, इस राजद्वेषको करके तुम्हारा मालिक शक्र किस प्रकार रह सकेगा ? ॥ ५५ ॥

रत्नचूड—(सुननेका अभिनय करके) रामने क्या कहा ? ठीक है यह, जिस स्वभावके राजा हों—उनके भृत्य भी उसी स्वभावके होते हैं, जिससे यह रावणके द्वारपाल स्वामीकी जड़ काटनेवाले दुर्नयसे अभिमान दिखा रहे हैं ।

---

१. 'अरेरे' इत्यस्मात्पूर्वं क्वचित् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति ।
२. 'सत्यम्' इत्यस्मात्पूर्वं क्वचिन्नास्ति 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति एवमग्रेऽपि ।
३. 'प्रभुः' ।　　४. 'तदेवम्' ।　　५. 'मूलोच्छेदेन' ।

हेमाङ्गदः—(आकाशे कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावणः—अरे ताप-सवटो,

क्रोधेन [1]ज्वलिता मुहूर्तमनु[2] च स्वैरेव निर्वापिताः
क्लीवैरश्रुमहोर्मिभिर्मखभुजां पत्युः सहस्रं दृशः ।
यैर्दृष्टा भुवनत्रयीविजयिभिः सर्वंकषाः सन्त्यमी
ते सम्प्रत्यपि मे नयापनययोर्निर्वाहमूलं भुजाः ॥ ५६ ॥

रत्नचूडः—(कर्णं दत्त्वा विहस्य ।) किमाह रामः—

छित्त्वा मूर्ध्नः किमिति स वृतो धूर्जटिर्यद्यमीषां
दोःस्तम्भानां त्रिभुवनजयश्रीरियं वास्तवी ते ।
मूर्धानो वा न खलु भवता दुर्लभाः सम्भवेयु-

च्छेदिना समूलविनाशकारिणा । विकत्थन्ते आत्मश्लाघां कुर्वते ।

क्रोधेनेति । भुवनत्रयीविजयिभिः त्रिभुवनविजेतृभिः यैः भुजैः मुहूर्तं क्षणम् क्रोधेन ज्वलिताः दीपिताः, अनु तत्पश्चात् स्वैरेव निजैः एव क्लीवैः फलानुत्पादकतया वन्ध्यैः अश्रुमहोर्मिभिः नयनवारिधाराभिः निर्वापिताः निरूष्मीकृताः इन्द्रस्य सहस्रं दृशः नेत्राणि दृष्टाः, सर्वंकषाः सर्वविद्रावणाः तेऽमी मम भुजा नयापनययोः सुनीतिदुर्नीत्योः निर्वाहे सम्पादने मूलं कारणम् इदानीमपि सन्ति । ये मम बाहवोऽपमाने क्रोधं कृत्वापि किमपि कर्तुमशक्ततया रुदन्तमिन्द्रं दृष्टवन्तः, सर्वविद्रावणा ममामी ते भुजा नीत्याऽनीत्या वा वर्त्तितुं क्षममाणाः सन्त्येव, तैरेव त्वां हनिष्यामीति भावः ॥ ५६ ॥

छित्त्वेति । अमीषां ते तव रावणस्य दोःस्तम्भानाम् बाहुदण्डानाम् इयं त्रिभुवनजयश्रीः वास्तवी सत्या स्वसामर्थ्यसिद्धा, तदा मूर्ध्नः स्वशिरांसि छित्त्वा सः धूर्जटिः किमिति वृतः किमर्थं प्रार्थितो वरदानायेति शेषः, भवतो रावणस्य मूर्धानो

हेमाङ्गद—(आकाशमें कान देकर) रावण क्या कहता है:—रे तापसवटु,

जिन्होंने इन्द्रके हजार नयनोंको कोपसे प्रज्वलित होते तथा अपने अकार्य-साधक अश्रु-जलसे बुझते भी देखा है वे हमारे त्रिभुवनविजयी तथा नीति-अनीतिके मूल यह हाथ अभी भी अक्षुण्ण हैं ॥ ५६ ॥

रत्नचूड—(कान लगाकर सहास) रामने क्या कहा ?

यदि तुम्हारे हाथोंमें वस्तुतः यह विजयश्री थी तो तुमने शिवकी आराधनामें अपने सिर चढ़ाकर क्यों वर मांगा था ? अथवा सिर तो तुम्हारे लिये दुर्लभ होने नहीं हैं

---

१. 'ज्वलता' । २. 'अपि च' ।

यद्देवस्य त्वमसि जगतां शिल्पिनोऽपि प्रपौत्रः ॥ ५७ ॥

यत्पुनर्ब्रवीषि 'सम्प्रत्यपि ते भुजाः सन्ति' इति तदधुनैव ज्ञास्यन्ते ।

हेमाङ्गदः—(कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावणः—अरेरे राजन्यडिम्भ, भवतः पुराणपितामहेन बहु तावदनरण्येनैव ज्ञातम् । इदानीं भवानपि ज्ञास्यति ।

रत्नचूडः—(कर्णं दत्त्वा विहस्य[1] ।) किमाह राम: [2]अरेरे राक्षसीपुत्र,

न दूये नः पूर्वं नृपतिमनरण्यं यदवधी-

र्जयो वा मृत्युर्वा युधि भुजभृतां कः परिभवः ।

मस्तकानि वा न दुर्लभाः दुरापाः संभवेयुः स्युः, यद् यस्मात् त्वं जगतां शिल्पिनो जगत्स्रष्टुर्ब्रह्मणः प्रपौत्रोऽसि । यदि तवेयं त्रिभुवनविजयलक्ष्मीर्यथार्था स्वसामर्थ्यसिद्धा चास्ति तत्किमर्थं स्वशिरांसि शिवायोपहृत्य वरमयाचथाः, स्वसामर्थ्येनैव प्रार्थ्यमानार्थप्राप्तेः सम्भवात्, अथवा तवायं शिरश्छेदनव्यापारो न साहसिकतामूलो यतस्तव शिरांसि अनायासलभ्यानि सन्ति यत्त्वं ब्रह्मप्रपौत्रो भवसीत्यर्थः । महादेवप्रीतये न त्वया शिरांसि च्छिन्नानि, किन्तु शिरसां सुलभतयेति सोल्लुण्ठनोक्तिः । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ५७ ॥

राजन्यडिम्भ क्षत्रियशिशो । पुराणपितामहेन वृद्धवृद्धपितामहेन पूर्वजेन । बहु ज्ञातम् मम भुजबलं साधुपरिचितम् । अनरण्यो नाम रामपूर्वजो रावणेन हत इति प्राचीनवार्त्ता ।

न दूये न इति । नः अस्माकं पूर्वं पूर्वपुरुषं नृपतिम् अनरण्यं तन्नामानं राजानम् यत् त्वम् अवधीः हतवान्, तत् ततो न दूये न सन्तापमनुभवामि, जयो वा मृत्युर्वा युधि युद्धे भुजभृतां बाहुबलशालिनां कः परिभवः कीदृशोऽपमानः युद्धे जये मृत्यौ वा न परिभवस्य स्थानं तत्रान्यतरनिश्चयात्, अतोऽनरण्यवधो न मम

क्यों कि तुम विश्वनिर्माता ब्रह्माके ही प्रपौत्र ठहरे ॥ ५७ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) रावणने क्या कहा ? अरे क्षत्रियकुमार, तुम्हारे पुराणपितामह अनरण्यने बहुत कुछ समझा था, अब तू भी समझ जायगा ।

रत्नचूड—(कान लगाकर सहास) रामने क्या कहा ? अरे राक्षसीपुत्र,

मुझे इसका ताप नहीं है कि तुमने हमारे पूर्वज अनरण्य नामक नृपका वध किया, युद्धमें जय हो अथवा मृत्यु, वीरोंका इससे अनादर नही होता है । मुझे इसका खेद

---

१. 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'रे रे' ।

जितं तु त्वां कारागृहविनिहितं हैहयपतेः
पुलस्त्यो यद्भिक्षामकृत कृपणस्तद् व्यथयति ॥५८॥

हेमाङ्गदः—(कर्णं दत्त्वा ।) किमाह रावणः—आः क्षत्रियवटो वाचाट, कथमपूर्वशिल्पी रजनीचरेन्द्रचरितचन्द्रेऽपि लक्ष्म लिखसि। तदयं न भवसि। (ससम्भ्रममवलोक्य।) कथमुपक्रान्तमेव शरसहस्रदुर्दिनं मन्दोदरीदयितेन।

रत्नचूडः—कथं मैथिलीवल्लभेनापि [1]प्रत्युपक्रान्तमेव। (विहस्य।)

पतन्ति [2]रामभद्रेण खण्डिता रावणेषवः।
पूर्वार्धैः फलिभिर्वेगात्पश्चार्धैः [3]पक्षिभिश्चिरात् ॥ ५९ ॥

परितापमूलमित्यर्थः। तु किन्तु पुलस्त्यः तव पितामहः कृपणो दीनः सन् हैहयपतेः कार्त्तवीर्यस्य कारागृहविनिहितं कारागारनिक्षिप्तं जितं पराभूतं त्वां भिक्षाम् अकृत भिक्षायां याचितवान् तत् पुलस्त्यकर्तृकं तव भिक्षणं स्मर्यमाणं सन्मम परितापं जनयतीति सोल्लुण्ठनं वचनम् ॥ ५८ ॥

वाचाट, बहुगर्ह्यभाषिन्। अपूर्वशिल्पी—नूतनश्चित्रनिर्माता। रजनिचरेन्द्रचरितचन्द्रे राक्षसराजरावणकीर्त्तिशशिनि।

शरसहस्रदुर्दिनम् शरसहस्रवर्षणम्।

पतन्तीति रामभद्रेण खण्डिता रावणेषवः रावणस्य शराः फलिभिः लोहाग्रवद्भिः पूर्वार्द्धैः वेगात् जवात् पक्षवद्भिः पश्चार्धैश्च चिरात् विलम्बात् पतन्ति। यो भागो लोहवदिततया भारवान् स प्राग् लघुश्च पश्चान्निपतति, बाणस्य खण्डिततया तत्तद्भागानां पृथक्पतनमिति बोध्यम् ॥ ५९ ॥

होता है कि हैहयराज तुमको जीतकर कैद कर रखा था, तब तुम्हारे पितामह पुलस्त्यने जाकर भीखके रूपमें तुम्हें मांगा था ॥ ५८ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) रावणने क्या कहा? आः क्षत्रियबट्ट, वाचाल, क्यों, तू तो अपूर्व शिल्पी है जो रावणके कीर्त्ति-चन्द्रमें भी कलङ्क चित्रित कर रहा है? अतः तुम अब जीवित नहीं रह सकोगे, (घबड़ाहटके साथ देखकर) क्यों, इस रावणने बाण-वृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया।

रत्नचूड—क्यों रामने भी जवाब देना प्रारम्भ कर दिया।

राम द्वारा खण्डित रावणके बाण पूर्वार्ध-फल-भागसे पहले गिरते हैं और पश्चार्ध-पक्ष-भागसे बादमें गिर रहे हैं ॥ ५९ ॥

---

१. 'प्रक्रान्तमेव'। २. 'रामचन्द्रेण'। ३. 'पत्रिभिः'।

किं च—

अक्षेषु केतुदण्डे च सारथौ च हयेषु च।
[1]खेलन्ति राक्षसेन्द्रस्य स्यन्दने रामपत्रिणः॥ ६०॥

हेमाङ्गदः—(सभयम्।) अहह।

अन्धकारीकृतव्योमा बाणवर्षेण रावणः।
रामारूढं तिरोधत्ते शताङ्गं शातमन्यवम्॥ ६१॥

(चिरं दृष्ट्वा सविस्मयम्।) सखे,

नानाविधानि शस्त्राणि शस्त्रैर्नानाविधैरपि।
इमौ हि प्रतिकुर्वाते न कश्चिदतिरिच्यते॥ ६२॥

रत्नचूडः—एवमेतत्।

अक्षेष्विति। अक्षेषु चक्रेषु, केतुदण्डे ध्वजवंशे, सारथौ सूते, हयेषु अश्वेषु च राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य स्यन्दने रथे रामपत्रिणो रामस्य बाणाः खेलन्ति, रामबाणा रावणस्य स्यन्दनं सर्वतः आवृण्वन्तीत्यर्थः॥६०॥

अन्धकारीति। बाणवर्षेण शरासारवर्षेण अन्धकारीकृतव्योमा आच्छादिताकाशः रावणः रामारूढं रामवाहनतां गतम् शातमन्यवं शक्रसम्बन्धिशताङ्गं रथं तिरोधत्ते आच्छादयति, 'शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इत्यमरः। शतमन्योरिदं शातमन्यवम्, 'शतमन्युर्दिवस्पतिः' इति चामरः॥ ६१॥

नानाविधानीति। इमौ रामरावणौ नानाविधानि बहुप्रकाराणि शस्त्राणि नानाविधैः शस्त्रैः प्रतिकुर्वाते निवारयतः कश्चित् तयोरेकः कश्चन न अतिरिच्यते न विशिष्यते॥ ६२॥

और—रावण-रथके धुरी, ध्वजदण्ड, सारथि तथा अश्वों पर रामके बाण खेल रहे हैं॥ ६०॥

हेमाङ्गद—(भयके साथ) अहह!! अपनी बाणवृष्टिसे आकाशको अन्धकाराकीर्ण बनानेवाला यह रावण रामाध्यासित इन्द्र-रथको छिपा दे रहा है॥ ६१॥

(बड़ी देर तक देखकर साश्चर्य) सखे,

ये दोनों नानाविध शस्त्रोंका उत्तर नानाविध शस्त्रोंसे दे रहे हैं, इनमें कोई भी घट बढ़ नहीं रहा है॥ ६२॥

रत्नचूड—यह ऐसी बात है।

---

१. 'पतन्ति'।

यद्रावणो बहुभिरेष भुजैः करोति
तद्राघवः प्रतिकरोति भुजद्वयेन ।
कर्म द्वयोर्यदपि तुल्यफलं तथापि
रक्षोभटाद्दशगुणं नरवीरशिल्पम् ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गदः—([1]विहस्य ।) सखे,

विंशत्यापि भुजैरेष द्वौ भुजावभियोधयन् ।
अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादो दशकन्धरः ॥ ६४ ॥

(सखेदभयं च ।) कथमयं रावणो माहेन्द्रस्यन्दनात्
तस्यारिबलभीमस्य[2] ध्वजदण्डस्य लाञ्छनम् ।

यद्रावण इति । एषः रावणः बहुभिः भुजैः विंशत्या भुजैः यत् करोति अस्त्रप्रहारादि विधत्ते रामः तत् सर्वमपि रावणकृतं भुजद्वयेन प्रतिकरोति निवारयति । यद्यपि द्वयोः रामरावणयोः कर्म व्यापारः तुल्यफलं समानफलम्, तथापि रक्षोभटात् रावणात् नरवीरशिल्पम् रामस्य युद्धकौशलम् दशगुणम् । रामस्य द्वौ बाहू, रावणस्य च विंशतिस्ते, रावणो यद्विंशत्या भुजैः करोति रामस्तदेव द्वाभ्यां भुजाभ्यामिति सिद्धमेव रावणशिल्पापेक्षया रामशिल्पस्य दशगुणत्वमिति भावः ॥ ६३ ॥

विंशत्याऽपीति । एष दशकन्धरो रावणः विंशत्यापि भुजैः रामस्य द्वौ भुजौ अभियोधयन् युद्धे प्रवर्त्तयन् अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादः अक्षतद्वन्द्वयुद्धप्रतिष्ठः दशकन्धरो वर्त्तत इति शेषः । द्विभुजो रामो विंशतिभुजश्च रावण इति द्विभुजेन विंशतिभुजस्य युद्धं कथं द्वन्द्वयुद्धं कथयितुं शक्यं, तथापि स्वं युद्धं द्वन्द्वयुद्धं कथयन् रावणो न लज्जत इति चित्रमित्यर्थः, परिहासोक्तिरियम् ॥ ६४ ॥

माहेन्द्रस्यन्दनात् इन्द्ररथात् ।

तस्यारिबलेति । दर्पदीप्तः अभिमानसमिद्धः रावणः क्षुरप्रेण तदाख्येन शस्त्रेण

रावण जो कार्य बीस हाथोंसे करता है राम उसका उत्तर दो हाथोंसे देते हैं, इस प्रकार यद्यपि दोनोंके फल तुल्य हैं तथापि रावणकी रणकुशलतासे रामकी रणकुशलता दशगुनी प्रमाणित हो रही है ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गद—(सहास) सखे,

रावण अपने बीस हाथोंसे द्विभुज रामके साथ युद्ध करता है फिर भी उसने द्वन्द्व युद्धकी मर्यादा नहीं नष्ट की है ॥ ६४ ॥

(खेद तथा भयके साथ) शत्रु-सैन्यको भयभीत करनेवाले रामके ध्वजदण्ड पर

---

१. 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'अरिभयभीमस्य'; 'अरिभयभूतस्य' ।

दर्पदीप्तः क्षुरप्रेण मायूरं पिच्छमच्छिनत् ॥ ६५ ॥

रत्नचूडः—(सहर्षम् ।) सखे, पश्य पश्य कुलिशकेतुकेतनविमा[1]ननाविलक्षक्रुद्धेन—

दिक्पालद्विपदर्पदानलहरीसौरभ्यगर्भानिलैः
पक्षैरेव समस्तराक्षसकथाकल्पान्तकर्णेजपाः ।
दीयन्ते रघुपुङ्गवेन कतिचित्पौलस्त्यमौलिष्वमी
पौलोमीनयनाम्बुसीकरकणावग्राहिणो मार्गणाः ॥ ६६ ॥

तस्य प्रसिद्धस्य अखिलभीमस्य शत्रुसैन्यभयङ्करस्य रामस्यन्दनस्य ध्वजदण्डस्य लाञ्छनम् चिह्नम् मायूरं पिच्छम् बर्हम् अच्छिनत् खण्डितवान् ॥ ६५ ॥

कुलिशेति । कुलिशकेतोः इन्द्रस्य केतनं ध्वजदण्डस्तस्य विमानना लाञ्छनमयूरपिच्छच्छेदनात्मकोऽपमानस्ततः विलक्षः लज्जितः क्रुद्धश्च तेन ।

दिक्पालेति । रघुपुङ्गवेन रामेण दिक्पालद्विपानाम् ऐरावतादिदिग्गजानां दर्पेण बलगर्वेण या दानलहरी मदवारिधारा तस्याः सौरभ्यं सुगन्धो गर्भे अभ्यन्तरे गर्भे येषां तादृशा अनिला वायवो येषां ते तथोक्ताः (येषां बाणपक्षाणां प्रयोगे जाते दिग्गजानां चिरशुष्काणि दानवारीणि प्रवर्त्तितानि भविष्यन्ति, तन्मन्ये तद्बाणपक्षेषु दिग्गजदानवारिसुगन्धपूर्णा वायवो निहिताः स्युः) तादृशैः पक्षैः पुङ्खैः समस्तराक्षसकथाकल्पान्तकर्णेजपाः सम्पूर्णराक्षसेक्षसेतिहासावसानसूचकाः समस्तरक्षोविलयं सूचयन्तः पौलोमीनयनानां शचीनेत्राणां येऽम्बुसीकरकणा अश्रुबिन्दवस्तेषामवग्राहिणः प्रतिबन्धकराः राक्षसविनाशेन पौलोमीरुदननिवर्त्तकाः कतिचित् मार्गणाः बाणाः रघुपुङ्गवेन रामेण पौलस्त्यमौलिषु रावणशिरस्सु दीयन्ते निक्षिप्यन्ते । रामेण रावणस्य मस्तकेषु कतिचिद् बाणास्तादृशाः प्रहियन्ते ये निजपुङ्खान् दिक्पालगजदानवारिसुगन्धानिलपूर्णान् धारयन्ति, ये च 'राक्षसवृत्तप्रलयस्य सूचनामिव ददति, ये च पौलोमीनयनाम्बुवृष्टिं प्रतिबध्नन्ति इत्याशयः ।

वर्त्तमान मयूरपिच्छ रूप चिह्नको इस दर्पी रावणने क्षुरप्र नामक अस्त्रसे काट डाला ॥६५॥

रत्नचूड—(सहर्ष) सखे, देखो, इन्द्रके ध्वजदण्डके अपमानसे लज्जित तथा कुपित—

रघुनायकने रावणके मस्तकोंपर कुछ ऐसे बाण रख दिये जो बाण दिक्पालसंबन्धी गजोंके दानवारिसे सुगन्धिपूर्ण एवं समस्त राक्षस-समूहके प्रलयकी सूचना अपने पक्षोंसे देनेवाले हैं, तथा जिन बाणोंने इन्द्राणीके नयनोंके अश्रु प्रवाहको बन्द कर डाला है ॥६६॥

---

१. 'अवमानवैलक्ष्य–' 'अवमाननाविलक्ष–' ।

हेमाङ्गदः—(सखेदाद्भुतम् ।) कथं किरीटपरम्परापरिभवममृष्यमाणेन बाणवर्षाद्वैतमातन्वता राक्षसराजेन

विदेहकन्याकुचकुम्भकोटिकठोरतासाक्षिणि सायकोऽयम् ।
रामस्य जन्मान्तरमेलकारश्रीकौस्तुभे वक्षसि हा निखातः ॥६७॥

(सम्यगवलोक्य ।) सखे,

एकेनैव निवातकङ्कटभिदा लङ्कापतेः पत्त्रिणा
विद्धोऽयं यदि नाम कोऽपि जगतामुल्लाघको राघवः ।
चक्षुर्वर्त्मसहस्रनिःसरदसृग्धारौघझाङ्कारिणा[1]

'कर्णजपः सूचकः स्यात्' इत्यमरः । 'मौलिर्मूर्धकिरीटयोः' इति धरणिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

किरीटेति । किरीटानां मुकुटानां परम्परा श्रेणिस्तस्याः परिभवं बाणप्रहाररूपमनादरम् । अमृष्यमाणेन असहमानेन । बाणवर्षाद्वैतम् सर्वतो बाणवृष्टिम् ॥

विदेहकन्येति । विदेहकन्यायाः सीतायाः कुचौ स्तनौ कुम्भौ इव तयोः कोटेः अग्रभागस्य साक्षिणि प्रत्यक्षानुभवितरि जन्मान्तरे विष्णुरूपजन्मनि मेलकारौ सङ्गिनौ श्रीकौस्तुभौ तदाख्यमणी यस्य तादृशे विष्णुरूपजन्मनि श्रिया कौस्तुभेन च युक्ते रामस्य वक्षसि हृदये (रावणेन) अयम् सायको बाणो निखातः निक्षिप्तः । हा खेदे ॥ ६७ ॥

एकेनैवेति । एकेनैव निवातकङ्कटभिदा अतिदृढकवचभेदिना लङ्कापतेः पत्त्रिणा बाणेन जगतामुल्लाघनः रावणादिराक्षसविनाशद्वारा लोकत्रयनैरुज्यकारी कोऽपि राघवोऽयं यदि नाम विद्धः, तु किन्तु चक्षुषां वर्त्मसहस्रात् इन्द्रस्य दृशाम् अबाधं प्रत्यक्षं जायतामिति विचार्य तद्वर्मणि निर्मिताद्रन्ध्रसहस्रात् निःसरन् निर्गच्छन् यः

हेमाङ्गद—(खेद तथा आश्चर्यसे) क्यों, किरीट-समुदायके अपमानसे कुपित तथा अनवरत बाणवृष्टि करनेवाले राक्षसराजने—

हाय, विदेहकन्याके कुचकुम्भोंकी कठोरताके साक्षी तथा जन्मान्तरमें लक्ष्मी तथा कौस्तुभसे मिलन करनेवाले रामके हृदय पर अपना बाण रोप दिया ॥ ६७ ॥

(अच्छी तरह देखकर) सखे, दृढ़कवचभेदी रावणके एक ही बाणसे यदि जगत्को नीरुज बनानेवाले राम विद्ध होगये, तब वह इन्द्रके कवचमें बने सहस्र नेत्र-मार्गोंसे खूनकी धार बहाकर हजार व्रणोंको विवृत कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

---

1. 'सात्कारिणा' ।

माहेन्द्रेण तु वर्मणा विवृणुते वीरः सहस्रं व्रणान् ॥ ६८ ॥

रत्नचूडः—(सहर्षम् ।) राघवेणापि

सीतास्तनस्तवककुङ्कुमपङ्कलोप[1]-
सङ्कल्पपातकिनि वक्षसि रावणस्य ।
न्यस्तः शरो विबुध[2]कुञ्जर[3]दन्तघात-
रूढव्रणार्बुदचतुष्टयमध्यवर्ती ॥ ६९ ॥

हेमाङ्गदः—(कर्णं दत्त्वा सविस्मयम् ।) [4]एकेन सव्यपाणिना विशिखमुत्खाय किमाह रावणः—साधु रे मनुष्यडिम्भ, साधु ।

असृग्धारौघः रक्तप्रवाहसमुदायस्तेन झाङ्कारिणा झाङ्कारशब्दकरेण माहेन्द्रेण वर्मणा कवचेन वीरो रामः सहस्रं व्रणान् विवृणुते प्रकाशयति । [यद्यपि रावणबाणेन राम एकत्रैव विद्ध इत्येकमेवासौ व्रणं धत्ते परन्तु शक्रवर्मणः सहस्रच्छिद्रतया प्रतिच्छिद्रं रक्तं वहतीति रक्ताक्तच्छिद्रसहस्रयुक्ततनुरयं रामः सहस्रं व्रणान् प्रकाशयतीत्युक्तम् । 'उरश्छदः कङ्कटकः', 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' इत्युभयत्रामरः ॥ ६८ ॥

सीतास्तनेति । सीतायाः स्तनौ स्तवकाविव पुष्पगुच्छाविव तयोः कुङ्कुमपङ्कस्य काश्मीरद्रवस्य लोपे अपसारणे रामवधद्वारा वैधव्यं विधाय तामालिङ्ग्य वा तत्कुचस्थ कुङ्कुमपङ्कापसारणे यः सङ्कल्पः इदेच्छा तत्पातकिनि मनसा पापपरे रावणस्य वक्षसि (राघवेणापि) विबुधकुञ्जर ऐरावतस्तस्य चतुर्भिर्दन्तैः घातः प्रहारस्तेन रूढस्य जातस्य व्रणार्बुदानाम् व्रणचिह्नमांसपिण्डानाम् चतुष्टयं तन्मध्यवर्त्ती मध्यस्थः शरो न्यस्तः क्षिप्तः । रामोऽपि रावणस्य हृदये बाणं क्षिप्तवान्, यत्र हृदये सीतामालिङ्गितुं रामं हत्वा सीतां विधवां कर्त्तुं वा सङ्कल्पेन पापं संक्रान्तम्, यत्र चैरावतदन्तचतुष्टयप्रहारकृतव्रणार्बुदचतुष्टयं विद्यमानं तत्रेति बोध्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६९ ॥

रत्नचूड—(सहर्ष) राघवने भी—

सीताके स्तनों पर किये गये 'कुङ्कुमपङ्कको लुप्त करनेके सङ्कल्पसे पातकयुक्त रावणके हृदय पर देवगजके दन्तघातसे उत्पन्न व्रणचिह्न-चतुष्टयके मध्यमें बाण रख दिया ॥ ६९ ॥

हेमाङ्गद—(कान लगाकर) एक ही वामहस्तसे बाण उखाड़कर रावणने क्या कहा ? साधु अरे नरशिशु, साधु,

---

१. 'लेप-' । २. 'वारण-' । ३. 'दन्तपात-' ।
४. 'एकेनापि सव्येन पाणिना'; एकेन सव्येन'; 'एकेन सव्यपाणिना तमुत्खाय' ।

त्रैविक्रमः सकलदानवजीवितव्य-
विद्यासमाप्तिलिपिरेष सुदर्शनो मे ।
यस्मिन्निपत्य हृदये दलितारजाल-
ज्योतिस्तुषारमयमाभरणं बभूव ॥ ७० ॥

तस्मिन्नपि रुधिरदर्शनं कुर्वाणेन भवता दर्शितेयं सुरासुरवीराति-[1]शायिनी हस्तवत्ता ।

रत्नचूडः—अहह, विपक्षगिरामुद्गारेण सर्वग्रन्थिगुरुणा दूरं [2]दीप्य-मानस्य—

सुविनिहितचन्द्रहासव्रणकिणवलयोपहसितहारेषु ।

त्रैविक्रम इति । सकलानां दानवानां जीवितव्यं जीवनम् एव विद्या तस्याः समाप्तिलिपिः अवसानलेखरूपः एषः त्रैविक्रमः विष्णुसम्बन्धी सुदर्शनः चक्रं नाम यस्मिन् मम हृदये निपत्य पतित्वा दलितं खण्डशो भूतं मदीयवक्षोरःसङ्घर्षण-त्रुटितम् आरजालं चक्रप्रान्तसमूहो यस्य तथाभूतम् अत एव ज्योतिस्तुषारमयं भास्वरशीतलम् आभरणं बभूव । यच्चक्रं राक्षसजीवनसमापकं प्रथते तदपि वैष्णवं सुदर्शनाभिधं चक्रं ममोरसि प्रहृतं सत् वक्षोरःसंघर्षेण त्रुटितारजालं भूत्वा यत्र मम हृदये भास्वरवर्णमतिशीतलं चाभरणं जातं तत्रापीत्यग्रिमेण सम्बन्धः ॥७०॥

रुधिरदर्शनं कुर्वाणेन—शोणितं प्रकटयता । सुरासुरवीरातिशायिनी देवदान-वातिक्रमणी । हस्तवत्ता—प्रशस्तहस्तशालिता ।

विपक्षगिराम्—शत्रुवचसाम् । उद्‌गारेण उच्चारणेन । सर्वग्रन्थिगुरुणा—सर्वैर्ग्रन्थिभिर्महता । दूरम्—अतिमात्रम् । दीप्यमानस्य—प्रकाशमानस्य ।

सुविनिहितेति । सुविनिहितः शिवाराधनावसरे स्वशिरश्छेदनार्थं सुष्ठु धृतो यश्चन्द्रहासो नाम निजखड्गस्तस्य व्रणकिणवलयेन शुष्कव्रणचिह्नसमुदयेन उप-

---

सकल दानवोंके जीवन-लेखको समाप्त करनेवाला विष्णुका सुदर्शन चक्र जिस हमारे वक्षपर गिरकर सकल दांतोंके टूट जानेसे तेजपूर्ण शीतल आभरण बन गया था ॥ ७० ॥

उसीपर तुमने रक्त-दर्शन कराकर सकल देवदानवजयिनी वीरता प्रकट की है ।

रत्नचूड—अहह !! शत्रुके वचनोंसे अत्यन्त कुपित—

रामके बाण-समुदाय अच्छी तरह विन्यस्त चन्द्रहास-व्रणचिह्नोंसे हारका उपहास

---

१. 'वाहिनी' । २. 'देदीप्यमानस्य'; 'कम्पमानस्य' ।

रामस्य मार्गणगणाः पतन्ति दशकण्ठकण्ठेषु ॥ ७१ ॥

हेमाङ्गदः—(सचमत्कारम् ।) सखे, पश्य पश्य—अनुरूपवीरसं-
[1]वादप्रमोदभरद्विगुणितावष्टम्भसंक्षोभितभुवनत्रयस्य निरन्तरप्रहीयमाण-
[2]बाणपञ्जरमध्यवर्तिना रामभद्रेण क्रीडाशकुन्तकौतुकं [3]पूर्यते राक्षसरा-
जस्य । नूनमिदानीम्

उदञ्चन्न्यञ्चद्भूविवृतनिभृतानामनुफणं
मणीनां विद्युद्भिः क्षणमुषितपातालतिमिरः ।

हसितः स्वरूपशोभया निन्दितो हारो येषु तादृशेषु—शिरश्छेदधृतचन्द्रहासक्षत-समुत्पन्नव्रणकिणवलयतिरस्कृतहारशोभेषु—दशकण्ठकण्ठेषु रावणगलेषु रामस्य मार्गणगणाः बाणसमूहाः पतन्ति ॥ ७१ ॥

अनुरूपेति । अनुरूपो योग्यो यो वीरसंवादः सुभटमिलनं तेन यः प्रमोदभर आनन्दातिशयः तेन द्विगुणितः द्विगुणीभूतः योऽवष्टम्भः गर्वः तेन संक्षोभितं सञ्चालितं भुवनत्रयं येन तथोक्तस्य । राक्षसराजस्य रावणस्य । निरन्तरप्रहीय-माणानाम् अनवरतं क्षिप्यमाणानाम् बाणानां पञ्जरस्य मध्ये वर्त्तते तच्छीलेन—रावणमुक्तबाणगणरूपपञ्जरमध्यस्थितेन । क्रीडाशकुन्तकौतुकम्–क्रीडापक्षिविनोदः । पूर्यते–सम्पाद्यते । अन्योऽपि क्रीडापक्षी पञ्जरमध्ये तिष्ठति, तद्वदयं रामोऽपि बाणपञ्जरमध्यस्थतया रावणस्य क्रीडाशकुनिविनोदं करोतीत्यर्थः ।

उदञ्चदिति । भुजगानामधिपतिः शेषनागः उदञ्चन्ती रावणे स्थिरे तत्पदन्यास-जनितभाराधिक्यविरहे उपरि गच्छन्ती न्यञ्चन्ती रावणकृते पदन्यासे भारा-धिक्येन अधोगच्छन्ती च या भूः पृथिवी तया विवृतानाम् प्रकाशितानां च उन्नमने प्रकाशितानां तथाऽधोनमने निह्नुतानाञ्चेत्यर्थः । अनुफणं प्रतिभोगं मणीनां मूर्धस्थरत्नानां विद्युद्भिः प्रभाभिः क्षणमुषितपातालतिमिरः कियत्कालापहृताधो-

---

करनेवाले रावणके कण्ठोंमें गिर रहे हैं ।

हेमाङ्गद—(चमत्कृत होकर) सखे देखो देखो, अनुरूप वीर-संवादजन्य आनन्दसे दुगुने उत्साह द्वारा भुवनको संक्षोभित करनेवाले रावणके निरन्तर क्षिप्त बाणोंसे राम पञ्जरगत पक्षी की तरह मालूम पड़ रहे हैं । निश्चय ही इस समय—

ऊपर नीचे होती हुई पृथ्वीके द्वारा प्रकाशित तथा गोपित फणशाली भुजगोंके

---

१. 'प्रमोदद्विगुणित–' ।　　२. 'पञ्जरवर्तिना' ।　　३. 'आपूर्यते' ।

भुजक्रीडावल्गद्दशमुखपदन्यासगरिम-
प्रगल्भैर्निःश्वासैरजनि भुजगानामधिपतिः ॥ ७२ ॥

रत्नचूडः—(सभयमवलोक्य ।) सखे, एवमेतत् ।

रक्षोविक्षोभवेगोच्छलितजलनिधिव्यक्तमातङ्गचक्र-
क्रुध्यद्दिङ्नागमुक्तोद्धरण[1]गुरुभरामद्य नागाधिराजः ।
अङ्गैरङ्गेषु मग्नैरविरलवलिना वामनेनातिपीना

भुवनान्धकारः, भुजक्रीडया बाहुलीलया वल्गन् सञ्चरिष्णुर्यो दशमुखो रावणस्तस्य पदन्यासगरिम्णा पादक्षेपप्रभवगौरवेण प्रगल्भैर्दीर्घतां गतैर्निश्वासैः अजनि जातः । अयमाशयः—रावणे बाहुलीलाप्रदर्शनरसिके तत्पदन्यासजनितगौरवेण यदा पृथ्वी नमति तदा शेषफणामणयः पृथ्व्या सन्निहितया निह्नूयन्ते तदा शेषः स्वफणामणि-प्रभाभिः पातालवर्त्तितमोऽपाकर्त्तुं न प्रभुर्भवति, यदा च रावणः स्थिरीभवति तदा पृथिव्यामुन्नतायां शेषफणामणयो विवृता भवन्ति तदा शेषस्तत्प्रभाभिः पातालस्थितं तमो नाशयति, तदित्थं शेषनागो रावणपदन्यासगौरवप्रसूतनिःश्वा-सानुसारं पातालवर्त्तितमः कदाचिन्नाशयति कदाचिन्न नाशयतीत्यनित्यप्रकाशतां गत इति ॥ ७२ ॥

रक्षोविक्षोभेति । अद्य अधुना नागाधिराजो वासुकिः रक्षसां विक्षोभश्चलनं तज्जन्यवेगेनोच्छलितः उत्क्षिप्तजलराशिः अत एव च तुच्छीभूतो यो जलनिधिः सागरस्तत्र व्यक्ताः प्रकटीभूताः ये मातङ्गचक्राः गजसमूहाः तेभ्यो विपक्षशङ्कया क्रुध्यन्तो ये दिङ्नागाः दिग्गजास्तैर्मुक्तं त्यक्तमुद्धरणमुपरिधारणं तेन गुरुभरामति-भारवतीम् उर्वीम् पृथ्वीम् अविरलवलिना निरन्तरमांससङ्कोचरूपत्रिवलीसंयुक्तेन वामनेन खर्वेण अतिपीन्ना अतिस्थूलेन देहेन फणफलकपरीणाहं फणसमूहविस्तारम् अपह्नुवानः गोपयन् अङ्गेषु लग्नैः निलीनैः अङ्गैः बिभर्त्ति धारयति । युद्धे चलत्सु

फणमणियों द्वारा पातालके अन्धकारको शेषनाग दूर करते हैं, क्योंकि बाहु-लीलासे गर्वित रावण अपने पदन्यासके गौरवसे उनके श्वासकी वृद्धि कर रहा है ॥ ७२ ॥

रत्नचूड—(सभय देखकर) सखे, ठीक कहते हो,

रावण-पक्षगत राक्षसोंके संचरण-वेगसे उछलते हुए सागरमें मातङ्ग समुदाय प्रकट होता है जिससे कुपित होकर दिग्गज पृथ्वीका धारण छोड़ देते हैं, तब केवल शेषके ही ऊपर पृथ्वीका सारा भार आ पड़ता है अतः उनके अङ्ग अङ्गोंमें समाने लगते हैं, वलियाँ निकल आती हैं, गर्दन वामन तथा मोटी हो उठती है, इस प्रकार किसी तरह

---

१. 'गुरुतराम्' ।

देहेनापह्नुवानः फणफलकपरीणाहमुर्वीं बिभर्ति ॥ ७३ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य ।) कथमितस्ततो वैमानिकैरपक्रम्यते[1] गगनतलात् ।

हेमाङ्गदः—(सचमत्कारम् ।) अहो त्रिभुवन[2]भयङ्करमायोधनमुपक्रान्तं महावीराभ्याम् । तथा हि ।

ध्यायत्ययं गाधिसुतादधीतान्दिव्यास्त्रमन्त्रान्मनुवंशवीरः ।
ब्रह्मोपदिष्टामिह [3]शस्त्रविद्यामसौ [4]तदाकाङ्क्षति राक्षसेन्द्रः ॥७४॥

[5]तदावामप्यपसरावः । (इत्यपसृत्यासाते ।)

राक्षसेषु समुच्छलति सागरजले प्रकाशीभवत्सु मातङ्गचक्रेषु प्रतिपक्षशङ्कया कुप्यद्भिर्दिङ्नागैः परित्यक्ते उपरिधारणव्यापारे प्रवृद्धभारायां भुवि भारोऽधिको नेति बोधयितुं भाराधिक्येन विस्तीर्यमाणमपि फणसमूहं निरन्तरवलियुक्तेन खर्वेण स्थूलेन च देहेन गोपयन् अयं शेषनागोऽङ्गेषु स्वाङ्गानि मज्जयन्महता क्लेशेन पृथ्वीं धारयतीत्यर्थः । 'पीवा च स्थूलपीवरे' इत्यमरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ७३ ॥

वैमानिकैः व्योमयानस्थितैः । अपक्रम्यते अपस्त्रियते ।

त्रिभुवनभयङ्करम् लोकत्रयभयजनकम् । आयोधनं युद्धम् । उपक्रान्तम् प्रारब्धम् ।

ध्यायत्ययमिति । अयं मनुवंशवीरः मनुवंशश्रेष्ठः रामः गाधिसुतात् विश्वामित्रात् अधीतान् शिक्षितान् दिव्यास्त्रमन्त्रान् जृम्भकादिप्रयोगोपनिषदः ध्यायति स्मरति, असौ राक्षसेन्द्रः इह रणक्षेत्रे तदा रामेण दिव्यास्त्रमन्त्रेषु स्मर्यमाणेषु ब्रह्मोपदिष्टाम् ब्रह्मणा पूर्वं शिक्षिताम् शस्त्रविद्याम् आकाङ्क्षति आलोचयितुमिच्छति, तदित्थमुभावपि भीषणं युद्धं प्रक्रमेते इत्याशयः ॥ ७४ ॥

फणमण्डलको विस्तारित करके वह पृथ्वीका धारण करते हैं ॥ ७३ ॥

(ऊपरकी ओर देखकर) क्यों, वैमानिकगण आकाशसे इधर-उधर भाग रहे हैं ।

हेमाङ्गद—(चमत्कृत होकर) दोनों महावीरोंने त्रिभुवन भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ कर दिया है । क्योंकि—

रामचन्द्र विश्वामित्रके पास पढ़े गये दिव्यास्त्र-मन्त्रोंका ध्यान कर रहे हैं, और रावण ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट शस्त्रविद्याका स्मरण करता है ॥ ७४ ॥

अतः हमलोग भी यहाँ से चलें । (हटकर खड़े हो जाते हैं)

---

१. 'आक्रम्यते गगनतलम्'; 'अपाक्रम्यते' । २. 'भङ्गभयंकरमुपक्रान्तम्' ।
३. 'चास्त्रविद्याम्' । ४. 'तदाभ्यस्यति' । ५. 'तदावामुपसृत्यास्वहे' ।

हेमाङ्गदः—(समन्तादवलोक्य ।) सखे, [1]यथा भुवनसंक्षोभस्तथा तर्कयामि—तामिस्रं भानवीयेन, भानवीयं राहवीयेण, राहवीयं वैष्णवीयेन, वैष्णवीयं पौष्पकेतवेन, पौष्पकेतवं च[2] पाशुपतेनास्त्रमस्त्रेण प्रतिकुर्वाणयोः [3]पुलस्त्यककुत्स्थकुलैकवीरयोस्तुमुलमायोधनं वर्तते ।

रत्नचूडः—[4]सखे, कृतिप्रतिकृतीनामविशेषेऽपि जेतव्यमिति रामस्य मर्तव्यमिति रावणस्य निर्णयनिर्भरोऽयं सर्वास्त्रमोक्षः । विशिखमुखोपस्थायिनीनां च [5]पुनर्देवतानामवलीयानाटोपः [6]कल्प्यते । तथा हि ।

यद्दैवतं क्षिपति पत्त्रिषु राक्षसेन्द्रः

भुवनसंक्षोभः भुवनानां संभ्रमः । तामिस्रम् रात्रिदेवताकम् । भानवीयेन सूर्यदेवतेन । राहवीयेण राहुदैवतेन । पौष्पकेतवेन कन्दर्पदेवताकेन, विष्णुः स्वपुत्रे सदय इति वैष्णवास्त्रप्रतीकाराय कामदेवताकमस्त्रं प्रयुज्यते । प्रतिकुर्वाणयोः प्रतिप्रहरतोः । पुलस्त्यकुलैकवीरो रावणः, ककुत्स्थकुलैकवीरो रामश्च तयोः । तुमुलम् अतिभीषणम् ।

कृतिप्रतिकृतीनाम् अस्त्रप्रयोगप्रत्यस्त्रप्रयोगाणाम् । अविशेषे साम्ये निर्णयनिर्भरः निश्चयाधीनः । सर्वास्त्रमोक्षः सर्वप्रहरणप्रयोगः, रामो जेतव्यमिति निश्चित्य शस्त्राणि प्रयुङ्क्ते, रावणश्च अत्र शरे रामेण मर्त्तव्यमिति निश्चयेन तथाकारीत्याशयः । विशिखमुखोपस्थायिनीनाम् शरसंपाताग्रवर्त्तिनीनाम् अवलीयान् दुर्बलः । आटोपः गर्वो रोपो वा ।

यद्दैवतमिति । राक्षसेन्द्रो रावणः पत्त्रिषु शरेषु मध्ये यद्दैवतमस्त्रं क्षिपति

हेमाङ्गद—(चारो ओर देखकर) सखे, भुवनके संक्षोभको देखकर मैं सोचता हूँ तामिस्र अस्त्र भानवीय अस्त्रसे, भानवीय राहवीयसे, राहवीय वैष्णवीयसे, वैष्णवीय पौष्पकेतवीयसे, पौष्पकेतवीय पाशुपत अस्त्रसे, इस प्रकार अस्त्रसे अस्त्रका प्रतीकार करनेवाले रावण तथा रामका भीषण युद्ध हो रहा है ।

रत्नचूड—अस्त्र-प्रयोग तथा प्रति प्रयोगके समान होने पर राम जीतनेका निश्चय करके सर्वास्त्र-प्रयोग कर रहे हैं और रावण इसलिये सर्वास्त्र-प्रयोग कर रहा है कि मरना है । बाणके आगे चलनेवाले अधिष्ठातृदेवोंमें किसी प्रकार का संरम्भ नहीं देखा जाता है । क्योंकि—

जिस देवताके बाणका प्रयोग रावण करता है वह देवता स्नेहसे रामके पास धीरेसे

---

१. 'यथायम्' ।　　२. 'च' इति क्वचिन्नास्ति ।　　३. 'पौलस्त्यकाकुत्स्थकुलजयोः' ।
४. 'सखे' इति क्वचिन्नास्ति ।　　५. 'देवतानां पुनः' ।　　६. 'कथयति' ।

स्नेहेन तद्रघुपतेर्मृदु संनिधत्ते।
यां देवतामुपदधाति च रामभद्र-
स्त्रासादसौ दशमुखस्य शनैरुपैति ॥ ७५ ॥

(नेपथ्ये ।)

यद्यत्कृत्तं दशमुखशिरस्तस्य [1]तस्यैव कान्तौ
संक्रामन्त्यामतिशयवती शेषवक्त्रेषु लक्ष्मीः।
यो यः कृत्तो दशमुखभुजस्तस्य तस्यैव वीर्यं
लब्ध्वा दृप्यन्त्यधिकमधिकं बाहवः शिष्यमाणाः ॥ ७६ ॥

([2]नेपथ्ये कलकलः ।)

उभौ—(सहर्षरोमाञ्चमाकर्ण्य ।) अये, शब्दोपलम्भसंवर्तकेन[3] कर्मणा निर्मितानि [4]त्रिभुवनकोपस्य कोऽयमिन्द्रियाणि प्रीणयति ।

प्रयुङ्क्ते तद् रघुपतेः रामस्य स्नेहेन प्रेम्णा मृदु कोमलं सन्निधत्ते उपसरति । रामभद्रश्च यां देवताम् उपदधाति वाणेऽभिमन्त्रयति, असौ देवता त्रासात् रावणभयात् शनैर्मन्दम् उपैति रावणस्य समीपं याति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

यद्यदिति । यत् यत् दशमुखस्य रावणस्य शिरः कृत्तं रामबाणैश्छिन्नं तस्य तस्य एव छिन्नस्य शिरसः कान्तौ दीप्तौ संक्रामन्त्यां लब्धायां सत्याम् शेषवक्त्रेषु अवशिष्टेषु मुखेषु लक्ष्मीः कान्तिः अतिशयवती पूर्वापेक्षयाऽधिका दृश्यते इति शेषः, यो यः दशमुखभुजः रावणबाहुः कृत्तः रामेण च्छिन्नस्तस्यैव वीर्यं बलं लब्ध्वा शिष्यमाणाः छिन्नावशिष्टाः बाहवः अधिकं दृप्यन्ति पूर्वापेक्षयाऽधिकं गर्वं प्रकटयन्ति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७६ ॥

शब्दोपलम्भेति । 'कोऽयं त्रिभुवनकोपस्य शब्दोपलम्भसंवर्त्तकेन कर्मणा निर्मि-

---

आता है और राम जिस देवताके वाणका प्रयोग करते हैं वह देवता डरसे रावणके पास धीरे-धीरे पहुँचता है ॥ ७५ ॥ (नेपथ्यसे)

रावणके जो सिर कट गये उनकी कान्ति शेष सिरोंमें आजाती है अतः शेष सिरोंकी शोभा बढ़ जाती है। इसी प्रकार जो बाहु कट जाते हैं उनका बल शेष बाहुओंको मिल जाता है अतः शेष बाहु अधिक गर्वित हो उठते हैं ॥ ७६ ॥

दोनों—(हर्षकृत रोमाञ्चसे सुनकर) अये, शब्दज्ञानजनक अपने भीषण कर्मसे यह कौन त्रिभुवन-श्रोत्रेन्द्रियको तृप्त कर रहा है ।

---

१. 'तस्येव' । २. 'नेपथ्ये कलकलः' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'संवर्तकैककर्मणा' । ४. 'कोऽयमिन्द्रियाणि प्रीणयति त्रिभुवनस्य' ।

(पुनर्नेपथ्ये कलकलः ।)

उभौ—(सभयाद्भुतम् ।) अये, कथमयं कपटकण्ठीरववैकुण्ठकण्ठकठोरकोलाहलकाहलो महानिर्घोषः [1]प्रजाकोपभङ्गमपर्वणि [2]प्रक्रमते । नूनं चेदानीं कालकूटोपदिग्धैरिव कण्ठध्वनिभिरेव मूर्च्छयतो भुवनानि भैरवस्य स्मरति सभयमद्य परमेष्ठी ।

(पुनर्नेपथ्ये ।)

दिव्यास्त्रैर्भूर्भुवःस्वस्त्रितयडमरणोड्डामरैर्योधयित्वा
लूनोत्क्षिप्तैः शिरोभिर्दशभिरभिनभो दर्शितैकादशार्कः ।

तानीन्द्रियाणि प्रीणयति इत्येवमन्वयः, त्रिभुवनकोपस्य लोकत्रयस्य शब्दोपलम्भसंवर्त्तकेन शब्दप्रत्यक्षकारणीभूतेन शब्दश्रवणशक्तिजनकेन कर्मणा प्रागाचरितेन शुभकर्मणा अदृष्टेन निर्मितानि इन्द्रियाणि श्रोत्राणि कोऽयं प्रीणयति हर्षयति, यस्य शब्दश्रवणजनकमदृष्टं भवति तस्यैव श्रोत्रमुत्पद्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दोपलम्भककर्मनिर्मितत्वं कथितम् ।

कपटेति । कपटेन छलेन कण्ठीरवः सिंहः एतादृशो वैकुण्ठो नारायणस्तस्य कण्ठान्निर्गतः कठोरो महान् कोलाहलस्तद्वत् काहलः कटुध्वनिः, महानिर्घोषः प्रचण्डशब्दः अपर्वणि असमये प्रजाकोपभङ्गम् त्रिलोकसंहारम् प्रक्रमते आरभते । नूनं निश्चयेन अद्य सम्प्रति परमेष्ठी ब्रह्मा सभयं कालकूटोपदिग्धैः विषलिप्तैः इव कण्ठध्वनिभिः स्वकण्ठनादैः एव भुवनानि लोकान् मूर्च्छयतः मूर्च्छां प्रापयतः भैरवस्य संहारदेवस्य हरस्य स्मरति । ब्रह्मा संहाराय हरं स्मरति तस्यैवायं कण्ठध्वनिराकर्ण्यते इत्याशयः ।

दिव्यास्त्रैरिति । काकुत्स्थेन रामेण भूर्भुवः स्वस्त्रितयस्य भूरादिसंज्ञकलोकत्रयस्य यत् डमरणं चमत्करणं तत्र उड्डामरैः अतितेजस्विभिः दिव्यास्त्रैः ब्राह्मादिभिरायुधैः

(फिर नेपथ्यमें कोलाहल)

दोनों—(भय तथा आश्चर्यके साथ) अये, क्यों, यह कपटसिंह बने हुए भगवान्के कण्ठ-कोलाहलकी तरह भीषण निर्घोष असमयमें प्रजाओंका प्रलय करनेको उद्यत होरहा है । निश्चय ब्रह्माने डरकर इस समय विषदिग्ध-कण्ठ ध्वनिसे जगत्को मूर्च्छित करनेवाले भैरवको यादकी है ।

(फिर नेपथ्यमें)

त्रिभुवनको कम्पित करनेवाले दिव्यास्त्रोंसे लड़कर काट-काटकर लहनेवाले अपने

---

१. 'ब्रह्माण्डकोश–' । २. 'क्रमते': 'अद्यापि' ।

काकुत्स्थेनावकीर्णो निजविशिखशिखायोगपीठोपहूत-
ब्रह्मास्त्रेणाधिशेते रजनिचरपतेर्वीरशय्यां कबन्धः ॥ ७७ ॥

उभौ—(श्रुत्वा सहर्षसंभ्रममूर्ध्वमवलोक्य [1]सविस्मयमन्योन्यम् ।) पश्य पश्य प्रलयकालकरालकालानलज्वालापुञ्जपिञ्जराणि रावणशिरांसि । (सत्वरमुपसृत्य [2]चाधस्तात्पश्यतः ।)

हेमाङ्गदः—(सकरुणम् ।) हा महावीरप्रकाण्ड लङ्केश्वर, [3]पर्यवसितोऽसि ।

योधयित्वा युद्धं कारयित्वा निजविशिखशिखा स्वबाणाग्रभाग एव योगपीठं योगासनं तत्र उपहूतम् आमन्त्रितं यद् ब्रह्मास्त्रं तेन लूनोत्क्षिप्तैः खण्डितैः ऊर्ध्वं क्षिप्तैश्च दशभिः शिरोभिः अभिनभः आकाशे दर्शितैकादशार्कः प्रकटावलोकितैकादशभानुबिम्बः अवकीर्णः भूमौ पातितो रजनिचरपतेः रावणस्य कबन्धः छिन्नमस्तकं वपुः वीरशय्याम् रणभुवम्. अधिशेते आश्रित्य स्वपिति । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरे' इत्यमरः । दशरावणशिरांस्येकश्च प्राकृतः सूर्य इत्येकादश सूर्यदर्शनम् । रामो भूरादिलोकत्रितयचमत्कारकतेजोधारिभिस्तैस्तैरस्त्रं चिरं योधयित्वा सम्प्रति स्वबाणाग्रभागरूपयोगासनामन्त्रितब्रह्मास्त्रो रावणस्य दशापि शिरांसि छित्त्वा वियत्युत्क्षिप्तवान्यैर्वियत्येकादश (दशरावणशिरांसि एकश्च वास्तविकः सूर्यः) सूर्या अदृश्यन्त । एतादृशोऽयं छिन्नशिरा रावणकबन्धो रणभूमिमाश्रित्य शेत इति । स्रग्धरावृत्तमेतत् ॥ ७७ ॥

प्रलयकाले सृष्टिसंहारसमये करालो भीषणो यः कालानलः प्रचण्डाग्निः तस्य ज्वालापुञ्जवत् प्रभामण्डलवत् पिञ्जराणि पिङ्गलवर्णानि वीरप्रकाण्ड प्रशस्तवीर । 'प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनी'त्यमरः । पर्यवसितः समाप्तः ।

दस मस्तकोंसे आकाशमें एकादश सूर्यका दर्शन कराकर, अपने बाणके अग्रभागमें ब्रह्मास्त्रका आवाहन करनेवाले रामके द्वारा बिखेर दिया गया यह रावणका कबन्ध वीर-शय्यापर पड़ा है ॥ ७७ ॥

दोनों—(सुनकर हर्ष-संभ्रमके साथ ऊपर देखकर साश्चर्य परस्पर) देखो देखो प्रलयकाल-कराल-कालाग्निकी ज्वालाकी तरह पीताभ रावणके सिर, (समीप आकर नीचे देखते हैं)

हेमाङ्गद—(करुण स्वरमें) हा महावीर लङ्केश्वर, समाप्त हो गये,

---

१. 'सविमर्शम्' । २. 'च' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'च' इति क्वचिन्नास्ति ।

भिन्नैरावणगन्धसिन्धुरशिरःसम्पातिभिर्मौक्तिकैः
शश्वद्विश्वजयप्रशस्तिरचनावर्णावलीशिल्पिने ।
नाकान्तःपुरिकाकपोलविलसत्काश्मीरपत्राङ्कुर-
[1]श्रीविन्यासविलासभीषणभुजस्तम्भाय तुभ्यं नमः ॥७८॥

(निर्वर्ण्य ।) सखे रत्नचूड,

ध्रुवं पतितपङ्क्तिकन्धरकबन्धपीडाभरा-
न्निजावनमनक्रमोन्नमितचक्रवालाचलम् ।

भिन्नैरावणेति । (हे रावण,) भिन्नं युद्धे विदारितं यत् ऐरावणगन्धसिन्धुरस्य ऐरावताख्यगन्धगजस्य शिरो मस्तकं ततः सम्पातिभिः स्खलद्भिर्मौक्तिकैः मुक्ताफलैः शश्वत् सततं विश्वजयस्य त्रिभुवनविजयस्य या प्रशस्तिरचना प्रशंसालिपिः तस्याः वर्णावलीनाम् अक्षरपङ्क्तीनाम् शिल्पिने निर्मात्रे नाकान्तःपुरिकाणां स्वर्गरमणीनां कपोलेषु विलसन् शोभमानः यः काश्मीरपत्राङ्कुरः कुङ्कुमद्रवकृतपत्रावलीप्ररोहः तस्य श्रीविन्यासेन शोभासमर्पणेन यो विलासः क्रीडा तस्य भीषणो भयङ्करो भुजस्तम्भो बाहुदण्डो यस्य तथाभूताय तुभ्यं नमः । अयमाशयः—ऐरावतकुम्भविदारणविकीर्णमुक्तावलिर्यो निजविश्वविजयप्रशस्तिरचनायामक्षराणि लिखति, यश्च स्वर्गाङ्गनाकपोलेषु कृते काश्मीरपत्राङ्कुरे श्रियो विलासं भयजननेन निवर्त्तयति, अर्थाद्यद्भयेन स्वर्गाङ्गनाः स्वकपोलेषु पत्रावलीर्न रचयन्ति, तादृशाय तुभ्यं रावणाय नमः । इति ॥ ७८ ॥

ध्रुवमिति । कद्रोः तदाख्यायाः दक्षकन्यायाः कश्यपस्त्रियः अपत्यानि काद्रवेयाः सर्पास्तेषामधिपः वासुकिः अर्धं कुण्डलितः सङ्कोचितः विग्रहो देह एव आधारकः आश्रयस्तेन प्रतीष्टम् अवलम्बितम् फणमण्डलं फणसहस्रं यस्य तथोक्तः सन् पतितः भूमौ गतः पङ्क्तिकन्धरस्य दशग्रीवस्य यः कबन्धः शिरःशून्यशरीरम् तेन पीडाभरात् व्यथातिशयात् निजेन स्वकीयेन अवनमनक्रमेण उन्नमिताः चक्रवाला-

---

विदारित ऐरावत-मस्तकसे गिरनेवाले मौक्तिकोंसे विश्वविजय-प्रशस्तिकी रचना करनेवाले स्वर्ग-रमणियोंके कपोलों पर विद्यमान काश्मीर-पत्राङ्कुरकी शोभाविन्यासको शोषित करनेवाले भुजोंसे युक्त तुझ रावणको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

(देखकर) सखे रत्नचूड,

पङ्क्ति-क्रमसे पतित गर्दनवाली देहके भारसे पृथ्वी नीचे झुकती जारही है जिससे दिक्-चक्रवाल उन्नत होते जारहे हैं, इस प्रकार शेषनागके ऊपर पृथ्वीका भार बढ़ता

---

१. 'विनाश' ।

महीवलयमर्धकुण्डलितविग्रहाधारक-
प्रतीष्टफणमण्डलो वहति काद्रवेयाधिपः ॥ ७९ ॥

रत्नचूडः—सखे, सर्वमतिशायि रावणस्य । पुरापि खलु

चलति [1]जगतीजैत्रे यत्र स्वभोगिचमूभटै-
र्वलयितमहादेहस्तम्भो बिभर्ति भुवस्तलम् ।
प्रचलदखिलक्ष्माभृन्मूलोपलव्यतिघट्टितो-
ल्वणमणिशिलाजल्पाकीभिः फणाभिरहीश्वरः ॥ ८० ॥

चलाः कुलपर्वताः यस्मिन् तत् यथा तथा महीवलयं भूमण्डलं वहति धारयति । शेषनागः अर्धकुण्डलिते निजे देहे फणमण्डलमवलम्ब्य रावणशरीरपातेन भाराधिक्येन यथा यथा शेषस्य फणा नमन्ति तथा तथा कुलाचला ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, पृथ्वीमण्डले शेषफणानमने सत्यधो व्रजति कुलाचला उपरि भवन्ति यत्र तादृशं भूवलयं धारयतीत्यर्थः । रावणकबन्धभरेण महीवलयस्याधोगमने कुलपर्वताना-मुच्चत्वं जातमिति भावः । पृथ्वीवृत्तम्—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति तल्लक्षणम् ॥ ७९ ॥

अतिशायि लोकोत्तरम् ।

चलतीति । यत्र यस्मिन् जगतीजैत्रे विश्वविजयिनि रावणे चलति स्थानात्स्थानान्तरं गच्छति सति अहीश्वरः सर्पराजो वासुकिः स्वभोगिचमूभटैः स्वीयसर्पसैनिकैः वलयितमहादेहस्तम्भः वेष्टितविशालदेहः सन् प्रचलतां रावणचरणविन्यासभरात् अधोगच्छताम् अखिलक्ष्माभृतां सकलपर्वतानां मूलोपलैः मूलदेशस्थप्रस्तरैः व्यतिघट्टिताः सङ्घृष्टा अत एव उल्वणाः तीव्रप्रकाशाः मणिशिलाः फणस्थमणिरूपशिलास्तासां जल्पाकीभिः कथयित्रीभिः फणाभिर्भुवस्तलं बिभर्ति । रावणे चलति सति भीताः सर्पभटाः स्वमधीशं वासुकिं परिवृत्य तिष्ठन्ति, किञ्च रावणचरणभारात्सर्वे पर्वता अधो गच्छन्ति, तन्मूलपर्वतशिलासङ्घर्षवशात् तीव्रप्रकाशाः भवन्ति

जारहा है जिसे वह अर्धकुण्डलित शरीर होकर फण-मण्डलके द्वारा धारण करते हैं ॥७९॥

रत्नचूड—मित्र ! रावणका सब कुछ लोक-विलक्षण ही रहा, पहले भी,

जब रावण विजय-यात्रामें चलता था, तब शेषनाग अपने वीर नाग-सैनिकोंसे अपने शरीरको वेष्टित करके पृथ्वीका भार वहन करते थे, उस समय उनकी फणायें प्रचलित समस्त पर्वतोंके मूल देशोंसे घर्षित होकर मणि-शिलाकी तरह प्रतीत होने लगती थीं ॥८०॥

१. 'जगतां जैत्रे'।

इदानीं [1]पुनरुत्क्रान्तवायुरतिदुर्वहो देहबन्धः ।

हेमाङ्गदः—(अन्यतोऽवलोक्य ।) कथमियं दशकन्धरस्य कबन्धाभिमुखी शोकविक्लवा मन्दोदरी निशाचरीभिरपकृष्यते । (कर्णं दत्त्वा । आकाशे ।) कष्टम् । चपलकपिकुलानुक्रियमाणकरुणकाकुप्रकार[2]कातरस्वरा [3]मन्दोदरी किमाह महावीरवरवर्णिनी—

भूयिष्ठानि मुखानि चुम्बति भुजैर्भूयोभिरालिङ्ग्यते
चारित्रव्रतदेवतापि भवता कान्तेन मन्दोदरी ।

वासुकेः फणामणयः, तादृक्तीव्रमणिधराभिः फणाभिरसौ वासुकिः पृथ्वीं बिभर्ति- इति भावः ॥ ८० ॥

उत्क्रान्तवायुः देहविनिर्गतप्राणवायुः । देहबन्धः कबन्धः ।

कबन्धाभिमुखी शरीराध्युषितदेशगामिनी । शोकविक्लवा शोकविह्वला । अवकृष्यते अन्यतो नीयते ।

चपलेति । चपलेन स्वभावचञ्चलेन कपिकुलेन वानरसमूहेन अनुक्रियमाणः अनुकृत्यावर्त्यमानः करुणः दुःखोद्रेकशाली काकुप्रकारः अतिदीनरूपः कातरः आर्त्तिव्यञ्जकश्च स्वरो यस्याः सा तथोक्ता । महावीरवरवर्णिनी महावीरस्य रावणस्य धर्मभार्या ।

भूयिष्ठानीति । हे लङ्केन्द्र रावण, चारित्रव्रतदेवता पातिव्रत्यनियमाधिष्ठात्री सती सत्यपि मन्दोदरी कान्तेन स्वपतिना दशमुखशालिना विंशतिभुजेन च भवता

इस समय तो प्राणवायुके निकल जानेसे रावणकी देह और भारी हो गई,

हेमाङ्गद—(दूसरी ओर देखकर) क्यों, यह शोकमग्ना मन्दोदरी रावणकी लाशकी ओर बढ़ रही है । (कान लगाकर)

हा कष्ट ! चपलकपिगण मन्दोदरीके रुदनकी नकल कर रहे हैं, महावीर-भार्या मन्दोदरी क्या कहती है—

आपके कान्त होनेसे पतिव्रता रहकर भी मन्दोदरी बहुत बाहुसे आलिङ्गन तथा बहुत मुखोंका चुम्बन प्राप्त करती थी, आपने मुझ मन्दोदरीको वचन दिया था कि मैं

---

१. 'अपक्रान्तदेहवायुर्दुर्वहोऽयम्' । २. 'कातरतरस्वरा' ।
३. 'मन्दोदरी' इति क्वचिन्नास्ति ।

हा लम्बोदरकुम्भमौक्तिकमणिस्तोमैर्ममैकावली-
शिल्पे वागधमर्णिकस्य भवतो लङ्केन्द्र निद्रारसः ॥ ८१ ॥

उभौ—(सखेदम् ।) इदमशक्यानुभवं चक्षुःश्रोत्रस्य । प्रतिकृतानां विद्विषामपि व्यसनमतिमात्रं हृदयमर्माणि च्छिनत्ति । (सविमर्शम् ।) अहह, न किंचिदनीपत्करं नाम कृतान्तस्य ।

वन्दारुवृन्दारकवृन्दवन्दीमन्दारमालामकरन्दविन्दून् ।

हेतुभूतेन भूयिष्ठानि बहूनि दशमुखानि चुम्बति भूयोभिः विंशत्या भुजैः आलिङ्ग्यते आश्लिष्यते । यद्यपि सत्या बहुमुखचुम्बनस्यानेकभुजालिङ्गनस्य वा सुखं दुर्लभं तथापि दशमुखेन विंशतिभुजेन च पत्या त्वया सा तत्सुखं प्रापितेत्यर्थः । हा खेदे, लम्बोदरस्य गजाननस्य कुम्भे ये मौक्तिकमणयस्तेषां स्तोमैः समूहैः मम एकावली एकसरं माल्यम् तस्याः शिल्पे विरचने वाचा वचनेन अधमर्णिकस्य ऋणं धारयतस्तव रावणस्य निद्रारसः निद्रायामनुरक्तिः कथमभूदिति शेषः । गजाननं विजित्य तत्कुम्भविनिर्गतमौक्तिकैः एकावलीं विरचय्य तव कण्ठे परिधापयिष्यामीति वचसा स्वीकृतैकावलीसमर्पणरूपमृणमपरिशोध्य तव निद्रालुता निद्रारूपान्याङ्गनासक्तिर्वा खेदस्य विषयः । प्रियं बहुमुखचुम्बनं बहुबाहुकृतालिङ्गनं च दत्तवता त्वयैकमिदमेकावलीप्रदानं कथं विस्मर्यते इति खेदस्य विषय इत्याशयः । 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८१ ॥

अशक्यानुभवम् ज्ञातुमशक्यम् । चक्षुःश्रोत्रस्य चक्षुःश्रवसः । चक्षुषा द्रष्टुं श्रोतुं च न शक्यतेऽतोऽतीव व्यथकमिदमिति व्यज्यते ।

प्रतिकृतानाम् पराजितानाम् । विद्विषाम् शत्रूणाम् । व्यसनम् विपत् । हृदयमर्माणि हृदयस्थकोमलतमभागान् । छिनत्ति विदारयति । अनीपत्करम् कष्टसाध्यम् ।

वन्दारुवृन्दारकेति । वन्दारवः चरणपतिताः याः वृन्दारकवृन्दवन्द्यः देवसमूहानां

तुमको गणेशके मस्तकस्थित मौक्तिकका एक सूत्रहार बना दूंगा, उसे पूरा किये विना आप क्यों सो गये ॥ ८१ ॥

दोनों—(सखेद) आँखों तथा कानोंके लिए यह देखना तथा सुनना कठिन है । परास्त किये गये शत्रुओंके भी व्यसनसे हृदय छिद जाता है, अहह, यमराजके लिए कुछ भी करना कठिन नहीं है ।

यही मन्दोदरी चरणपर गिरनेवाली देववन्दिनियोंके मस्तकस्थित मन्दारपुष्प-संबन्धी

मन्दोदरीयं चरणारविन्दरेणूत्करैः कर्करतामनैषीत् ॥ ८२ ॥

(नेपथ्ये ।)

नीयन्ते वनदेवताभिरमरक्षोणीरुहो नन्दनं
नीतो [1]वल्लभपालकेन च निजामुच्चैःश्रवा मन्दुराम् ।
रक्षोभिश्च [2]विभीषणप्रणयिभिः कारागृहान्मोचित[3]-
स्वर्वन्दीवदनावलोकनिबिडव्रीडो विडौजाः कृतः ॥ ८३ ॥

हठहृता अङ्गनाः तासां मन्दारमालायाः केशस्थितमन्दारपुष्परचितमाल्यस्य ये मकरन्दविन्दवः पुष्परसकणाः तान् चरणारविन्दरेणूत्करैः स्वपादकमलधूलीपटलैः इयं मन्दोदरी कर्करताम् कठोरताम् अनैषीत्, यस्या मन्दोदर्याः पतन्तीनां देवबालानां शिरोमन्दारमकरन्दविन्दवो मन्दोदरीचरणकमलपरागैर्मिलिताः सन्तः कठोरतां यान्ति तादृश्यपीयं मन्दोदरी कालचक्रेण करुणं विलपतीति नास्त्यसाध्यं यमराजस्येति भावः । 'कर्करः कठिनेऽन्यवत्' इति मेदिनी ॥ इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ८२ ॥

नीयन्ते इति । वनदेवताभिर्वनाधिष्ठातृदेवताभिः अमरक्षोणीरुहो देवतरवः नन्दनं देवोद्यानं नीयन्ते प्राप्यन्ते, वल्लभपालकेन प्रियमन्दुरापालेन उच्चैःश्रवा नाम इन्द्राश्वः निजां मन्दुरां वाजिशालां नीतः प्रापितः, विभीषणप्रणयिभिः विभीषणसुहृद्भिः रक्षोभिः विडौजा इन्द्रः कारागृहान्मोचितानाम् स्वर्वन्दीनाम् स्वर्गस्थहठहृतमहिलानाम् वदनावलोकनेन मुखवीक्षणेन निविडा अधिका व्रीडा लज्जा यस्य तथाभूतः एता मया न मोचिता इति लज्जायुतः कृत इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

मकरन्द विन्दुओंको स्वचरण-कमलकी धूलियोंसे कठोर बना दिया करती थी ॥ ८२ ॥

(नेपथ्यमें)

वनदेवता देववृक्षोंको नन्दनवन लिये जा रहे हैं, इन्द्रकी अश्वशालाके अध्यक्षने उच्चैःश्रवाको अपनी अश्वशालामें पहुंचा दिया है । विभीषण-पक्षपाती राक्षसगण देववन्दियोंको कारावाससे मुक्त कर दिया है और जब वे स्वर्ग पहुंचे, तब उनके मुँह देखकर इन्द्रको अपने पराक्रमराहित्यके स्मरणसे लाज लगने लगी ॥ ८३ ॥

---

१. 'वल्लव–' ।　　२. 'प्रभृतिभिः' ।　　३. 'मोचितः' ।

रत्नचूडः—(सहर्षम् ।) सखे, तदेहि । [1]लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवास्तव्यं बन्धुवर्गमीक्षावहे[2] । (इति [3]परिक्रामन्तौ विलोक्य सहर्षमन्योन्यम् ।)

सखे, पश्य पश्य । [4]प्रहारजर्जरवलीमुखाच्छभल्लगोलाङ्गूल[5]ग्रामसंवल्गनवल्गितसुग्रीवो लक्ष्मणनिहितधन्वा[6] विभीषणभुजावलम्बी विजयश्रिया किमपि प्रदीप्तरमणीयो [7]रामभद्रः । अयं हि सम्प्रति

पौलस्त्यन्यस्तशक्तिव्रणकिणकणिकालक्ष्मणो लक्ष्मणोरः-
पीठान्निर्मुक्तलज्जो विबुधपुरवधूक्लृप्तपुष्पाभिषेकः ।

लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवास्तव्यम् रावणस्य कारागृहे बहुकालान्निवसन्तम् । बन्धुवर्गम् स्वजनसमुदयम् । ईक्षावहे पश्यावः ।

प्रहारेति । प्रहारैः रावणशराघातैर्जर्जरा अतिव्यथिताः ये वलीमुखाः वानराः अच्छभल्लाः भल्लूकाः गोलाङ्गूलाः वानरभेदाः तेषां ग्रामस्य समूहस्य संवल्गने सान्त्वने वल्गितः सचेष्टः सुग्रीवो यस्य तथोक्तः, लक्ष्मणनिहितधन्वा लक्ष्मणार्पितकार्मुकः । प्रदीप्तरमणीयः प्रखरतेजा रम्यश्च ।

पौलस्त्येति । पौलस्त्येन रावणेन न्यस्ता प्रहृता या शक्तिः अस्त्रभेदः तया यो व्रणः क्षतं तस्य किणकणिका किणलेशः लक्ष्म चिह्नं यत्र तस्मात् लक्ष्मणोरःपीठात् लक्ष्मणस्य वक्षःस्थलात् निर्मुक्तलज्जः अपगतत्रपः (शक्तिविद्धं लक्ष्मणोरो विलोक्य लक्ष्मणोज्जीवनेऽपि रामस्य लज्जा न गता इदानीं रावणे हते सा लज्जा गतेति भावः) विबुधपुरवधूभिः सुराङ्गनाभिः क्लृप्तः कृतः पुष्पैरभिषेकः स्नपनं यस्य

रत्नचूड—सखे, तो चलो, रावणके कारागृहमें बहुत दिन रहकर आये हुए बन्धुओंको देखें । (चलते हुए देखकर सहर्ष) सखे देखो देखो,

प्रहारसे क्षत-विक्षत वानर अच्छभल्ल गोलाङ्गूल-समुदायसे युक्त सुग्रीवके साथ लक्ष्मणके हाथोंमें अपना धनुष देकर विभीषणका हाथ पकड़े हुए राम विजयलक्ष्मीसे कुछ अधिक रमणीय हो गये हैं, सम्प्रति यह—

पौलस्त्य-प्रहृत शक्ति नामक अस्त्रके चिह्नसे चिह्नित लक्ष्मणकी छातीसे लज्जाको दूर

---

१. 'लङ्केश्वराधिवासचिरप्रवासव्यग्रम्'; 'लङ्केश्वरकारागृहाधिवासचिरप्रवासवास्तव्यम्'; 'लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवासव्यग्रबन्धुवर्गम्' । २. 'समीक्षावहे' ।
३. 'परिक्रामतः' । ४. 'प्रहारविद्ध–' । ५. 'संवर्गणव्यग्रित' ।
६. 'विनिहित–' । ७. 'रामदेवः' ।

सद्यो नप्तारमन्यं रजनिचरपुरीभद्रपीठप्रतिष्ठं
दृष्ट्वा तुष्यत्पुलस्त्यो जगति विजयते जानकीजानिरेकः ॥८४॥

(इति [1]निष्क्रान्तौ ।)

इति [2]दशग्रीवनिग्रहो नाम षष्ठोऽङ्कः ।

तथोक्तः, सद्यः तत्क्षणात् अन्यं नप्तारं पौत्रं विभीषणम् रजनिचरपुर्याः लङ्काया भद्रपीठे सिंहासने प्रतिष्ठा यस्य तादृशं लङ्काराज्याभिषिक्तं दृष्ट्वा हृष्यन् प्रसन्नः पुलस्त्यो यस्य तथोक्तश्च एकः अद्वितीयो जानकीजानिः जानकी जाया यस्य तादृशो रामो जगति विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । 'नृपासनं यत्तद् भद्रासनम्' इत्यमरः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ८४ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे'
षष्ठाङ्क'प्रकाशः'

भगाकर देवबालाओं द्वारा पुष्पवृष्टिसे अभिषिक्त होकर, दूसरे नाती विभीषणको राक्षसपुरी राज्यपर प्रतिष्ठित हुए देखकर पुलस्त्यद्वारा प्रशंसित यह अद्वितीय वीर रामचन्द्र विजयश्री-सम्पन्न हो रहे हैं ॥ ८४ ॥

षष्ठ अङ्क समाप्त ॥

---

१. 'निष्क्रान्ताः'; 'निष्क्रान्ताः सर्वे' ।　　२. 'दशास्यनिग्रहो नाम' ।

सप्तमोऽङ्कः

(नेपथ्ये ।)

तमिस्रामूर्च्छालत्रिजगदगदंकारकिरणे
रघूणां गोत्रस्य प्रसवितरि देवे सवितरि ।
पुरःस्थे दिक्पालैः सह परगृहावासवचना-
त्प्रविष्टा वैदेही दहनमथ शुद्धा च निरगात् ॥ १ ॥

अयमपि—

एकैकानि शिरांसि राक्षसचमूचक्रस्य हुत्वा निजे

तमिस्रेति । तमिस्रा तामसी रात्रिरेव मूर्च्छा निष्क्रियतासम्पादिका तद्वत् यत् जगत् तस्य अगदङ्काराः नैरुज्यसम्पादकाः किरणा यस्य तादृशे तामसी-निशानिष्क्रियजगन्निश्चेष्टताहरैः किरणैरुपेते रघूणां गोत्रस्य वंशस्य प्रसवितरि प्रवर्त्तके देवे सवितरि सूर्ये दिक्पालैः इन्द्रादिभिः सह पुरःस्थे अग्रवर्तिनि पश्यति सति परगृहे राक्षसराजभवने य आवासः कियन्तं कालं यावत् स्थितिः तद्वचनात् तन्निमित्तकनिन्दावाक्यात् हेतोः वैदेही सीता दहनम् अग्निं प्रविष्टा। अथ प्रवेशा-नन्तरं शुद्धा पवित्रा निरगात् बहिर्गता । यस्य सूर्यस्य कराः तामसीरात्रिनिष्क्रि-यस्य जगत्त्रयस्य सक्रियतासम्पादनेन मूर्च्छामिव निवर्त्तयन्ति, यश्च सूर्यो रघुवंश-स्यादिपुरुषः, तस्मिन् सूर्ये दिक्पालैः सह साक्षिणि सति परगृहावासप्रभवचरित्र-निन्दाकलङ्कं प्रक्षालयितुं सीता वह्निं प्रविष्टा तत्र शुद्धा च ततो निरगादित्यर्थः । 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति लचि मूर्च्छालपदम् । अगदङ्कारो भिषक्, 'कारे सत्यागदस्य' इति मुम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १ ॥

एकैकानीति । राघवो रामः राक्षसचमूचक्रस्य राक्षससेनासमुदायस्य एकैकानि

(नेपथ्यमें)

अन्धकारमे डूबे हुए लोकत्रयको प्रकाशित करनेवाली किरणोंसे युक्त भगवान् सूर्यके उदित होनेपर जो सूर्य रघुवंशके आदि पुरुष हैं उनके प्रकाशित होते ही, समस्त दिक्-पालोंके सामने, सूर्यको साक्षी रखकर राक्षसगृहवासरूप निन्दा-वचनसे मुक्ति पानेके लिये वैदेहीने आगमें प्रवेश किया और शुद्ध होकर निकल आई । अग्नि-परीक्षामें अपनेको शुद्ध साबित करके प्रमाणित कर दिया कि उसके प्रति प्रचारित कलङ्की बात केवल कल्पनामात्र थी ॥ १ ॥

रामने राक्षसोंकी सेनाके मस्तकोंद्वारा एक एक करके प्रतापाग्निमें होम किया, जिसमें

तेजोग्नौ दशकण्ठमूर्धभिरथो निर्माय पूर्णाहुतिम् ।
अद्य स्वस्त्ययनं समाप्य जगतो [1]लङ्केन्द्रवन्दीकृतां
सीतामप्यवलोक्य शोकरभसव्रीडाजडो राघवः ॥ २ ॥

क्रमेण च—

सहैव सुग्रीवविभीषणाभ्यां सौमित्रिसीतापरिपूर्णपार्श्वः ।
उपैति वैवस्वतवंशवृत्तमेध्यामयोध्यामथ पुष्पकेण ॥ ३ ॥

शिरांसि निजे तेजोग्नौ स्वप्रतापानले हुत्वा होमं कृत्वा अथ तदनन्तरं दशकण्ठमूर्द्धभिर्दशभी रावणशिरोभिः पूर्णाहुतिं पूर्णहोमं निर्माय समाप्तिकालिकीं पूर्णाहुतिं च कृत्वा जगतः स्वस्त्ययनं मङ्गलकृत्यं समाप्य लङ्केन्द्रवन्दीकृतां रावणेन कारागृहे स्थापिताम् सीताम् अपि अवलोक्य दृष्ट्वा अद्य सम्प्रति शोकेन—व्यर्थमिमे निरपराधा राक्षसा मया हता इति दुःखेन, रभसेन विशुद्धायाः सीताया लाभाज्जायमानेन प्रमोदेन, व्रीडया निष्करुणेन मया स्वतः शुद्धाऽपि सीता जानतापि वह्निप्रवेशकष्टं प्रापितेति लज्जया च जडः विमुग्धः अस्तीति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

सहैवेति । अथ सीता वह्निप्रवेशकृतशुद्ध्यनन्तरम् एव सुग्रीवविभीषणाभ्याम् सह सौमित्रिर्लक्ष्मणः सीता च ताभ्यां परिपूर्णौ संभृतौ पार्श्वौ सव्येतरभागौ यस्य तथोक्तः रामः वैवस्वतवंशस्य सूर्यकुलस्य वृत्तेन चरित्रेण मेध्याम् पवित्रीकृताम् अयोध्याम् पुष्पकेण तदाख्येन कुवेरस्य वायुयानेन उपैति आगच्छति । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३ ॥

रावणके दशमस्तकोंकी पूर्णाहुति पड़ी, आज उसका स्वस्त्ययन समाप्त हुआ, जिससे जगत्का कल्याण होगा, भगवान् रामने इस प्रकार सभी कार्य सम्पन्न करके रावण द्वारा वन्दी बनाई गई सीताको भी देखा, इस समय उनके हृदयमें शोक, आनन्द और लज्जाकी भावनासे जड़तासी पैदा हो रही है । सकुल-राक्षसोंके वधसे शोक, सीताप्राप्तिसे हर्ष तथा विशुद्धा सीताको भी अग्निप्रवेश करानेके कारण लज्जा हुई ॥ २ ॥

क्रमशः भगवान् रामचन्द्र सुग्रीव और विभीषणके साथ लक्ष्मण तथा सीतासे युक्त होकर सूर्यवंशी राजगणके सुचरितोंसे पावित इस अयोध्यापुरीकी ओर पुष्पक विमान द्वारा आ रहे हैं ॥ ३ ॥

---

१. 'वन्दीकृतां' ।

(युग्मम्)

(ततः प्रविशति विमानयानेन विजयाभिरामो रामः सीतालक्ष्मणौ सुग्रीवविभीषणौ च ।)

सुग्रीवः—(रामं प्रति ।) देव,

किं कुर्वाणपयोधिसेवितगृहोद्यानाधुनालोक्यतां
लङ्केयं रघुवंशविक्रमकथाबीजप्ररोहस्थली ।
देवेनात्र दशाननस्य दशभिश्छिन्नैः शिरोभिः क्रमा-
देकैकेन शतं शतं शतमखस्यामोदिता दृष्टयः ॥ ४ ॥

रामः—देवि वैदेहि, दृश्यतामितो लङ्कां पूर्वेण सुवेलं पश्चिमेन ।

किङ्कुर्वाणेति । किङ्कुर्वाणः किङ्कर आज्ञानुवर्त्ती यः पयोधिः सागरस्तेन सेवितानि गृहोद्यानानि यस्यां तादृशी तथा रघुवंशविक्रमकथायाः रघुवंशपराक्रमगाथायाः प्ररोहस्थली उत्पत्तिक्षेत्रम् इयं लङ्का अधुना सम्प्रति देवेन भवता रामेणालोक्यतां दृश्यताम्, अत्र भवता छिन्नैर्दशाननस्य दशभिः शिरोभिः एकैकेन शिरसा शतमखस्य इन्द्रस्य शतं शतं दृष्टयः क्रमात् आमोदिताः प्रसन्नीकृताः । इन्द्रस्य प्रथमाः शतं दृष्टयः एकेन छिन्नेन शिरसा आनन्दिताः, तदनन्तरं द्वितीयाः शतं दृष्टयो द्वितीयेन शिरसा च्छिन्नेनेत्येवंक्रमेण सहस्रमपि दृष्टयो दशभिः शिरोभिश्छिन्नैरामोदिता इति विवक्षितोऽर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

लङ्कां पूर्वेण—लङ्कातः पूर्वस्यां दिशि । सुवेलं पश्चिमेन सुवेलपर्वतात् पश्चिमायां च दिशि दृश्यतामित्यर्थः ।

(विजयश्रीसम्पन्न भगवान् राम, सीता, लक्ष्मण और सुग्रीव तथा विभीषणका विमानद्वारा प्रवेश)

सुग्रीव—(रामसे) देव,

यह सागर किङ्करकी तरह जिस लङ्काके गृहोद्यानकी सेवा किया करता है, जिस लङ्कामें रघुवंशके विक्रमका बीज अङ्कुरित हुआ, यह वही लङ्का है, आप कृपया देख लें। आपने इसी लङ्कामें रावणके एक-एक शिरको काटकर प्रत्येक शिरसे इन्द्रकी सौ सौ आँखोंको आनन्दित किया ॥ ४ ॥

राम—देवि वैदेहि, इधर देखो, लङ्काके पूर्व तथा सुवेल पर्वतके पश्चिममें तुम्हें चाहने

त्वदर्थीयक्रव्यात्कपिकुलकबन्धव्यतिकरैः
करालेयं भूमिर्भुवनभयमद्यापि तनुते ।
अभूवन्नम्भोधेरिह रुधिरमय्यो युवतयः
सहस्रं साहस्रास्त्रिदिवयुवतीनां च पतयः ॥ ५ ॥

अपि च—

उद्यम्य दृष्टनिजपन्नगरत्नमात्रा-
नस्त्राणि चन्दनतरूनुपरि भ्रमन्तः ।
द्यां ज्योतिरिङ्गणमयीमिह मेघनाद-

त्वदर्थीयेति । त्वम् सीता एव अर्थः प्रयोजनं यस्य सः त्वदर्थीयो रावणः रामश्च तयोर्यै क्रव्यात्कपिकुले राक्षसवानरसमुदायौ तयोः समुदाययोः कबन्धव्यतिकरैः छिन्नशिरोदेहराशिसंमिश्रणैः कराला भीषणा इयं समरभूमिः अद्यापि युद्धे निवृत्तेऽपि भुवनभयं त्रिलोकीभीतिं तनुते करोति, इह अत्र समरभूमौ रुधिरमय्यः शोणितरचिताः सहस्रं सहस्रसंख्याकाः अम्भोधेर्युवतयः सागरस्य स्त्रियोऽभूवन् अजायन्त, त्रिदशयुवतीनां देवाङ्गनानां च साहस्राः सहस्रपरिमाणाः पतयोऽभूवन् । सीतामर्थयमानानां कपीनां क्रव्यादानाञ्च मृतानां तनवोऽत्र युद्धक्षेत्रे सह मिलिताः सन्तीति युद्धसमाप्तावपीदं युद्धक्षेत्रं त्रिभुवनभयं जनयति, किञ्चात्र रणक्षेत्रे सहस्रं शोणितनद्यः सहस्रं युद्धे मृता देवाङ्गनाभिः पतित्वेन वृताश्चाजायन्त वीरा इत्यर्थः । 'शतमानविंशतिकसहस्रादण्' इति अण्प्रत्यये सहस्रमेव साहस्राः शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५ ॥

उद्यम्येति । इह अस्मिन् समरक्षेत्रे कपयो वानरसैनिकाः मायातमोभिः मायाकल्पितान्धकारैः अपलपितां छन्नाम् द्याम् आकाशम् दृष्टम् निजं स्ववर्त्तिपन्नगरत्नमात्रम् सर्पफणामणिमात्रम् यत्र तादृशान् दृश्यमानमणिमात्रप्रकाशान् चन्दनतरून् अस्त्राणि चन्दनवृक्षरूपप्रहरणानि उद्यम्य उत्थाप्य उपरि आकाशे भ्रमन्तः सन्तः ज्योतिरिङ्गणमयीम् खद्योतव्याप्ताम् वितेनुः कृतवन्तः । अत्र रणक्षेत्रे मेघनादेन

वाले रावण तथा रामके पक्षसे लड़नेवाले कपिगण एवं राक्षसोंकी लाशोंके परस्पर सम्मिलित हो जानेसे अति भयङ्कर बनी यह भूमि अब भी संसारको भयभीत कर रही है, यहाँसे सैकड़ों रुधिर की नदियाँ प्रवाहित होती रही हैं, और देवबालाओं द्वारा वृत होनेवाले हजारों वीर यहाँ वीरगतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ५ ॥

और—मेघनादने जब युद्धमें मायाद्वारा अन्धकार फैला दिया था, तब हमारे कपिगण चन्दनतरुरूप प्रहरण हाथमें ले लेते थे, चन्दनतरु पर लिपटे हुए सर्पोंकी फणमणियाँ

[1]मायातमोपलपितां कपयो वितेनुः ॥ ६ ॥

सीता—अज्जउत्त, अवि इध ज्जेव्व भुअङ्गपासबन्धनं सीदाए अणुहाविदा तुह्मे। [आर्यपुत्र, अपि इहैव भुजङ्गपाशबन्धनं सीतयानुभाविता यूयम्।]

रामः—आं मैथिलि, आम्।

चर्वितपीनाहिगणष्ठणिति[2] विनिष्ठ्यूतफणिमणिरभीक्ष्णम्।
[3]घनबन्धनवैधुर्यं व्यधुनोदिह [4]नौ स विहगेन्द्रः ॥ ७ ॥

मायातमसा व्योम्नि आवृते सति यदा किमपि कुत्रापि नादृश्यत तदा वानरसैनिकाः चन्दनतरूनङ्गीकृत्योपरि भ्रमितुमारभन्त, तत्र चन्दनतरुषु स्थितानां सर्पाणां फणामणय एव केवला अदृश्यन्त, तदित्थं व्योम्नि सर्पमणिप्रकाशाः खद्योता इव प्रतीयन्ते स्मेति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

इहैव। अत्रैव समरक्षेत्रे। भुजङ्गपाशबन्धनम् नागपाशबन्धनम् सीतया अनुभाविताः सीताहेतुनैव यूयमपि नागपाशैरबध्यध्वमिति भावः।

आमिति स्मरणस्वीकृत्योरभिव्यञ्जकमव्ययम्।

चर्वितेति। इह अत्र प्रदेशे चर्वितः पीनः स्थूलोऽहिगणो नागसमुदायो येन तथोक्तः, अभीक्ष्णम् पुनःपुनः ठणितिशब्दानुकृतिः तादृशशब्दपूर्वकम् विनिष्ठ्यूतफणिमणिः उद्गीर्णसर्पफणरत्नः स विहगेन्द्रो गरुडः नौ आवयो रामलक्ष्मणयोः घनबन्धनवैधुर्यं दृढनागपाशबन्धजनितवैक्लव्यम् व्यधुनोत् दूरीकृतवान्। अत्रैवावयोर्नागपाशबद्धयोर्निरस्तसमस्तव्यापारयोश्च सतोर्विह्वलतामालोक्य सत्वर-

---

ही केवल उस अन्धकारमें प्रकाश देती थीं, वह ऐसा लगता था मानों जुगनुओंका प्रकाशमय हो, उन फणमणियोंके प्रकाशसे आकाश प्रकाश दीखने लगता था ॥ ६ ॥

सीता—आर्यपुत्र, क्या यहीं पर सीताके कारण आप लोगोंको नागपाशमें बँधना पड़ा था।

राम—हाँ सीते हाँ,

उस समय गरुड़ने हमारे बाँधनेवाले साँपोंकी मोटी देहोंको चबा डाला, उनके फणमणियोंको उगल दिया, इस प्रकार उस पक्षिराजने हमारे महान् बन्धन-कष्टोंको दूर किया ॥

---

१. 'तमोवलयिताम्'। २. 'ठगिति'। ३. 'अहिबन्धन-'।
४. 'नौ विहंगपुङ्गेन्द्रः'; 'नः स विहगेन्द्रः'।

(विमृश्य [1]सस्मितम् ।) अहो वैषम्यमस्या जातेः ।

द्वे तावत्करणे रसान्रसयितुं शब्दांश्च रूपाणि च
श्रोतुं द्रष्टुमथैकमिन्द्रियमुरोगत्यै निगूढं पदम् ।
अन्येष्वण्यशनेषु सत्सु जगतः प्राणाः स्वदन्तेतरां
मातः कद्रु यदि प्रसौति भवती भूयः सुतानीदृशान् ॥८॥

मुपगतो गरुडो बन्धनरज्जुभावं गतान् सर्पान् चर्वित्वा तदीयफणामणीन् भक्षयितुमयोग्यतयोद्गीर्य चावां बन्धनमुक्तानकार्षीदित्यर्थः । आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ७ ॥

द्वे तावदिति । रसान् रसनीयद्रव्याणि रसयितुमास्वादयितुं तावत् द्वे करणे जिह्वाद्वयरूपे साधने, अथ शब्दान् श्रोतुम् रूपाणि श्वेतपीतादीनि च द्रष्टुम् एकम् एकम् इन्द्रियम् चक्षूरूपम्, उरोगत्यै उरसा पुरः प्रसर्पणाय निगूढं प्रच्छन्नं गुप्तं पदम् चरणम्, अन्येषु अशनेषु भोज्यद्रव्येषु सत्स्वपि जगतः प्राणाः वायवः स्वदन्तेतराम् अतिस्वादिष्ठाः प्रतीयन्ते, मातः कद्रु, यदि भूयः पुनः भवती ईदृशान् सुतान् प्रसौति जनयति, (नान्या माता ईदृशान्सुतान् प्रसौति) धन्यासि मातः कद्रु, यदीदृशान् पुत्रान्प्रसूषे नान्या मातेदृशान्पुत्रान् प्रसोतुमर्हति, त्वया हि ये पुत्राः प्रसूतास्तेषां द्वे जिह्वे अन्येषामेकैव रसना, तव सुतानां सर्पाणां चक्षुःश्रवस्तया शब्दान् श्रोतुं रूपाणि द्रष्टुं चैकमेवेन्द्रियं चक्षूरूपम्, अन्येषां तु शब्दान् श्रोतुमपरं श्रोत्रम् रूपाणि द्रष्टुं चापरं चक्षुरिन्द्रियम्, अन्येषां गत्यै पादः प्रकटदृश्यस्तव पुत्रास्तु प्रच्छन्नैः पादैरुरसा सर्पन्ति, अन्ये विविधानि द्रव्याण्यश्नन्ति तव पुत्रास्तु तानि तानि द्रव्याणि परित्यज्य जगत्प्राणमात्राशिनस्तदित्थं लोकविलक्षणास्तव सुतास्तेन त्वं धन्येति तात्पर्यम्, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

(सोचकर मुस्कुराहटके साथ)

हे मातः कद्रु, तुम ही ऐसे पुत्रोंको उत्पन्न कर सकती हो, दूसरी माता ऐसे पुत्रोंको नहीं उत्पन्न कर सकती है, संसारके सभी प्राणियोंको एक रसनेन्द्रिय होता है, तुम्हारे पुत्रोंको दो रसनेन्द्रिय होते हैं, संसारके अन्यान्य प्राणी शब्द तथा रूपका प्रत्यक्ष अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा किया करते हैं, परन्तु तुम्हारे पुत्र शब्द और रूप दोनोंका प्रत्यक्ष चक्षुरूप एक इन्द्रियसे ही करते हैं । अन्यान्य भक्ष्य द्रव्योंके रहनेपर भी तुम्हारे पुत्रोंको जगत्प्राण (वायु) ही अच्छे लगते हैं, इस तरह तुम्हारे पुत्र लोक-विलक्षण हैं ॥ ८ ॥

१. 'सविस्मितम्' ।

(सर्वे हसन्ति ।)

सीता—(सस्नेहस्मितं लक्ष्मणमवलोक्य रामं प्रति ।) अज्जउत्त, सोमित्तिकित्तिकन्दलीए उप्पत्तिखेत्तं कदरो उण संणिवेसो । [आर्यपुत्र, सौमित्रिकीर्तिकन्दल्या उत्पत्तिक्षेत्रं कतरः पुनः संनिवेशः ।]

रामः—(सहर्षरोमाञ्चम् ।) देवि मैथिलि, अयमितो हस्तदक्षिणेन दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैकप्रवीरयोर्लक्ष्मणमेघनादयोर्द्वन्द्वयुद्ध[1]व्यतिकरसाक्षी सुवेलपादः ।

सीता—जहिं एव्व

अणुराअरोमकण्टअसेअजलेहिं णिसाअरी कावि ।
उद्दीविअणिव्वाविअदइदचिदाणलमनु मरेदि ॥ ९ ॥
[यत्रैव, अनुरागरोमकण्टकस्वेदजलैर्निशाचरी कापि ।

सौमित्रीति । सौमित्रेर्लक्ष्मणस्य कीर्तिर्यशस्तस्याः या कन्दली अङ्कुरस्तस्याः, उत्पत्तिक्षेत्रम् उद्भवस्थानम् । सन्निवेशः स्थानम् । कुत्र स्थाने लक्ष्मणो मेघनादं विजित्य स्वं यशः प्रसिद्धं चकारेत्यर्थः ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिशि । दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैकवीरयोः दशरथस्कन्धावारो रामसैन्यम्, दशकन्धरस्कन्धावारश्च तत्सैन्यम्, तयोः एकवीरयोः अद्वितीयशूरयोः लक्ष्मणमेघनादयोः । द्वन्द्वयुद्धव्यतिकरसाक्षी द्वन्द्वयुद्धस्य साक्षाद् द्रष्टा । सुवेलपादः सुवेलाख्यपर्वतस्य प्रत्यन्तदेशः ।

अनुरागेति । कापि निशाचरी राक्षसी अनुरागात् प्रेमप्रकर्षात् यानि रोम-

(सभी हसते हैं)

सीता—(स्नेहपूर्वक मुस्कुराहटके साथ लक्ष्मणकी ओर देखकर रामसे) आर्यपुत्र लक्ष्मणकी कीर्त्तिलताका उत्पत्तिस्थान किधर पड़ता है ?

राम—(हर्षसे रोमाञ्चित होकर) देवि मैथिलि, इधर दायें हाथकी ओर दशरथ तथा रावणके सेना-सन्निवेशोंके प्रधान वीर लक्ष्मण एवं मेघनादके द्वन्द्वयुद्धका साक्षी सुवेलगिरिकी यह उपत्यका है ।

सीता—जहाँ पर,

एक राक्षसी अनुरागसे उत्पन्न रोमाञ्चोंसे चितानलको प्रज्वलित करती है और अश्रुजलसे बुताती है, इस प्रकार वह राक्षसी उस चितानलमें घुलघुलकर जल रही है ॥ ९ ॥

१. 'व्यतिकरैक–' ।

उद्दीपितनिर्वापितदयितचितानलमनु म्रियते ।]

रामः—आं जानकि, आम्। इदमेव तल्लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वयंवरकौतुकागारम्। इह हि

आनीतद्रोणशैलेन सौमित्रेः शल्यहारिणा।
अक्रियन्त जगन्त्येव निःशल्यानि हनूमता ॥ १० ॥

सीता—(स्मृतिमभिनीय सानुरागम्।) अज्जउत्त, किक्किन्धेसरकन्धावारधुरन्धरो रहुउलकुटुम्बविहुरबन्धू सो कहिं हणूसन्तो । [आर्यपुत्र, किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारधुरंधरो रघुकुलकुटुम्बविधुरबन्धुः स कुत्र हनूमान्।]

कण्टकानि रोमाञ्चाः स्वेदजलानि सात्त्विकभावात्मकघर्मबिन्दवश्च तैः उद्दीपितो निर्वापितश्च यो दयितचितावह्निः तम् अनुम्रियते अनुप्रविश्य म्रियते इत्यर्थः। प्रेमप्रकर्षोदितरोमाञ्चैश्चितानलो ज्वलति स्वेदजलेन च निर्वाति तादृशं चितानलमनुप्रविश्य म्रियत इत्यर्थः, पत्युः सह मरणमत्र विवक्षितम् ॥ ९ ॥

लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वयंवरकौतुकागारम् लक्ष्मणेन यत्र विक्रम्य वीरलक्ष्मीः परिगृहीता तत्स्थानम्।

आनीतेति। आनीतः द्रोणशैलः पर्वतविशेषो येन तथोक्तेन सौमित्रेः लक्ष्मणस्य शल्यहारिणा शल्यास्त्रव्यथां निवारितवता हनूमता जगन्ति त्रयो लोका एव निःशल्यानि उद्धृतदुःखशल्यानि अक्रियन्त कृतानि । लक्ष्मणस्य शल्यमुद्धृत्य जगत्त्रयमुज्जीवितं हनूमतेति भावः ॥ १० ॥

किष्किन्धेश्वरस्य सुग्रीवस्य स्कन्धावारधुरन्धरः सैनिकाग्रणीः। रघुकुलकुटुम्बे रघुवंशपरिवारे यो विधुरः विपन्नस्तस्य बन्धुः सुहृत् ॥

राम—हाँ जानकि, हाँ, यही है वह स्थान जहाँपर लक्ष्मणने वीरलक्ष्मीका वरण किया था। यहींपर,

हनूमान्ने द्रोणाद्रि नामक सञ्जीवनी औषधिका आधारपर्वत लाकर लक्ष्मणको अपनीतशल्य किया था, लक्ष्मणको अपनीतशल्य करके हनूमान्ने संसारको ही विशल्य कर दिया था ॥ १० ॥

सीता—(स्मरणका अभिनय करके) आर्यपुत्र, किष्किन्धानाथकी सेनाके नायक तथा रघुवंशके दुःखापहर्त्ता वह हनूमान् कहाँ हैं ?

रामः—देवि [1]निमिराजनन्दिनि,

क्षुण्णे निशाचरपतौ रविबिम्बवर्ती
तातो मया दशरथः स्वयमेव दृष्टः।
तस्याज्ञया रघुपुरीं प्रहितः पुरैव
राज्याभिषेकविधिसंभृतये हनूमान् ॥ ११ ॥

(विमानवेगनाटितकेन ।) देवि[2], प्रणम्यतामयमितो भगवानम्बुराशिः।

लक्ष्मीरस्य हि यादः कृष्णोरःस्थाऽपि सुभटभुजवसतिः।
इन्दुः स च मृडचूडामणिरपि जगतामलङ्कारः ॥ १२ ॥

निमिराजनन्दिनि विदेहतनये।

क्षुण्णे इति। निशाचरपतौ राक्षसेन्द्रे रावणे क्षुण्णे क्षयं प्रापिते सति रविबिम्बवर्त्ती सूर्यमण्डलस्थस्तातो दशरथो मया रामेण स्वयम् एव दृष्टः साक्षात्कृतः, तस्य तातदशरथस्याज्ञया राज्याभिषेकविधिसंभृतये राज्याभिषेकोपकरणसम्पादनाय हनूमान् पुरा पूर्वम् एव रघुपुरीम् अयोध्यां प्रहितः प्रेषितः। अतोऽसौ दर्शयितुं न शक्य इत्यर्थः ॥ ११ ॥

लक्ष्मीरिति। कृष्णोरःस्थापि कृष्णहृदयवासिनी अपि सुभटभुजवसतिः। वीरजनभुजदण्डनिवासिनी लक्ष्मीः सम्पत्, स च मृडचूडामणिः शङ्करशिरोभूषणम् अपि जगताम् अलङ्कारो भूषणम् इन्दुश्चन्द्रश्च अस्य सागरस्य यादो जलजन्तुः। अत्र सागरे जलजन्तुसाधारण्येन वसन्तावेव लक्ष्मीचन्द्रौ लोके तावतीं प्रतिष्ठां गतावित्यहो श्लाघ्यानुभावोऽयं सागर इत्याशयः ॥ १२ ॥

राक्षसराजके मारे जानेपर मैंने स्वयं पूज्य पिताजीको रविबिम्बमें देखा, उनकी आज्ञासे राज्याभिषेककी सामग्रियोंको प्रस्तुत करनेके लिए हनुमान्‌को पहले ही अयोध्या भेज दिया गया है ॥ ११ ॥

(विमानकी गतिमें वेग देखकर) देवि, इधर देखो, यह सागर है, इसे प्रणाम करो, इस सागरकी कन्या लक्ष्मी भगवान्‌के हृदयमें रहकर भी वीरोंके भुजदण्डोंमें वास किया करती है, और इसका चन्द्रमा शिवशिरोभूषण होकर भी संसारको अलंकृत किया करता है ॥ १२ ॥

---

१. 'जानकि'। २. 'देवि पार्थिवि'।

(सविमर्शं च ।)

स्यादेव तोयममृतप्रकृतिर्यदि स्या-
न्नैकान्तमद्भुतमिदं पुनरद्भुतं नः ।
लक्ष्मीतुषारकरकौस्तुभपारिजात-
धन्वन्तरिप्रभृतयो यदपां विवर्तः ॥ १३ ॥

अपि च देवि,

आकण्ठदृष्टशिरसाप्यविभाव्यपृष्ठ-
पार्श्वोदरेण चिरमृग्भिरुपास्यमानः ।
नाभीसरोरुहजुषा चतुराननेन

स्यादेवेति । यदि तोयं जलम् अमृतप्रकृतिः अमृतसमानगुणम् स्यात् स्यादेव युक्तमेव तस्यामृतसमानगुणत्वम्, इदम् जलस्यामृतप्रकृतित्वम् न एकान्तमद्भुतम् अत्याश्चर्यम्, पुनः किन्तु न अस्माकमद्भुतम् , केवलं वयमेव जलस्यामृतप्रकृतित्व-माश्चर्यं मन्यामहे न पुनरिदं वस्तुतस्तथेत्यर्थः । यत् यस्मात् लक्ष्मीः श्रीः तुषा-रकरश्चन्द्रः, कौस्तुभो मणिभेदः, पारिजातो देवद्रुमः, धन्वन्तरिर्वैद्यकविद्याप्रवर्त्तकः, एतत्प्रभृतयः अस्य सिन्धोरपां विवर्त्तः जलस्य परिणामः, यदि लक्ष्म्यादीनां जनकं जलं तदा तस्यामृतसमगुणत्वं नायुक्तमिति भावः । 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादि'ति विश्वः ॥ वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १३ ॥

आकण्ठेति । अत्र समुद्रे अरविन्दनाभः पद्मनाभो विष्णुः आकण्ठदृष्टशिरसा कण्ठपर्यन्तं दृष्टमस्तकेनापि अविभाव्यपृष्ठपार्श्वोदरेण चतुर्मुखतया शिरस्सु कण्ठ-पर्यन्तं दृश्यमानेष्वपि सकलशिरोऽनुरूपपृष्ठपार्श्वदेशोदराद्यवयवा यस्य न शक्यन्ते विभावयितुं तादृशेन नाभीसरोरुहजुषा नाभिकमलस्थितेन चतुराननेन ब्रह्मणा चिरम् बहुकालपर्यन्तम् ऋग्भिः वैदिकमन्त्रैः उपास्यमानः वन्द्यमानः सन्

(थोड़ा सोचकर) पानी यदि अमृतके समान गुणवाला है तो वह वैसा हो सकता है, इसमें हमको आश्चर्य नहीं होता है, आश्चर्य तो हमको तब होता है जब हम देखते हैं कि लक्ष्मी, चन्द्रमा, कौस्तुभमणि, पारिजातवृक्ष तथा धन्वन्तरि आदि भी पानीसे ही पैदा हुए हैं ॥ १३ ॥

और, देवि सीते,

ब्रह्मा भगवान्के नाभिकमलमें रहते हैं, भगवान् ब्रह्माकी गर्दन तक देख सकते हैं परन्तु पृष्ठ, पार्श्व, उदर आदि अङ्ग भगवान्को दृष्टिमें नहीं आते हैं, इस प्रकार अर्धदृष्ट

शेते किलात्र भगवानरविन्दनाभः ॥ १४ ॥

(सीता वन्दते ।)

लक्ष्मणः—यत्सत्यमुत्सर्पिणी[1] धर्मोत्तराणां सिद्धिः

जरयतु जगत्कल्पोच्छित्तौ पिपर्तु पयोधरा-
न्वहतु वडवावक्त्रज्योतिर्दधातु सुधाभुजः ।
भवतु वपुषा यावांस्तावानगस्त्यरुषा पुन-
र्निधिरयमपामीषत्पानस्तपांसि नमोऽस्तु वः ॥ १५ ॥

शेते निद्राति । अस्मिन् सागरे ब्रह्मणा स्तूयमानो विष्णुः शेते, ब्रह्मा हि तन्नाभिस्थितः, विष्णुना ब्रह्मणो मुखानि दृश्यन्ते परं तदनुकूला अन्ये पृष्ठाद्यवयवा न दृश्यन्ते, तत्र कारणद्वयं सम्भवति, तत्रैकं तावत्तेषां पृथगभाव एव, भावेऽपि नाभिस्थितस्य वस्तुनः शयानो जनः केवलमुपरितनं भागमेव साक्षात्कर्तुमीशो नाधस्तनमपि भागमिति । शेषं सुगमम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १४ ॥

उत्सर्पिणी वर्धमाना । धर्मोत्तराणाम् धर्मप्रधानानाम् धर्मनिष्ठानाम् ॥

जरयत्विति । अयम् अपांनिधिः समुद्रः कल्पोच्छित्तौ सृष्टिसंहारसमये जगत् जरयतु पयसा प्लावयित्वा संहरतु, पयोधरान् पिपर्तु जलप्रदानेन पालयतु, वडवावक्त्रज्योतिः वडवानलम् वहतु धारयतु, सुधाभुजो देवान् दधातु अमृतप्रदानद्वारा पुष्णातु, वपुषा यावाँस्तावान् यत्परिमाणस्तत्परिमाणो वा भवतु, पुनः किन्तु अगस्त्यरुषा अगस्त्यमुनिकोपेन अयं सागरः ईषत्पानः अनायासं पातुं शक्यः, हे तपांसि वः युष्मभ्यं नमः, तद् धन्यं तपो यत्प्रभावेण विस्तीर्णमपि जगत्संहारसमर्थमपि सागरमगस्त्यकोपः पातुमक्षमत, तदस्तु नमस्तपस इत्यर्थः हरिणीवृत्तम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मा जिन्हें ऋचाओं द्वारा आराधित किया करते हैं, वे पद्मनाभ भगवान् विष्णु इस सागरमें सोते हैं ॥ १४ ॥

(सीता प्रणाम करती है)

लक्ष्मण—यह ठीक बात है कि धार्मिक पुरुषोंकी सिद्धि उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, यह सागर प्रलयकालमें जगत्को अपनेमें छिपाले, मेघोंको पूर्णकाम किया करे, वड़वानलको पोसे, अमृत पिलाकर देवोंको पुष्ट करे, और चाहे जैसा आकार क्यों न बनाले, किन्तु कुपित होनेपर अगस्त्यने उसे सरलतासे पी लिया, हे तपस्ये तुम्हें नमस्कार है ॥ १५ ॥

---

१. 'उपसर्पिणी' ।

रामः—(सबहुमानम् ।) [1]वत्स, किमुच्यते—

मुनेः कलशजन्मनो जयति कापि गम्भीरता
　　यया चुलकमम्भसामपि निधिः समुत्पद्यते ।
अमुष्य पुनरीश्महे न विवरीतुमुत्तुङ्गतां
　　यया भवति नोच्चकैरहह सोऽपि विन्ध्याचलः ॥ १६ ॥

अपि च वत्स, दुरवगाहगम्भीरस्वभावानि महतां चरितानि । तथा हि ।

जगद्विगमघस्रघस्मरसहस्रभानुप्रभा-
　　परिक्वथितपिण्डितो लवणकूटमेवार्णवः ।

मुनेरिति । कलशात् कुम्भात् जन्म यस्य तथोक्तस्य मुनेरगस्त्यस्य कापि अनिर्वाच्या गम्भीरता जयति यया अगस्त्यगम्भीरतया अम्भसांनिधिः सागरोऽपि चुलुकं गण्डूषमात्रं करधृतजलं समुत्पद्यते, अतिशायिनी गम्भीरताऽगस्त्यस्य यत्समीपे समुद्रोऽपि चुलुकमात्रस्वरूपो जात इत्यर्थः । पुनः अस्यागस्त्यस्य उत्तुङ्गतां विशालताम् विवरीतुं वर्णयितुं न ईश्महे न प्रभवामः, यया उत्तुङ्गतया सोऽपि सुमेरुस्पर्धयोत्तिष्ठमानोऽपि विन्ध्याचलः उच्चकैः उन्नतो न भवति, यदीयोत्तुङ्गता विन्ध्यमपि नमयामासेत्यर्थः ॥ पृथ्वीवृत्तम् ॥ १६ ॥

जगदिति । अयम् अर्णवः सागरः जगतः संसारस्य विगमस्य नाशस्य यः घस्रः दिनं तत्र घस्मरः सर्वसंहारकः सहस्रभानुः सूर्यस्तस्य प्रभया तेजसा परिक्वथितः अतितरां पाकं प्रापितः ततश्च पिण्डितः पिण्डाकारतां नीतः सन् लवण-

---

राम—(आदरके साथ) वत्स लक्ष्मण, क्या कहना है,

कलशजन्मा अगस्त्यमुनिमें कुछ इस प्रकारकी गम्भीरता है जिससे उनके आगे समुद्र उनके गण्डूषके रूपमें हो गया, उनकी उत्तुङ्गताका भी वर्णन करनेमें हम असमर्थ हैं, जिसके आगे विन्ध्याचल भी ऊंचा नहीं हो सका ॥ १६ ॥

और भी देखो वत्स, महान् जनके चरितकी गम्भीरता स्वभावतः दुर्बोध हुआ करती है, क्योंकि—

प्रलयके दिनोंमें संसारको दग्ध करनेवाले हजार सूर्योंकी किरणोंसे पक्व होकर तथा क्वथित होकर समुद्र लवणका पहाड़ बन गया, और महादेवके भालनेत्रकी आग

---

१. 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति ।

अयं क्षणमभूदथ ज्वलति कालरुद्रानले
चटच्चटदिति स्फुटन्न भवति स्म यावत्क्षणात्[1] ॥ १७ ॥

सीता—अज्जउत्त, जलणिहिमज्झवट्टिणो लङ्कापोदअस्स जम्बूदीवोवसंजमणसिङ्खलेव्व को एसो पडिहासदे। [आर्यपुत्र, जलनिधिमध्यवर्तिनो लङ्कापोतस्य जम्बूद्वीपोपसंयमनश्रृङ्खलेव क एष प्रतिभासते।]

रामः—देवि [2]मेदिनीनन्दिनि, पतितपौलस्त्यजगद्विजयकेतुदण्डानुकारी ककुत्स्थकुटुम्ब[3]दुःखसंविभागदायादस्य [4]वानरपतेः कर्तनमयोऽयं महासेतुः।

कूटन् लवणराशिरेव क्षणमभूत् अथ कालरुद्रानले संहारकरुद्राग्नौ ज्वलति सति चटच्चटत् इति एतादृशशब्दपूर्वकं स्फुटन् यावत् न भवतिस्म अदृश्यतां गतोऽभूत्। अयं सागरः प्रलयदिने आगत्युग्रसूर्यप्रभया क्वथ्यमानः सन् लवणपिण्डाकारं लभते अथ सोऽपि लवणपिण्डो रुद्रनेत्राग्नौ ज्वलति सति चटचटशब्दं कृत्वा समाप्तिं याति, इत्यर्थः। पृथ्वीवृत्तम् ॥ १७ ॥

जलनिधिमध्यवर्त्तिनः सागरमध्यस्थस्य। लङ्कापोतस्य लङ्कारूपवहित्रस्य। जम्बूद्वीपेन भारतेन उपसंयमनं बन्धनं तत्र श्रृङ्खला लौहरज्जुः इव ॥

मेदिनीनन्दिनि पृथ्वीतनये।

पतितपौलस्त्येति। पतितः भूमौ गतः यः पौलस्त्यस्य रावणस्य जगद्विजयकेतुदण्डः विश्वविजयपताका तदनुकारी तत्तुल्यः यावत्पौलस्त्यो जीवतिस्म तावत्तस्य

जब जलने लगी तब वह लवणरूपमें परिणत समुद्र चटचट शब्द करके, न जाने, कहां चला गया, अदृश्य हो गया ॥ १७ ॥

सीता—समुद्रके बीचमें वर्तमान इस लङ्कारूप जहाजको जम्बूद्वीपके साथ बांधनेकी कड़ीके समान लगनेवाला यह क्या दिखलाई दे रहा है?

राम—हे धरातनये, गिरे हुए रावण-विजयध्वजके समान प्रतीत होनेवाला, यह महासेतु है जो ककुत्स्थ वंशके दुःखमें समान भाग लेनेवाले सुग्रीवकी कीर्त्ति है।

---

१. अस्माच्छ्लोकादग्रे क्वचित्पुस्तकेषु 'अपि च, अचिन्त्याः पन्थानः किमपि महतामन्धकरिपोर्यदक्ष्णोऽभूज्ज्योतिस्तदकृत कथामप्यमदनाम्। मुनेर्नेत्रादत्रेर्यदजनि पुनर्ज्योतिरहह प्रतेने तेनेदं मदनमयमेव त्रिभुवनम् ॥' अयं श्लोको वर्तते। २. 'धरित्रीनन्दिनि'। ३. 'दुःखविभाग-'। ४. 'वानरपतेः सुग्रीवस्य कीर्तिमयोऽयं'।

सीता—(सहर्षम् ।) दिट्ठिआ अज्जउत्तदंसणपच्चासाए बन्धप्परोहणमहोसहं सेदुबन्धो दीसइ । (अञ्जलिं बद्ध्वा ।) भअवं, णमो दे ।
[दिष्ट्या आर्यपुत्रदर्शनप्रत्याशाया बन्धप्ररोहणमहौषधं सेतुबन्धो दृश्यते ।]

रामः—देवि विश्वम्भरासम्भवे, पश्य पश्य ।

यथा दूरापाति त्रिदिव[1]युवतीनेत्रसुलभा-
मपां भर्त्ता हारावलिवलयलक्ष्मीं वितनुते ।
तथायं माणिक्यस्फटिककनकग्रावशिखरै-
रशून्यात्मा सेतुः [2]प्रभवति महानायक इव ॥ १८ ॥

केतुदण्डोऽप्युन्नत आसीन्मृते तस्मिन्नसौ पतित इत्याशयेनेदं विशेषणम् । ककुत्स्थकुटुम्बो रघुकुलम् तस्य यद् दुःखं सीताहरणजं तस्य संविभागे तुल्यांशविभागे दायादस्य भागग्राहिणः अंशहरस्य । रघुवंशसमदुःखस्य तन्मित्रतया सुग्रीवस्य विशेषणमिदम् । कीर्त्तनमयः कीर्त्तिस्वरूपः ।

बन्धप्ररोहणमहौषधम् स्थापनोत्पादकम् । अत्र सेतौ बध्यमान एव मम हृदये भवद्दर्शनप्रत्याशा जातेति भावः ।

विश्वम्भरासम्भवे धरातनये ।

यथा दूरेति । अपां भर्त्ता समुद्रः यथा दूरापाति दूरागतम् यत् त्रिदशयुवतीनेत्रम् व्योमचारिदेवाङ्गनानयनम् तेन सुलभां सुखं प्रमेयाम् हारावलिवलयलक्ष्मीम् धरित्रीकण्ठगतस्रगुपमां वितनुते, तथा अयं सेतुः माणिक्यशिखरैः स्फटिकशिखरैः कनकग्रावशिखरैश्च अशून्यात्मा पूरितावयवः महानायकः मध्यमणिरिव प्रभवति । अयमाशयः—यथामुं सागरं सुदूरव्योमदेशसञ्चारिण्यो देवबाला दूरपातिना नेत्रेण पृथिव्या हारवलयं प्रतियन्ति तथाऽयं महासेतुरपि तत्तन्मणिमय-

सीता—(खुश होकर) भाग्यवश आपको देखनेकी आशाको मजबूत बनानेमें महौषधिका काम करनेवाले इस सेतुके दर्शन हो रहे हैं । (हाथ जोड़कर) भगवन्, आपको नमस्कार करती हूँ ।

राम—हे पृथ्वीपुत्रि, देवि, देखिये—

जैसे दूर देशमें रहनेवाली देवाङ्गनाओंकी आँखें सागरको हारके रूपमें देखती हैं, उसी तरह यह सेतु माणिक्य, स्फटिक तथा सुवर्णके शिखरोंसे बंधा हुआ होनेके कारण उस हारका सुमेरु सा प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

१. 'त्रिदशयुवती' । २. 'विभवति' ।

अपि चास्मिन्बध्यमाने

शैलप्रवेशात्प्रचलीभवद्भिः कल्लोलकूटैरभिताडितानाम् ।
आसीन्निवृत्याचलगामिनीनामम्भोधिरेव प्रभवो नदीनाम् ॥ १९ ॥

(सुग्रीवं प्रति ।) सखे,

तथा सेतुश्रद्धोत्कलितकपिनिक्षिप्तशिखरि-
प्रतिष्ठावर्धिष्णुः क्षणमथ नदीभिः प्रतिवहन् ।

प्रस्तरघटितावयवतया हारवलयगतमध्यमणिरिव प्रतीयत इति । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १८ ॥

शैलप्रवेशादिति । शैलानां सेतुनिर्माणायाहृतानां पर्वतानां प्रवेशात् समुद्रवारिमध्ये प्रवेशात् प्रचलीभवद्भिः चञ्चलतां गतैः कल्लोलकूटैः तरङ्गराशिभिः अभिताडितानाम् आहतानाम् अत एव निवृत्य पराङ्मुखीभूय अचलगामिनीनाम् यत एव पर्वतादायातास्तत्पर्वताभिमुखमेव गच्छन्तीनाम् नदीनाम् पर्वतोद्भवानामपि अम्भोधिः सागर एव प्रभव उद्गमस्थानम् आसीत्, नदीनां पर्वताः प्रभवाः समुद्रश्च गम्य इति नियमः, परमत्र सागरे शैलप्रवेशात् कल्लोलताडनेन परावृत्य नद्यः सागरात्पर्वतानेव प्रस्थिता इति सागर एव उत्पत्तिस्थानतया प्रतीयत इत्यर्थः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

तथेति । तथा सेतुश्रद्धया तादृशेन सेतुनिर्माणानुरागेण उत्कलितैः उत्कण्ठापरवशैः कपिभिर्नलादिभिर्वानरैः निक्षिप्तानां यतः कुतश्चिदानीय धृतानां शिखरिणां पर्वतानाम् प्रतिष्ठया स्वान्तरवस्थानेन वर्द्धिष्णुः वर्धनशीलः, क्षणं कियन्तं कालं

जब समुद्र बांधा जा रहा था तब,

पर्वतोंके गिरनेसे चञ्चल होनेवाले तरङ्गसमूहोंसे ताड़ित होकर उल्टी नदियाँ फिर पर्वतोन्मुखी होकर बहने लगीं, उस समय वे नदियां ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों उनका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही हो ॥ १९ ॥

(सुग्रीवके प्रति) सखे सुग्रीव,

वानरोंको समुद्रमें सेतु बाँधनेकी बड़ी उत्कण्ठा थी वे पर्वतोंको ला-लाकर सागरमें डालने लगे जिससे सागरका जल फूलने लगा, और सागर नदियोंके साथ उनकी धाराओं में भी बहने लगा, इस प्रकार उसकीप्रतिष्ठा बढ़ी, परन्तु जब उखाड़े गये पर्वतोंकी मूल-

---

१. 'प्रवलीभवद्भिः' ।

समुत्खातक्षोणीधरकुहरपूर्तिव्यतिकर-
　　प्रमृष्टाहंकारः स्मरति तदवस्थो निधिरपाम् ॥ २० ॥

सुग्रीवः—देव, भवच्चरितचित्रशालिकायामस्माकं चेतसि किं किं नाम न लिखितमस्ति । अपि च ।

[1]सेतूद्योगे सपदि [2]लवणादन्यमन्तस्तिमिभ्यः
　　कालेनापां मधुरमपि हि स्वादमुद्भेदयन्त्यः ।
शैलक्षेपोच्छलितसलिलव्यूहतुच्छे समन्ता-
　　द्वारां पत्यौ [3]पटुतररयं निम्नगाः संनिपेतुः ॥ २१ ॥

यावत् नदीभिः सह प्रतिवहन् प्रतिकूलदिशा गच्छन् अथ अनन्तरं समुत्खातानां सेतुकरणाय उत्पाटितानां क्षोणीधराणां पर्वतानां विवराणां पूर्त्तेः व्यतिकरेण सम्बन्धेन प्रमृष्टाहङ्कारः अपगतजलवृद्धिगर्वः अपांनिधिः सागरः तदवस्थः प्राचीनां दशां गत इति स्मरसीत्यर्थः । पर्वतागमेन जले वर्धमाने समुद्रो नदीभिः सहैव प्रतिकूलप्रवाहो जातः, परन्तु यदोत्पाटितपर्वतमूलस्थलविवरभरणे तदीयं जलं शोषितं तदासौ पुनरपि प्रकृतिं प्रपन्न इति स्मरसीत्यर्थः । वाक्यार्थः स्मरतेः कर्म । 'कुहरं सुषिरं विलम्' इत्यमरः ॥ २० ॥

भवच्चरितचित्रशालिकायाम् भवत्कीर्त्या चित्रितायां भवद्यशःकथाभृतायामस्मदन्तर्वृत्तौ । भवत्कीर्त्तिकथापूरित इत्यर्थः ।

सेतूद्योग इति । सेतोर्बन्धस्य उद्योगे उपक्रमे सपदि तत्क्षणात् शैलानाम् पर्वतानाम् क्षेपात् पातनात् उच्छलितैः सलिलव्यूहैः जलराशिभिः तुच्छे स्वल्पजले वारास्पत्यौ सागरे निम्नगाः नद्यः कालेन उपयुक्तसमयेन अन्तस्तिमिभ्यः अन्तर्गतेभ्यस्तिमिमत्स्येभ्यः लवणाद्न्यम् क्षारभिन्नम् मधुरं मिष्टम् अपां स्वादमुद्भेदयन्त्यः प्रकटीकुर्वन्त्यः पटुतररयं महता वेगेन सन्निपेतुः पतिताः । सेतुनिर्माणपर्व-

---

स्थली-रूप खाइयोंको पूर्ण करते-करते उसका सारा जल खप गया तब उसका जलकृत अहङ्कार समाप्त हो गया और वह सागर फिर पूर्वदशाको प्राप्त हो गया ॥ २० ॥

सुग्रीव—देव, हमारे हृदय आपके चरितरूप चित्रोंकी चित्रशाला है, उसमें क्या-क्या न लिखा है ? और—

सेतु बाँधनेके सिलसिलेमें पानीका स्वाद खारा था, उसे जब पर्वतोंके डाले जानेपर समुद्रका सारा जल ऊपर उछल गया तब जगह खाली देखकर नदियाँ वेगसे आ गईं, और मत्स्योंको मधुर पानी चखनेका मौका दिया ॥ २१ ॥

---

१. 'सेतूद्योगात्' ।　　२. 'अन्यमन्यं' ।　　३. 'पटुतरममूः' ।

विभीषणः—देव मनुवंशमौक्तिकमणे,

सद्यः पीत्वा दरीभिर्जलधिमथ चिराद्दृष्टमैनाकबन्धु-
प्रीतिप्रौढाश्रुपूरद्विगुणमहिमभिर्निर्झरैः पूरयन्तः।
ये विन्यस्ताः पुरस्तान्निशि निशि निवहैरोषधीनां ज्वलद्भि-
स्ते दृश्यन्ते तदात्वोषितकपिशिविरस्मारिणः सेतुशैलाः॥२२॥

सीता—(सस्मितम्।) अज्जउत्त, गोरीगुरुणो गिरिन्दस्स जुवराओ

तेषु क्षिप्यमाणेषूच्छलति जलराशौ सागरस्य स्वल्पावशिष्टजलतया तिमयो यावल्लवणमयं जलस्वादमनुभवन्ति तावदेव हि तेभ्यो मधुरं सागरजलस्वादमुद्भेदयन्त्यो नद्यः सागरे न्यपतन्नित्यर्थः। यावत्पत्युरयशो दारिद्र्यकृतं वर्धते तावत्तत्पत्न्यः स्वधनैस्तत्प्रतिष्ठां रक्षन्तीति ध्वन्यते। मन्दाक्रान्तावृत्तम्॥ २१॥

सद्य इति। पुरस्तात् सेतुनिर्माणप्रथमप्रहरे विन्यस्ताः सागरे क्षिप्ताः (सेतुशैलाः) सद्यः पातसमकालम् दरीभिः गुहाभिः जलधिं सागरजलं पीत्वा अथ जलधिपाने कृते दृष्टे मैनाके नाम बन्धौ समुद्रगर्भस्थमैनाकरूपस्वसुहृद्दर्शनेन यः प्रीतिप्रौढः आनन्दोत्थः अश्रुपूरः नेत्रजलप्रवाहस्तेन द्विगुणितमहिमभिः द्विगुणीभूतमहत्त्वशालिभिर्निर्झरैः पूरयन्तः सागरं समेधयन्तः सेतुशैलाः सेतुधृताः पर्वताः, ते निशि निशि प्रतिरात्रं ज्वलद्भिर्दीप्यमानैः ओषधीनां निवहैः समूहैः तदात्वे सेतुबन्धकाले उषितानां वासं कृतवताम् कपीनां वानराणां शिबिरस्य सेनासन्निवेशस्य स्मारिणः स्मारकाः दृश्यन्ते। ये पर्वताः सेतवे समुद्रे क्षिप्यमाणास्तत्कालमेव सागरस्य जलं स्वदरीभिर्निपीय तद्गर्भस्थितस्वसुहृन्मैनाकदर्शनजातानन्दाश्रुप्रवाहद्विगुणीभूतस्वनिर्झरजलैः सागरं पुनरप्यपूरयन्, निशि निशि ज्वलद्भिः स्वावस्थितौषधिभिश्च ये तत्कालतत्रोषितवानरसैन्यस्मारणं पिङ्गलवर्णस्वप्रभया कारयन्ति, ते पर्वता विलोक्यन्त इत्यर्थः। स्रग्धरा वृत्तम्॥ २२॥

गौरीगुरोः पार्वतीपितुः। गिरीन्द्रस्य पर्वतराजस्य हिमालयस्य। युवराजो

विभीषण—हे देव मनुवंशभूषण,

समुद्रमें जो पर्वत डाले जाते थे वे समुद्रका पानी अपनी कन्दराओंमें भर लिया करते थे, फिर समुद्रकी उदरदरीमें जब उन्हें अपने मित्र मैनाकके दर्शन होते थे तब उनके आनन्दाश्रु-प्रवाहकृत झरनोंके बहनेसे समुद्र भर जाता था। उन पर्वतोंपर बहुत सी ओषधियां रातमें अभी भी प्रज्वलित होती हैं और उन्हें देखकर उस समय वहाँ रहनेवाले कपियोंकी याद हो आती है॥ २२॥

सीता—आर्यपुत्र, गौरीके पिता पर्वतराजके युवराज मैनाकका पक्ष नहीं कटा फिर भी

१. 'जलनिधिमचिर'।

जलणिहिगब्भवसदी मेणाओ जाणामि पक्खच्छेअं पि विणा थावरीभूदो ।
[आर्यपुत्र, गौरीगुरोर्गिरीन्द्रस्य युवराजो जलनिधिगर्भवसतिर्मैनाको, जानामि पक्षच्छेदमपि विना स्थावरीभूतः' ।]

रामः—([1]विहस्य ।) आं जानकि, आम् ।

क्रौञ्चं [2]विमुच्य पुत्रं च पितरं च हिमालयम् ।
प्रविश्य जलधिं पक्षौ [3]रक्षताऽनेन किं कृतम् ॥ २३ ॥

सीता—(हसन्ती पुष्पकं प्रति ।) विमाणराव, गअणमग्गचंकमणकोदूहलुल्लसिअमाणसाह्मि । ता उण्णमेहि दाव । [विमानराज, गगनमार्गचङ्क्रमणकौतूहलोल्लसितमानसास्मि । तदुन्नम तावत्' ।]

रामः—(सकौतुकस्मितम् ।) देवि [4]रत्नगर्भागर्भरत्नशलाके, पश्य पश्य ।

ज्येष्ठो युवा च पुत्रः । जलनिधिगर्भवसतिः समुद्रगर्भस्थः । स्थावरीभूतः जङ्गमतावर्जितो जातः । पक्षेषु सत्स्वपि स्थावरः संवृत्त इत्याशयः ।

क्रौञ्चमिति । क्रौञ्चं तन्नामप्रसिद्धं पुत्रम् हिमालयं नाम पितरञ्च विमुच्य विहाय जलधौ सागरे पक्षौ स्वीयौ रक्षताऽनेन मैनाकेन किं कृतम्, पक्षच्छेदरूपापद्युपस्थितायां पुत्रस्य पितुश्च रक्षां विहाय स्वमात्ररक्षां कुर्वतोऽस्य मैनाकस्य किं गौरवम्, स्वाश्रितरक्षापूर्वकात्मरक्षाया एव वीरजनादरणीयत्वात्स्वप्राणरक्षामात्रं कापुरुषकार्यमनेनाचरितमिति भावः ॥ २३ ॥

गगनेति । गगनमार्गे आकाशपथे चङ्क्रमणं तिर्यग्भ्रमणं तत्र कौतुकम् उत्कण्ठा, तेन उल्लसितमानसा पूर्णहृदया । उन्नम उपरि भव । रत्नगर्भा पृथिवी तस्या गर्भस्य रत्नशलाकामणिद्युतिस्तद्रूपे, पृथ्वीपुत्रीतिविवक्षा ।

वह स्थावर तो हो गये, यह आप जानते हैं ?

राम—(हंसकर) हाँ जानकी हाँ,

इस मैनाकने पुत्र क्रौञ्च तथा पिता हिमालयको छोड़कर अपनी रक्षा यदि कर ही ली तो क्या किया ? उचित तो यह था कि अपनी रक्षा भी करते साथ ही पुत्र तथा पिताकी रक्षा भी करते ॥ २३ ॥

सीता—(हंसती हुई, पुष्पकके प्रति) विमानराज, आकाशमार्गसे चलनेकी उत्कण्ठा हो रही है, थोड़ा ऊपर उठिये ।

राम—(उत्सुकताके साथ हंसकर) हे पृथ्वीकी पुत्रि सीते, देखो—जैसे जैसे यह

---

१. 'विहस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'विलुप्य' । ३. 'तेन' ।
४. 'रत्नगर्भागर्भरत्नशलाके' इति क्वचिन्नास्ति ।

यथा यथा परं व्योम विमानमधिरोहति ।
तथा तथाऽपसर्पन्ति परंतः परितो दिशः ॥ २४ ॥

किं च—

आसन्नतपनाश्यानत्वचः पुष्पकपीडिताः ।
गगनार्णवयादांसि [1]स्तिम्यन्ति स्तनयित्नवः ॥ २५ ॥

[2]अपि च—

अमी ते गम्भीरस्तनितरवरौद्रा नयनयो-
रनायुष्यं पुष्यन्त्यवतमसमुच्चैर्जलमुचः ।

यथा यथेति । यथा यथा विमानम् पुष्पकाख्यमिदं व्योमयानम् परं व्योम उपरितनमाकाशदेशम् अधिरोहति गच्छति उपरि सर्पति, तथा तथा तत्क्रमेण दिशः परितोऽपसर्पन्ति चतुर्दिशं पलायमाना भवन्ति विस्तारं लभन्त इत्यर्थः॥२४॥

आसन्नेति । आसन्नेन समीपवर्त्तिना तपनेन सूर्येण तत्तेजसा आश्यानाः शुष्कश्यामीकृतास्त्वच इव त्वचः उपरितनभागा येषां ते तथोक्ताः पुष्पकपीडिताः अनेन वायुयानेन खण्डिताः गगनार्णवयादांसि समुद्रोपमे सागरे जलचरजन्तुवत्प्रतीयमानाः स्तनयित्नवो मेघाः स्तिम्यन्ति आर्द्रीभूताः शब्दायन्ते । यद्यपि दैवादिकः स्तिम् धातुरार्द्रीभावमात्रार्थकस्तथाप्यत्रार्द्रीभावपूर्वके शब्दे प्रयोगः प्रसङ्गोपपादनार्थो बोध्य इति रुचिपतिः । जीवानन्दस्तु अन्तर्भावितण्यर्थत्वमास्थायार्द्रीकुर्वन्तीत्यर्थमाह ॥ २५ ॥

अमी त इति । गम्भीरं धीरं स्तनितम् गर्जितम् एव रवस्तेन रौद्राः भीषणाः उच्चैः महान्तश्च अमी मेघाः तव नयनयोः अनायुष्यम् अनायुःप्रयोजकम् दर्शनव्याघातकरम् अवतमसम् अल्पमन्धकारम् पुष्यन्ति जनयन्ति, मेघास्तव दृक्शक्तिप्रतिबन्धकरं तमः सृजन्तीत्यर्थः, इन्दोश्चन्द्रस्य उपरि ऊर्ध्वं परम् अधश्च

विमान ऊपर आकाशमें उठता जा रहा है, वैसे वैसे दिशायें दूर भागती चली जा रही हैं ॥ २४ ॥

और, समीपस्थित सूर्यकी किरणोंसे जिनकी त्वचा सूख गई है, जिन्हें हमारा यह पुष्पक विमान पीड़ित कर रहा है, जो आकाशरूप सागरके जलजन्तु-सदृश प्रतीत होते हैं, ऐसे मेघ कुछ गीला-सा स्वर निकाल रहे है ॥ २५ ॥

और, जिन मेघोंके ऊपर पड़नेवाली चन्द्रिकासे आकाशमें आभा तथा अन्धकारमय

---

१. 'तिम्यन्ति' । २. 'अपि च' इति क्वचिन्नास्ति ।

विसर्पद्भिर्येषामुपरि परमिन्दोः परिमलै-
रसंबाधज्योत्स्नातिमिरचयचित्रं वियदभूत् ॥ २६ ॥

सुग्रीवः—(अधोऽवलोक्य सकौतुकं रामं प्रति ।) देव, [1]दूरादर्वागवलोकय तावत् ।

निह्नुतोन्नतनतप्रविभक्तिः स्वस्ववर्णविनिविष्टपदार्था ।
अम्बुराशिपरिवेषवती भूश्चित्रकुट्टिममिव प्रतिभाति ॥ २७ ॥

अपि च देव,

विसर्पद्भिः प्रसारिभिः येषां मेघानां परिमलैः विमर्दैः असम्बाधा प्रसारशालिनी ज्योत्स्ना दीप्तिः तिमिरचयश्च तन्मयं चित्रं वियदभूत्, येषां मेघानां चन्द्रस्योपरि नीचैश्च प्रचारेण वियति क्वचिच्चन्द्रप्रभाकृतं धावल्यं क्वचिच्च तमःकृतं मालिन्यं तदुभयसम्पर्ककृतं चित्रत्वं विजृम्भत इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २६ ॥

निह्नुतेति । निह्नुता गोपिता उन्नतनतयोः उच्चनीचयोः प्रविभक्तिर्विभागो यत्र तादृशी अविभाव्यमाननिम्नोन्नतविभागा सर्वत्र समेव प्रतीयमानेत्यर्थः, स्वस्ववर्णेषु निजपीतश्वेतादिरूपेण विनिविष्टाः अवस्थिताः पदार्था यत्र तादृशी दूरतया वर्णभेदमात्रं प्रतीयते न पदार्थानां जातिः, श्वेतः पीत इत्येतावन्मात्रं व्यवच्छिद्यते न घटपटत्वादिकं यत्र तथोक्तेति भावः । अम्बुराशिपरिवेषवती समुद्रवेष्टिता भूः पृथिवी चित्रकुट्टिममिव विचित्रवर्णन्यासं कुट्टिमं भूमिकर्म इव प्रतिभाति । दूराद् दृश्यायां भुवि उन्नतनतविभागो न ज्ञायते पदार्थाश्च वर्णमात्रेण ज्ञायन्ते न पृथग् जात्या, तदित्थमियं समुद्रपरिवेष्टिता धरा विचित्रं कुट्टिममिव प्रतीयत इत्युपमा ॥ २७ ॥

चित्र उपस्थित हो रहा है ऐसे ये मेघ गम्भीर गर्जनसे भीषणता धारण करके आँखोंकी शक्तिको कम करनेवाले अन्धकारकी सृष्टि करते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीव—(नीचे देखकर, कुतूहलसे रामके प्रति) देव, दूरसे तनिक नीचेकी ओर देखें,

पृथ्वीपर ऊंच-नीच स्थलका विभाग समाप्त हो रहा है, सभी पदार्थ केवल अपने वर्णमें रह गये हैं आकारभेद लुप्त हो रहा है, इस प्रकार यह समुद्रवेष्टिता पृथ्वी चित्रमय पक्की भूमि-सी दीख रही है ॥ २७ ॥

और, देव,

---

१. 'दूरादर्वागवलोकय'; 'दूरादवलोकय' ।

अयमनेन महोदधिभोगिना वलयितो वसुधाफणमण्डलः ।
जगदनर्घमवाप्य भवादृशं किमपि रत्नमहंकुरुतेतराम् ॥ २८ ॥

सीता—(पुरो दर्शयन्ती ।) को एसो कप्पाणलज्जालाकलावकढिज्जमाणजलणिहिलवणत्थवकणिम्मलअब्भंलिहसिहरसहस्समहुरो महीहरो पलोइज्जदि । [क एष कल्पानलज्वालाकलापक्वथ्यमानजलनिधिलवणस्तवकनिर्मलाभ्रंलिहशिखरसहस्रमधुरो महीधरः प्रलोक्यते ।]

विभीषणः—देवि,

पुरः प्रालेयशैलोऽयं यस्मिन्मकरकेतवे ।

अयमनेनेति । अयम् वसुधाफणमण्डलः पृथ्वीरूपः फणसमुदयः महोदधिभोगिना समुद्ररूपसर्पेण वलयितः वेष्टितः जगदनर्घम् संसारेऽमूल्यम् भवादृशं किमपि रत्नम् अवाप्य अहङ्कुरुतेतराम् नितरां गर्वायते । यथा कोऽपि सर्पफणः स्वरत्नेन गर्वमुद्वहति तथैव वसुधारूपोऽयं समुद्ररूपसर्पेण वलयितः फणमण्डलोऽमूल्यं त्वादृशं रत्नमासाद्य गर्वं धारयतीत्यर्थः । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षितं द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ २८ ॥

कल्पानलेति । कल्पानलस्य प्रलयाग्नेः ज्वालाकलापेन शिखासमुदायेन क्वथ्यमानस्य समधिकं ताप्यमानस्य जलनिधेः समुद्रस्य लवणस्तवकः लवणपुञ्जः तद्वत् निर्मलेन अभ्रंलिहेन व्योमचुम्बिना शिखरसहस्रेण शिखरसमुदयेन मधुरः मनोहरः । महीधरः पर्वतः । प्रलोक्यते दृश्यते, कोयं पर्वतो दृश्यते यः प्रलयाग्निक्वथितसागरोत्पन्नलवणराशिरिव धवलैः शिखरगणैः प्रतीयत इत्यर्थः ।

पुर इति । पुरः अग्रेऽयं प्रालेयशैलः हिमालयो नाम पर्वतो वर्त्तते यस्मिन् हिमालये मकरकेतवे कामदेवाय मृतसञ्जीवनी पुनःप्राणदायिनी ओषधिः कामस्य पुनर्जन्मकारिणी दुर्गा पार्वती अजायत जाता, सोऽयं पर्वतो हिमालयो यत्र पार्वती जाता यया हरकोपानलदग्धोऽपि कामः महादेवद्वारा पुनर्जीवितः, महौ-

---

यह समुद्ररूप नागराज द्वारा वलयित वसुधारूप फणमण्डल संसारमें अनुपम अमूल्य आप सरीखे रत्नको प्राप्त करके अनिर्वचनीय अहङ्कार प्रकाशित कर रहा है ॥ २८ ॥

सीता—(आगे दिखलाकर) यह कौन-सा पर्वत दीख रहा है जो प्रलयानलकी ज्वालावलीसे क्वथित होनेवाले सागरके जलसे प्रस्तुत लवणकी तरह स्वच्छ तथा ऊंचे शृङ्गोंसे आकाशको छूता हुआ मालूम पड़ता है ।

विभीषण—देवि, यह वही हिमालय पर्वत है जिसपर कन्दर्पको पुनरुज्जीवित करने-

मृतसंजीवनी दुर्गा महौषधिरजायत ॥ २९ ॥

सीता—(सकौतुकम् ।) अवि इध ज्जेव चन्दसेहरणअणाणले आहुदीभूदो भअवं मम्महो । [अपि इहैव चन्द्रशेखरनयनानले आहुतीभूतो भगवान्मन्मथः ।]

विभीषणः—आं [1]देवि, आम् । इयमुत्तरेण देवदारुवनलेखा विषमशरदुरन्तसाक्षिणी ।

पुरा पुरां भेत्तुरिह त्रिनेत्रीशृङ्गाटके तुल्यरुषि स्थितेऽपि ।
[2]धग्धग्धगित्यज्वलदेकमन्ये तद्धूमपीडामपि नासहेताम् ॥ ३० ॥

षधिरपि मृतसञ्जीवनी भवति, नयनानलदग्धः कामो महादेवेन गौर्यां परिणीतायां देहीकृत इति बोध्यम् ॥ २९ ॥

चन्द्रशेखरनयनानले महादेवनेत्रवह्नौ । आहुतीभूतः हवनीयद्रव्यमभूत् ।

उत्तरेण उत्तरस्यां दिशि । देवदारुवनलेखा देवदार्वाख्यवृक्षश्रेणी । विषमशरदुरन्तसाक्षिणी कामदेवदहनस्य साक्षिभूता प्रत्यक्षदर्शिका ।

पुरा पुरामिति । इह अस्मिन् देवदारुकानने पुरां भेत्तुः त्रिपुरारेः त्रिनेत्रीशृङ्गाटके नेत्रत्रयरूपवारिकण्टके वह्निस्थापनप्रज्वालनाद्युचितपात्रभेदे तुल्यरुषि समानकोपावलम्बिनि स्थितेऽपि एकम् नयनम् धग्धग्धग् इति एतदानुपूर्वीकशब्दपूर्वकम् अज्वलत् जज्वाल, अन्ये ज्वलतो नयनात् भिन्ने नयने तस्य ज्वलतोऽग्नेः धूमपीडाम् धूमसम्पर्कजं कष्टं न असहेताम् न सोढुमक्षमेताम् । महादेवस्य त्रिषु नेत्रेषु एकं कोपकलुषमपि जातं परमपरे पूर्ववदेव ध्यानमग्ने अतिष्ठतामित्यर्थः ॥३०॥

वाली मृतसंजीवनी महौषधिके रूपमें पार्वतीने जन्म लिया ॥ २९ ॥

सीता—(कुतूहलके साथ) यहाँ ही महादेवकी नेत्राग्निमें कामदेव आहुति बन गया था ।

विभीषण—हाँ देवि, हाँ, यही उत्तरकी ओर दीखनेवाली देवदारुवनपरम्परा उस भीषण घटनाकी साक्षिणी है ।

यहीं पूर्वकालमें महादेवकी तीनों आँखें एक रूपमें कुपित हो गई थीं, परन्तु उनमें एक ही आँख धक्-धक्-धक् करके जलने लगी, और दो आंखें उस आगके धूमकी व्यथाको भी नहीं सह सकीं ॥ ३० ॥

---

१. 'जानकि' ।	२. 'धगद्धगित्यज्वलदेक' ।

रामः—किमुच्यते ।

नीललोहितललाटलाञ्छने लोचने जयति कोपपावकः ।
रक्षितस्य जगदन्तहेतवे यस्य संज्वलनमात्मभूरभूत् ॥ ३१ ॥

सीता—(रामं प्रति ।) अज्जउत्त, तधा णिरणुक्कोसो कधं उण पडिणिवुत्तो महादेवो देवीए । [आर्यपुत्र, तथा निरनुक्रोशः कथं पुनः प्रतिनिवृत्तो महादेवो देव्यै ।]

रामः—

स्मरपरिभवनिःसहायदीर्घैरथ सुभगङ्करणैरियं तपोभिः ।
तदकृत यदसौ निजेऽपि देहे जयति जगत्पतिरात्मना द्वितीयः ॥ ३२ ॥

नीलेति । नीललोहितस्य हरस्य ललाटलाञ्छने भालभूषणभूते लोचने कोपपावकः क्रोधाग्निर्जयति, जगदन्तहेतवे त्रिभुवनसंहाराय रक्षितस्य यस्य कोपाग्नेः आत्मभूः कामदेवः संज्वलनम् सन्धुक्षणकाष्ठम् अभूत् यथा वह्निना पश्चात् कार्यं करिष्यन् केनापि काष्ठेन तं रक्षति तथैव जगत्संहाराय रक्षितस्य कोपाग्नेः कामदेव एव संधुक्षणकाष्ठतामभजतेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

निरनुक्रोशः निर्दयः । प्रतिनिवृत्तः कोपान्निवृत्तः (यत्पार्वतीं प्रत्यग्रहीत्)

स्मरपरिभवेति । स्मरस्य कामदेवस्य परिभवेन दहनात्मनाऽपमानेन असहायैः सहायकरहितैः दीर्घैर्महद्भिः सुभगङ्करणैरसुभगा अपि सुभगाः कर्तुं समर्थैः तपोभिः तद् एतादृशं कठिनं कर्म अकृत कृतवती यत् यस्मात् जगत्पतिः निजेऽपि देहे स्ववपुष्यपि आत्मना द्वितीयः सद्वितीयः अर्धनारीश्वरः जयति । यदा पार्वती तपः प्रारेभे तदा तस्याः कामोऽपि सहाय आसीदित्यसौ अकठोरतया अवर्त्तत, यदा पुनः कामो दग्धस्तदाऽसहायतया सा तपोमात्रमवलम्बनमालोक्य दीर्घं तपश्चक्रे, तेन

राम—क्या कहा जाय, महादेवके ललाटपर वर्तमान नेत्रकी कोपाग्निकी जय हो, जिसे प्रलयकालके लिये सुरक्षित रखनेके लिये ही महादेवने उसमें कामदेवरूप इन्धन डाल दिया था ॥ ३१ ॥

सीता—(रामके प्रति) उस प्रकार निर्दय होकर भी फिर महादेव पार्वतीको मिल कैसे गये ?

राम—कन्दर्पके जला दिये जानेपर असहाय होकर पार्वतीने अपना तप बढ़ा दिया, और कुछ ऐसा कार्य किया जिससे उसकी सुन्दरता बढ़ गई और बाध्य होकर महादेवको उसे अपना अर्धाङ्गिनी बनाना ही पड़ा ॥ ३२ ॥

विभीषणः—([1]सपरिहासम् ।)

चिरमनया तपसित्वा कपालविषविषधरैकचित्तस्य ।
चक्रे हरस्य मूर्तिः फलमर्धं फलदमर्धं च ॥ ३३ ॥

सीता—(विहस्य तं प्रति सकौतुकम् ।) कदरसिंस उण संणिवेसे भअवदीए सव्वमङ्गलाए पाणिग्गहणमङ्गलं आसी ।

विभीषणः—इदं पुरस्तादोषधिप्रस्थं नाम नगराजनगरम् । अत्र हि—

सम्प्रदातरि महौषधीमये भूधरे सुखमुवाह पार्वतीम् ।
[2]मूढकङ्कणफणीन्द्रनिर्भयां तारकेश्वरकिशोरशेखरः ॥ ३४ ॥

त्तपसा शिवस्तथा प्रीतो यथा पार्वतीमर्धाङ्गभाजमकरोत् इत्यहो धन्यं तत्तप इत्यर्थः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

चिरमनयेति । अनया पार्वत्या चिरं सुदीर्घकालपर्यन्तं तपसित्वा तपः कृत्वा कपाले नरशिरःकङ्काले विषे विषधरे च एकम् अनन्यभावानुरक्तं चित्तं यस्य तादृशस्य कपालधारणविषपानविषधरालङ्करणमात्रानुरागिणः हरस्य मूर्त्तिः शरीरम् अर्धं फलम् लभ्यम् अर्धं च फलदं फलप्रदं चक्रे। तपस्याप्रसन्नेन शिवेन पार्वती स्ववपुषोऽर्धे निवेशिता, तथा च तपस्याफलमर्धं शरीरमजनि, अर्धं चावशिष्यमाणं शिवांशभूतं वपुः फलदातृरूपं स्थितम् , तदित्थमर्धस्य फलात्मकत्वमर्धस्य फलदातृत्वमकल्पयदित्याशयः ॥ ३३ ॥

सम्प्रदातरीति । महत्यः ओषधयः लताविशेषास्तन्मये तद्बहुले महौषधिगणपूर्णे भूधरे हिमालये पर्वते सम्प्रदातरि दानकर्त्तरि सति तारकेश्वरश्चन्द्रः स एव किशोरो बालः स शेखरः शिरोभूषणं यस्य तादृशो बालचन्द्रभूषणः शिवः मूढः ओषधिसान्निध्यवशाद् भीततया किमपि चेष्टितुमशक्तो यः कङ्कणफणीन्द्रः शिवकर-

---

विभीषण—(परिहासके साथ) कपाल तथा विषधरके साथ रमनेवाले शिवको भी चिरकालतक तपस्या करके पार्वतीने इस प्रकार अपनाया कि उन्हें अपना आधा अङ्ग ही तपस्याके फलके रूपमें पार्वतीको देना पड़ा, आधे अङ्गसे ही वह तपःफलदायक रहे ॥३३॥

सीता—(मुस्कुराकर-विभीषणके प्रति) वह कौन सा स्थान है जहाँ पार्वतीका विवाह सम्पन्न हुआ था ।

विभीषण—यह आगेवाला ओषधिप्रस्थ नामक हिमालयका नगर है, यहीं पर महौषधियोंसे भरे हुए हिमालय कन्यादान कर रहे थे, इसीसे महादेवके सांप डरकर छिप गये, पार्वती निर्भय बैठी रहीं, अतः महादेव पार्वतीका पाणिग्रहण कर सके ॥ ३४ ॥

---

१. 'सहासम्' । २. 'गूढः'; 'मुग्ध' ।

रामः—आं देवि, इहैव

पितरि निजतुहिनसंपत्कल्पितहेमन्तविभ्रमे गौरी।
निर्मदभुजङ्गभूषणमभीषणं प्रियकरं भेजे ॥ ३५ ॥

सीता—(सस्मितम्।) अज्जउत्त, अवि एदस्सिं जेव्व मअणतणुदहणप इअणिरप्पणो फुडमविस्ससन्तीए गोरीए चन्दचूडो संघडिदो णिअसरीरेण। [आर्यपुत्र अप्येतस्मिन्नेव मदनतनुदहनव्यतिकरनिरात्मीयः स्फुटमविश्वसन्त्या गौर्या चन्द्रचूडः संघटितो निजशरीरेण।]

रामः—(विहस्य।) आं देवि,

वलयीभूतसर्पस्ततो निर्भयाम् अभयभीताम् पार्वतीम् सुखम् अक्लेशम् उवाह पाणौ गृहीतवान्। महादेवेन पार्वत्यां पाणौ गृह्यमाणायां शिवकरस्थे सर्पे सव्यापारे कदाचित् पार्वती विभियात्ततश्च तत्पाणिग्रहणम् सुखसाध्यं न स्यात्, परं महौषधिमये हिमालये दातरि सन्निहितमहौषधिनिवहप्रभावात् निश्चेष्टकल्पे वलयसर्पे पार्वत्या भयोदयस्याभावेन शिवस्तां सुखं पर्यणैपीदित्यर्थः। रथोद्धतावृत्तम्, 'स्यान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

पितरीति। निजतुहिनसम्पदा स्वप्रालेयसमृद्ध्या कल्पितः कृतः हेमन्तविभ्रमः हेमन्तर्त्तुविलासस्तद्भ्रमो वा येन तादृशे पितरि स्थिते सति गौरी पार्वती निर्मदः शैत्याधिक्येनोपशमितविषगर्वो यो भुजङ्गः सर्पः स भूषणं कङ्कणो यत्र तादृशं तथा चाभीषणं भयाजनकं स्वपत्युर्हस्तं भेजे जग्राह। पितृसम्बन्धिहेमन्तसम्पादकप्रालेयवैभवेन हरकरस्थभूषाभुजगे निर्विषमदे सति अभयङ्करं प्रियतमस्य हस्तं शिश्रिये गौरीति भावः। आर्याभेदो वृत्तम् ॥ ३५ ॥

राम—हाँ देवि सीते, यहींपर—

पार्वतीके पिता हिमालयने अपने बर्फके प्रतापसे हेमन्तका समय ला दिया, अतः महादेवके सांपोंका विष उतर गया, फलतः पार्वती निर्भयभावसे अपने प्रियतमका हाथ पकड़ सकीं ॥ ३५ ॥

सीता—(मुस्कुराकर) आर्यपुत्र, क्या इसी जगह कन्दर्पकी देह जलाकर महादेवने जो निर्ममता प्रकटकी थी उसीपर विश्वासरहित होकर गौरीने महादेवको अपने शरीरसे जोड़ लिया।

राम—(मुस्कुराकर) हाँ देवि,

एतस्यां हि तुषारभूधरशिरःसीम्नि प्रियार्धेन च
स्वेनार्धेन च तादृशे पशुपतौ वृत्तेऽर्धनारीश्वरे ।
शेषेणार्धयुगेन सप्रहसनं गौरीसखीभिस्तदा
चक्रे दक्षिणवामयोर्विनिमयादन्योऽर्धनारीश्वरः ॥ ३६ ॥

अपि च—

[1]संभोगानतिरिच्यमानविभवो यद्विप्रलम्भो रस-

एतस्यामीति। एतस्याम् अत्र तुषारभूधरस्य हिमालयपर्वतस्य शिखरसीम्नि शृङ्गप्रदेशे (अत्रैव हिमालयशृङ्गे) प्रियार्धेन गौरीदेहार्धभागेन स्वेन अर्धेन स्वीय-देहार्धभागेन च तादृशे स्वतपोरक्षार्थं काममक्षिज्वालायां होमं कृतवति अपि पशुपतौ अर्धनारीश्वरे अर्धाङ्गधृतपार्वतीस्वरूपे वृत्ते जाते सति तदा तत्र समये सप्रहसनं सोपहासम् शेषेण अवशिष्टेन अर्धयुगेन पार्वत्याः शिवस्य चार्धार्ध-भागाभ्याम् दक्षिणवामयोर्विनिमयात् व्यत्यासं कृत्वा अन्यो द्वितीयोऽर्धनारीश्वर-श्चक्रे। सोऽयं शिवो, यः पूर्वमात्मनस्तपसि स्त्रियः सन्निधानमपि विघ्नममन्यत, सम्प्रति प्रियार्धघटितनिजदेहार्धधरः सम्पद्यत इति सोपहासा गौरीसख्यः शिवयोरव-शिष्यमाणदेहार्धद्वयेनापरमर्धनारीश्वरं व्यधात्, परं पूर्वतनेऽर्धनारीश्वरः पार्वती-वामार्धे शिवश्च दक्षिणार्धे स्थितः, पश्चात्सखीभिः कृते चार्धनारीश्वरे गौर्या दक्षिणार्ध-रूपता तदंशस्यैव शिष्यमाणत्वात्, शिवस्य वामार्धभागता, तस्यापि तदंशमात्र-शिष्टत्वादिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

संभोगेति। यत् यस्य दिव्यमिथुनस्य विप्रलम्भो रसः शृङ्गारप्रभेदभूतविप्र-लम्भाख्यो रसः सम्भोगानतिरिच्यमानविभवः संभोगापेक्षयानतिरिक्तरूपः अर्ध-नारीश्वरस्य यस्य वियोगासंभवेन विप्रलम्भोऽपि संभोगातिरिक्ततया वक्तुम-

इसी हिमालय पर्वतकी सीमामें अपना आधा शरीर और पार्वतीके आधा शरीरको मिलाकर जब महादेव अर्धनारीश्वर बन गये तब पार्वतीकी सखियोंने शेष आधे आधे शरीरोंको मिलाकर एक दूसरा अर्धनारीश्वररूप प्रस्तुतकर दिया था, परन्तु परिहासार्थ सखियों द्वारा प्रस्तुत उस अर्धनारीश्वर शरीरमें पार्वतीका दक्षिण भाग तथा शिवका वाम भाग था ॥ ३६ ॥

और—जिस अर्धनारीश्वरको विप्रलम्भ रस भी संभोग स्वरूप ही हुआ करता है अर्थात् जिसके लिये शृङ्गार रसका दूसरा विप्रलम्भात्मक भेद असत्य है, परस्पर मिलित

१. 'संयोगात्'।

स्तद्दिव्यं मिथुनं परस्परपरिस्यूतं नमस्कुर्महे ।
एकस्याः प्रतिबिम्बसंभृतविपर्यासे मुहुर्दर्पणे
सव्याङ्गस्थितिकौतुकं शमयति स्वामी स यत्रापरः ॥२७॥

विभीषणः—देव,

स्वच्छन्दैकस्तनश्रीरु¹भयमतमिलन्मौलिचन्द्रः फणीन्द्र-
प्राचीनावीतवाही सुखयतु भगवानर्धनारीश्वरो वः ।

शक्यस्तत् परस्परपरिस्यूतम् अन्योन्यमिलितं तत् दिव्यम् विलक्षणं मिथुनम् स्त्रीपुंद्वन्द्वम् नमस्कुर्महे प्रणताः स्मः, एकस्या गौर्याः प्रतिबिम्बसंभृतविपर्यासे प्रतिबिम्बे स्वस्य वामभागेऽवस्थितिं दृष्ट्वा कथमयं मां वामभागे गौणे स्थापयतीति प्रतिबिम्बदर्शनकृतबुद्धिविपर्यये जाते सति मुहुः वारंवारं दर्पणे सव्याङ्गस्थिति-कौतुकम् वामाङ्गस्थितिजन्मौत्सुक्यम् अपरः स स्वामी शमयति निवर्त्तयति, यदा पार्वती स्वं वामभागावस्थानं दृष्ट्वा कुप्यति तदा सम्मुखस्थे दर्पणे पश्य तत्र त्वं क दृश्यसे ? इत्येवं वञ्चयित्वा तस्या औत्सुक्यं शमयति शिव इत्यर्थः । दर्पणे वामभागस्थं वस्तु दक्षिणभागे दृश्यत इति पार्वत्यपि तत्रात्मानं दक्षिणभागस्थां प्रतीत्यौत्सुक्यं जहातीति बोध्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

स्वच्छन्देति । स्वच्छन्दा स्वतन्त्रा द्वितीयस्तनकृतस्थानसङ्कीर्णतारहिता एक-स्तनश्रीः एककुचशोभा यत्र तादृशः, उभयमतः उभयसाधारणः मिलन् मौलि-चन्द्रः यस्य तथोक्तः फणीन्द्रप्राचीनावीतवाही दक्षिणस्कन्धे तिर्यग्वर्त्तमानं यज्ञसूत्रं दधानः भगवान् अर्धनारीश्वरः वः युष्मान् सुखयतु आनन्दयतु । यस्य अर्धे देहार्धे विश्वस्य जगतो दाहे व्यसनं यस्य तादृशं विस्मरं ज्योतिर्यस्य तादृशं च,

---

उस दिव्य स्त्री-पुरुषको नमस्कार करता हूँ। जब पार्वती अपनेको दर्पणमें विपरीत दिशा (दक्षिण भाग) में अवस्थित समझने लगती है तब उन्हें महादेव यह कहकर वस्तु स्थितिसे अवगत कराते हैं कि तुम ठीकही हो, दर्पणमें उल्टा ही दिखाई देता है ॥ २७ ॥

विभीषण—देव,

स्वच्छन्द रूपमें एक स्तन है, दोनों भागमें मस्तक पर चन्द्रमा विद्यमान है, दायें कन्धे पर सर्पराजरूप यज्ञोपवीत लटक रहा है, ऐसे अर्धनारीश्वर आपको आनन्दित करें, जिनके अर्धाङ्गमें संसारको जलानेवाली ज्योतिसे युक्त नयन, और आधेमें विश्वसंहार

---

१. 'उभयदल—' ।

यस्यार्धे विश्वदाहव्यसनविसृ[1]मर-ज्योतिरर्धे कृपोद्य-
द्बाष्पं चान्योन्यवेगप्रहतिसिमसिमाकारि चक्षुस्तृतीयम् ॥३८॥

अपि च—

स्वेदार्द्रवामकुचमण्डल[2]पत्त्रभङ्ग
संशोषिदक्षिणकराङ्गुलिभस्मरेणुः ।
स्त्रीपुंनपुंसकपदव्यतिलङ्घिनी[3] वः
शंभोस्तनुः सुखयतु प्रकृतिश्चतुर्थी ॥ ३९ ॥

अर्धे अपरदेहार्धे कृपोद्यद्वाष्पं विश्वदाहदर्शनजनितकृपाप्रसूताश्रु च, नयनम्, अत एव अन्योन्यवेगप्रहतिभिः परस्परवेगसमाप्तिभिः परस्परवेगसमाप्तिकृतसिमसिमाकारि तृतीयं चक्षुरस्तीति शेषः। अर्धनारीश्वरो वः सुखयतु यस्यैक एव स्तनः उभयोः साधारणश्चन्द्रः शिरसि, दक्षिणस्कन्धे तिर्यग्लम्बमानं यज्ञोपवीतं च विद्यते, किञ्च यस्यैकत्र नयने विश्वदहनव्यासक्तं प्रसृमरं च ज्योतिः, अपरत्र नयने च विश्वदाहदर्शनोदितकरुणाजन्यं वाप्पम्, आभ्यामग्निवाप्पाभ्यां परस्परव्याहतशक्तिभ्यां तृतीयं नयनं सिमसिमशब्दयुतं चास्तीत्यर्थः। सिमसिमेतिशब्दानुकरणम्, अग्नौ जलसंयोगे परस्परशक्तिव्याघातजन्मा तादृशः शब्दो जायते, तदिह तृतीयनेत्रस्य सिमसिमाकारितोक्ता ॥ ३८ ॥

स्वेदार्द्रेति। स्वेदार्द्रः सात्त्विकभावोदितस्वेदपूर्णो यो वामकुचमण्डलपत्त्रभङ्गः वामस्तनस्थितपत्रावलीविरचना तस्य संशोषी तदार्द्रताहरः दक्षिणकराङ्गुलिभस्मरेणुः दक्षिणकराङ्गुलिस्थविभूतिधूलिर्यत्र तादृशी।

वामार्धे पार्वती दक्षिणार्धे शिव इत्यर्धनारीश्वरस्य मूर्त्तिस्तत्र शिवे पार्वतीकुचे पत्रावलीं रचयति सति वामभागस्थकुचमण्डले सात्त्विकभावरूपो यः स्वेद उदयते तस्य शिवकरस्थाङ्गुलिलग्नभस्मरेणुना शोषणं क्रियत इत्यर्थकमिदं विशेषणम्।

स्त्रीपुंनपुंसकपदव्यतिलङ्घिनी तत्तल्लिङ्गत्रयव्यतिरिक्ता अत एव चतुर्थी प्रकृतिः शम्भोस्तनुर्वः सुखयतु, सा हि तनुर्न स्त्रीरूपा पुरुषलिङ्गधारणात्, न

देखनेसे उत्पन्न दयाके आंसू, एवं इन दोनोंके परस्पर मिलनसे तृतीय नेत्रमें सिमसिमाहट उत्पन्न हुआ करती है ॥ ३८ ॥

और—अर्धभागस्थ सात्त्विकभावोत्थित वामकुचमण्डल पर वर्त्तमान पत्रावलीको जिसके दक्षिणभागस्थ अङ्गुलिमें लग्न भस्म सुखाता है, ऐसे महादेवकी वह देह जो स्त्रीपुंनपुंसकसे विलक्षण चतुर्थ लिङ्गकी है, आपको आनन्दित करें ॥ ३९ ॥

---

१. 'विसृमरज्योतिः'। २. 'पत्त्रभङ्गी–'। ३. 'लङ्घनीया'।

([1]अन्यतश्च दर्शयन् ।)

आधत्ते दनुसूनुसूदनभुजाकेयूरवज्राङ्कुर-
व्यूहोल्लेखपदावलीवलिमयैरङ्गैर्मुदं मन्दरः ।
आधारीकृतकूर्मपृष्ठकषणप्रक्षीणमूलोऽधुना
जानीमः परतः पयोधिमथनादुच्चैस्तरोऽयं गिरिः ॥४०॥

रामः—(निर्वर्ण्य सस्मितम् ।)

तत्तादृक्फणिराजरज्जुकषणं संरूढपक्षच्छिदा-

पुंरूपा स्त्रीचिह्नकुचादिसत्त्वात्, नापि नपुंसकरूपा उद्भूतस्त्रीत्वपुंस्त्वव्यञ्जकचिह्न-शालित्वात्तदित्थमियं चतुर्थी प्रकृतिरिति बोध्यम् ॥ ३९ ॥

आधत्त इति । मन्दरः गिरिविशेषः दनुसूनुर्दानवस्तत्सूदनो निहन्ता विष्णुस्तस्य भुजासु चतुर्षु बाहुषु ये केयूराः अङ्गदाः तेषां वज्राङ्कुरव्यूहैः हीरकाङ्कुरनिचयैः उल्लेखेन घर्षणेन या पदावली रेखासमूहः स एव वलयः उदरस्थरेखाविशेषाः तन्मयैरङ्गैः मुदम् दर्शकजननयनानन्दम् आधत्ते जनयति, समुद्रमन्थनसमये मन्थानभूतोऽयं मन्दराचलो विष्णुना बाहुभिर्धृत इति तस्य विष्णुबाहुस्थितकेयूर-खचितहीरकैः सङ्घर्षणं जातं येन तत्र रेखा जाता यास्तदुदरस्थरेखावत्प्रतीयमाना भवन्ति, एतादृशोऽयं मन्दराचलो नयनान्यानन्दयतीत्यर्थः । अयं गिरिर्मन्दरः आधारीकृतं समुद्रमथनकाले आधारतां नीतं यत्कूर्मपृष्ठं तेन कषणात् घर्षणात् प्रक्षीणं मूलं यस्य तथाभूतः, अतश्च पयोधिमथनात् समुद्रमथनात् पूर्वम् उच्चैस्तरः अतिमहान् आसीदिति अधुना जानीमः । अयमाशयः–विष्णुना समुद्रमथनसमये कूर्मपृष्ठं पात्रीकृतं तत्र मन्थानभूतस्य मन्दरस्य मूलं घृष्टं सत् क्षयं गतम्, अतः सम्प्रतीदं वक्तुं शक्यं यन्मन्दरो यत्परिमाणः सम्प्रति विलोक्यते, समुद्रमथनात्पूर्वं ततो महानासीदिति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४० ॥

तत्तादृगिति । अयं मन्थाचलः मन्दरः तत्तादृक् तथाविधम् फणिराजरज्जुकषणं

(दूसरी ओर दिखाकर) दानवोंके संहार करनेवाले भगवान् विष्णुके भुजमें वर्त्तमान केयूरमें खचित हीरेकी रगड़से चिह्नित यह मन्दराचल आंखोंको आनन्दित कर रहा है, इसके नीचे जो कूर्मराज हैं उनकी पीठमें घिसते रहनेसे इसकी जड़ घिस गई है, मैं समझता हूँ, समुद्र मन्थनसे पूर्वकालमें यह मन्दराचल बहुत ऊंचा पहाड़ रहा होगा ॥४०॥

राम—(देखकर तथा मुस्कुराकर) उस तरहके सर्परूपरज्जुके घर्षणको जिससे पक्षच्छेदवाली जगहमें मर्मान्तिक पीड़ा होती होगी, इस मन्दराचलने कैसे सहन किया ?

१. 'अग्रतश्च' ।

घातारुंतुदमप्यहो कथमयं मन्थाचलः सोढवान् ।
एतेनैव दुरात्मना जलनिधेरुत्थाप्य पापामिमां
लक्ष्मीमीश्वरदुर्गतव्यवहृतिव्यस्तं जगन्निर्मितम् ॥ ४१ ॥

सीता—([1]सोद्वेगम् ।) इमिणा ज्जेव्व मत्थुसेसीकिददुद्धसाअरेण चन्दमुद्धरिअ पउसिदभत्तणो इत्थिआजणस्स उवरि चारहली विढत्ता । [अनेनैव मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण चन्द्रमुद्धृत्य प्रोषितभर्तृकस्य स्त्रीजनस्योपरि चारहली विस्तीर्णा ।]

(सर्वे हसन्ति ।)

वासुकिनागरूपरज्जुकृतं वर्षणम् संरूढः विरूढो यः पक्षच्छिदाघातः पक्षच्छेदनव्रणः तत्र अरुन्तुदम् अतिव्यथकम् अपि कथं सोढवान् सोढुमशकत् । व्रणे विरूढेऽपि तत्स्थानं घर्षणासहिष्णु तिष्ठति, पक्षच्छेदव्रणस्थाने वासुकिरज्जुकृतघर्षणकष्टं नितान्तव्यथाकरमपि न जाने केन बलेनायं मन्दरोऽसहतेति भावः । एतेनैव दुरात्मना दुष्टचित्तेन मन्दरेण जलनिधेः समुद्रात् पापां चापल्येन दुर्वृत्ताम् लक्ष्मीम् उद्धृत्य बहिरानीय जगत् विश्वम् ईश्वरो धनी दुर्गतो दरिद्रः इति व्यवहृत्या व्यपदेशेन व्यस्तं दुःस्थं निर्मितम् , यद्ययं दुष्टहृदयो मैनाकः समुद्रात्पापाचारां लक्ष्मीं नोद्धरेत् तदा जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारकृतं कष्टं न केनापि लब्धं स्यादित्याशयः ॥ ४१ ॥

मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण क्षीरसमुद्रं मथितवता, मस्तु तक्रविशेषः । 'मण्डं दधिभवं मस्तु' इत्यमरः । प्रोषितभर्तृकस्य विरहिणः । चारहली पौरुषम् । देश्यशब्दोऽयम् । अयमेव मन्दराचलः प्रयासमाधाय क्षीरसागरं मथित्वा च ततश्चन्द्रमुद्धृत्य विरहिस्त्रीजनेषु स्वपौरुषं चन्द्रद्वारा तत्कष्टजननसामर्थ्यरूपं प्रकटीकृतमित्यर्थः ।

इसी पापी मन्दराचलने इस पापा लक्ष्मीको सागरसे निकालकर दुनियामें धनी निर्धनका व्यवहार जारी किया जिससे यह विश्व व्यस्त है ॥ ४१ ॥

सीता—(उद्वेगके साथ) इसी मन्दरने क्षीरसागरको तक्र बनाकर चन्द्रमा निकाला और उसके द्वारा विरहिणी स्त्रियोंपर अपना पराक्रम प्रकट किया ।

(सभी हसते हैं)

---

१. 'सावेगं ससंभ्रमम्' ।

विभीषणः—(तदेव रामसूक्तं भावयन् ।) अहह ।

प्रक्षेप्तुमुदधौ लक्ष्मीं भूयोऽपि वलते मनः ।
किं तु प्रक्षिप्त एवायं पुनरायाति चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥

(विमृश्य चाकाशे ।)

कस्मैचित्कपटाय कैटभरिपूरःपीठदीर्घालयां
देवि त्वामभिवाद्य कुप्यसि न चेत्तत्किंचिदाचक्ष्महे ।
यत्ते मन्दिरमम्बुजन्म किमिदं विद्यागृहं यच्च ते
नीचान्नीचतरोपसर्पणमपामेतत्किमाचार्यकम् ॥ ४३ ॥

प्रक्षेप्तुमिति । लक्ष्मीरेव जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारप्रवर्त्तकतया कष्टबीजमिति विभाव्य मनः भूयोऽपि लक्ष्मीमुदधौ सागरे प्रक्षेप्तुम् पातयितुं वलते चेष्टते, परन्तु क्षिप्तापि सा पुनरागच्छेत् यतः—प्रक्षिप्तः कालेन समुद्रे पातित एवायं चन्द्रमाः पुनरायाति बहिस्तथैवेयं क्षिप्तापि पुनर्बहिरागच्छेदिति परिश्रमवैयर्थ्यं सभाव्येयं लक्ष्मीः सागरे न क्षिप्यत इत्याशयः ॥ ४२ ॥

कस्मैचिदिति । हे देवि लक्ष्मि, चेत् यदि न कुप्यसि क्रुद्धा भवसि तत् तदा कस्मैचित् कपटाय केनापि च्छलेन (किमपि वञ्चनं कर्त्तुम्) कैटभरिपोर्नारायणस्य उरःपीठम् विशालपीवरम् वक्ष एव दीर्घालयश्चिरकालिकावासो यस्यास्तादृशीं त्वाम् अभिवाद्य नमस्कृत्य किञ्चिदाचक्ष्महे कथयामः पृच्छामः, यत् ते अम्बुजन्म कमलम् मन्दिरम् गृहम्, किमिदं विद्यागृहम् शिक्षणशाला ? यच्च ते नीचान्नीचतरोपसर्पणम् नीचातिनीचपात्रोपसरणम् किमेतत् अपाम् जलानाम् आचार्यकम् अध्यापनपाटवम् ? हे लक्ष्मि, किमपि वञ्चनं मनसि निधाय हरेर्वक्षसि चिराद् वसन्तीं भवन्तीमिदं प्रष्टुमिच्छामि यत्तव कमलं गृहं तदिदं किन्तव विद्यागृहं,

---

विभीषण—(रामकी उसी उक्तिको याद करता हुआ) अहा !

इच्छा तो होती है कि इस लक्ष्मीको फिर उसी सागरमें फेंक दूँ, परन्तु ऐसा इसलिये नहीं कर रहा हूं कि व्यर्थ होगा, फिर यहीं चली आवेगी, चन्द्रमा तो सागरमें फेंक देनेपर फिर भी आ ही जाता है ॥ ४२ ॥

(कुछ सोचकर आकाशकी ओर) किसी बड़े कपटको लक्ष्य बनाकर भगवान् विष्णुकी छातीमें रहनेवाली लक्ष्मी देवि, यदि आप बिगड़ें नहीं तो आपको नमस्कार करके पूछूंगा कि आप जो कमलवासिनी बनी हुई हैं सो कमल आपका विद्यागृह है क्या ? और आप जो नीचे से नीचे उतरती जाती हैं सो इस कलामें आपके आचार्य जल तो नहीं हैं ॥ ४३ ॥

लक्ष्मणः—(सहासम् ।) हन्त, सुरासुर[1]मल्लभटीतूर्यतालनर्तकी सकलराजकुलखलीकारखर्जूला [2]साहसिकजनसहस्रशस्त्रान्धकारखेलनखद्योती मधुमथनजीमूतविलासविद्युल्लता किमेवमुपालभ्यते । इयं हि

गुणवद्भिः सह संगममुच्चैःपदमाप्तुमुत्सुका लक्ष्मीः ।
वीरकरवालवसतिर्ध्रुवमसिधाराव्रतं चरति ॥ ४४ ॥

यच्च त्वया नीचान्नीच उपस्त्रियते तदद्भिः शिक्षितासि किम् ? यथा कमलानि बहिर्मनोहराण्यन्तःकण्टकाकीर्णनालानि च तथैव त्वमप्यापातरम्या पर्यन्तवैरस्यावहा चासीति, किञ्च यथाऽऽपो नीचाभिमुख्यस्तथैव त्वमपि नीचाभिमुखी तदिदं किं त्वया अद्भ्यः शिक्षितम् इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

सुरासुरेति । सुरासुरमल्लानां देवदानववीराणां भटीतूर्यम् रणवाद्यभेदस्तत्र तालेन नर्त्तकी नर्त्तनशीला । सकलानां राजकुलानां नृपसमुदायानां खलीकारे वञ्चने खर्जूला कण्डूतिधारिणी तदासक्ता सकलराजन्यवञ्चिकेत्यर्थः । साहसिका जनाः वीरजनाः तेषां सहस्रस्य शस्त्रान्धकारेषु अनवरतशरवर्षणकृतान्धकारेषु खेलने क्रीडने खद्योती ज्योतिरिङ्गणपक्षिणी, यथा खद्योती तमसि खेलति तथेयमपि लक्ष्मीर्वीरजनशरवर्षणान्धकारे खेलतीति बोध्यम् । मधुमथनो विष्णुरेव जीमूतो मेघस्तेन सह विलासे क्रीडाकर्मणि विद्युल्लता चपला । उपालभ्यते—निन्द्यते आक्रुश्यते ।

गुणवद्भिरिति । वीरकरवालवसतिः साहसिकजनखड्गनिवासिनी लक्ष्मीः ध्रुवं निश्चयेन गुणवद्भिः गुणिजनैः सह सङ्गमम् एव उच्चैः पदम् उन्नतं स्थानम् आप्तुमुत्सुका लब्धुमुत्कण्ठिता (सती) असिधाराव्रतं करवालधारायामवस्थितिरूपं नियमं चरति पालयति । अन्योऽप्युन्नतपदप्राप्तये यत्किञ्चिद्व्रतं पालयत्येवमियमपि लक्ष्मीर्गुणवज्जनसङ्गमरूपमुच्चैः पदं प्राप्तुमेव साहसिकजनखड्गधारानिवासात्मकं व्रतं पालयतीत्यर्थः । हेतूत्प्रेक्षाऽत्रालङ्कारः ॥ ४४ ॥

लक्ष्मण—(हंसकर) अहा ! देव-दानव युद्धमें बजनेवाले वाद्योंके तालपर नाचनेवाली, सकलराजगणको परिभवमें डालनेके लिये व्यग्र रहनेवाली, साहसी जनोंके शस्त्रान्धकारमें जुगनूकी तरह प्रतीत होनेवाली तथा मधुसूदनरूप मेघके साथ विलास-रसिका चपला इस लक्ष्मीको आप क्यों कोस रहे हैं ? यह तो—

गुणवानोंके साथ निवासरूप उन्नत पदको प्राप्त करनेके लिये व्यग्र यह लक्ष्मी वीरजनोंके खड्गोंमें रहकर असिधारा व्रत करती रहती है ॥ ४४ ॥

---

१. 'मल्लरभटी' । २. 'साहसिकसहस्र—' ।

सीता—(साभ्यसूयमिव ।) णिअदेव्वदुव्विलासविआरालसो लोओ लच्छीदेवीए दुज्जसवअणाइं गाएदि । (पुरो दर्शयन्ती ।) को एसो दीसदि दिअसकूडीकिदजोण्हाविच्छद्दपडिरूवो गिरी । [निजदैवदुर्विलासविचारालसो लोको लक्ष्मीदेव्या दुर्यशोवचनानि गायति । क एष दृश्यते दिवसकूटीकृतज्योत्स्नाविच्छर्दप्रतिरूपो गिरिः ।]

विभीषणः—देवि,

सोऽयं कैलासशैलः स्फटिकमणिभुवामंशुजालैर्ज्वलद्भि-
श्छाया पीतापि यत्र प्रतिकृतिभिरुपस्थाप्यते पादपानाम् ।
यत्रोपान्तोपसर्पत्तपनकरधृतस्यापि पद्मस्य मुद्रा-
मुद्दामानो दिशन्ति त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखामयूखाः ॥ ४५ ॥

रामः—हन्त, शतधा [1]दृश्यमानोऽपि न चक्षुरकौतुकं करोति ।

निजदैवेति । निजदैवदुर्विलासस्य स्वभाग्यदोषस्य विचारे विवेके अलसोऽक्षमः दुर्यशोवचनानि—अकीर्त्तिकथाः । दिवसकूटीकृता दिनसमूहतां प्रापिता । ज्योत्स्ना चन्द्रिका तस्या विच्छर्दः विस्तारः तत्प्रतिरूपः तत्समानः । राशीकृतदिवससमूहकान्तिविस्तारवद्भासुर इत्यर्थः ।

सोऽयमिति । सोऽयं कैलासशैलः कैलासपर्वतः (दृश्यते) यत्र कैलासे स्फटिकमणिभुवाम् स्फटिकशिलासम्भूतानाम् पादपानाम् वृक्षाणां ज्वलद्भिः अतिदीप्तैः अंशुजालैः मयूखनिवहैः पीता निगीर्णाऽपि छाया वृक्षच्छाया प्रतिकृतिभिः प्रतिबिम्बैः उपस्थाप्यते प्रकटीक्रियते । अत्र कैलासे स्फटिकमणिशिलासु स्थितानां वृक्षाणां छाया प्रभानिलीनतया नावभासते केवलं तस्याः प्रतिबिम्बमात्रमालोक्यमानं तत्सद्भावं प्रत्याययतीत्यर्थः । यत्र कैलासे उपान्ते प्रान्तदेशे उपसर्पतः सञ्च-

---

सीता—(असूयाके साथ) अपने भाग्यके दोषसे आलसी बना हुआ आदमी लक्ष्मीको गालियाँ दिया करते हैं । (आगे दिखलाती हुई) दिनमें इकट्ठी हुई सूर्य किरणोंकी तरह चमकनेवाला यह कौन सा पर्वत दीख रहा है ?

विभीषण—देवि, यह वही कैलास पर्वत है जहाँ पर स्फटिकमय भूमिमें पैदा होनेवाले वृक्षोंकी छाया केवल प्रतिबिम्बमें ही देखी जाती है, और जहाँ समीपमें घूमनेवाले सूर्यके हाथमें रखे गये कमलको भी महादेवके सिरपर रहनेवाले चन्द्रमाकी किरणें सङ्कुचित कर देती हैं ॥ ४५ ॥

---

१. 'दृश्यमानेन चक्षुः'; 'दृश्यमानो न चक्षुः' ।

गिरिः कैलासोऽयं दशवदनकेयूरविलस-
न्मणिश्रेणीपत्राङ्कुरमकरमुद्राङ्कितशिलः।
अमुष्मिन्नारुह्य स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले
निरीक्षन्ते यक्षाः फणिपतिपुरस्यापि चरितम् ॥ ४६ ॥

अपि च—

दशमुखभुजदण्ड[1]मण्डलीनां [2]दृढपरिपीडनपीतमेखलोऽयम्।

रतः तपनस्य सूर्यस्य करैर्धृतस्यापि सूर्यहस्तस्थितस्यापि पद्मस्य कमलस्य उद्दामानः अतिस्वच्छाः त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखाः शङ्करशिरोवर्त्तिशशाङ्कलेखाः मुद्रां दिशन्ति सङ्कोचं जनयन्ति। सूर्योऽप्यत्र समीपेन चरति, तत्करस्थमपि कमलमत्र तीव्राभिर्हरशिरश्चन्द्रलेखाभिः सङ्कोचसञ्चतीत्यर्थः॥ स्रग्धरावृत्तम् ॥४५॥

अकौतुकम् उत्कण्ठारहितम्, अत्र पर्वते शतशो दृष्टेऽपि दर्शनोत्कण्ठा न निवर्त्तत इत्यहो रामणीयकमस्येत्यर्थः।

गिरिरिति। अयं कैलासो नाम गिरिः दशवदनस्य रावणस्य केयूरेषु अङ्गदेषु विलसन्तीनां स्फुरन्तीनाम् मणिश्रेणीनां हीरकपङ्क्तीनां पत्राङ्कुरमकरमुद्राभिः उट्टङ्कितमकराकृतिभिः अङ्किताः शिला यस्य तादृशः, अस्य कैलासस्य रावणेनोत्तोलनं कृतमिति तद्बाहुकेयूरसमूहस्थितहीरकोट्टङ्कितमकरमुद्राभिरस्य कैलासस्य शिला अङ्किताः समजनिषतेत्यर्थः, स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले स्फटिकमयतया सर्वतः स्वच्छे अमुष्मिन् कैलासे आरुह्य आरोहणं कृत्वा यक्षाः देवयोनिविशेषाः फणिपतिपुरस्य नागलोकस्यापि चरितम् कार्यकलापम् ईक्षन्ते चक्षुषा पश्यन्तीति पर्वतस्यास्य सर्वाङ्गधवलतयाऽत्र स्थिता अधोभुवनस्यापि वृत्तं पश्यन्ति सर्वाङ्गधवलस्यास्य दृक्शक्तिप्रतिबन्धकत्वविरहादिति भावः ॥ ४६ ॥

दशमुखेति। दशमुखस्य रावणस्य भुजदण्डमण्डलीनां दण्डोच्छ्रितविशालभुजसमुदयानां दृढपरिपीडनेन गाढयन्त्रणेन पीता कृशा कृता अतिवर्षिता मेखला मध्यभागो यस्य तथोक्तोऽयं कैलासः स्फटिकगिरिः गिरिशस्य जलगृहकवितर्दिका-

---

राम—अहा ! इसे सौ वार देखनेके वाद भी आखोंकी उत्कण्ठा शान्त नहीं होती है।

यह वही कैलास पर्वत है जो रावणके केयूरमें वर्त्तमान मणिगणके पत्राङ्कुरमें बने मकराकृति चिह्नोंसे अङ्कित है, तथा सभी अवयवोंमें श्वेतवर्ण जिस कैलास पर चढ़कर यक्षलोग नागलोकका चरित भी देखा करते हैं ॥ ४६ ॥

---

१. 'मण्डलीभिः'। २. 'निविडनिपीडन'।

जलगृहकृदितर्दिकासुखानि स्फटिकगिरिर्गिरिशस्य निर्मिमीते ॥ ४७ ॥

विभीषणः—(सीतां प्रति ।) देवि, दृश्यन्तामभी

कैलासाद्रितटीषु धूर्जटिजटालङ्कारचन्द्राङ्कुर-
ज्योत्स्नाकन्दलिताभिरिन्दुदृषदामद्भिर्नदीमातृकाः ।
गौरीहस्तगुणप्रवृद्धवपुषः पुष्प्यन्ति धात्रेयक-
भ्रातृस्नेहसहोढषण्मुखशिशुक्रीडासुखाः शाखिनः ॥४८॥

सुखानि सलिलगृहवेदिकासुखानि निर्मिमीते करोति, पुरा रावणे भुजदण्डैः कैलासमुत्तोलयति सति तद्भुजदण्डमण्डलीभिर्मेखलासु दृढं निपीडिततया उपरि प्रवहमाननिर्झरजलप्लावनात् स्रवज्जलधारतया कैलासोऽयं जलगृहवेदिकाकृत्यं हरस्य सम्पादयतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

कैलासाद्रितटीष्विति । कैलासाद्रितटीषु कैलासपर्वततटेषु स्थिताः शाखिनो वृक्षाः धूर्जटेः शिवस्य जटानाम् अलङ्कारः भूषणभूतो यश्चन्द्राङ्कुरश्चन्द्रलेखा तस्य ज्योत्स्नाभिः कौमुदीभिः कन्दलिताभिः समेधिताभिः इन्दुदृषदाम् चन्द्रकान्तमणीनाम् अद्भिः जलराशिभिः नदीमातृकाः प्लाविताः पोषिताश्च, तथा गौर्या हस्तगुणेन हस्तलालनपाटवेन प्रवृद्धं वृद्धिं गतं वपुः शरीरं येषां तथोक्ताः, तथा धात्री वृक्षाणाम् उपमाता गौरी तस्या अपत्यम् धात्रेयकः स चासौ भ्राता चेति धात्रेयकभ्राता स्कन्दस्तस्य स्नेहेन सहोढं सहप्राप्तं षण्मुखशिशुना बालकार्त्तिकेयेन क्रीडासुखं विनोदो येषाम् तथाभूताश्च पुष्प्यन्ति विकसन्ति । कैलासपर्वततटीषु स्थिता वृक्षाः महादेवशिरोवर्त्तिचन्द्रकलाद्रुतचन्द्रकान्तमणिजलैः सिक्ततया प्रवृद्धाः गौर्या पोषिततया पुष्टवपुषः धात्रीभूतोमातनयकार्त्तिकेयेन सह क्रीडमानाश्च सन्तो विकसन्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४८ ॥

रावण जब अपने भुजदण्डोंसे कैलासकी मेखलाको जोरोंसे पीड़ित कर देता था तब इसके भीतरसे पानी ऊपर निकलकर प्रवाहित होने लगता था, उस समय यह कैलास महादेवको स्नानागारका सुख प्रदान किया करता था ॥ ४७ ॥

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, इधर देखें—

कैलास पर्वतकी तलहटीमें महादेवके सिरको भूषित करनेवाले चन्द्रमाकी कलासे निर्गत चन्द्रिका द्वारा स्पृष्ट चन्द्रमणियोंके जलस्रावसे नदीमातृक बननेवाले, तथा जिन्हें पार्वतीने अपने हाथोंसे पाला-पोसा है और जो साथ-साथ खेलनेवाले कार्त्तिकेय रूप अपने भाईके साथ बालक्रीड़ाका सुख भोग चुके हैं—ऐसे यह वृक्ष फूल रहे हैं ॥ ४८ ॥

अपि चास्य नित्यमधित्यकावासी परमेश्वरः।

सहस्राक्षैरङ्गैर्नमसितरि नीलोत्पलमयी-
मिवात्मानं मालामुपनयति पत्यौ मखभुजाम्।
जिघृक्षौ च क्रीडारभसिनि कुमारे सह गणै-
र्हसन्वो भद्राणि द्रढयतु मृडानीपरिवृढः ॥ ४९ ॥

किं च।

यन्नाट्यभ्रमिघूर्णमानवसुधाचक्राधिरूढे भृशं
मेरौ पार्श्वनिवि[1]ष्टवासरनिशाचक्रे परिभ्राम्यति।
तैजस्यस्तडितो भवन्तु शतशो दृष्टा हि जाताः कथं

सहस्राक्षैरिति। मखभुजां देवानां पत्यौ स्वामिनीन्द्रे सहस्राक्षैः नेत्रसहस्रयुतैः अङ्गैः शरीरावयवैर्नमसितरि प्रणामं कुर्वति अतश्च स्वम् आत्मानं नीलोत्पलमयीं मालाम् नीलकमलस्रजमिव उपनयति उपहरति सति, क्रीडारभसिनि खेलनप्रिये कुमारे कार्त्तिकेये च [जिघृक्षौ नीलोत्पलस्रजमिव प्रतीयमानामिन्द्रतनुं ग्रहीतुकामे गणैः प्रमथवर्गैः सह हसन् मृडानीपरिवृढः शिवः वो युष्माकं भद्राणि शुभानि द्रढयतु अव्याहतानि करोतु। सहस्रनयनयुतमिन्द्रस्याङ्गं नीलकमलमालात्वे प्रतीतमिति भ्रान्तिमान्स्फुटोऽलङ्कारः। चक्षुषामुत्पलसाम्याच्च तदङ्गानामुत्पलमालारूपता। शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४९ ॥

यन्नाट्येति। यस्य नाट्ये नर्त्तने भ्रमिर्भ्रमणं ततो घूर्णमानं भ्रमत् यत् वसुधाचक्रम् भूमण्डलमेव चक्रम् तत्राधिरूढे मेरौ पार्श्वयोर्निविष्टं वासरनिशाचक्रं यस्य तादृशे (तस्मिन्मेरौ) परिभ्राम्यति सति शतशः वह्नयः तैजस्यो भास्वररूपास्तामस्यः

और इस कैलासकी अधित्यकामें महादेव नित्य वास किया करते हैं—

सहस्र नेत्रोंसे अलङ्कृत अपने अङ्गोंसे जब इन्द्र महादेवको प्रणाम करते हैं तब ऐसा लगने लगता है मानो वह नील कमलकी माला महादेवको उपहृत कर रहे हों, और उस नीलकमलमालाके समान प्रतीत होनेवाले इन्द्रके आनत शरीरको खेलनेमें रसिक कुमार उठाकर ले लेना चाहते हैं तब जिन्हें हंसी लगने लगती है ऐसे महादेव आपका कल्याण करें ॥ ४९ ॥

और—जिस महादेवके नृत्यमें घूमने लगने पर सारा संसार घूमने लगता है फलतः सुमेरु पर्वत भी घूमने लग जाता है, जिसपर दोनों पार्श्वोमें चन्द्रमा तथा सूर्य वर्त्तमान

---

१. 'पार्श्वनिवेशि-'; 'पार्श्वनिवासि-'।

तामस्योऽपि स वः पुनातु जगतामन्त्येष्टियज्वा विभुः ॥५०॥

लक्ष्मणः—

जयति परिमुषितलक्ष्मा भयादनुपसर्पतेव हरिणेन ।
इह केसरिकरजाङ्कुरकुटिला हरमौलिविधुलेखा ॥ ५१ ॥

सीता—(सपरिहासम् ।) एदस्स दंदसूअणरकरोडिमुण्डमालामण्डणस्स मसाणवासिणो भूसणता ज्जेव्व रोहिणीवल्लहस्स कलंको, किं

मलिनवर्णाश्च तडितो विद्युतः भवन्तु जायन्ताम्, ताः कथं दृष्टा जाताः, सः जगताम् अन्त्येष्टि यज्वा दाहकः विभुर्भगवान् वः पुनातु । यस्य शिवस्य नृत्ये भ्रमणेन वसुध भ्रमतीति तत्र स्थितो मेरुरपि भ्रमति, मेरोर्द्वयोर्भागयोर्दिवसनिशयोरवस्थितिरिति तयोरपि भ्रमणं भवति, भ्रमतोश्च दिवसनिशयोर्विषये लोकास्सन्दिहते यदिमास्तैजस्यस्तामस्यश्च विद्युतः, (दिनानि तैजस्यो निशश्च तामस्यो विद्युतः) तदित्थं यदीयं नृत्यं विश्वविस्मयकरं स संसारदाहकः शिवो वः पुनात्वित्यर्थः । अन्त्येष्टिर्दाह इति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

जयतीति । इह अस्मिन् कैलासतटे, हरमौलिविधुलेखा शिवशिरश्चन्द्रकला केसरिणः सिंहस्य करजाङ्कुरो नखाङ्कुरस्तद्वत् कुटिला वक्रा, (अस्तीति शेषः तद्भयादेव) भयात् सिंहनखाभचन्द्रलेखादर्शनेन सिंहसद्भावभ्रमजन्यभयात् अनुपसर्पता समीपमनागच्छता हरिणेन परिमुषितलक्ष्मा अकलङ्का जयति । अत्र कैलासे चन्द्रलेखा अकलङ्का, यतः सा सिंहनखकुटिला, तत्र सिंहनखभ्रान्त्या हरिणा न समीपमुपसर्पन्ति, समीपमागता हरिणा एव तु शशिनः कलङ्कतया मतास्तदभावेऽकलङ्का एव विधुलेखेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

रहते हैं । उनके घूमने लगनेसे सुमेरुके एक भागमें प्रकाशमय तथा एक भागमें अन्धकारमय विजलियाँ नाचने लगती हैं, ऐसे संसारके प्रलयरूप यज्ञको सम्पन्न करनेवाले महादेव आपको पवित्र करें ॥ ५० ॥

लक्ष्मण—महादेवके सिरपर सिंहके नखकी तरह कुटिल चन्द्रकलाको देखकर भयभीत हरिण उस चन्द्रकलाके पास नहीं आता है, इस प्रकार वह हरिण रूप कलङ्कसे मुक्त चन्द्रकला बहुत सुन्दर दिखाई पड़ती है ॥ ५१ ॥

सीता—(परिहासके साथ) इक महादेवका भूषण बनना ही रोहिणीवल्लभ चन्द्रमा के लिये कलङ्ककी बात है जो महादेव साँप तथा नरकपालको भी अपना भूषण बनाते हैं, फिर चन्द्रमामें हरिणरूप कलङ्कका होना न होना एक-सा है ।

तवस्सिणा कुरङ्गएण । [एतस्य दन्दशूकनरकरोटिमुण्डमालामण्डनस्य श्मशानवासिनो भूषणतैव रोहिणीवल्लभस्य कलङ्कः, किं तपस्विना कुरङ्गकेण ।]

विभीषणः—(विहस्य ।) शङ्के भगवानपि न मृगाङ्कमलंकारकामः कलयति । [1]तथा हि ।

> सहचरपिशाचपरिषत्प्रसत्तये कामचारतो रजनीम् ।
> कारयितुमिव कपाली शिरसि निशाकरमयं वहति ॥५२॥

(सर्वे हसन्ति ।)

रामः—(सबहुमानम् ।)

> श्रीकण्ठस्य कपर्दबन्धनपरिश्रान्तोरगग्रामणी-

दन्दशूकाः सर्पाः नरकरोटयः कपालास्थीनि मुण्डमाला च भूषणानि यस्य तादृशस्य । चन्द्रमसोऽयमेव कलङ्को यदसौ शिवस्य तस्य भूषणं यो हि सर्पैर्नरमुण्डमालाभिश्च युक्तः, कुरङ्गस्तस्य कलङ्क इति कथयित्वाऽलमित्यर्थः ।

अलङ्कारकामः भूषणेच्छुः, शिवेन शशी नालङ्कारार्थं रक्षितः अपि तु कार्यान्तरार्थं तत्कार्यमग्रेतनश्लोकेनाह ।

सहचरेति । अयं कपाली शिवः सहचराणां नित्यसङ्गिनाम् पिशाचानां भूतानां परिषदः समूहस्य प्रसत्तये प्रसन्नतायै कामचारतः स्वेच्छया रजनीं रात्रिं कारयितुम् विधापयितुम् इव शिरसि निशाकरं वहति, यदा तदा पिशाचेच्छानुसारं रात्रिं विधातुमेव शिवः शिरसा चन्द्रं वहति, तस्य गोपनप्रकाशनाभ्यां रात्रेरभावभावयोः सुकरत्वं मनसिकृत्यैवायं शिवस्य चन्द्रधारणप्रयास इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीकण्ठस्येति । श्रीकण्ठस्य शिवस्य कपर्दो जटाजूटः तस्य बन्धनेन संयमनेन परिश्रान्तः श्रमखिन्नो यः उरगग्रामणीः सर्पराजो वासुकिः तेन सन्दष्टां कवलि-

---

विभीषण—(हंसकर) मैं समझता हूँ कि महादेव भी अलङ्कारकी इच्छासे चन्द्रमाको नहीं धारण करते हैं, वह तो—

चन्द्रमा को इसलिये मस्तकपर धारण करते हैं कि अपनी इच्छाके अनुसार रात्रिका निर्माण करके अपने साथ रहनेवाले पिशाचोंको प्रसन्न करें ॥ ५२ ॥

(सभी हंसते हैं)

राम—(आदरके साथ) महादेवके द्वारा जटाजूट बाँधनेके समय परिश्रान्त होकर

---

१. 'तथाहि' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'शिरोनिशाकरं' ।

संदष्टां मुकुटावतंसकलिकां वन्दे कलामैन्दवीम् ।
या बिम्बप्रतिपूरणाय परितो निष्पीड्य संदंशिका-
यन्त्रेणेव ललाटलोचनशिखिज्वालाभिरावर्त्यते ॥ ५३ ॥

(पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, [1]मनागुन्नम्यताम् । [2]आलोकयतु मैथिली सुमेरुशिखराणि ।

विभीषणः—(सीतां प्रति ।) देवि पश्य पश्य ।

मेरोर्मेदुरयन्ति संमदमधःसंपातिभिर्ज्योतिषा-
माटोपैर्विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृतोऽधित्यकाः ।

तां मुकुटावतंसकलिकाम् शिरोभूषणे कलिकामिव भासमानाम् ऐन्दवीं चान्द्रमसीं कलां वन्दे, या कला बिम्बप्रतिपूरणाय सम्पूर्णमण्डलतां प्रापयितुम् परित उभयोः पार्श्वयोः निष्पीड्य दृढं धृत्वा संदंशिकायन्त्रेण 'संडसी' इति प्रसिद्धेनोष्णपदार्थसन्निधिप्रापिणा यन्त्रेण इव ललाटलोचनशिखिज्वालाभिः भालस्थनयनाग्निशिखाभिः आवर्त्यते द्रवीक्रियते । यथा सुवर्णादि न्यूननिम्नांशपूर्त्तये संदंशधृतं वह्नावावर्त्यते येन द्रुते तस्मिन्पूर्यते निम्नांशस्तथैवायं चन्द्रः कपर्दसंयमनपरिश्रान्तवासुकिभक्षितांशपूर्त्तये हरभालनयनाग्निशिखाभिरावर्त्यते येन द्रुते तत्र पूर्तिः स्यादिति भावः । 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः', 'ग्रामणीर्नापिते प्रभौ' इत्युभयत्रामरः, उत्प्रेक्षालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५३ ॥

मेरोरिति । अधःसम्पातिभिः अधःसञ्चारिभिः ज्योतिषां सूर्यादीनां तेजसां नक्षत्राणां वा आटोपैः तेजःसमूहैः विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृतः शाखोपरिवर्त्त-

जब भूषणनाग महादेवकी चन्द्रकलाको चूसकर निष्कलङ्क बना देते हैं तब उनके बिम्बको पूर्ण करनेके लिए संदंशसे पकड़कर उसे महादेवके तृतीय नयनपर उलटाया जाता है जिससे उनका चूसा गया तेज फिरसे उनमें आ जाय, ऐसे चन्द्रबिम्बको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥

(पुष्पकके प्रति) विमानराज, थोड़ा और ऊपर उठें, मैथिली सुमेरु शिखरोंको भी देख ले ।

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, देखिये देखिये—

नीचेकी ओर पड़नेवाली प्रभाके विस्तारसे वृक्षोंकी शाखाओंपर जिनकी छाया पड़ा करती है ऐसी मेरुकी अधित्यकायें आनन्द प्रदान करती है, जब जब प्रतिमासमें देवों

१. 'उत्क्षम्यताम्'; 'उत्ताम्यताम्' । २. 'अवलोकयतु' ।

निष्पीतासु च मासि मासि विबुधैरिन्दोः कलासु क्रमा-
दुद्दामप्लवमानलाञ्छनमृगच्छिन्नाग्रदर्भाङ्कुराः ॥ ५४ ॥

लक्ष्मणः—(सीतां प्रति ।)

एतासु पर्वतनितम्बतटीषु पश्य
मध्यंदिनेऽपि हरिचन्दनवाटिकेयम् ।
पक्षस्थितद्युमणिविम्बतयातिदीर्घ-
च्छायावितानमधुरा मुदमादधाति ॥ ५५ ॥

मानवृक्षच्छायावल्यः, मासि मासि विबुधैर्देवैः इन्दोः कलासु क्रमात् पीतासु भक्षितासु उद्दामम् उच्छृङ्खलम् प्लवमानेन कूर्दता लाञ्छनमृगेण शशिकलङ्कतया मतेन हरिणेन छिन्नाग्राः दर्भाङ्कुराः कुशप्ररोहा यासु तथोक्ताश्चाधित्यकाः मेरोः सम्मदम् आनन्दं मेदुरयन्ति वर्धयन्ति । अयमर्थः—यदा ज्योतिरूर्ध्वं तदाऽधश्छाया यदा चाधोज्योतिस्तदोपरिच्छायेति नियमेनात्र मेरोरुच्चतया शैलाग्रस्थितवृक्षाणामधोज्योतिषां सञ्चारादूर्ध्वमेव तरूणां छायेति 'विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृतः' इत्युक्तम् । चन्द्रे पूर्णे कलङ्करूपस्य मृगस्य तत्र प्रतिबद्धगतिकतया दर्भाङ्कुरा अक्षताः, यदा चायं चन्द्रः प्रतिमासममरैः पीयते तदा लाञ्छनमृगोऽयमुद्दामं भ्रमन् अधित्यकास्थितान्दर्भाङ्कुरान् चर्वयतीति चाधित्यकाविशेषणान्तरम् । अन्यत्सुगमम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५४ ॥

एतास्विति । एतासु पर्वतनितम्बतटीषु सुमेरुकटकप्रदेशेषु इयं हरिचन्दनवाटिका देवदारुवनश्रेणी मध्यन्दिने मध्याह्नेऽपि पक्षस्थितद्युमणिविम्बतया पार्श्वे सूर्यमण्डलसद्भावेन अतिदीर्घच्छायावितानमधुरा लम्बायमानच्छायाविस्तारमनोज्ञा मुदम् आदधाति कुरुते । अन्यत्र प्रातःसायंकालयोर्वृक्षच्छाया दीर्घा, अत्र तु रवेः पार्श्वस्थतया मध्याह्नेऽपि दीर्घाच्छायेति हर्षकारणम् । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

द्वारा चन्द्रमाकी सारी अमृतकला पी ली जाती है तब तब स्वतन्त्रभावसे विचरण करनेवाले मृगगण वहाँके दर्भाङ्कुरोंको चर जाया करते हैं ॥ ५४ ॥

लक्ष्मण—(सीताके प्रति) आप देखिये—इस पर्वतके नितम्ब देशमें वर्त्तमान यह हरिचन्दनवृक्षों की पंक्ति पार्श्वदेशमें अवस्थित सूर्यविम्बसे संस्पृष्ट होते रहनेके कारण मध्यदिनमें भी लम्बी छाया फैलाती है जो बड़ी अच्छी लगती है ॥ ५५ ॥

अपि च ।

'भूमेः स्वर्णतया फलोत्तरतरुस्मेरस्य मेरोस्तटी
सीमन्तोऽयमनूरुसारथिरथप्रस्थानघण्टापथः ।
अस्मिन्नुद्ध्रियते कथंचन हयैरुद्दामचण्डातप-
ज्वालाजालविलीनकाञ्चनशिलाजम्बालमग्नः प्रधिः ॥५६॥

(निरूप्य च सहर्षस्मितम् ।) कथमुपर्युपरि [1]पुष्करावर्तकानभ्रमुवल्लभः (विमृश्य ।)

अद्यायं विबुधेन्द्रबान्धववधूसंभुक्तसंतानक-
स्रग्दाम्नीममरावतीं विहरते निर्वैरमैरावणः ।

भूमेरिति । भूमेः स्वर्णतया काञ्चनमयतया फलोत्तरैः फलपूर्णैः तरुभिः स्मेरस्य विकसितस्य आह्लादितस्येत्यर्थः । सुमेरोः अयं तटीसीमन्तः तटरेखा अनूरुसारथेः सूर्यस्य रथप्रस्थाने स्यन्दनसञ्चारे घण्टापथः राजमार्गः, सुमेरुतटवर्त्मना सूर्यरथसञ्चारो भवतीति तत्तटस्य सूर्यरथप्रस्थानघण्टापथत्वमुक्तम् । अस्मिन् घण्टापथे मेरौ वा उद्दामचण्डातपानाम् उत्कटप्रचण्डसूर्यकिरणानाम् ज्वालाजालेन विलीनं द्रवीभूता या काञ्चनशिला सैव जम्बालः कर्दमः तत्र मग्नः प्रधिः रथनेमिः हयैः सूर्याश्वैः कथञ्चन महता प्रयासेन उद्ध्रियते । काञ्चनशिलासु द्रुतासु कर्दमभावं गतासु मग्ना रथनेमिः सूर्याश्वैर्महता प्रयासेनोपरि नीयत इत्यर्थः । 'घण्टापथो राजमार्गः', 'नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्युभयत्रामरः ॥ ५६ ॥

अद्यायमिति । अद्य सम्प्रति अयम् ऐरावणः सुरगजः विबुधेन्द्रस्य देवराजस्य बान्धवा देवास्तेषां वधूभिः सुराङ्गनाभिः सम्भुक्तम् यथोपयोगं निषेवितं सन्तानकस्रजाम् देवतरुपुष्पमालानां दाम समूहो यस्यां तादृशीम् अमरावतीम् स्वर्ग-

---

और—स्वर्णमय भूमि होनेके कारण फलसमृद्ध वृक्षोंसे हँसता हुआ यह सुमेरुका मध्यभाग ऐसा लगता है मानो यह सूर्यके रथके चलनेका राजमार्ग हो, इस सुमेरुरूप राजमार्गमें प्रचण्ड सूर्यकरसे सोनेके पिघल जानेसे जब रथ स्वर्णपङ्क मग्न हो जाता है तब उसमेंसे सूर्यके घोड़े बहुत श्रमसे रथको बाहर लाते हैं ॥ ५५ ॥

(देखकर हर्षसे हंसते हुए) क्या पुष्करावर्त्तकके भी ऊपर ऐरावत आगया है ।

इन्द्रके बान्धवजनोंकी स्त्रियाँ जिन देवतरुओंके पुष्पोंकी मालायें पहना करती हैं, उन सन्तानकतरुओंसे युक्त अमरावतीमें आज ऐरावत विना रोक-टोकके भ्रमण कर

---

१. 'पुष्करावर्तकानान्' ।

यं दोर्मात्रपरिच्छदो युधि मुदोत्क्षिप्य प्रतीच्छन्मुहुः
संतेने दशभिर्निजैरपि मुखैः सांराविणं रावणः ॥ ५७ ॥

सुग्रीवः—सत्यमगोचरे गिरां दशकण्ठक्रीडितानि ।

एकैके निवसन्ति ते भुजभृतः कस्मै [1]निगृह्णामहे
वीरक्षेत्रमियं पुनर्वसुमती पौलस्त्यमाबिभ्रती ।

नगरीम् निर्वैरं निर्विरोधं विहरते भ्रमति । दोर्मात्रपरिच्छदो बाहुमात्रसहायो रावणः युधि युद्धे यम् ऐरावणं मुदा अनायासम् उत्क्षिप्य उपरि क्षिप्त्वा मुहुः पुनः पुनः प्रतीच्छन् गृह्णन् दशभिर्निजैर्मुखैरपि सांराविणं सम्भूय शब्दं सिंहनादं वितेने कृतवान् । यमैरावणं विनैवास्त्रसाहाय्यं गृहीत्वा वियति विक्षिप्य ततः पतन्तं च तं गृहीत्वा पुनस्तथैव विक्षिप्य च रावणो दशभिर्निजैर्मुखैर्भीमरवमकृत, सोऽयं देवगजः सम्प्रति हते रावणेऽमरावतीं भ्रमति, यत्र देवाङ्गनाः सन्तानकतरुपुष्पमाल्यैः स्ववपूंषि प्रसाधयन्ति इत्याशयः । स्रग्दाम इत्युभयोस्तुल्यार्थतया दामपदमत्र समूहार्थकमास्थेयम् । विहरतेः क्रीडायासकर्मकतया भ्रमणार्थतया प्रयोगो बोध्यः, 'सांराविणमि'त्यत्र 'अभिविधौ भाव इनुण्', 'अणिनुणः' इत्यण् । 'संरावो बहुभिः कृतः' इत्यमरः । 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये' इति मेदिनी, 'संतानः कल्पवृक्षश्च' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

अगोचरे गिराम्—वाचाम् अविषये । वक्तुं न शक्यानीत्यर्थः ।

एकैक इति । एकैके प्रसिद्धास्ते भुजभृतो वीराः निवसन्ति पृथिव्यां सन्ति कस्मै कं वीरमुद्दिश्य निगृह्णामहे कुत्सां कुर्मः, कोऽपि न निन्दामर्हति, पुनः किन्तु इयं वसुमती पृथ्वी पौलस्त्यम् रावणम् आबिभ्रती धारयन्ती एव वीरक्षेत्रम् वीरभूमिः, सन्तु नाम बहवो वीरास्तेषु कोपि न निन्दापात्रम् , परमस्या

रहा है, इसी ऐरावतको लड़ाईके मैदानमें रावण ऊपर फेंककर लोकता था और जोरोंसे दशमुखोंसे भयङ्कर शब्द किया करता था ॥ ५७ ॥

सुग्रीव—रावणकी वीर-क्रीडाओंका वर्णन नहीं हो सकता है ।

एकसे एक वीर पृथ्वी पर रहते हैं किसके-किसके विषयमें क्या कहा जाय, परन्तु रावणको धारण करनेसे ही यह पृथ्वी वीरक्षेत्र कही जाती है । वालीने युद्धके लिये ललकारनेवाले रावणकी जो दुर्दशाकी थी, उसको हम देखते हैं इसलिये कि दो आँखें हैं

---

१. 'निगृह्णीमहे'; 'निगूहामहे ।

वाली त्वाह्वयमानमेनमपि यच्चक्रे कृते चक्षुषी
पश्यामः श्रवसी कृते च शृणुमस्तद्वक्तुमल्पे वयम् ॥५८॥

रामः—(सबहुमानम् ।)

स किं वाच्यो वाली भुजकुलिशमूलेन [1]दशतो
दशग्रीवं यस्य प्रतिजलधि संध्याविधिरभूत् ।
कथं वा निर्वाच्यः स च दशमुखो यस्य दमने
मनागासीद्वालिव्ययचरितमेवोपकरणम् ॥ ५९ ॥

भुवो वीरप्रसूप्रतिष्ठामूलं रावण एवेति भावः, वाली तु एनम् रावणमपि आह्वयमानम् बलगर्वेण स्पर्धमानम् यत् याहकपराभवगतं कक्षानिक्षिप्तं चक्रे तत् चक्षुषी नयने द्वे कृते विधात्रा रचिते इति पश्यामः, श्रवसी द्वे श्रोत्रे विधात्रा कृते इति शृणुमः, तत् रावणस्य वालिना कृतमवस्थान्तरम् वक्तुं वाचाऽभिधातुम् वयम् अल्पे असमर्थाः। श्रवणे चक्षुषी च द्वे स्त इति दृष्टं श्रुतञ्च, एकेनैव मुखेन तु रावणपरिभवो वालिपराक्रमश्च वक्तुं न शक्यते, बहुभिरेव मुखैः वक्तुं शक्य इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५८ ॥

स किंवाच्य इति । स वाली किंवाच्यः कथं वर्णनीयः, यस्य वालिनो भुजकुलिशमूलेन वज्रोपमबाहुमूलेन दशग्रीवं रावणं दशतः पीडयतः प्रतिजलधि समुद्रे समुद्रे सन्ध्याविधिः सन्ध्यावन्दनकर्म अभूत् । तस्य वालिनो वर्णनं कथं क्रियतां यो रावणं कक्षादेशे निक्षिप्य सर्वेषु सागरेषु सन्ध्यावन्दनकृत्यं कृतवानिति भावः ॥ स दशमुखो वा कथं निर्वाच्यो वर्णनीयो यस्य दशमुखस्य दमने रामकर्तृके निग्रहे मनाक् सूक्ष्मभावेन वालिव्ययचरितम् वालिविनाशनम् एव उपकरणम् सामग्री आसीत् । रावणवधार्थमेव मया वाली हतः, अन्यथा वालिसहायस्य तस्य वधोऽशक्यसम्पादनः स्यादिति भावः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

और इसीलिये सुनते हैं कि दो कान हैं, उसका वर्णन नहीं कर सकते हैं क्योंकि जीभं अधिक है ही नहीं ॥ ५८ ॥

राम—(आदरके साथ) उस वालीके बारेमें क्या कहा जाय जिसने अपने कक्षमें रावणको दबाकर सप्त समुद्रमें सन्ध्यावन्दन सम्पन्न किया, रावणका ही वर्णन कैसे किया जाय, जिसके दमनमें वालिवध ही सहायक उपकरण हुआ । वालीका वध इसीलिये किया गया कि रावण मारा जासके ॥ ५९ ॥

---

१. 'दधतो' ।

सीता—(रामं प्रति ।) अज्जउत्त, किं उण एदं दलिदकप्पूरसलाआमलक्खगोरअं गअणङ्गणे दीसइ । [आर्यपुत्र, किं पुनरेतद्दलितकर्पूरशलाकाखण्डगौरं गगनाङ्गणे दृश्यते ।]

विभीषणः—(सीतां प्रति ।) देवि, चन्द्रलोकोपकण्ठमधिरूढो विमानराजः । दृश्यतां [1]च भगवानयम् ।

यं प्राक्प्रत्यगवागुदञ्चि ककुभां नामानि संविभ्रतं
ज्योत्स्नाजालझलज्झलाभिरभितो लुम्पन्तमन्धं तमः ।
प्राचीनादचलादितस्त्रिजगतामालोकबीजाद्बहि-
र्निर्यान्तं हरिणाङ्कमङ्कुरमिव द्रष्टुं जनो जीवति ॥ ६० ॥

दलितेति । दलितं भग्नं यत् कर्पूरशलाकाखण्डम् तद्वत् गौरं स्वच्छम् चन्द्रलोकोपकण्ठम् चन्द्रलोकस्य समीपदेशम् ॥

यं प्रागिति । यम् प्राची पूर्वा, प्रतीची पश्चिमा, अवाची दक्षिणा, उदीची उत्तरा एवं दिशः, तानि प्राक्प्रत्यगवागुदञ्चि ककुभां नामानि संविभ्रतम् निरूपयन्तम् (यश्चन्द्रः स्वोदयादिना प्राच्यादिनामानि निरूपयति, तदुदयादिसंबन्धमूलकत्वात्प्राच्यादिव्यवहारस्य, प्राच्यादिशब्दैर्दिशामभिधानं प्रयोजयतीत्यर्थः, तम्) ज्योत्स्नाजालझलज्झलाभिः कौमुदीनिवहप्रभाभिः अन्धं तमो गाढान्धकारं लुम्पन्तं विनाशयन्तम् इतः अस्मात् प्राचीनात् पूर्वदिगवस्थितात् अचलात् सुमेरुपर्वतात् जगताम् आलोकबीजात् प्रकाशदायकात् निर्यान्तं प्रकटीभवन्तम् अङ्कुरमिव प्ररोहमिव बालं हरिणाङ्कम् चन्द्रं द्रष्टुम् जनो जीवति । प्रागादिदिगभिधानानि स्वोदयादिना निरूपयतो निजकौमुदीनिवहेनान्धं तमो लुम्पतो बालचन्द्रस्याङ्कुर-

---

सीता—(रामके प्रति) आर्यपुत्र, यह आकाशमें चूर्ण किये गये कर्पूर-खण्डकी तरह स्वच्छ क्या दीख रहा है ?

विभीषण—(सीताके प्रति) देवि, चन्द्रलोकके समीपमें हमारा विमान पहुँच गया है, देखो यह भगवान् चन्द्रमा—

जो चन्द्रमा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओंका नामकरण करता है, और जो ज्योत्स्नाकी झलमलाहटसे अन्धकारको लुप्त करता है। जो प्राची दिशामें वर्त्तमान तथा संसारको आलोक प्रदान करनेवाले उदयाचलसे निकल रहा है, इसी चन्द्रमाको देखनेके लिये यह विश्व जीता है ॥ ६० ॥

---

१. 'च' इति क्वचिन्नास्ति ।

[1]अपि च—

स श्रीकण्ठकिरीटकुट्टिमपरिष्कारप्रदीपाङ्कुरो
देवः कैरवबन्धुरन्धतमसप्राग्भारकुक्षिम्भरिः।
संस्कर्ता निजकान्तिमौक्तिकमणिश्रेणीभिरेणीदृशां
गीर्वाणाधिपतेः सुधारसवतीपौरोगवः प्रोद्गात्॥ ६१॥

अपि च—

प्राणायामोपदेष्टा सरसिरुहवने यौवनोन्मादलीला-

स्यैव जगदालोकबीजादस्मादेव प्राचीदिगवस्थितात्सुमेरोरुदयो भवति, यं चन्द्रं द्रष्टुमेव लोको जीवनं धारयति, अयमेव जगज्जीवातुभूतस्य चन्द्रस्योदयस्थानं सुमेरुरित्यर्थः। 'स्याद्भारफाले झलज्झला', 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्युभयत्र हारावल्यमरौ। अन्योऽप्यङ्कुरो बीजान्निर्गच्छति अयमपि अङ्कुरोपमो बालश्चन्द्रो जगदालोकबीजात्सुमेरोर्निर्गच्छतीति रूपकबीजम्। शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम्॥६०॥

स श्रीकण्ठेति। श्रीकण्ठस्य शिवस्य किरीटम् भालदेश एव कुट्टिमः गृहाभ्यन्तरभागः तस्य परिष्कारे प्रकाशने प्रदीपाङ्कुरः स्वल्पदीपः, यथा दीपेन गृहकुट्टिमः प्रकाश्यते तथा शिवकिरीटस्य चन्द्रः प्रकाशक इति रूपकार्थः। कैरवबन्धुः कैरवकुलविकासकरः, अन्धतमसप्राग्भारेण अन्धकारराशिना कुक्षिम्भरः स्वोदरपूरकः सकलतमोविध्वंसीत्यर्थः, निजकान्तय एव मौक्तिकमणयः तेषां श्रेणीभिः समुदायैः एणीदृशां वनितानां संस्कर्ता प्रसाधकः कान्तिवर्धकः, गीर्वाणाधिपतेः इन्द्रस्य सुधारसवत्याः अमृतपाकागारस्य पौरोगवो महानसाध्यक्षः स देवश्चन्द्रः प्रोदगात् उदयं गत इत्यर्थः। 'रसवती पाकस्थानं महानसम्', 'पौरोगवस्तदध्यक्षः' इत्युभयत्रामरः। मालारूपकमलङ्कारः॥ ६१॥

प्राणायामेति। सरसिरुहवने कमलकुले प्राणायामोपदेष्टा प्राणायामोपदेशकः निमीलनकरः, यौवनोन्मादे याः लीलाः विलासाः तदर्था या गोष्ठ्यः तत्र पीठमर्दः

महादेवके भालदेशरूप सहनको चमकानेमें दीपका कार्य करनेवाला, कैरवोंका मित्र, अन्धकार-समुदायका संहारक, अपनी किरणरूप मुक्तामणियोंसे सुन्दरियोंको सुसज्जित करनेवाला, तथा इन्द्रकी अमृत-पाकशालाका प्रधानपाचक चन्द्रमा निकल आया॥ ६१॥

यह चन्द्रमा कमल-वनको मौन-मुद्राका उपदेश देता है, यौवनकी मत्तलीलाका

1. 'अपि च' इति क्वचिन्नास्ति।

गोष्ठीनां पीठमर्दस्त्रिभुवनवनितानेत्रयोः प्रातराशः ।
कामायुष्टोमयज्वा शमितकुमुदिनीमौनमुद्रानुरागः
श्रृङ्गाराद्वैतवादो विभवति भगवानेष पीयूषभानुः ॥ ६२ ॥

लक्ष्मणः—(विलोक्य सकौतुकम् ।)

कर्णोत्तंसयवाङ्कुरं करतले कृत्वा हसित्वा मिथः
संहूतः पुरुहूतपौरयुवतीवर्गेण कौतूहलात् ।
'आसार्तिक्षुभितोऽयमङ्कहरिणः कुर्वीत किं किं कला-

प्रवर्त्तकः सहायभेदः, त्रिभुवनवनितानां लोकत्रयस्थितानां रमणीनां नेत्रयोः प्रातराशः प्रातर्भोजनम् सादरदर्शनविषयः, कन्दर्पाय आयुष्टोमः आयुर्वर्द्धको यागः, तेन यज्वा याज्ञिकः कामजीवनशक्तिवर्द्धकः, शमितः समाप्तिं नीतः कुमुदिन्या मौनमुद्रानुरागः मौनावस्थाप्रीतिर्येन तादृशः कुमुदिनीमौनमुद्राभञ्जकस्तद्विकासकः, श्रृङ्गाराद्वैतम् श्रृङ्गार एवैको रसो नान्य इति वादी कथनपरः श्रृङ्गारसाम्राज्यसमर्थकः एषः भगवान् पीयूषभानुः सुधाकरः विभवति स्वं वैभवं विस्तारयति । 'निमीलितदृङ्मौनी प्राणायामं समाचरेत्' इत्युक्तदिशा कमलनिमीलकस्य चन्द्रस्य सरसिरुहप्राणायामोपदेशकत्वमुक्तम् । 'पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः। श्रृङ्गारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः' इति भरतोक्तदिशा कामगोष्ठीविधौ चन्द्रमसः पीठमर्दत्वं तत्सहायकतोक्तम् । प्रातराशोक्तिः सादरसेव्यताध्वननाय । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ६२ ॥

कर्णोत्तंसेति । पुरुहूतस्य इन्द्रस्य पौरयुवतीवर्गेण सुराङ्गनागणेन कौतूहलात् कुतुकात् कर्णोत्तंसः स्वकर्णभूषणीकृतो यवाङ्कुरः तम् करतले कृत्वा स्वहस्ते निधाय मिथः परस्परं हसित्वा संहूतः आकारितः आसार्त्या बुभुक्षापीडया क्षुभितः चलितः अयम् अङ्कहरिणश्चन्द्रक्रोडवर्त्ती कलङ्कमृगः अजस्रम् बहुधा घटनाया

जिसमें प्रदर्शन किया जाता है ऐसी गोष्ठियोंका यह पीठमर्द-प्रबन्धक है, संसारकी युवतियोंका आंखोंको आहार देनेवाला है, कामकी आयु-वृद्ध्यर्थ याग करनेवाला, कुमुदिनियोंकी मौन मुद्राका भंग करनेवाला तथा श्रृङ्गाराद्वैतवादका समर्थक यह सुधाकर अपना प्रताप प्रकट कर रहा है ॥ ६२ ॥

लक्ष्मण—(देखकर कौतुकसे) कानमें पहने गये यवाङ्कुरोंको हाथोंमें लेकर परस्पर मुस्कुराकर यदि कौतूहलवश इन्द्रपुरकी युवतियाँ चन्द्रमाके अङ्कचारी हरिणको बुलावे,

१. 'आशार्ति–' ।

कन्थामिन्दुमयीमजस्रघ[1]टनोद्घाटश्लथावस्थिताम् ॥ ६३ ॥

सुग्रीवः—

रोमन्थप्रचलौष्ठसंपुटसुखासीनश्चिरं कौतुकाद्-
दृष्ट्वा सिद्धवधूभिरङ्कहरिणस्तालैरथो[2]त्त्रासितः ।
मा भाङ्क्षीदनुमासनव्यघटनानिःसंधिवन्धं वपुः
शीतांशोः क्षुभितस्तु शल्यवदयं दुःखाय, वर्तिष्यते ॥ ६४ ॥

अवयवयोजनाया उद्घाटेन सञ्चालनेन श्लथावस्थिताम् श्लथीकृतावस्थाम् इन्दुमयीं चान्द्रीं कलाकन्थाम् किं किं कुर्वीत । कां कां दशामानयेत् । यदि देवाङ्गना स्वकर्णावतंसयवाङ्कुरं करतले निधाय चन्द्रकलङ्कमृगम् आह्वयेत्तदा बुभुक्षितस्य मृगस्य सत्वरोपसर्पणप्रयासैश्चालिता चन्द्रकला कन्था अवयवयोजनायाः शैथिल्येन दुर्गतामवस्थामधिगच्छेदिति, अन्यापि कन्था केनचिदत्यर्थं चालिता सती विशीर्यदवयवा भवतीति चन्द्रकलायाः कन्थायाः क्षुधितमृगसञ्चालनया विशीर्णावयवत्वकृतं दौःस्थ्यं जायेतेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

रोमन्थेति । चिरं दीर्घकालं रोमन्थेन भक्षितस्याकृष्य पुनश्चर्वणेन प्रचलं चञ्चलं यद् ओष्ठपुटम् यथा तथा सुखासीनः रोमन्थं वर्त्तयन् सुखासीनः अथ सिद्धवधूभिः देवयोनिविशेषाङ्गनाभिः कौतुकाद् दृष्ट्वा तालैः करतलशब्दैरुत्त्रासितः भीषितः अयम् अङ्कहरिणो लाञ्छनमृगः अनुमासं प्रतिमासं नव्यघटनया मासे मासे क्षयो वृद्धिश्चेति नवनिर्माणेन निःसन्धिवन्धम् अदृढीभूतम् शीतांशोर्वपुः मा भाङ्क्षीत् कामं भग्नं न कुर्यात्, किन्तु क्षुभितः सन् चञ्चलतां गतोऽसावङ्कमृगः शल्यवत् हृदये निहितं शल्यास्त्रमिव दुःखाय वर्त्तिष्यते भविष्यति, रोमन्थपरायणोऽयं हरिणः कियतः कालात्कथं सुखमास्ते न चलत्यपीति कौतुकाद् यदि

तो भूखा हुआ यह अङ्कहरिण बारबार शरीर-सञ्चालन करके इस चन्द्रमारूप कन्थाकी कैसी दशा करदे, नहीं कहा जा सकता है ॥ ६३ ॥

सुग्रीव—रोमन्थ (चबाये गये खाद्यको पुनः चबाना) कालमें ओठ चलाता तथा आरामसे बैठा हुआ हरिण यदि सिद्ध युवतियों द्वारा तालो पीटकर भयभीत कर दिया जायगा, तब यह चञ्चल हो उठेगा, उसके चलप्रचल हो जानेसे प्रतिमास नवीनरूपमें सङ्घटित होनेवाला यह चन्द्रमाका शरीर टूट भले ही न जाय, परन्तु उस स्थितिमें वह हरिण चन्द्रमाके हृदयमें शल्यकी तरह कष्टप्रद होगा ॥ ६४ ॥

---

१. 'घटनादुद्यच्छ्लथावस्थिताम्' । २. 'बहुत्रासितः' ; 'अथोल्लासितः' ।

अपि च ।

एतस्य कलामेकाममृतमयूखस्य पार्वतीरमणः ।
वर्णावलिमिव वहति प्रतिमासं घट्यमानस्य ॥ ६५ ॥

रामः—(सादरं प्रणम्य ।)

त्वं गीर्वाणगणाय नित्यममृतश्राद्धं भवद्दीधिति-
धात्रीकर्म च वीरुधां विदधती धत्ते जगज्जीवितम् ।
सोम त्वामनिधाय मूर्धनि भवेत्कः कालकूटं गिल-
न्कण्ठे तच्छलकालपाशवलयालीढोऽपि मृत्युञ्जयः ॥ ६६ ॥

सिद्धवधूभिरयं शशिनोऽङ्कमृगः करतालिकाभिर्भीषितः स्यात्तदा चलेत् चलिते च तस्मिन् प्रतिमासनूतननिर्माणतयाऽदृढबन्धं शशिनः शरीरं कामं भग्नं न भवेत्, परं क्षुभितेन तेन मृगेणान्दोलिततया हृदयशल्यमवश्यमुत्पद्येत शशिन इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

एतस्येति । पार्वतीरमणः शम्भुः प्रतिमासं घट्यमानस्य नवीनरूपेण निर्मीयमाणस्य अमृतमयूखस्य चन्द्रस्य एकां कलां वर्णावलिम् इव—यावतो वारानयं घटितस्तावदक्षरपङ्क्तिमिव वहति शिरसा धारयति । आर्यावृत्तम् ॥ ६५ ॥

त्वङ्गीर्वाणेति । हे सोम चन्द्र, त्वम् गीर्वाणगणाय देववृन्दाय नित्यं सततम् अमृतश्राद्धम् अमृतरूपं श्रद्धादत्तं हव्यम्, (देवाश्चन्द्रं पिबन्तीति चन्द्रस्य अमृतहव्यत्वमुक्तम्) भवतश्चन्द्रस्य दीधितिः मयूखः वीरुधां लतौषधीनां धात्रीकर्म उपमातृकार्यं पोषणादि विदधती जगज्जीवितम् संसारस्य प्राणान् धत्ते धारयति परिपालयतीत्यर्थः । त्वाम् मूर्धनि शिरसि अनिधाय अधृत्वा कालकूटं हालाहलं गिलन् भक्षयन् तच्छलेन भक्षितहालाहलव्याजेन कालपाशवलयालीढः यमराजबन्धनरज्जुगृहीतः अपि को मृत्युञ्जयो मृत्युविजयी स्यात्? हे चन्द्र, त्वं देवानां

प्रतिमास नवीन रूपमें सङ्घटित होनेवाले इस चन्द्रमाकी एक कलाको भगवान् शिव अपने मस्तकपर वर्णावलिकी तरह धारण किया करते हैं ॥ ६५ ॥

राम—(सादर-प्रणाम करके) हे चन्द्रदेव, आप देवोंके लिये प्रत्यह अमृत-श्राद्ध हैं, और आपकी किरणें लता-वृक्षादिकोंका लालन-पालन करके जगत्के जीवनकी रक्षा करती हैं, आपको अगर सिर पर नहीं धारण करते तो कौन शक्ति थी जिसके बलसे महादेव कालकूट निगल कर भी उसीके बहाने कालपाशसे वेष्टित होकर भी मृत्युञ्जय बने रह जाते ॥ ६६ ॥

(सीतां प्रति ।)

नेत्राणां मधुपर्कसत्त्रमुदधेः सर्वाङ्गमेदस्करः
शृङ्गारस्य रसायनं मखभुजां पीयूषगञ्जापतिः ।
देवः किं स्तुमहे महेश्वरशिरोनेपथ्यरत्नाङ्कुरः
क्षीरोदार्णवशुक्तिमौक्तिकमयं दाक्षायणीनायकः ॥ ६७ ॥

सीता—(हसन्ती) अज्जउत्त, समाणकुलसीलरूवजोव्वणाणं वि सवत्तीणं सीसे दिण्णो धण्णाए दक्खगोत्तधवलाए रोहिणीए चलणो । जेण रोहिणीरमणो ज्जेव्व भअवं चन्दो सुणीअदि । [आर्यपुत्र, समानकुल-

सुधारूपं हव्यं विधत्से तद्भक्षणात्तेषां प्रीतेरुदयात्, तव दीधितिरोपधिपोषिणीति द्वारा त्वं जगज्जीवितपालकोऽसि, कालकूटपायी शिवः कालकूटव्याजेन यमपाशबद्धगलो भूत्वापि यन्न मृतस्तत् तव मूर्धस्थायाः कलाया विजृम्भितम्, यदि विधुः शिरसि नाभविष्यत्तदा कालकूटपायी शिवः कथं मृत्युं व्यजेष्यतेति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

नेत्राणामिति । नेत्राणां लोकलोचनानां मधुपर्कसत्रम् दधिघृतमधुप्रस्तुतसर्वहृद्यवस्तुयज्ञः, (यं वीक्ष्य लोचनानि मधुपर्कतृप्तिमनुभवन्ति तादृशः) उदधेः सागरस्य सर्वाङ्गमेदस्करः सर्वावयववृद्धिकरः (सागरः शशिन उदये वर्द्धत इति स तथोक्तः) शृङ्गारस्य रसायनं पुष्टिकरः, मखभुजां देवानां पीयूषगञ्जापतिः सुधामद्यशालाऽध्यक्षः (देवाश्चन्द्रकलामृतं पिबन्तीति चन्द्रस्य पीयूषगञ्जापतित्वमुक्तम्) महेश्वरशिरसः हरमूर्ध्नः नेपथ्ये भूषणे रत्नाङ्कुरः हीरकखण्डरूपः, क्षीरोदार्णवः क्षीरसागर एव शुक्तिस्तस्या मौक्तिकम् मुक्ताफलम्, अयम् देवो दाक्षायणीनामश्विन्यादितारानां नायकः पतिः, अस्तीति शेषः, अस्य चन्द्रस्य किं स्तुमहे स्तुतिं कथं कुर्मः ? अशक्या स्तुतिरस्येत्यर्थः । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च', 'गञ्जा तु मदिरागृहम्', 'दाक्षायण्योऽश्विनीत्यादितारा:' इति सर्वत्रामरः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६७ ॥

समानकुलशीलरूपयौवनानाम्—कुलगौरवे शीलबले रूपसम्पदि यौवन-

(सीताके प्रति) लोकलोचनोंके लिये मधुपर्क-सत्रस्वरूप, समुद्रको सर्वाङ्गमें वृद्धिप्रदान करनेवाला, शृङ्गारका पोषक एवं देवोंके लिये मदिरालयाध्यक्ष स्वरूप यह चन्द्रमा महादेवके मस्तक पर अलङ्कारका कार्य करता है क्योंकि यह क्षीरसमुद्ररूप शुक्तिमें उत्पन्न मौक्तिक है, इसकी कितनी स्तुति की जाय ॥ ६७ ॥

सीता—(हंसती हुई) आर्यपुत्र, समान कुल-शील-रूप-यौवन-सम्पन्न अपनी

शीलरूपयौवनानामपि सपत्नीनां शीर्षे दत्तो धन्यया दक्षगोत्रधवलया रोहिण्या चरणः । येन रोहिणीरमण एव भगवांश्चन्द्रः श्रूयते ।]

रामः—(विहस्य ।) आं जानकि,

प्रियोपभोगतुल्येऽपि ताराणां सप्तविंशतेः ।
धत्ते किमपि [1]सौभाग्यमञ्जरीमिह रोहिणी ॥ ६८ ॥

(स्पर्शं च रूपयन् ।)

दलितकुमुदकोषोदञ्चदूष्मोपचार-
क्षणशमितचकोरीचन्द्रिकापानजाड्याः ।

शोभायां च समानाम् । शीर्षे शिरसि । दक्षगोत्रधवलया दक्षगोत्रप्रकाशिकया । अन्यासु बह्वीषु स्त्रीषु सतीष्वपि यदयं चन्द्रो रोहिणीरमणशब्देन व्यवह्रियते तदिदं तस्याः सौभाग्यमितरसपत्नीदुर्लभं सत्—तस्या विजयं व्यञ्जयति ॥

प्रियोपभोगेति । इह जगति रोहिणी नाम चन्द्रस्त्रीषु तारास्वन्यतमा सप्तविंशतेस्ताराणाम् सप्तविंशतिसंख्यानामश्विन्यादीनाम् प्रियोपभोगतुल्येऽपि प्रियसंभोगरूपसुखसाम्ये सत्यपि रोहिणी किमपि इतरसपत्नीविलक्षणं सौभाग्यमञ्जरीम् सौभाग्यख्यातिं धत्ते, रोहिणी सौख्ये समाऽपि सौभाग्येऽतिरिच्यते सपत्नीभ्य इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

दलितेति । दलितात् विकसितात् कुमुदकोषात् कैरवमध्यभागात् उदञ्चताम् उद्गच्छताम् ऊष्मणाम् उपचारेण सेवया क्षणात् शीघ्रं शमितं शान्तिं नीतं चकोरीणाम् पक्षिभेदस्त्रीणाम् चन्द्रिकापानजाड्यं याभिस्तास्तथोक्ताः, (रात्रिं यावच्चन्द्रिकारूपातिशीतवस्तुपानाज्जडीभूतानां चकोरीणां जाड्यं प्रातः कुमुदकोषनिर्गतोष्मसेवनेन निवर्त्तते, प्रातर्जायमाने चकोर्यो जडतां विहाय चेतयन्ते, मन्ये कुमुद-

---

सपत्नियोंके सिरपर रोहिणीने पैर रख दिया क्योंकि उसपर चन्द्रमाकी बड़ी प्रीति है क्योंकि उन्हे संसार 'रोहिणीरमण' नामसे पुकारा करता है ।

राम—(हंसकर) हाँ जानकी,

प्रियोपभोग-सुख सभीके लिये तुल्य ही है परन्तु सत्ताइस तारोंमें रोहिणीका कुछ ऐसा सौभाग्य ही है कि लोग चन्द्रमाको रोहिणीरमण कहते हैं ॥ ६८ ॥

(स्पर्शका अनुभव करते हुए) विकसित होनेवाले कुमुद-कोषसे निकलनेवाली गर्मीके सेवनसे तत्काल शमित कर दिया है चकोरियोंके चन्द्रिकापान-जनित जाड़ेको जिसने, ऐसी,

---

१. 'सौभाग्यैः सौरभ्यमिह' ।

अभिसृमरमृगाक्षीमूकदूत्यः स्वदन्ते
शशिमणिमकरन्दोत्कन्दलाश्चन्द्रभासः ॥ ६९ ॥

अपि च—

[1]तैः सर्वज्ञीभवदभिसृतानेत्रसिद्धाञ्जनैर्वा
नीरन्ध्रैर्वा त्रिभुवनदृशामन्धपट्टैस्तमोभिः ।
व्याप्तं पृथ्वीवलयमखिलं क्षालयन्नुच्छलद्भि-
र्ज्योत्स्नाजालैरयमुदयते शर्वरीसार्वभौमः ॥ ७० ॥

अपि च [2]जगतामनुग्रहाय
उदयति कलमन्द्रैः कण्ठतालैरलीनां

कोपोष्मोपचारेणेव तासां जाड्यं शमितमिति भावः) अभिसृमराः अभिसारिकाः या मृगाक्ष्यो रमण्यस्तासां मूकदूत्यो विनैव शब्दं दूतीकर्मत्वरणं कुर्वाणाः शशिमणीनां चन्द्रकान्तानां मकरन्देन अमृतरसस्रावेण उत्कन्दलाः सञ्जातप्ररोहा इव चन्द्रभासः चन्द्रकिरणाः स्वदन्ते प्रीतिं जनयन्तीत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

तैः सर्वज्ञीति । अयं शर्वरीनाथः निशापतिश्चन्द्रः सर्वज्ञीभवन्तीनाम् अखिलकामकलाविज्ञानात् सर्वज्ञताभिमानशालिनीनाम् , अतिचतुराणामित्यर्थः, नेत्रसिद्धाञ्जनैः सिद्धाञ्जनमौषधविशेषो येन तमस्यपि दृश्यते, तादृशैः, कृष्णाभिसारिकास्तमस्येव कान्तानभिसरन्तीति तमसस्तन्नेत्रसिद्धाञ्जनरूपत्वमुक्तम् । नीरन्ध्रैः सान्द्रैः त्रिभुवनदृशाम् नेत्राणाम् अन्धपट्टैः अन्धत्वसम्पादकाच्छादनरूपैर्वा तैः तमोभिः व्याप्तम् अखिलं समस्तं पृथ्वीवलयम् भूमण्डलम् उच्छलद्भिः विकासं गच्छद्भिः ज्योत्स्नाजालैः प्रभाभरैः क्षालयन् धावयन् श्वैत्यं नयन् उदयते उदयं गच्छति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७० ॥

उदयतीति । मदमुखराणाम् मदेन वाचालानां चकोरीणां तोषे सन्तोषणे

अभिसार करनेवाली युवतियोंकी मूकदूतियाँ, एवं चन्द्रकान्तमणिके मकरन्दोंसे पल्लवित होनेवाली यह चन्द्रकिरणें बड़ी अच्छी लग रही हैं ॥ ६९ ॥

अतिशय चतुर अभिसारिकाओंकी आंखोंके लिये सिद्धाञ्जन स्वरूप तथा त्रिलोकको अन्धा बनानेवाले घने अन्धकारसे व्याप्त धरामण्डलको अपनी उछलती हुई किरणोंसे धोकर स्वच्छ बना देनेवाला यह रात्रिका नाथ चन्द्र उग रहा है ॥ ७० ॥

यह चन्द्रमा संसारकी भलाईके लिये उग रहा है, यह चन्द्रमा कुमुदकी कलियोंपर

---

१. अयं श्लोकः क्वचिदग्रिमश्लोकादनन्तरं वर्तते ।

२. 'जगतामनुग्रहाय' इति क्वचिन्नास्ति ।

कुमुदमुकुलकेषु व्यञ्जयन्नङ्गहारान् ।
मदमुखरचकोरीतोषकर्मान्तिकोऽयं
तुहिनरुचिरधामा दक्षिणं लोकचक्षुः ॥ ७१ ॥

[1]इदं चास्य—

प्राचीनाचलचुम्बिचन्द्रमणिभिर्निर्व्यूढपाद्यं निजै-
र्निर्यासैरुडुभिर्निजेन वपुषा दत्तार्घलाजाञ्जलि ।
अन्तः प्रौढकलङ्कतुच्छमभितः सान्द्रं परिस्तीर्यते
विम्बादङ्कुरभग्ननैशिकतमःसंदोहमिन्दोर्महः ॥ ७२ ॥

कर्मान्तिकः कर्माध्यक्षः चकोरीसन्तोषकर इत्यर्थः । दक्षिणं प्रीतिप्रदं लोकानां चक्षुः, तुहिनं रुचिरं धाम यस्य स तुहिनरुचिरधामा चन्द्रः कलमन्द्रैः मधुरगभीरैः अलीनां कण्ठतालैः भ्रमराणां सङ्गीतक्रियाभिः कुमुदमुकुलकेषु कुमुदकोरकेषु अङ्गहारान् अङ्गविक्षेपान् गीतध्वनिश्रवणानन्दजनितानन्दव्यञ्जकशिरश्चालनानि व्यञ्जयन् आविर्भावयन् उदयति । भ्रमराणां मधुरगभीरैः स्वरैः कुमुदमुकुलानि चलानि कुर्वन्, मदमुखरचकोरीसन्तोषकरः शीतकरश्चन्द्र उदयत इत्याशयः । 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः' इत्यमरः । मालिनीवृत्तम् ॥ ७१ ॥

प्राचीनेति । प्राचीनाचलं पूर्वदिगवस्थितमुदयाद्रिं चुम्बन्ति सम्बध्नन्ति ये तैश्चन्द्रकान्तमणिभिः निजैर्निर्यासैः स्वदेहच्युतजलरूपसारभागैः निर्व्यूढपाद्यम् सम्पादितपादोदकक्रियम्, उडुभिः नक्षत्रैः स्ववपुषा स्वकायेन दत्तः अर्घरूपो लाजाञ्जलिर्यस्मै तथोक्तम्, अन्तःप्रौढकलङ्कतुच्छम् अभ्यन्तरस्थितोत्कटकलङ्कहीनम्, अङ्कुरभग्ननैशिकतमःसन्दोहम् अङ्कुरावस्थाविनाशितरात्रितमःपटलम् महः तेजः सान्द्रम् सत् इन्दोश्चन्द्रस्य विम्बात् मण्डलात् अभितः समन्ततः

भ्रमरोंके मधुर गम्भीर कण्ठतालोंसे अङ्गविक्षेप व्यञ्जित कर रहा है, मतवाली होकर मुखरित होनेवाली चकोरियोंको सन्तुष्ट कर रहा है और लोकोंकी आँखोंको दर्शनशक्ति-सम्पन्न बनानेवाला है ॥ ७१ ॥

यह चन्द्रमाका तेज,

उदयाचल पर वर्त्तमान चन्द्रकान्तमणि द्वारा दिये पाद्य तथा अपने सारस्वरूप तारों द्वारा अपने शरीरोंसे समर्पित अर्घलाजाञ्जलि प्राप्त करनेवाला, अन्तःकलङ्कशून्य, एवं समूल अन्धकारका नाशक समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहा है ॥ ७२ ॥

---

१. 'इदं चास्य' इत्यारभ्य 'मलकुड्मलगौरं जातम्' इत्यन्तः पाठः केषु चित्पुस्तकेषु 'सेतूपक्रम–७–८४' इत्यादिश्लोकादग्रे वर्तमानादनन्तरं वर्तते ।

[1]एनं च—

मृगराजकरजभङ्गुरकिंशुककलिकावतंसिकासुदृशः ।
भयसंकुचदङ्कहरिणबहलोज्ज्वलमिन्दुमीक्षन्ते ॥ ७३ ॥

विभीषणः—

इन्दोरेककलाया रुद्रेणोद्धृत्य मूर्धनि धृतायाः ।
स्थानमिव तुच्छमेतत्कलङ्करूपेण परिणमते ॥ ७४ ॥

परिस्तीर्यते प्रसरति । यस्मै महसे उदयाचलवर्त्तिचन्द्रकान्तमणयः स्वाङ्गस्रुत-जलरूपं पाद्यमर्पयन्ति, उडूनि स्ववपुषाऽर्घलाजाञ्जलिमुपहरन्ति, यदन्तःकलङ्क-हीनम्, येन रात्रितमोऽङ्कुरावस्थायामेव विनाश्यते, तदिदं महश्चन्द्रबिम्बात्सर्वतः प्रसरतीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । ताराणां शुभ्रवर्तुलत्वाल्लाजत्वव्य-पदेशः ॥ ७२ ॥

मृगराजेति । सुदृशो रमण्यः मृगराजस्य सिंहस्य करज इव नख इव भङ्गुरा कुटिला या किंशुककलिका पलाशकोरकः अवतंसः कर्णभूषणं यासां तथाभूताः कर्णयोः सिंहनखकुटिलं पलाशकोरकं भूषणं विधाय भयेन पलाशकोरके सिंहन-खभ्रमजन्येन सङ्कुचन् अङ्कहरिणः । लाञ्छनमृगस्ततो बहलोज्ज्वलं समधिक-प्रकाशं हरिणे आयताङ्गे स्वल्पः प्रकाशः तदङ्गैश्चन्द्रायामाधिकांशनिह्नवात्, सङ्कु-चिताङ्गे तु लाञ्छनमृगे स्वल्पस्यैव चन्द्रायामस्यावृत्त्या बहुप्रकाशं चन्द्रम् ईक्षन्ते पश्यन्ति । आर्यावृत्तम् ॥ ७३ ॥

इन्दोरिति । रुद्रेण हरेण उद्धृत्य आहृत्य मूर्धनि स्वमस्तके धृतायाः स्थापि-तायाः इन्दोश्चन्द्रमस एककलायाः एकस्याः कलायाः एतत् तुच्छं रिक्तं स्थानं कलङ्करूपेण परिणमते पर्यवस्यति । महादेवेन या चान्द्री कलाऽऽहृत्य स्वशिरसि धृता रिक्तं तत्कलास्थानमेव लोकाः कलङ्कं बुध्यन्त इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

मृगराजके नखकी तरह कुटिल किंशुक-कलिकाको भूषण बनानेवाली युवतियाँ भयभीत होकर सङ्कुचित अङ्गवाले अङ्क-मृगसे युक्त अत एव अधिकदीपित चन्द्रमाको देख रही हैं ॥ ७३ ॥

विभीषण—चन्द्रमाकी एक कलाको उठाकर महादेवने अपने सिर पर रख लिया, उसीका रिक्त स्थान कलङ्कके रूपमें प्रतीत होता है ॥ ७४ ॥

---

१. 'एवं च' ।

(विहस्य रामं प्रति ।)

रोदसीकूपमण्डूकः कियदेष प्रकाशते ।
चन्द्रमा यदयं देव त्वत्कीर्तेः प्रतिगर्जति ॥ ७५ ॥

सीता—(सस्मितम् ।) जाणामि अज्जउत्तस्स कित्तिकन्तीहिं पडिस्पद्धं कदुअ पराजिदेण संपदि भवअदा हरिणङ्केण कलङ्कसंघदी विढत्ता । [जानाम्यार्यपुत्रस्य कीर्तिकान्तिभिः प्रतिस्पर्धां कृत्वा पराजितेन संप्रति भगवता हरिणाङ्केन कलङ्कसंहतिरर्जिता' ।]

(सर्वे हसन्ति । रामः स्मयते ।)

सीता—(रामं प्रति ।)

सारम्भं सिरिवच्छलञ्छणभुआपज्जत्थमन्थाअल-
क्खोभोच्छल्लिददुद्धसिन्धुलहरीगब्भच्छईसच्छअम् ।

रोदसीति । रोदसी द्यावाभूमी एव कूपस्तस्य मण्डूकः भेकः आकाशपृथ्व्यन्तरालमात्रचरः एषः चन्द्रमाः कियत्प्रकाशते किंपरिमाणप्रकाशो विद्यते यत् येनायं, हे देव राम, त्वत्कीर्त्तेः त्वद्यशसः प्रतिगर्जति सादृश्यमभिमन्यते इत्यर्थः। कूपमण्डूको यथा कूपमात्रचरस्तथैवायं चन्द्रः पृथ्वीं दिवं च केवलां प्रकाश्यापि समस्तब्रह्माण्डप्रकाशस्य तव यशसः स्पर्धत इत्यहो चन्द्रस्य बालिशत्वमिति भावः ॥ ७५ ॥

हरिणाङ्कसंहतिः कलङ्कसमूहः । भवत्कीर्त्तिकृतपराजयापमान एव कलङ्कश्चन्द्रस्येत्यर्थः ।

सारम्भमिति । सारम्भं प्रथममेव श्रीवत्सलाञ्छनस्य विष्णोर्भुजाभिः पर्यस्तः संचालितो यो मन्थाचलः मन्दरपर्वतः तत्क्षोभेण तत्कृतालोडनेन उच्छलितस्य आलोडितस्य दुग्धसिन्धोः क्षीरसागरस्य लहरीणां तरङ्गाणां गर्भस्य मध्यभागस्य

(हंसकर रामके प्रति) पृथ्वी तथा आकाशरूपी कूपका मण्डूक यह चन्द्रमा कितना प्रकाशित होता है जिससे यह आपकी कीर्त्तिसे बराबरी करनेका साहस करता है ॥ ७५ ॥

सीता—(मुस्कुराकर) मैं समझती हूँ, आपकी कीर्त्तिके साथ प्रतिस्पर्धा करके पराजित होने पर ही चन्द्रमाने यह कलङ्क अर्जित कर लिया है ।

(सभी हंसते हैं, राम मुस्कुराते हैं)

सीता—(रामके प्रति) समुद्रमथन के प्रारम्भकालमें भगवान् विष्णुके भुजदण्डोंसे सञ्चालित मन्दराचलरूप मन्थान दण्डसे मथित क्षीर समुद्रके गर्भकी छविके समान स्वच्छ,

को गायेदि ण दे रहूणँ पहुणो अन्धारपक्खन्तरा-
सन्तुट्टन्तमिअङ्कमण्डलमलक्कुद्दामगोरं जसम् ॥ ७६ ॥
[सारम्भं श्रीवत्सलाञ्छनभुजापर्यस्तमन्थाचल-
क्षोभोच्छलितदुग्धसिन्धुलहरीगर्भच्छविसदृशम् ।
को गायति न ते रघूणां प्रभोरन्धकारपक्षान्तरा-
संत्रुट्यन्मृगाङ्कमण्डलखण्डोद्दामगौरं यशः ॥]

रामः—(सहर्षस्मितम् ।) अयि प्रिये प्रियवादिनि,

चन्द्रलोकादपि परं पदमारोपयन्ति माम् ।
अमूरमृतबिन्दूनामनुप्रासास्तवोक्तयः ॥ ७७ ॥

विभीषणः—(सानुरागम् ।)

अद्योर्वीतलमूलघर्षणवशादुन्मृष्टचूडामणि-
श्रेणिश्रीपरिपीतपीवरतमःपूरे पुरे भोगिनाम् ।

च्छविभिः सदृशम् नितान्तधवलम्, अन्धकारपक्षस्य अन्तरा मध्ये संत्रुट्यत् क्षीयमाणम् यत् मृगाङ्कमण्डलम् चन्द्रबिम्बं तस्य खण्डवत् उद्दामगौरम् अतिभासुरम् रघूणां प्रभोस्ते तव यशः को न गायति ? सर्वोऽपि गायति तव यशो यदादावेव विष्णुकरनिहितमन्दराचलकृतान्दोलनसञ्चालितसागरलहरीगर्भगौरम् कृष्णपक्षमध्यक्षीणचन्द्रखण्डवदतिस्वच्छमिति भावः ॥ मालोपमालङ्कारः ॥ ७६ ॥

चन्द्रलोकादिति । हे प्रिये, अमृतबिन्दूनाम् अनुप्रासाः अनुरूपाः अमूः तवोक्तयः वचनानि माम् चन्द्रलोकादपि परं पदम् आरोपयन्ति प्रापयन्ति । त्वदीयां प्रशंसोक्तिपरम्परां श्रुत्वाऽहमात्मानं चन्द्रलोकादप्युपरिवर्त्तमानं प्रत्येमि, इति भावः ॥७७॥

अद्योर्वीतलेति । अद्य सम्प्रति उर्वीतलस्य पृथ्वीतलस्य मूलेन आद्यधोभागेन घर्षणवशात् सततमृष्टत्वात् उन्मृष्टानां धवलीकृतानां चूडामणिश्रेणीनां भोगरत्नसमूहानां श्रिया कान्त्या परिपीतो निःशेषविनाशितः तमःपूरोऽन्धकारराशिर्यत्र

शुक्ल पक्षके अतिरिक्त पक्षके मध्यमें वर्त्तमान चन्द्रमण्डल-खण्डकी तरह चमकदार, रघुवंश श्रेष्ठ आपकी कीर्त्तिको कौन नहीं गाता है ॥ ७६ ॥

राम—(हर्षसे मुस्कुराते हुए) अये प्रियवादिनि प्रियतमे,

अमृतकी बूंदोंसे परिपूर्ण तुम्हारी यह मधुरोक्तियाँ मुझे चन्द्रलोकसे भी ऊपरके स्थानमें पहुँचा रही हैं ॥ ७७ ॥

विभीषण—(प्रेमसे) आज पृथ्वीके मूल भाग द्वारा घर्षण होनेसे सर्प-चूडामणियोंके मृष्ट हो जानेके कारण अति प्रकाशशाली मणियों द्वारा आलोकित पाताल लोकमें नागराज

कर्णाभावनिरस्तकुण्डलरव्यासङ्गमाधुन्वता
मूर्ध्नः पन्नगपुंगवेन सुभगं त्वत्कीर्तिराकर्ण्यते ॥ ७८ ॥

(विहस्य[1])

भोगीन्द्रः प्रमदोत्तरङ्गमुरगीसङ्गीतगोष्ठीषु ते
कीर्तिं देव शृणोतु विंशतिशती यच्चक्षुषां वर्तते ।

तादृशे भोगिनां सर्पाणां पुरे नागलोके पन्नगपुङ्गवेन नागराजेन वासुकिना चक्षुःश्रवस्तया कर्णाभावेन निरस्तः अपगतः कुण्डलभरव्यासङ्गः कुण्डलसमुदयप्रत्यूहो यत्र तथा मूर्ध्नः स्वफणामण्डलानि आधुन्वता सुभगं साधु त्वत्कीर्त्तिस्तव यशः आकर्ण्यते श्रूयते । पाताले स्थितस्य वासुकेः फणामणयो भूमूलघर्षणेन मृष्टतया समेधितदीप्तयः सन्तो निश्शेषं तत्रत्यं तमो नाशयन्ति, तदेवमुज्ज्वलालोके तत्र पाताले पन्नगराजस्तव यशोगीतमाकर्णयति स्वशिरांसि चानन्दातिरेकेण धुनोति, शिरःकम्पने तदा कियान् विघ्नोऽप्यभविष्यत् यदि तस्य कर्णा अभविष्यन्, प्रतिमुखं द्वौ कर्णाविति सहस्रमुखस्य द्विसहस्री कर्णानामभविष्यत्ततश्च तावतां कुण्डलानां धारणे भाराधिक्याच्छिरःकम्पनं कष्टसाध्यं स्यात्परं तु चक्षुःश्रवस्तया कुण्डलकथैव नास्तीति सानन्दमयं वासुकिः शिरांसि कम्पयँस्तव यशः शृणोतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७८ ॥

भोगीन्द्र इति । हे देव, भोगीन्द्रः सर्पराजो वासुकिः उरगीसङ्गीतगोष्ठीषु भुजगाङ्गनाकृतसङ्गीतसमारोहे उत्तरङ्गम् उद्भूतकौतुकं यथा स्यात्तथा ते तव रामस्य कीर्त्तिं शृणोतु यत् यतः तस्य वासुकेः चक्षुषां विंशतिशती सहस्रद्वयं वर्त्तते, तस्य सहस्रमुखतया द्विसहस्री नयनानां विद्यत इत्यसौ चक्षुःश्रवस्तया प्राप्तद्विसहस्रश्रवणसाधनेन्द्रियः सानन्दं भुजङ्गीभिर्गीयमानं तव यशः श्रोतुमर्हतीत्यर्थः । तु किन्तु सहस्राक्ष इन्द्रः कर्णद्वयीदुःस्थः द्वाभ्यामेव कर्णाभ्यां विद्यमानाभ्यां दुरवस्थः

वासुकि कान नहीं होनेके कारण कुण्डलके बखेड़ेसे मुक्त होकर सरलतासे मस्तकोंको हिलाहिलाकर आपके चरित-गीतका श्रवण करते हैं ॥ ७८ ॥

आनन्द-विभोर होकर नागाङ्गनायें जब आपकी कीर्त्तिका गान प्रारम्भ करती हैं तब नागराज इसलिये उसे खूब सुन पाते हैं कि उनको दो हजार आँखें हैं उन्हींसे उनको सुनना भी है । परन्तु प्रसन्न होकर देवाङ्गनायें यदि आपकी कीर्ति गाने लगेंगी तो भी

---

१. 'विहस्य च' ।

रक्ताभिः सुरसुन्दरीभिरभितो गीतां तु कर्णद्वयी-
दुःस्थः श्रोष्यति नाम किं स हि सहस्राक्षो न चक्षुः[1]श्रवाः ॥७९॥

रामः—([2]विलक्षस्मितेन विभीषणसूक्तमनुगृह्य चन्द्रं सीतामुखं च [3]क्षणमालोक्य [4]स्वगतम् ।)

आरब्धे [5]दयितामुखप्रतिसमे निर्मातुमस्मिन्नपि
व्यक्तं जन्मसमानकालमिलितामंशुच्छटां वर्षति ।

अतो रक्ताभिः सानुरागाभिः सुरसुन्दरीभिर्देवाङ्गनाभिः अभितो गीतां तव कीर्त्तिं किं नाम कथं नाम श्रोष्यति श्रोतुं पारयिष्यति हि यतः यस्मात् सहस्राक्षः चक्षुःश्रवाः न । इन्द्रस्य सन्ति सहस्रमक्षीणि परं दृशां तस्य श्रवणशक्तिहीनतया सुरसुन्दरीगीयमानभवत्कीर्त्तिश्रवणे वासुकेरिव सुविधा न संभाव्येति तात्पर्यम् । पूर्वोक्तानिपरीतं वृत्तम् ॥ ७९ ॥

आरब्ध इति । अस्मिन् रोहिणीपरिवृढे रोहिणीनाथे चन्द्रे दयितानां रमणीनाम् मुखानां प्रतिसमे अनुरूपे समाने निर्मातुम् आरब्धे सति (विधातरि स्त्रीमुखसमानच्छविं चन्द्रमुपक्रममाणे सति) अस्मिन्नपि चन्द्रे जन्मसमानकालमिलिताम् जन्मकालसङ्गताम् स्वल्पामंशुच्छटां वर्षति सति जायमानस्यैव चन्द्रस्य बालकिरणे

इन्द्र बेचारा कैसे सुन सकेगा उसे हजार आँखें हैं भी फिर भी वह आँखों से सुन नहीं जो पाता है ॥ ७९ ॥

राम—(लज्जायुक्त हंसीके साथ विभीषणकी उक्तिको स्वीकार करके चन्द्रमा तथा सीताके मुखकी ओर देखकर स्वगत)

ब्रह्माने मेरी प्रियाके मुखके समान चन्द्रको बनाना प्रारम्भ किया था, जब बालचन्द्रमा बना, तभी उसको जो थोडी सी कान्ति मिली उसीसे उसने अपना प्रकाश फैलाना

१. कचित् अस्माच्छ्लोकादग्रे 'अपि च, अद्य स्वर्गिवधूगणे गुणमय-त्वत्कीर्तिमत्युज्ज्वलामुच्चैर्गायति निष्कलङ्किमदशामापत्स्यते चन्द्रमाः । गीताकर्णनमोदमुक्तयवसग्रासाभिलाषोऽधुना स्वामिन्नङ्कमृगः कियन्त्यपि दिनान्येतस्य वर्तिष्यते ॥ अपि च, 'गीयन्ते यदि पन्नगीभिरभितस्त्वत्कीर्तयस्तद्वयं तुष्टा एव परंतु चेतसि चमत्कारोऽयमारोहति । तासां तादृशभावभङ्गवलनासंस्थानसन्दर्शिनि व्यालेन्द्रे रसघूतमूर्धनि मही चक्रं पुनर्भ्राम्यति ॥' इति श्लोकद्वयमधिकमस्ति ।

२. 'सविलक्षस्मितम्' । ३. 'क्षणम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

४. 'स्वगतम्' इति क्वचिन्नास्ति । ५. 'दयितानन–' ।

आत्मद्रोहिणि रोहिणीपरिवृढे पर्यङ्कपङ्केरुहः-
संकोचाद्तिदुःस्थितस्य न [1]विधेस्तच्छिल्पमुन्मीलितम् ॥८०॥

(सीतां प्रति ।)

अनेन रम्भोरु [2]भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य ।
ऊनस्य नूनं परिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः ॥ ८१ ॥

प्रसरति सतीत्यर्थः। पर्यङ्कपङ्केरुहः विधातृवासास्पदभूतकमलस्य सङ्कोचात् निमीलनात् अतिदुःस्थितस्य अत्यन्तदुरवस्थां गतस्य विधेः ब्रह्मणः आत्मद्रोहिणि आवासङ्कोचकतया शत्रुभूते चन्द्रे तत् प्रारभ्यमाणं शिल्पम्। न उन्मीलति न सम्बृद्ध्यति । अयमाशयः-यदैव ब्रह्मा वनितावदनसमानम् इन्दुं निर्मातुमारभत, तदा उत्पद्यमान एव बालश्चन्द्रः स्वबालप्रभया ब्रह्मण आवासकमलं समकोचयत्, ततश्चाश्रयकमले सङ्कुचति सति दुरवस्थो ब्रह्मा चन्द्रनिर्माणे स्वं कौशलं पल्लवयितुं न प्राभूत्, आत्मद्रोहिणि चन्द्रे तस्य वीतस्नेहत्वान्नहि स्नेहहीनं कृत्यं फलति, अत एव चन्द्रो न रमणीतुलामृच्छति, यद्ययं चन्द्रो ब्रह्मावासकमलं न समकोचयिष्यत्तदा ब्रह्मा स्वस्थः समनोवन्धं कदाचिदिन्दुं रमणीवदनसमं निर्मातुमपारयेदपीति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८० ॥

अनेनेति । रम्भे कदलीस्तम्भौ इव ऊरु यस्तास्तत्सम्बोधने हे रम्भोरु सीते, भवन्मुखेन भवत्या वदनेन सह तुलया धृतस्य तुलायामारोपितस्य तुषारभानोः शीतकरस्य ऊनस्य हीनपरिमाणस्य हीनरुचेश्च परिपूरणाय समताप्रापणाय नूनं प्रतिमानखण्डाः सजातीयवस्तुशकलोपमाः ताराः स्फुरन्ति । यथा सुवर्णादौ तोल्यमाने न्यूनतायां पूर्त्तये पृथक्प्रतिमानखण्डाः सुरचिताः स्थाप्यन्ते तथैव तव मुखेन सह तोल्यमानस्य चन्द्रस्य पूर्त्तये प्रतिमानखण्डभूतास्तारा विधात्रा स्थापिता इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ ८१ ॥

प्रारम्भ कर दिया ब्रह्माका आवासभूत कमल मुद्रित हो गया, फलतः अपनी हानि करनेवाले उस चन्द्रमाको ब्रह्मा नहीं बना सके, ब्रह्माका वह शिल्प सफल नहीं हो सका ॥ ८० ॥

(सीताके प्रति) हे सीते, ब्रह्माने चन्द्रमाके साथ तुम्हारे मुखकी तुलना करनेके लिये दोनोंको अलग-अलग पलड़े पर चढ़ा दिया और यदि चन्द्रमामें कमी आयेगी तब उसे पूर्ण करनेके लिये तत्समान वस्तुके कुछ खण्डके रूपमें यह तारे रख छोड़े ॥ ८१ ॥

---

१. 'तच्चित्रमुन्मीलितम्' 'तच्छिल्पमुन्मीलति'। २. 'तवाननेन'।

किं [1]चान्यदपि—

गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थायं यदखिलमहः प्रीणयन्ति द्विरेफान्।
एकाग्रां यद्दधति भगवत्युष्णभानौ च भक्तिं
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि ॥ ८२ ॥

सीता—(स्मेरावनतमुखी।) अज्जउत्त, कधं उण संपुण्णमण्डलमीरिसं चन्दमवमण्णिअ कलामेत्तं भअवदा भूदणाहेण चूडामणीकिदं आसी। [आर्यपुत्र, कथं पुनः संपूर्णमण्डलमीदृशं चन्द्रमवमत्य कलामात्रं भगवता भूतनाथेन चूडामणीकृतमासीत्' ।]

रामः—([2]सप्रहासम् ।) प्रिये जानकि, त्रयाणामपि [3]जगतामुप-

गोत्र इति। यत् यतः पद्मं योनिरुत्पत्तिस्थानं यस्य तादृशः ब्रह्मा गोत्रे पद्मरूपे स्वकुले साक्षात् स्वयम् अजनि, यत् शय्योत्थायं शय्याया उत्थाय विकसितमात्रम् अखिलम् अहः समग्रं दिनं यावत् पद्मानि द्विरेफान् भ्रमरान् प्रीणयन्ति मकरन्दैस्तर्पयन्ति, यत् भगवति उष्णभानौ एकाग्राम् अनन्यभावां भक्तिं दधति अनुरागं धारयन्ति, तत् अम्भोरुहाणि पद्मानि हे सुतनु सुन्दरि सीते, ते तव वदनौपम्यं मुखसादृश्यं प्रापुः प्राप्नुवन्ति। ब्रह्मा कमलानां सगोत्र इति तद्द्वयया भ्रमरप्रीणनरूपपरोपकृत्या सूर्यभक्त्या च पद्मानि त्वन्मुखसादृश्यमलभन्तेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

चूडामणीकृतम् शिरोभूषणं विहितम्, पूर्णचन्द्रलाभे संभवति कलामात्रधारणस्य। बुद्धिदारिद्र्यसूचकतया प्रश्नः।

उपजीव्यः जीवनाधायकः। शिवनिर्माल्यं लोको न सेवते सकले चन्द्रे शिवेन

और भी—

इन कमलोंके वंशमें ब्रह्माने साक्षात् जन्म ग्रहण किया, शय्यासे उठकर यह कमल प्रतिदिन दिन भर भ्रमरोंको तृप्त करते हैं, एकाग्र दृष्टिसे भगवान् सूर्यकी ओर देखनेका व्रत धारण करते हैं, इसीलिये, हे सुन्दरि, यह कमल तुम्हारे मुखकी समता प्राप्त कर सके हैं ॥ ८२ ॥

सीता—(मुस्कुराहटके साथ मुँह नीचे करके) आर्यपुत्र, भगवान् शङ्करने पूर्णचन्द्रमण्डलको छोड़कर इस कलामात्र चन्द्रमाको क्यों शिरोभूषण बना लिया ?

राम—(हंसकर) प्रिये जानकि, यह चन्द्रमा तीनों लोकोंका आधार है। यदि पूरे

---

१. 'चैतान्यपि'। २. 'सप्रहासम्' इति क्वचिन्नास्ति। ३. 'लोकानाम्'।

जीर्णोऽयममृतदीधितिः । यदि पुनः समग्रमेनं मौलिना पिनाकपाणिर्धारयिष्यत्, [1]अङ्ग शिवनिर्माल्य[2]मनुपभोग्य एवायममभविष्यत् ।

(सर्वे हसन्ति ।)

रामः—किं च भवत्यापि [3]मासप्रमितो दृश्यत एवायं

पीयूषाश्रपणं जगत्त्रयदृशामालातलेखालवो
विश्वोन्माथहुताशनस्य ककुभामुद्घाटनी कुञ्चिका ।
वीरेषु प्रथमा च पुष्पधनुषो रेखा मृगाक्षीमुख-
श्रीणां च प्रतिराजबीजमधिकानन्दी नवश्चन्द्रमाः ॥८३॥

शिरोभूषणीकृते तस्मिन्निर्माल्यबुद्ध्या लोको न तमुपजीवेदित्येतदर्थमेव कलामात्रमीश्वरेण भूषणीकृतमित्युत्तराशयः ।

मासप्रमितः मासं प्रमितः प्रतिपच्चन्द्रो मासं परिच्छेत्तुमारब्धवान् इत्यर्थः । आदिकर्मणि निष्ठा ।

पीयूषेति । नवः प्रत्यग्रोदितः चन्द्रमाः जगत्त्रयदृशाम् लोकत्रयीनयनानाम् पीयूषाश्रयणम् अमृतस्थाली, विश्वेषां जनानां सर्वेषाम् उन्माथे सन्तापने हुताशनः वह्निरूपो यः कामः तस्य आलातलेखालवः अङ्गारराजिकणः, कामाग्नेरुल्मुकस्य लेश इव, ककुभां दिशाम् उद्घाटिनी प्रकटयित्री कुञ्चिका दिग्विभागकारीत्यर्थः । वीरेषु वीरगणमध्ये पुष्पधनुषः कन्दर्पस्य प्रथमा रेखा जगति के के वीरा इति गणनायां काम एव प्रथमो वीर इति सूचनार्थं कल्पितो विन्दुरित्यर्थः । मृगाक्षीणां सुन्दरीणाम् या मुखश्रियस्तासां प्रतिराजः प्रतिपक्षिभूतो राजा, तस्य बीजम्,

---

इस चन्द्रमाको महादेव अपने सिर पर रख लेते तब तो निर्माल्य बनकर यह चन्द्रमा अनुपभोग्य हो जाता ।

(सभी हंसते हैं)

राम—और मासको प्रारम्भ करनेवाले इस चन्द्रमाको तुम भी देख ही रही हो ।

तीनों लोककी आंखोंके लिये अमृत-स्थाली स्वरूप, समस्त विश्वके विरही जनोंको सतानेवाले काम-नामक अग्निकी चिनगारी के समान, दिशाओं को खोलने वाली तालीके सदृश, कन्दर्पके वीरभटोंमें प्रथम गणनीय, एवं मृगाक्षीके मुखके साथ स्पर्धा करनेवाला यह नवीन चन्द्रमा देखा जाता है ॥ ८३ ॥

---

१. 'अङ्ग' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'अनुपयुक्तः' । ३. 'मासं प्रमितो'; 'मासं प्रति' ।

सीता—(अनुमोदमाना ।) अज्जउत्त, परिपुण्णा गुणिणो जहिं कहिं पि सोहन्ति । खीणा उण सीसमारुहन्ति त्ति हरजडाचन्दो उज्जेव्व पढमं णिदंसणम् । [आर्यपुत्र, परिपूर्णा गुणिनो यस्मिन्कस्मिन्नपि शोभन्ते । क्षीणाः पुनः शीर्षमारोहन्तीति हरजटाचन्द्र एव प्रथमं निदर्शनम् ।]

रामः—(विहस्य) देवि [1]महाकुलक्षत्रियसंभवे, एवमेतत् ।

[2]सेतूपक्रमसंभ्र[3]माहृतगिरिप्रक्षेपवेगोच्छल-
न्निःशेषाम्बुपरिस्फुटोदरदरीगम्भीरिमा सागरः ।
चक्रे गोष्पदवद्विलङ्घितवतोऽप्यन्तर्भयं मारुतेः
पूर्णत्वादतिरिच्यते हि महतस्तुच्छस्य दुर्लङ्घ्यता ॥८४॥

आद्या प्ररोहावस्था, अत एवाधिकानन्दी अधिकप्रीतिदो दृश्यत इति पूर्वतनगद्यांशेनान्वयः । मालारूपकमलङ्कारः ॥ ८३ ॥

परिपूर्णाः कलापूर्णाः । यस्मिन् कस्मिन् यत्र कुत्र । यथा पूर्णश्चन्द्रो यत्र तत्रैव राजते चीणः पुनर्वालचन्द्रो मृडशिर आरूढस्तेन प्रमीयते । यत्पूर्णो गुणी यत्र तत्र स्वगुणं प्रकाशयति, क्षीणगुणस्तु लोकानतिक्रमितुं सदैव सचेष्टस्तिष्ठतीत्याशयः । महाकुलक्षत्रियसंभवे क्षत्रियाणां महति कुले प्रसूते ।

सेतूपक्रमेति । सेतोः समुद्रे रचितस्य बन्धस्य उपक्रमे प्रारम्भे सम्भ्रमेण वेगेन आहृतानाम् आनीय निक्षिप्तानां गिरीणां पर्वतानां प्रक्षेपवेगेन उच्छलन्ति उपरि गच्छन्ति निश्शेषाणि समग्राणि अम्बूनि जलानि तैर्हेतुभिः परिस्फुटः सुव्यक्तः उदरमेव दरी गुहा तस्याः गम्भीरिमा गम्भीरत्वं यस्य तथोक्तः सागरः गोष्पदवत् गोपदपरिमितजलाधारवत् विलङ्घितवतः तीर्णवतो मारुतेः हनूमतः अपि अन्तर्भयं चक्रे, हि यतः महतो गम्भीरस्य तुच्छस्य रिक्ततां गतस्य दुर्लङ्घ्यता पूर्णत्वात्

सीता—(अनुमोदन करती हुई) आर्यपुत्र, पूर्णगुणी जहाँ कहीं भी भले दीखते हैं, क्षीण होनेवाले ही सिरपर चढ़ जाते हैं, इसमें चन्द्रमा ही प्रथम दृष्टान्त है ।

राम—(हंसकर) देवि महाकुलप्रसूते, तुम ठीक कहती हो ।

सेतुबन्धनके उपक्रममें जल्दी-जल्दी लाकर डाले गये पर्वतोंके प्रक्षेपसे उछलने वाले पानीके ऊपर उठ जानेसे साफ दृश्य हो रहा है, गम्भीर उदरदेश जिसका ऐसा यह सागर हनूमान्‌को भी भयभीत कर देता था, जिस हनुमान्‌ने इस सागरको गोष्पदकी तरह पार कर लिया था—इससे सिद्ध होता है कि पूर्णकी अपेक्षया रिक्त अधिक दुर्लङ्घ्य होता है ॥ ८४ ॥

---

१. 'महाक्षत्रिय–'; 'महाक्षत्रियकुल–' । २. 'सेतुप्रक्रम' । ३. कौतुक ।

(नेपथ्ये ।)

[1]देव, त्वर्यतां त्वर्यताम् । संनिधत्ते [2]खलु भगवद्वसिष्ठगृहीतो मङ्गलाभिषेकमुहूर्तः ।

रामः—(आकर्ण्य ।) [3]कथमयोध्यायाः प्रत्यावृत्तो मारुतिरस्मांस्त्वरयति ।

सीता—(सहर्षम् ।) अज्जउत्त, कथं अञ्जणाणन्दणो तुवरावेदि । ता भअवं पुप्फअ, अवणम । मेइणीसंणिहिदगमणमग्गेण गच्छह्म । [आर्यपुत्र, कथमञ्जनानन्दनस्त्वरयति । तद्भगवन् पुष्पक, अवनम । मेदिनीसन्निहितगमनमार्गेण गच्छामः ।]

पूर्त्तिदशाया अतिरिच्यते विशिष्यते । अयमाशयः—हनूमान्यदा प्रथममब्धिं लङ्घितवांस्तदा पूर्णस्य सागरस्य गोष्पदवल्लङ्घने तस्य मनसि भयं नोदितं परं यदा सेतुबन्धनसमये क्षिप्यमाणगिरिवेगोच्छलज्जलभरतया सागरोदरगुहा व्यक्तदृश्याऽजायत तदा रिक्तस्य तस्य लङ्घने मारुतेरपि मनसि भयं पदमाधत्त, तेन पूर्णस्य महतो यावती दुर्लङ्घ्यता ततोऽधिका भवति दुर्लङ्घ्यता तस्यैव रिक्तस्येति ॥ ८४ ॥

त्वर्यताम् शीघ्रता क्रियताम् । सन्निधत्ते समीपमुपसर्पति । भगवद्वसिष्ठगृहीतः भगवता वसिष्ठेन निर्णीतः । मङ्गलाभिषेकमुहूर्त्तः शुभराज्याभिषेकसमयः । प्रत्यावृत्तः आगतः ।

अवनम अवनतो भव, नीचैः सञ्चर । मेदिनीसन्निहितगगनमार्गेण पृथ्वी-

---

(नेपथ्यमें)

देव, शीघ्रता करें, भगवान् वसिष्ठ द्वारा निर्धारित किया गया अभिषेक मुहूर्त्त समीप आता जा रहा है ।

राम—(सुनकर) क्यों, अयोध्यासे आये हुए हनूमान् हमको शीघ्रता करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ?

सीता—(सहर्ष) आर्यपुत्र, क्या अञ्जनानन्दन शीघ्रता करनेको कह रहे हैं ?

---

१. 'देव, त्वर्यताम् । संनिधत्ते भगवान्वसिष्ठः संगृहीतमङ्गला—' ।

२. 'खलु' इति क्वचिन्नास्ति । ३. 'अयोध्यातः' ।

(अधोऽवलोक्य रामं प्रति ।) अज्जउत्त, किं उण एदं तरुणजीमूदसामले महीवलए ममुमहणवच्छत्थले कोत्थुभकिरणत्थवअं विअ जलन्तं लक्खीअदि । [आर्यपुत्र, किं पुनरेतत्तरुणजीमूतश्यामले महीवलये मधुमथनवक्षःस्थले कौस्तुभकिरणस्तवक इव ज्वलल्लक्ष्यते ।]

रामः—(दृष्ट्वा विभीषणं प्रति ।)

तर्कुटङ्कलिखितार्कमण्डलप्रोच्छलत्कणकदम्बभासुरम् ।
शिल्पशालमिव विश्वकर्मणः किं विभाति मृगतृष्णिकामयम् ॥८५॥

विभीषणः—देव, स एषः

ज्येष्ठामूलीययात्रासरभसकरभोकाम्यकान्तारवर्त्मा

समीपस्थाकाशवर्त्मना । तरुणजीमूतश्यामले नवमेघकृष्णवर्णे । मधुमथनवक्षःस्थले भगवतो विष्णोरुरसि । कौस्तुभकिरणस्तवकः कौस्तुभाख्यमणिप्रभागुच्छः, ज्वलत् प्रकाशमानम् ।

तर्कुटङ्केति । तर्कुटङ्कः यन्त्रविशेषः शाणाभिधः तेन उल्लिखितम् उद्घृष्टम् यद् अर्कमण्डलम् सूर्यमण्डलम् तस्मात् प्रोच्छलता निर्गच्छता कणकदम्बेन कणसमूहेन भासुरम् दीप्तवर्णम् विश्वकर्मणः शिल्पशालम् शिल्पगृहमिव मृगतृष्णिकामयम् मरीचिकामयम् एतत् किं विभाति शोभते, यथा कस्यापि शिल्पिनः शिल्पगृहम् घृष्यमाणलौहादिनिर्गच्छत्कणगणेन भासुरं दृश्यते, तथा विश्वकर्मणि पुरा सूर्यं चक्र आरोप्य लिखति सति तर्कुटङ्कघृष्यमाणस्य अर्कमण्डलस्योच्छलद्भिः कणगणैरिव दीप्यमानमिदं विश्वकर्मणः शिल्पगृहमिव किमिदं दृश्यत इति भावः । मरुषु मरीचिचयचाकचिक्यापहृतलोचनेषु यन्त्रगृहचालिततटङ्कघृष्टसूर्यकणभासुरत्वेन यन्त्रशालात्वसंशयोऽत्र प्रातिभप्रसूततया संदेहालङ्कारमुद्भावयति । रथोद्धतावृत्तम् ॥ ८५ ॥

ज्येष्ठामूलीयेति । ज्येष्ठामूलीयो ज्येष्ठमासः तत्र यात्रायां प्रयाणे सरभसा सहर्षा

अच्छा तो भगवन् पुष्पक, नीचे उतरिये । पृथ्वी-निकटवर्त्ती गगनमार्गसे चलें ।

(नीचे देखकर रामसे)

आर्यपुत्र, भगवान् विष्णुके हृदयपर कौस्तुभमणिकी तरह नवमेघ-श्यामल पृथ्वी मण्डलपर जलता हुआ सा यह क्या दिखाई दे रहा है ॥

राम—(देखकर विभीषणके प्रति) शानपर चढ़ाकर खरादे गये सूर्यमण्डलसे यह मृगतृष्णामय क्या है ? ॥ ८५ ॥

विभीषण—देव, यह वही मरुभूमि है, जिस मरुभूमिके मार्गमें ज्येष्ठमासमें चलना

दूरेऽपि ज्योतिरक्ष्णोरपलपति मरुर्जाज्वलज्जाङ्गलश्रीः ।
विश्वद्रीचीभिरस्मिन्निविडमुडुपतेः कान्तिभिः प्रस्नुवानाः
फेनायन्ते निजोष्मक्वथनपरिणमद्बुद्बुदं चन्द्रकान्ताः ॥८६॥

(सर्वे विमानावनतिं नाटयन्ति ।)

रामः—(विलोक्य सीतां प्रति ।) देवि, दक्षिणेन

सिंहलद्वीपमम्भोधिसंभूतमिदमुत्पलम् ।
माणिक्याचलकिंजल्करमणीयमुदीक्ष्यते ॥ ८७ ॥

या करभी उष्ट्रस्त्री तया कास्यं स्पृहणीयं कान्तारवर्त्म वनमार्गो यस्मिंस्तादृशः (ग्रीष्मे उष्ट्रजातिप्रियभोज्यकण्टकिवृक्षाः सपत्रा जायन्त इति उष्ट्रीणां कान्तारयात्रायां रभसो भवति, तादृशं च कान्तारं मरावेव भवति, कण्टकिवृक्षाणां मरुषु प्रसिद्धिरपीति बोध्यम्) जाज्वलन्ती अतिदीप्यमाना जाङ्गलश्रीः निर्जलभूमिशोभा यत्र तादृशश्चायं मरुः दूरे विप्रकर्षे सत्यपि अक्ष्णोः नयनयोः ज्योतिस्तेजः अपलपति हरति दृक्शक्तिं लुम्पतीत्यर्थः । अस्मिन् मरौ चन्द्रकान्ता नाम मणिभेदाः विष्वद्रीचीभिः सर्वतोव्याप्ताभिः उडुपतेः चन्द्रस्य कान्तिभिः प्रभाभरैः प्रस्नुवानाः द्रवीभवन्तः निजैः मरुदेशभवैरूष्मभिः यत् क्वथनम् पाकः तेन परिणमद्बुद्बुदं निर्गच्छद्बुद्बुदं यथा स्यात्तथा फेनायन्ते फेनमुद्वमन्ति । करभीणां ज्येष्ठमासीययात्रोपयुक्तवनमार्गपूर्णः प्रभाभासुरतया जाङ्गलभूमीनां दृक्शक्तिं लुम्पन्, चन्द्रकिरणप्रस्नुताः ग्रीष्मोष्मक्वथिताः अत एव बुद्बुदोपमफेनवहाश्च चन्द्रकान्ता यत्र सन्ति तादृशश्चायं मरुरेव दृश्यत इत्यर्थः । 'ज्येष्ठामूलीयमिच्छन्ति मासमाषाढपूर्वजम्' इति हारावली । 'जङ्गलो निर्जलो देशः' इति धरणिश्च । स्रग्धरावृत्तम् ॥८६॥

सिंहलेति । दक्षिणेन सिंहलद्वीपम् सिंहलद्वीपस्य दक्षिणे भागे अम्भोधिसम्भूतम् सागरसमुत्पन्नम् इदम् उत्पलम् एप रोहणगिरिः कमलवत् प्रतीयते, यत् कमलम् 'माणिक्याचलैः मणिमयपर्वतैः किञ्जल्कैः केशरैः रमणीयं सुन्दरम् उदी-

---

१ ऊंटकी स्त्रियोंको बहुत अच्छा लगता है, यहाँ जलते हुए निर्जल भूमिदेशकी चमक दूरमें रहकर भी आँखको चकाचौंधमें डाल देता है, और फैलती हुई चन्द्रकिरणोंसे पसीजनेवाले चन्द्रकान्त अपनी ही गर्मीसे पानीके सन्तप्त हो जानेसे बुलबुले निकाल रहे हैं ॥८६॥

(सभी विमानके उतरनेका अनुभव करते हैं)

राम—(सीताकी ओर देखकर) देवि, दक्षिणकी ओर यह सिंहलद्वीप ऐसा लगता है मानों समुद्रमें उत्पन्न कमल हो, जिसके किञ्जल्क यह माणिक्याचल हों ॥ ८७ ॥

सीता—जहिं कासकुसुमसंकासो अगत्थहंसो चरइ। [यत्र काशकुसुमसंकाशोऽगस्त्यहंसश्चरति ।]

रामः—(स्मित्वा ।) आं मैथिलि, आम्। [1]इहैव रोहणगिरेरुपत्यकायां द्वितीयमायतनं मुनेर्लोपामुद्रावल्लभस्य । स तत्रभवान्

बृहत्पात्रप्राप्त्या विततजलमम्भोधिमुदरे
[2]दधावीषद्ग्राह्यं किल कलशजन्मा कुलपतिः ।
यमाराध्यन्विन्ध्याचलशिखरशोथैकभिषजं
विवस्वानाश्वीनं [3]गगनमविरोधात्कलयति ॥ ८८ ॥

श्यते, सिंहलद्वीपस्य दक्षिणे भागे समुद्रोदितं पद्मविवार्यं रोहणो नाम गिरिस्तस्य च केशरैरिवैतः माणिक्याचलैः शोभा समेधमाना दृश्यत इत्याशयः ॥ ८७ ॥

काशकुसुमसङ्काशः काशपुष्पवदतिधवलः वार्धक्ये श्वेतकेशतयेत्थमुक्तम् । रोहणगिरेरुपत्यकायाम् रोहणाख्यपर्वतासन्नभूमौ । लोपामुद्रावल्लभस्य अगस्त्यस्य, लोपामुद्राऽगस्त्यस्त्री प्रसिद्धा । तत्रभवान् पूजनीयः ।

बृहत्पात्रेति । कलशजन्मा कुम्भयोनिः कुलपतिः महामुनिः ईषद् ग्राह्यं गण्डूषमात्रेण ग्रहणीयम् अम्भोधिम् समुद्रम् उदरे स्वकुक्षिदेशे बृहत्पात्रप्राप्त्या विशालाश्रयलाभेन विततजलम् विस्तृतपानीयं दधौ धृतवान् यस्यागस्त्यस्य गण्डूषमात्रेण पीतः सागरस्तस्योदरं विस्तृतमवकाशं प्राप्य विततजलमास्तेत्यर्थः । यञ्च विन्ध्याचलशिखराणाम् शोथेऽङ्गवृद्धौ उन्नमने एकभिषजम् एकमात्रवैद्यम् उपशमितविन्ध्यपर्वताङ्गवृद्धिम् विन्ध्यपर्वतस्योन्नमनमपनयन्तम् अगस्त्यम् आराध्यन् सेवमानः विवस्वान् सूर्यः आश्वीनम् अश्वैरेकाहगम्यम् गगनम् अविरोधात् विना

सीता—वही सिंहलद्वीप है जहाँपर कासपुष्पकी तरह स्वच्छ अगस्त्य हंस विचरते हैं ।

राम—(मुस्कुराकर) हाँ मैथिलि हाँ, इसी रोहणगिरिकी उपत्यकामें लोपामुद्रावल्लभ अगस्त्यमुनिका द्वितीय निवास है, वह भगवान्—

घटोद्भव अगस्त्यमुनि समुद्रको आयासरहित भावसे पी गये और वह सारा सागरका जल उनके विस्तृत उदरमें फैलकर सावकाश समा गया, उन्हीं अगस्त्यमुनिकी आराधना करके जो विन्ध्य पर्वतके शोथ वृद्धिके एक मात्र वैद्य हैं—भगवान् सूर्य एक दिनमें ही अपने अश्वों द्वारा आकाशको पार कर जाते हैं ॥ ८८ ॥

---

१. 'इह हि'। २. 'गार्धं'। ३. 'अधिरोहन्'।

अपि च—

निपीते येनाब्धौ स्तिमितगुरुभिः पक्षपटलैः ानि ।
प्रयत्नादुड्डीय प्रतिपदमपव्यस्तपतिताः ,। ९२ ॥
[1]विशन्तः कौलीरं कुहरमशरण्याः शिखरिणः ी साअरस्स
क्षणं दृष्टास्तस्य स्तुतिषु न गिरां साहसरवङ्गमोत्तिआ-

अपि च [2]यत्र शृङ्गाररसार्वभौमस्य रत्नसिंहासने सिंहति दाक्षिण्य-
प्रदोषारम्भेषु पुनः सहज-

विघ्नम् कलयति पर्यटति। यः सागरं पीत्वा स्वोदरे सावकाशं स्थ___
यश्च विन्ध्याचले शिखरैरुन्नमति सति तदीयामुन्नतिं प्रणामद्वारा प्रतिबद्ध्य त्रपर्णी-
यैकेनाह्ना वियत्पर्यटनावसरं ददाविति भावः । कलति कामधेनुरिति रन्ती-
गमनार्थता ॥ ८८ ॥

निपीत इति । येन अगस्त्यमुनिना अब्धौ सागरे निपीते निरवशेषं पीते स
स्तिमिताः आर्द्राः अत एव गुरवो भारवन्तश्च ये पक्षपटलाः पक्षतिसमुदयाः त
प्रयत्नात् प्रयासमाधाय महता प्रयासेनेत्यर्थः । उड्डीय प्रतिपदम् अपव्यस्तं विपर्यस्त
यथा स्यात्तथा पतिताः अत एव अशरण्याः रक्षारहिताः शिखरिणः समुद्रे स्वपक्ष-
रक्षार्थं निलीय वर्त्तमानाः मैनाकादयः पर्वताः कौलीरं कर्कटाख्यजनुःसम्बन्धि कुहरं
गर्त्तबिलं विशन्तो दृष्टाः जनैरिति शेषः । तस्यागस्त्यस्य स्तुतिषु गिरां वाचां साहस-
रसः हठप्रवृत्तिर्न वाचस्तत्स्तुतिसाहसं न कर्त्तुं शक्ता अशक्यत्वात्तादृशकार्यस्ये-
त्याशयः । येनागस्त्येन समुद्रे पीयमाने आश्रयापगमेन पर्वताः क्लिन्नैः पक्षैरुड्डीय
पतन्तः पतिताश्च पुनः स्वरक्षार्थं कौलीरकुहरं प्रविशन्तो लोकैर्दृष्टास्तस्य मुनेः
स्तुतौ कथं वाचः साहसं कुर्वन्त्विति तात्पर्यम् ॥ ८९ ॥

शृङ्गारसार्वभौमस्य शृङ्गाररससम्राजः, रत्नसिंहासने रत्ननिर्मितसिंहासनसमे,
प्रदोषारम्भेषु निशामुखेषु ।

और—अगस्त्यमुनिने जब समुद्र पी लिया तब भींग होनेके कारण भारी पङ्खोंसे किसी तरह उड़-उड़कर गिरते-पड़ते समुद्र स्थित पर्वतगण अपने शरणीभूत जलके समाप्त हो जानेके कारण घबड़ाकर केंकड़ोंके बिलोंमें पैठते हुए देखे गये, उस महाप्रभाव अगस्त्यमुनिकी स्तुतिमें वाणी कैसे साहस करे ? ॥ ८९ ॥

और यह सिंहलद्वीप तो शृङ्गाररसका सार्वभौम ठहरा, यहीं इस रसका रत्नसिंहासन है, यहाँपर प्रदोषारम्भमें—

---

१. 'व्रजन्तः' । २. 'यत्र' इति क्वचिन्नास्ति ।

सीता- उदेष्यत्पीयूषद्युतिरुचिकणार्द्राः शशिमणि-
कुसुमसंका स्थलीनां पन्थानो घनचरणलाक्षालिपिभृतः।
र चकोरैरुड्डीनैर्झटिति कृतशङ्काः प्रतिपदं
कार पराञ्चः संचारानविनयवतीनां विवृणते ॥ ९० ॥

(अन्यतो दर्शयन्।) इयमितो मौक्तिकीयानामपामाधारस्ताम्रपर्णी।

[1]शुक्तिकागर्भसम्बन्धस्तम्भितास्तोयबिन्दवः।
[2]भ्रमन्ति सुभ्रुवामङ्कादङ्कमस्याः प्रसूतयः ॥ ९१ ॥

उदेष्यदिति। उदेष्यतः उदयं प्राप्स्यतः पीयूषद्युतेरमृतकरस्य चन्द्रमसः रुचिकणैः मयूखलेशैः आर्द्राः स्रवन्तः (अत एव सिक्तार्द्राः) घना सान्द्रा या चरणयोः कामिनीचरणयोर्लाक्षा अलक्तकरागस्तस्या लिपिम् लेखम् बिभ्रतीति तथोक्ताः शशिमणिस्थलीनां चन्द्रकान्तरचितभूमीनां पन्थानो मार्गाः उड्डीनैः चकोरैः झटिति प्रतिपदं प्रतिचरणक्षेपं कृतशङ्काः समेधितजनागमभयाः सन्तः अविनयवतीनां दुःशीलानामभिसरन्तीनां स्त्रीणाम् पराञ्चः प्रतीपान् सञ्चारान् विवृणते प्रकटयन्ति। अयमर्थः—चन्द्रोदये सन्निहिते सति चन्द्रकरस्पर्शार्द्राः चन्द्रकान्तमार्गाः स्त्रीचरणालक्तकलेखपूर्णा भवन्ति, यदा च तत्रैव सञ्चरन्तीनामभिसारिकाणां मनांसि चकोरेषूड्डीनेषु जनागमभयेन भीतानि जायन्ते तदा ताः द्रुतपदन्यासं परावर्त्तन्ते येन प्रतीपाश्चरणन्यासास्तत्रार्द्रे वर्त्मनि दृश्यन्त इति। शिखरिणीवृत्तम् ॥९०॥

शुक्तिकागर्भेति। शुक्तिकानां मुक्तास्फोटानां गर्भेषु मध्यभागेषु संबन्धः। कियत्कालपर्यन्तं स्थितिस्तेन स्तम्भिताः पिण्डीभूतास्तोयबिन्दवः शुक्तिगर्भसम्बन्धपिण्डितास्तोयबिन्दव इव अस्याः मौक्तिकीयजलवाहिन्यास्ताम्रपर्णीनद्याः प्रसूतयः उत्पाद्याः मुक्ताः सुभ्रुवाम् सुन्दरीणामङ्कादङ्कं भ्रमन्ति सञ्चरन्ति। यथा

उदित होनेवाले चन्द्रमाकी किरणोंसे आर्द्र चन्द्रकान्त मणिसे बने मार्ग स्त्रियोंके चरणालक्तक द्वारा लिखे गये लेखोंसे युक्त होकर उड़नेवाले चकोरोंसे स्त्रियोंके हृदयमें भयका सञ्चार करके अभिसारिकाओंको उलटे पांव लौटनेकी बाधित करते हैं ॥ ९० ॥

(दूसरी तरफ दिखलाते हुए) मुक्ता पैदा करनेवाले पानीका आधार इधर ताम्रपर्णी नदी है।

शुक्तिका गर्भभागसे सम्बन्ध होनेके कारण जमे हुए जल स्वरूप ताम्रपर्णीमें पैदा होनेवाले मौक्तिक सुन्दरियोंकी गोदोंमें घूमा करते हैं ॥ ९१ ॥

१. 'संभूत–'। २. 'भजन्ति'।

अपि च—

युवतिकुचभोगकर्मभिरुद्भूतैः शुक्तिसंपुटधृतानि ।
दधतीह [1]ताम्रपर्ण्याः स्थिरकरकाभावमम्भांसि ॥ ९२ ॥

सीता—अज्जउत्त, जेट्ठेति दक्खिणमत्तएण भअवदो साअरस्स भाईरहीपक्खपादो । पेम्मसव्वस्सणीसन्दो उण सहजसव्वङ्गमोत्तिआहरणरमणीआए तम्मपण्णीए लक्खीअदि । [आर्यपुत्र, ज्येष्ठेति दाक्षिण्यमात्रकेण भगवतः सागरस्य भागीरथीपक्षपातः । प्रेमसर्वस्वनिःस्यन्दः पुनः सहजसर्वाङ्गमौक्तिकाभरणरमणीयायास्ताम्रपर्ण्या लक्ष्यते ।]

कस्याश्चन भाग्यवत्याः प्रसूतिमपरा ललनाः स्वाङ्केषु निदधति तथैव ताम्रपर्णीप्रसूतं मुक्तागणं सुभ्रुवोऽङ्कादङ्कं परिक्रामयन्ति स्वं स्वमङ्गं ताभिर्मुक्ताभिरलङ्कुर्वन्तीत्याशयः ॥ ९१ ॥

युवतिकुचेति । इह अत्र प्रदेशे ताम्रपर्ण्याः अम्भांसि जलानि उद्भूतैः पूर्वजन्मवृत्तैः युवतिकुचभोगकर्मभिः यैः कर्मभिर्युवतिकुचावस्थितिरूपो भोगः प्राप्यते तादृशैः पूर्वाचरितसुचरितैः शुक्तिसंपुटधृतानि सन्ति शुक्तिपुटगतानि भूत्वा स्थिरकरकाभावम् अद्रवशीलवर्षोपलस्वरूपत्वम् दधति धारयन्ति । पूर्वजन्मसुकृतवशात्ताम्रपर्णीजलानि शुक्तिपुटगतानि भूत्वा स्थिरकरकारूपेण परिणमन्ते या मुक्ताभूताः युवतिकुचभोगमनुभवन्तीत्यर्थः, 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

ज्येष्ठा पूर्वपरिणीता इति बुद्ध्या दाक्षिण्यमात्रकेण केवलेन समदर्शित्वसूचकव्यापारमात्रेण, भगवत्यां भागीरथ्यां पक्षपातः अनुग्रहः केवलं स्वसमदर्शित्वं प्रकटयितुमेव सागरो भागीरथ्यां स्नेहं प्रकाशयतीत्यर्थः, प्रेमसर्वस्वनिःस्यन्दः पूर्णप्रेमप्रवाहः । सर्वाङ्गमौक्तिकाभरणरमणीयायाः—सर्वेष्वङ्गेषु मुक्ताभरणं वहन्त्याः । ताम्रपर्णी एव सागरस्याधिका प्रिया यतोऽसौ भूषितसर्वाङ्गशालिनी, प्रियानुरागफलस्य भूषणस्य तयैव लाभादित्यर्थः ।

ताम्रपर्णीका जल युवतिगणके कुचस्थलमें वास प्रदान करनेवाले अपने पूर्व पुण्योंके प्रभावसे शुक्ति-सम्पुटमें रहकर स्थिर करकाका रूप धारण कर लेते हैं ॥ ९२ ॥

सीता—आर्यपुत्र, समुद्र भद्रताके कारण ही गङ्गाको बड़ी स्त्री समझकर पक्षपात करता है, नहीं तो समुद्रका सारा प्रेम ताम्रपर्णीपर ही प्रतीत हो रहा है क्योंकि उसका सम्पूर्ण शरीर मौक्तिकाभरणोंसे लदा हुआ है ।

---

१. 'ताम्रपर्ण्याम्' ।

रामः—(विहस्यान्यतो दर्शयन् ।)

रमयति मलयाचलोऽयमस्मादुपनमता पवनेन मानिनीनाम् ।
दयितविनयकूटसाक्षिणीभिः स खलु सखीभिरदुष्करः प्रबोधः ॥९३॥

लक्ष्मणः—([1]अग्रे दर्शयन् ।)

स्वपाणिप्राग्भारप्रबलविततोत्तानसलिल-
स्वयंदृष्टक्रीडत्तिमिनिवहलग्नामिव घृणाम् ।
दधानस्यापीतोज्झितजलनिधेरेतदपरं
पुरो लोपामुद्रासहचरमुनेराश्रमपदम् ॥ ९४ ॥

रमयतीति । अयं मलयाचलः मलयाख्यः पर्वतः रमयति अस्मानानन्दयति । अस्मात् मलयाचलात् उपनमता प्रवर्त्तमानेन पवनेन वायुना करणभूतेन दयितविनयकूटसाक्षिणीभिः प्रियकृतविनयप्रत्यक्षदर्शिकाभिः सखीभिः मानिनीनाम् स प्रबोधः मानापनयः खलु अदुष्करः सुकरः । अयं मलयाचलो नः प्रीणयति यतश्चलितेन वायुना सहकृताः सख्यो दयितकृतप्रार्थनाभिरपि मानमत्यजन्त्यो मानवत्यस्त्वरितमनुनीयन्त इत्याशयः। पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ९३ ॥

स्वपाणीति । स्वपाणिप्राग्भारे निजकरविस्तारे प्रबलविततम् अतिविस्तृतं यत् उत्तानसलिलमगभीरं समुद्रजलम् तत्र जले स्वयं दृष्टाः आत्मनाऽवलोकिताः ये क्रीडन्तः तिमिनिवहाः महामत्स्यसमूहास्तेषु लग्नां जातां घृणां दयां दधानस्य धारयतः इव आपीतोज्झितजलनिधेः विनैव पानं कृत्वा त्यक्तसागरस्य लोपामुद्रासहचरमुनेः अगस्त्यस्य पुरः अग्रे वर्त्तमानम् एतत् अपरमाश्रमपदम् विद्यत इति शेषः। अगस्त्यो यदा विस्तृते निजपाणितले सागरं पिपासया धृतवांस्तदा सागर-

---

राम—(हंसकर दूसरी ओर दिखलाते हुए) यह है मलयाचल, यह मुझे आनन्द दे रहा है। इसपरसे बहने वाली वायुसे सखियाँ मानिनियोंके मानको सरलतासे दूर कर सकती है, जिन मानवती स्त्रियोंने प्रियतमों द्वारा किये गये बहुविनयको भी ठुकरा दिया वह स्त्रियाँ भी मलयानिलके बहनेपर सखियोंद्वारा सरलतासे मना दी जाती है ॥९३॥

लक्ष्मण—(आगेकी ओर दिखलाकर)

अगस्त्यने पीनेके लिए समुद्रको हाथमें लिया, उनके विस्तृत हाथमें फैलकर समुद्रका जल छिछला हो गया, उस पानीमें जब अगस्त्य मुनिने खेलते हुए महामत्स्योंको देखा तब उनको बड़ी दया आई, उसी दयासे द्रुत होकर उन्होंने समुद्रका जल पीकर तुरन्त निकाल दिया, उस लोपामुद्राके सहचर अगस्त्यमुनिका यह दूसरा आश्रमपद है ॥ ९४ ॥

---

१. 'अन्यतः'।

अपि चास्मिन्—

चतुरब्धिपानचेष्टादृष्टपिपासे मुनावुदयमाने ।
पाययितुमिवात्मानं [1]विशुध्य सज्जीभवन्त्यापः ॥ ९५ ॥

सुग्रीवः—(सस्मितम् ।)

ध्रुवमिह चतुरम्भोनिधिरचितापोशानकर्मणि मुनीन्द्रे ।
भक्ष्यंमन्यानि किमपि चकम्पिरे सप्तभुवनानि ॥ ९६ ॥

जलमतिविस्तृतमभवत् तत्र मुनिना क्रीडन्तस्तिमिनिवहाः प्रत्यक्षीकृतास्तेषु दयामाधायेव मुनिस्तत्सागरजलमापीतमेवोज्झितवान् , तस्य लोपामुद्रापतेरगस्त्यस्यापरमिदमाश्रमपदं पुरो दृश्यत इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ९४ ॥

चतुरब्धीति । चतुर्णाम् अब्धीनाम् सागराणां पानचेष्टया पानप्रयासेन दृष्टा पिपासा यस्य तादृशे मुनावगस्त्ये उदयमाने उद्गच्छति सति आपो जलानि आत्मानं पाययितुमिव विशुध्य निर्मलीभूय सज्जीभवन्ति । अयमगस्त्य उदयति स हि चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽपि न गतपिपासः सञ्जातस्तदसौ अस्मानपि पीत्वा गतपिपासो जायतामिति धियेव जलानि स्वं शोधयित्वा सज्जिता भवन्तीति । अगस्त्योदये जलशुद्धिः स्वाभाविकी सैवात्रागस्त्यपिपासानिवर्त्तनेच्छाजनितत्वेनोत्प्रेक्ष्यते । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ९५ ॥

ध्रुवमिहेति । इह अस्मिन् मुनीन्द्रे मुनिश्रेष्ठेऽगस्त्ये चतुर्भिः अम्भोनिधिभिः रचितं कृतम् अपोशानकर्म भोजनपूर्वकालसम्पाद्यामृतोपस्तरणकर्म येन तादृशे सति भक्ष्यंमन्यानि आत्मानं भक्ष्यं मन्यमानानि सप्तभुवनानि भूर्भुवःस्वरादीनि किमपि अनिर्वाच्यरूपेण चकम्पिरे यदा मुनिरगस्त्यश्चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽपोशानकर्म निर्वर्त्तितवांस्तदाऽऽत्मानमपि भक्ष्यं मन्यमानानि सप्तापि भुवनानि—

इस अगस्त्यमुनिको देखकर तथा चारो सागरोंको पी जानेवाली इनकी पिपासाका अन्दाज करके संसारका पानी स्वच्छ होकर तैयार हो जाते हैं कि मुनिवर मुझे भी पीकर कृतार्थ कर सकें ॥ ९५ ॥

भोजनके पूर्व किये जानेवाले आचमनके रूपमें अगस्त्यने जब चारो सागरोंका पान कर लिया तब सप्तभुवनको मालूम हुआ कि कहीं हम ही न इनके भक्ष्य हों, ऐसा समझकर सप्तभुवन काँप उठे ॥ ९६ ॥

---

१. 'विशुद्धसज्जी–'; 'विशुद्धिसज्जी–' ।

(सर्वतोऽवलोक्य सहर्षाद्भुतम् ।) अहो चिरेणाद्य चतुर्दशलोकैकदण्डधरे धर्मासनाधिकारिणि रामदेवे दण्डकारण्यगृहमेधिनां तपोवनानामृद्धयः ।

रामः—(सलज्जस्मितं विमानवेगनाटितकेनाधोऽवलोक्य ।) कथं हिरण्यहरिणविहारकान्तारस्थलीनामुपरि प्रतिष्ठामहे ।

सुग्रीवः—(सोपहासम् ।) इयं सा मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मनो दशकण्ठस्य कपटभिक्षुवेषवि[1]डम्बनाडम्बरैकमर्मज्ञा पञ्चवटी । (सादरं च।)

अपोशानकर्मानन्तरं भोजनस्य प्राप्तावसरतया कदाचिदस्मानेवायं मुनिर्भुञ्जीतेति चिन्तयाऽकम्पन्तेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

चतुर्दशलोकैकदण्डधरे चतुर्दशभुवनशासके । धर्मासनम्-राज्यम् । दण्डकारण्यगृहमेधिनाम् दण्डकारण्यवासिनां गृहिणाम् सदाराणां तपस्विनाम् । ऋद्धयः-अभ्युदयाः ॥

हिरण्येति । हिरण्यहरिणः काञ्चनमृगः तस्य विहाराय विचरणाय याः कान्तारस्थल्यो वनभूमयः तासामुपरि ऊर्ध्वदेशे प्रतिष्ठामहे चलामः । यत्र सम्प्रति वयं सञ्चरामस्तदध एव हिरण्यहरिणविहारवनस्थली अस्तीति भावः ।

मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मनः मारीचशरीरं दत्वा सुरक्षितस्वदेहस्य, यदि रावणो मारीचं मायामृगं विधाय नाघातयिष्यत्तदा सीताहरणकाले रामस्याश्रमस्थित्या स्वयममरिष्यदिति रावणेन मारीचशरीरमुपहृत्यात्मा रक्षित इत्युक्तम् ॥ कपटभिक्षुवेषो मायाकल्पितपरिव्राजकरूपम् , तेन या विडम्बना वञ्चना तस्याडम्बरस्य विस्तारस्य मर्मज्ञा साक्षिणी ।

(चारों ओर देखकर हर्ष तथा आश्चर्यके साथ) अहा, बहुत दिनोंके बाद चतुर्दशभुवनशासक भगवान् रामके धर्मासनाधिकारी होनेपर दण्डकारण्यके तपस्वी गृहस्थ उत्सव मना रहे हैं ।

राम—(लज्जासे मुस्कुराते हुए विमानके वेगके साथ नीचे की ओर देखकर) क्यों, सुवर्ण-मृग मारीचके संचारवाले वनोंसे ऊपर चल रहे हैं ।

सुग्रीव—(उपहासके स्वरमें) यही है वह पञ्चवटी जिसने मारीचकी देहको बलिदान करके अपनी जान बचानेवाले तथा कपटभिक्षु-वेषके आडम्बरमें लगे रावणके व्यापारको आंखों देखा है ।

---

१. 'विटम्बनैक-' ।

विश्वामित्रमखद्विषे च वपुषा चित्रेण पत्युर्मुखा-
दप्याकृष्टविदेहराजतनयानेत्रारविन्दाय च ।
मारीचाय नमो नमः किमपरं यस्मै कुले रक्षसां
द्वौ वारौ विभुनापि दाशरथिना चक्रे ततज्यं धनुः ॥९७॥

(सीता लज्जते ।)

रामः—(प्रस्रवणाचलं दर्शयन्सीतामपवार्य ।) देवि,

नक्तं रत्नमयूखपाटलमिलत्काकोलकोलाहल-
त्रस्यत्कौशिकभुक्तकन्दरतमाः सोऽयं गिरिः स्मर्यते ।

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रमखद्विषे कौशिकयज्ञविनाशिने, चित्रेण आश्चर्यकरेण स्वर्णमयेन वपुषा देहेन पत्युर्मुखात् रामाननात् अपि आकृष्टं स्वस्मिन्नाकृष्य नीतं विदेहराजतनयायाः सीताया नेत्रारविन्दं नयनकमलं येन तथोक्ताय च यस्मै मारीचाय रक्षसां कुले रक्षोदलमध्ये विभुना परमेश्वरावतारेणापि दाशरथिना रामेण द्वौ वारौ द्विधा धनुः ततज्यं धृतप्रत्यञ्चाकं चक्रे कृतम् , तस्मै मारीचाय नमो नमः । अयमाशयः—यस्मै मारीचाय सर्वानपि राक्षसान् सकृदेव चापमारोप्य मारितवतापि रामेण द्विधा धनुरारोपितम् , एकदा विश्वामित्रमखद्वेषकारिणि, अपरत्र च चित्रं वपुरादाय सीतानयनमपि राममुखादाकृष्टवति तदित्थं द्विधा रामबाणविषयतां गताय मारीचाय नमो नम इत्याशयः ॥ ९७ ॥

नक्तमिति । नक्तं रात्रौ रत्नमयूखपाटलाः मणिगणप्रभाभिः श्वेतरक्तवर्णतां गताः मिलन्तः दूरादागत्य सङ्गताः ये काकोलाः द्रोणकाकाः तेषां कोलाहलेन कलरवेण त्रस्यन्तः भयं प्राप्नुवन्तो ये कौशिकाः घूकास्तैर्भुक्तम् अनुभूतम् कन्दरतमः गुहास्थितं तिमिरं यत्र तथोक्तः सोऽयं गिरिः प्रस्रवणः स्मर्यते ध्यानविषयीक्रियते,

---

(आदरके साथ) उस मारीचको नमस्कार है जिसके ऊपर भगवान् रामचन्द्रने दो-दो बार अपने बाण चलाये। पहली बार तब बाण चलाया था जब विश्वामित्रके यज्ञमें उपद्रव कर रहा था, और दूसरी बार तब जब वह चित्र शरीर बनाकर पञ्चवटीके बनोंमें घूम रहा था और उसके रूप पर आकृष्ट होकर सीताजीने उसकी ओर देखनेके लिये रामके मुखपरसे अपनी आँखें आकृष्ट कर ली थीं ॥ ९७ ॥

(सीता लज्जित होती है)

राम—(प्रस्रवणगिरिकी ओर दिखलाते हुए सीताके-पास-कानमें) देवि,

यह वही पर्वत याद आरहा है, जिस पर्वतमें रात्रिके समय रत्न किरणोंकी लालिमामें मिलित द्रोणकाकों द्वारा किये जानेवाले कोलाहलोंसे डरे हुए कौशिक पक्षिगण कन्दराके

यत्राकृष्टकुचांशुके मयि रुषा वस्त्राय पत्त्राणि ते
[1]चिन्वन्त्या वनदेवतास्तरुलतामुच्चैर्व्यधुः कौतुकात् ॥९८॥

सीता—(स्मयमाना कपोतहस्तं कृत्वा ।) भअवदीओ जणट्ठाणदेवदाओ, एसा वो परिचारिआ जाणई पणमदि । [भगवत्यो जनस्थानदेवताः, एषा वः परिचारिका जानकी प्रणमति ।]

रामः—(अन्यतो दर्शयन् ।) देवि, वन्दस्व भगवतीमितो गोदावरीम् । (जनान्तिकम् ।)

एतस्याः पुलिनोपकण्ठफलिनीकुञ्जोदरेषु स्रजं

रात्रौ यदा रत्नप्रभया श्वेतरक्तवर्णतां प्रापिताः कोलाहलं कुर्वन्तश्च द्रोणकाका अत्र पर्वते सञ्चरन्ते तदा तेषां कलरवं श्रुत्वा भीताः कौशिका अस्य कन्दरागतं तमोऽनुभवन्ति, सोऽयं प्रस्रवणाख्यो गिरिरिति सम्प्रति मया स्मर्यते इत्याद्यपादद्वयस्यार्थः। यत्र प्रस्रवणे मयि आकृष्टकुचांशुके त्वदीयस्तनावरकवस्त्रमपहरति सति रुषा प्रणयकोपेन वस्त्राय कुचाच्छादनसाधनाय पत्राणि वृक्षलम्बितलतादलादि चिन्वन्त्याः कौतुकात् किमिदमधुनाऽऽचरतीत्युत्सुकत्वात् वनदेवताः तरुलताम् उच्चैर्व्यधुः उपरि नीतवत्यः। यत्र प्रस्रवणे निवसता मया तव स्तनवस्त्रेऽपहृते प्रणयकुपितया त्वया स्तनावरणाय लतापत्राणि चेतुमिष्यमाणे कौतुकवशात्तद्वनदेवतास्तरुलता आकृष्योपरि नीतवत्यः, सोऽयं गिरिः स्मर्यत इत्याशयः ॥ ९८ ॥

एतस्या इति । एतस्याः गोदावर्याः पुलिनोपकण्ठे तटसमीपदेशे या फलिन्यः

अन्धकारमें छिप जाते हैं, और जहांपर मैंने तुम्हारे स्तनपरके वस्त्रको खींचलिया था, कुपित होकर तुमने स्तनोंको आवृत करनेके लिये पत्ते तोड़ने चाहे, उसपर कुतूहलवश वनदेवताओंने वृक्षपरकी लताओंको ऊंचा उठालिया और तुम्हें विवश होकर रह जाना पड़ाथा ॥ ९८ ॥

सीता—(मुस्कुराकर हाथ जोड़ती हुई) हे जनस्थानके देवताओ, यह आपकी दासी सीता आपको नमस्कार करती है ।

राम—(दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि, इधर भगवती गोदावरीको नमस्कार कर लो । (चुपकेसे)

इसी गोदावरीके तटोंमें वर्त्तमान प्रियङ्गुलताके कुञ्जमें मैंने पलाशकी कलियोंसे माला

---

१. 'चिन्वन्त्यो' ।

कृत्वा किंशुककोरकैरकरजक्रीडासहिष्णुस्तने।
दत्त्वा वक्षसि ते मयि प्रहसति प्रौढापराधे तदा
कौमारव्रतभङ्गरोषितमपि स्मेरं तवासीन्मुखम् ॥ ९९ ॥

(सीता सलज्जस्मितं [1]मुखमवनमयति, नमति च गोदावरीम्।)

रामः—(परिवृत्यावलोकितकेन सखेदम्।) देवि[2],

अस्मिन्माल्यवतस्तटीपरिसरे कादम्बिनीडम्बरः

प्रियङ्गुलताः तासां कुञ्जोदरेषु तन्निर्मितनिकुञ्जमध्यभागेषु किंशुककोरकैः पलाशकलिकाभिः स्रजं मालां कृत्वा निर्माय अकरजक्रीडासहिष्णुस्तने नखक्षतं सोढुमशक्तेन अतिसुकुमारेण स्तनेन युक्ते ते तव वक्षसि दत्त्वा निधाय प्रौढापराधे विहितदीर्घापराधे मयि प्रहसति सति कौमारव्रतभङ्गेन सम्भोगपरित्यागरूपकौमारव्रतत्याजनेन रोषितं कुपितमपि तवाननं स्मेरं सहासम् आसीत्। अयमर्थः–अत्र गोदावरीतीरे निवसत्स्वस्मासु मया किंशुककलिकामाल्यं निर्माय नखक्षतक्रीडासहेनासमर्थकोमलस्तनशालिनि तव स्तने निक्षिप्तं हसितं च, तत्र ममायमभिप्राय आसीद्यदिदं किंशुककलिकामाल्यं कुटिलरक्ताभपुष्पतया नखक्षतसमुदाय इव प्रतीयते तव स्तनयोरिति पश्येति, तदीदृशप्रौढापराधकारिण्यपि मयि सुरतक्रीडावर्जनरूपकौमारव्रतपरित्याजनेन सुरतक्रीडायामासञ्जनेन रोषितमपि तवाननम् नखक्षतकिंशुककलिकयोः सादृश्येन मदीयेन विदग्धत्वेन च सहासमजनीत्यर्थः। 'तोयोत्थितं तत्पुलिनम्', 'प्रियङ्गुः फलिनी फली', 'पलाशे किंशुकः पर्णम्' 'कलिका कोरकः पुमान्' इति सर्वत्रामरः ॥ ९९ ॥

अस्मिन्निति। माल्यवतः तदाख्यस्य गिरेः अस्मिन् तटीपरिसरे समीपदेशे

बनाकर नखक्षतको नहीं सहनेवाले स्तनोंसे युक्त तुम्हारे वक्षःस्थल पर डाल दी थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि जैसे कुटिलरक्ताभ किंशुक-कलियोंसे तुम्हारे स्तनोंकी कान्ति बढ़ रही है उसी तरह नखक्षतोंसे भी बढ़ सकती है, इस प्रकार माला डालकर हंसने लगा, मेरा अपराध महान् था, फिर भी कौमार-व्रतके भङ्गसे रोषित होनेपर भी तुम्हारा मुख सहास हो उठा था ॥ ९९ ॥

(सीता लज्जा तथा हंसीसे मुख झुका लेती है, गोदावरीको प्रणाम करती है)

राम—(घूमकर देखते हुए) देवि,

इस माल्यवान् नामक पर्वतके समीपमें मेघके उमड़नेपर वर्षा न भी हो पाई थी

---

१. 'मुखमानम्य गोदावरीं नमति'। २. 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति।

स स्थूलंकरणो मदश्रुपयसामासीदवर्षन्नपि ।
यद्धारावलितैर्न शाखिभिरपि त्वत्पालितैर्मां तथा
दृष्ट्वा कन्दलितं न केकिभिरपि प्रारम्भि संगीतकम् ॥ १०० ॥

सीता—([1]मन्युगद्गदकण्ठग्रन्थिलस्वरा पुष्पकं प्रति ।) विमाणराअ, सीदह्मि । ण दलदि ज्जेव वज्जमअं मे हिअअम् । तथा वि तुवरेहि । एसा अन्तरीअदु दण्डआरण्णविच्छोली । [विमानराज, सीतास्मि । न दलत्येव वज्रमयं मे हृदयम् । तथापि त्वरस्व । एषा अन्तरीयतां दण्डकारण्यपङ्क्तिः ।]

रामः—(विमानवेगनाटितकेन सीतां प्रति ।) [2]देवि, इदमग्रे महारा·

अवर्षन् वृष्टिमकुर्वन्नपि कादम्बिनीडम्बरः मेघमालाविस्तारः मदश्रुपयसां मदीयनेत्रजलानाम् स्थूलङ्करणः वृद्धिकर आसीत्, अत्र त्वद्वियोगार्त्तेन मया मेघमण्डलं दृष्ट्वा रोदितुमुपक्रान्तमासीदित्यर्थः। मां तथा रुदन्तं दृष्ट्वा यस्य कादम्बिनीडम्बरस्य धाराभिः जलसंपातैः वलितैः सिक्तैः त्वत्पालितैः त्वया पूर्वं पोषितैः शाखिभिः वृक्षैरपि न कन्दलितं न पल्लवितं धारासिक्तैः त्वत्पालितैः केकिभिर्मयूरैरपि सङ्गीतकम् न प्रारम्भि नारब्धम्, मेघमागतं दृष्ट्वा त्वद्वियोगेन मां रुदन्तं वीक्ष्य त्वत्पालिता वृक्षा मयूराश्च दुःखिनो जाता येन सिक्ता अपि वृक्षा न नवपल्लवं प्राकाशयन्न वा सिक्ता अपि मयूरा नर्त्तितुमारभन्तेत्यर्थः। 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०० ॥

मन्युना प्राक्तनकष्टस्मरणदुःखेन गद्गदे जडे कण्ठे ग्रन्थिलः बद्धः स्वरः यस्यास्तथाभूता सीतेत्यर्थः। अन्तरीयतां तिरोहिता भवतु। महाराष्ट्रमण्डलैकमण्डनम् देशभेदस्य महाराष्ट्रस्य मुख्यमलङ्करणम्।

फिर भी हमारी आंखोंमें पानीकी बाढ़-सी आगई थी, धारा-वृष्टि होनेपर भी मुझे उस दुःखकी स्थितिमें देखकर वृक्षोंने नवपल्लव नहीं प्रकट किये थे और मयूरोंने संगीत भी छोड़ दिया था ॥ १०० ॥

सीता—(दुःखसे भरे गलेसे पुष्पकके प्रति) विमानराज, मैं सीता हूँ, मेरा वज्रमय हृदय फटेगा नहीं, फिर भी शीघ्रता करो जिससे यह दण्डका वनकी भूमि छिप जाय ।

राम—(विमानके वेगका अनुभव करके सीताके प्रति) महाराष्ट्र देशका अलङ्कार

---

१. 'मन्यूत्पीडगद्गद–' । २. 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति ।

भूमण्डलैकमण्डनं कुण्डिनं नाम नगरम् । इह हि

अनन्यक्षुण्णश्रीर्मलयवनजन्माऽयमनिलो
निपीय स्वेदाम्बु स्मरमकरसंभुक्तविभवम् ।
विदर्भीणां भूरिप्रियतमपरीरम्भरभस-
प्रसङ्गादङ्गानि द्विगुणपुलकस्रञ्जि तनुते ॥ १०१ ॥

किं च—

[1]बिभ्रतीं कैशिकीं वृत्तिं सौरभोद्गारिणीं गिरः ।
दूराध्वानोऽपि कवयो यस्य रीतिमुपासते ॥ १०२ ॥

अनन्येति । न अन्येन क्षुण्णा जिता प्राप्ता वा श्रीः शोभा यस्य तादृशः अनन्यक्षुण्णश्रीः अनितरसाधारणशोभः मलयवनजन्मा मलयाचलकाननप्रभवोऽयम् अनिलो वायुः दक्षिणानिलः स्मरमकरसंभुक्तविभवम् कामवाहनभूतमकराकृतिस्तनविरचितपत्रावलीपीतम् स्वेदाम्बु श्रमवर्मजलम् निपीय शोषयित्वा वैदर्भीणाम् भूरिप्रियतमपरीरम्भरभसप्रसङ्गात् बहुलीभूतप्रियतमालिङ्गनजनितहर्षवशात् अङ्गानि तासामेव वैदर्भीणां शरीरावयवान् द्विगुणपुलकस्रञ्जि द्विगुणीभूतरोमाञ्चानि तनुते विधत्ते । मलयोदितोऽनन्यसाधारणशोभाशाली चायं वायुर्वैदर्भीणामङ्गेषु सङ्गतः संस्तदीयमकराकृतिपत्रावलीपीतशेषमपि स्वेदाम्बु शोषयित्वा प्रियालिङ्गनानन्दजातपुलकस्रजां द्वैगुण्यं विधत्ते इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १०१ ॥

बिभ्रतीमिति । दूराध्वानः सुदूरमार्गवर्त्तिनो भिन्नदेशीया अपि कवयः कैशिकीं वृत्तिं दधानां सौरभोद्गारिणीम् सुरभिख्यातिमतीम् यस्य विदर्भदेशस्य गिरो वाण्या रीतिं वैदर्भीं नाम उपासते सेवन्ते । भिन्नदेशीया अपि कवयो यद्देशोद्भवां वैदर्भीं रीतिं सेवन्ते, या वैदर्भी सौरभोद्गारशालिनीं कैशिकीं वृत्तिं धारयतीत्यर्थः । 'अस्पृष्टा

यह कुण्डिन नगर आगेकी ओर दिखलाई दे रहा है ॥ यहाँ पर—

मलयानिल सबसे पहले अनुपभुक्त सौरभके साथ यहाँ आता है, कामदेवके चिह्न स्वरूप स्तनविरचित मकरने जिसके वैभवका उपभोग किया है उस स्वेद-जलको सुखा देता है वहाँकी स्त्रियोंको प्रियतमालिङ्गनमें उत्साह-वृद्धिके लिये उनके अङ्गोंमें दुगुने रोमाञ्च भी उत्पन्न कर देता है ॥ १०१ ॥

जिस विदर्भ देशकी रीति वैदर्भीको दूरदेशवर्त्ती कविगण भी अपनाते हैं क्योंकि वैदर्भी रीतिमें वाणीके परिमलको बढ़ानेवाली कैशिकी वृत्ति वर्त्तमान रहती है ॥ १०२ ॥

१. 'बिभ्रतः' ।

विभीषणः—(दक्षिणतो दर्शयन् ।) देव, प्रणम्यतामयमन्ध्रविषयलक्ष्म्याः [1]सप्तगोदावरहारकलापैकनायको भगवान्भीमेश्वरः । अयं हि

तत्कालारभटीविजृम्भणपरित्रासादिव [2]भ्रश्यता
वामार्धेन तदेकशेषचरणं बिभ्रद्वपुर्भैरवम् ।
तुल्यं चास्थिभुजंगभूषणमसौ भोगीन्द्रकङ्कालकै-
र्बिभ्राणः परमेश्वरो विजयते कल्पान्तकर्मान्तिकः ॥१०३॥

दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता । विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते । वृत्तिलक्षणं यथोक्तम्—'या विकासेऽथ सङ्कोचे विक्षेपे विस्तरे गिराम् । चेतसो वर्त्तयित्री स्यात्सा वृत्तिः सापि षड्विधा । कैशिक्यारभटी चैव तथा मध्यमकैशिकी । मध्यमारभटी चैव भारती सात्वती परा' । सुकुमारार्थसन्दर्भा कैशिकी तासु कथ्यते ॥१०२॥

तत्कालारभटीति । तत्काले नृत्यारम्भसमये या आरभटी प्रारम्भिकी क्रिया वृत्तिर्वा तया विजृम्भणम् कायवृद्धिस्ततो यः परित्रासो भयं तस्मादिव भ्रश्यता स्खलता वामार्धेन वनितारूपार्धभागेन एकशेषः एकमात्रावशिष्टश्चरणः पादो यत्र तादृशम् भैरवं भीषणं वपुः शरीरं दधत् धारयन् , भोगीन्द्रस्य वासुकेः कङ्कालकैः अस्थिभिः तुल्यम् समम् अस्थिभुजङ्गमयं भूषणं बिभ्राणः दधानः असौ कल्पान्तकर्मान्तिकः कल्पप्रलये कर्मकर्त्ता विश्वसंहर्त्ता परमेश्वरः शिवो विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । नृत्यप्रारम्भिकक्रियायां कायवृद्धौ क्रियमाणायां वर्द्धमानं शिवस्य कायमालोक्यार्धनारीश्वरस्य तस्य देहार्धरूपभीतगौरीभागोऽधोभ्रष्टस्ततश्चैकपादावशिष्टं तस्य वपुर्भैरवमभूत् , किञ्च वासुकिर्नागो भूषणीकृतो भीत्या प्राणानसृजत्तत्श्च तत्कङ्कालैरेवास्थिभुजङ्गभूषणं ध्रियते स्म, एतादृशोऽसौ संहारकरो भगवान् शिवो जयतीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

विभीषण—(दक्षिणकी ओर दिखाते हुए) आन्ध्र देशकी लक्ष्मीरूप नायिकाके गलेमें सप्त गोदावर रूप जो हार है उसका सुमेरु यह भीमेश्वर महादेव हैं इन्हें प्रणाम कर लें ।

यह नृत्यारम्भकालमें शरीरकी वृद्धि देखते ही डरकर जब वामार्ध गौरीका भाग अलग जा बैठता है तब एक ही चरणवाले भयङ्कर शरीर धारण कर लेते हैं, कङ्काल तथा सर्पका भूषण ज्यों का त्यों रह जाता है क्योंकि भूषणमें आये हुए सर्प ही मरकर कङ्काल बन जाते हैं और आकारमें सर्प भी रहते ही हैं । इस प्रकार प्रलयकारी भीमेश्वरकी जय हो ॥ १०३ ॥

---

१. 'सप्तगोदावरी' । २. 'भ्राम्यता' ।

रामः—(कृताञ्जलिः ।)

नृत्यारम्भपरित्रसद्गिरिसुतारि[1]क्तार्धसंपूर्तये
　　निर्व्यूढभ्रमिविभ्रमाय जगतामीशाय तुभ्यं नमः ।
यश्चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभिस्तादृग्भ्रमन्तीर्दिशः
　　पश्यद्भिर्भ्रमघूर्णमाननयनैः शान्तोऽपि न श्रद्दधे ॥ १०४ ॥

अपि च—

क्रीडानटस्य प्रलयान्धकारैः कण्ठे निपीते तव नीलकण्ठ ।
पृथक्कबन्धं पृथगुत्तमाङ्गं नृत्यद्भयादैक्षत कालरात्रिः ॥ १०५ ॥

नृत्यारम्भेति । नृत्यारम्भे नृत्यस्योपक्रमे परित्रसन्ती भीता या गिरिसुता पार्वती तया हीनस्य परित्यक्तस्य अर्धस्य स्वदेहार्धस्य सम्पूर्त्तये पूरणाय निर्व्यूढः समार्पितः भ्रमिविभ्रमो भ्रमणविलासो येन तथोक्ताय गौर्या भयात्त्यक्तेऽर्धभागे तद्विषयानुरागप्रकर्षेण तद्विरहासहिष्णुतया सद्य एव तत्सङ्गमाधिगमाय त्यक्तनृत्योपक्रमाय जगतामीशाय तुभ्यं शिवाय नमः । यो भवान् चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभिः शिरोभूषणवासुकिप्रभृतिभिः तादृक्पूर्ववदेव दिशो भ्रमन्तीः पश्यद्भिः भ्रमघूर्णमाननयनैः भ्रान्तनयनैः शान्तोऽपि निवृत्तनृत्योऽपि न श्रद्दधे निवृत्तो नृत्यादयमिति न विश्वस्य ज्ञातः । भवति नृत्यान्निवृत्तेऽपि वासुकि प्रभृतिभिर्दिशो घूर्णमाना विलोकयद्भिः भ्रमपतितदृष्टिभिस्तथात्वेन भवान्न प्रतीतः, सम्प्रत्यपि शिवो नृत्यत्येवेति तेषां भ्रमो न निवृत्त इत्याशयः ॥ १०४ ॥

क्रीडानटस्येति । हे नीलकण्ठ, प्रलयान्धकारैः कल्पान्तकालिकमहान्धकारैः क्रीडानटस्य स्वेच्छागृहीतनटवेषस्य तव कण्ठे निपीते आच्छादिते सति कालरात्रिः भैरवी कबन्धं शिरोहीनं वपुः पृथक्, उत्तमाङ्गं शिरश्च पृथक् नृत्यत् भयात् सभयम् ऐक्षत । कण्ठे पिहिते योजकादर्शने द्वयोरपि कबन्धशिरोभागयोः पृथक् पृथक् नृत्यद्रूपतां विलोक्य भैरवी भीतिमभजतेति तात्पर्यम् ॥ १०५ ॥

राम—(हाथ जोड़कर) जिस महादेवने नृत्यारम्भमें डरती हुई पार्वतीसे खाली अपने अर्धाङ्गको पूर्ण करनेके लिए नृत्य ही छोड़ दिया, और जिनके नृत्यसे निवृत्त हो जानेपर भी–मस्तकपर वर्तमान सर्पराजको दिशाओंको घूमती देखकर डरा-सा देखकर लोगोंको विश्वास नहीं होता है कि शिवने नांचना छोड़ दिया है, उनको नमस्कार है ॥

क्रीडार्थ नृत्य करनेवाले शिवजीका कण्ठदेश जब प्रलयान्धकारमें निलीन हो जाता है तब महाभैरवीको मालूम पड़ता है सिर अलग नांच रहा है और धड़ अलग नांच रही है ॥

---

१. 'त्यक्तार्ध–' ।

(सर्वे नमन्ति ।)

रामः—(अन्यतो दर्शयन् ।) देवि, द्रविडमण्डल[1]मौलिमण्डनमाणिक्यमणिस्तबकमिदं काञ्चीनामधेयमायतनं मीनकेतनस्य । (सीतामपवार्य ।) इह हि

स्वेदजलपिच्छिलाभिस्तनुभिर्यूनां च शिथिलमाश्लेपम् ।
विपुलं पुलकशलाकापटलं झटिति प्रतिकरोति ॥ १०६ ॥

अपि च—

अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैरवधूतपत्रलेखः ।

द्रविडेति । द्रविडमण्डलस्य द्रविडदेशस्य मौलिमण्डनं शिरोऽलङ्करणं यत् माणिक्यमणिस्तबकम् तादृशम् । आयतनं स्थानम् । मीनकेतनस्य कामदेवस्य ।

स्वेदजलेति । यूनां तरुणानां स्त्रीपुंसानां स्वेदजलैः घर्माम्भोभिः पिच्छिलाभिः तनुभिः शिथिलम् गाढतामनाप्नुवन्तम् आश्लेपम् आलिङ्गनम् विपुलं घनं पुलकशलाकापटलं रोमाञ्चरूपशलाकासमुदयः झटिति प्रतिकरोति विघटमानं वटयति समाधत्ते । काञ्चीनामधेये नगरे स्थितानां यूनां स्वेदोदयेनालिङ्गनं गाढं न संभवति पिच्छिलत्वाद्वपुषां परञ्जाते रोमाञ्चकण्टकेन पिच्छिलस्य वपुषो गाढालिङ्गनाक्षमत्वं विनिवर्त्य गाढालिङ्गनं विधाप्यत इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अभिमुखेति । अभिमुखपतयालुभिः मुखमार्गपातिभिः ललाटश्रमसलिलैः भालस्वेदजलैः अवधूता प्रोञ्छिता पत्रलेखा पत्रावलीरचना यस्मात् तथाभूतः अत एव मुदितः विशुद्धनिष्कलङ्कः यो हिमद्युतिश्चन्द्रस्तद्वद् निर्मलः स्वच्छः कपोलः वधूनां पुरुषायितं विपरीतरतिं कथयति प्रकटीकरोति । ललाटस्वेदपातेन पत्रावलीपु

(सभी प्रणाम करते हैं)

राम—(दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि, द्रविड़देशके मस्तकको अलंकृत करनेमें मौक्तिक स्तबककी तरह दीखनेवाला यह काञ्चीनगर कामदेवका निवास स्थान है। (सीताके प्रति दूसरोंसे छिपाकर)

यहाँपर पसीनेसे गीले शरीरों द्वारा जब युवाओंके आलिङ्गनमें बाधा पड़ने लगती है तब उनका रोमाञ्च उनकी मदद करता है अर्थात् रोमाञ्चके द्वारा पिच्छिलता कुछ कम बाधक हो पाती है और उन्हें आलिङ्गनमें दृढ़ता लानेका अवसर मिल जाता है ॥ १०६ ॥

सामने गिरनेवाली ललाटपरकी जलविन्दुओंसे जिनका पत्रावलिलेख धुल गया है

---

१. 'मौलिमाणिक्यस्तवकम्' ।

कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिम[1]द्युतिनिर्मलः कपोलः ॥ १०७ ॥

सुग्रीवः—(वामतो दर्शयन् ।) इयमितः शृङ्गारदेवतागर्भगृहमवन्तिविषयसीमन्तमौक्तिकमुज्जयिनी नाम राजधानी । [2]इह हि

कमितुरभिसृत्वरीणां गौराङ्गीणामिहेन्दुगौरीषु ।
उड्डयमानानामिव रजनिषु परमीक्ष्यते छाया ॥ १०८ ॥

अपि च—

अधस्तात्सौधानामिह हि चरतामिन्दुकिरणा-

प्रोञ्छितासु निर्मलचन्द्रवत् प्रतीयमानस्तासां काञ्चीपुरयुवतीनां कपोलः तासां पुरुषायितं कथयतीत्यर्थः, पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १०७ ॥

शृङ्गारेति । शृङ्गारस्य देवता कामदेवः तस्याः गर्भगृहम् अन्तःपुरम् अवन्तिर्देशभेदः तस्य सीमन्तमौक्तिकम् केशरेखाऽलङ्कारमणिः ॥

कमितुरिति । इह उज्जयिन्याम् इन्दुगौरीषु चन्द्रकिरणोज्ज्वलासु रजनिषु रात्रिषु कमितुः कामिनः (समीपम्) अभिसृत्वरीणाम् अभिसारिकाणाम् गौराङ्गीणाम् नायिकानाम् उड्डयमानानां पक्षिणाम् छाया परं केवलं दृश्यते न शरीरम् इति भावः । गौराङ्गीषु श्वेताभिसारिकासु चन्द्रज्योत्स्नामिलितासु सतीषु तासां छायामात्रं दृश्यते न शरीरमिति तात्पर्यम् ॥ १०८ ॥

अधस्तादिति । इह उज्जयिन्याम् घनं वारंवारमुदञ्चन् विघटमानो यश्चञ्चुपुटस्तत्र निहितनेत्राः दत्तदृष्टयः युवतयः सौधानां हर्म्याणां अधस्तात् अधोभागे इन्दुकिरणान् चन्द्रकरान् चरताम् पिबताम् ज्योत्स्ना एव रसः पानीयं तस्य कुतुपः स्वल्पचर्मघटस्तस्य कौतूहलम् कुर्वन्तीति ज्योत्स्नारसकुतुपकौतूहलकृताम्

वैसा कपोल बता देता है कि यहाँकी युवतियोंने विपरीतरतिका अभ्यास किया है ॥ १०७॥

सुग्रीव—(बायीं ओर दिखलाते हुए) शृङ्गार देवताका अन्तर्गृह अवन्तिदेशका सीमन्तमौक्तिक उज्जयिनी नामकी राजधानी यह इधर दीख रही है । यहाँ पर—

यहाँ अपने प्रियतमोंके पास चन्द्रधवल-रात्रियोंमें अभिसार करनेवाली स्त्रियोंकी छायामात्र ऐसी दीख पड़ती है मानों यह उड़नेवाली औरतोंकी छायायें हो ॥ १०८ ॥

सौधके ऊपर खड़ी स्त्रियाँ नीचेके चकोरोंका चन्द्रिकापान देख रही हैं, वे देखती हैं कि चकोरोंकी चोंच खुली हैं वे धड़ाधड़ चन्द्रिकापान कर रहे हैं, उन स्त्रियोंकी आँखें

---

१. 'हिमद्युतिदुर्मनाः' । २. 'इह हि' इति क्वचिन्नास्ति ।

न्धनोद्ग्र'चञ्चूपुटनिहितनेत्रा युवतयः ।
चकोराणां ज्योत्स्नारसकुतुपकौतूहलकृता-
मुदीक्षन्ते नश्यत्तिमिरविशदाभोगमुदरम् ॥ १०९ ॥

अपि च—

इह युवतिवदनकान्तिभिराप्यायिततुन्दपरिमृजः शेते ।
भुक्तापभुक्तहिमरुचिमरीचिरन्तःपुरचकोरः ॥ ११० ॥

चन्द्रज्योत्स्नारूपपानीयादानकुतुपक्रीडामिवाभ्यस्यताम् चकोराणाम् पत्तिभेदानाम् नश्यति तिमिरे विशदः प्रकाशित आभोगोऽभ्यन्तरविस्तारो यस्य तादृशम् उदरम् उदीक्षन्ते ऊर्ध्वदेशात् पश्यन्ति । सौधाग्रस्था युवतयोऽधोभागे चन्द्रकिरणान् पिबत्सु चकोरेषु वारंवारं विघटमानेषु भूरि वा विघटमानेषु चकोराणां चञ्चूपुटेषु नेत्राणि निक्षिप्य ज्योत्स्नारूपपानीयादानं कुतुपैरिव कुर्वतां तेषां चकोराणां ज्योत्स्नानश्यत्तिमिरतया प्रकाशीभवदुदराभोगं वीक्षन्ते । यथा क्वचन गृहे स्थितं वस्तु गवाक्षे दृष्टिं निक्षिप्य दृश्यते तथैवात्रत्या युवतयश्चकोराणां चन्द्रिकापानाय विघटितेषु चञ्चूपुटेषु निक्षिप्तदृष्टयो ज्योत्स्नारसादानकुतुपक्रीडामिवाचरतां चकोराणामुज्ज्वलीभवन्तमुदराभोगं पश्यन्तीति भावः । 'कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं सैवाल्पा कुतुपः पुमान्' इत्यमरः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १०९ ॥

इहेति । इह अत्रोज्जयिन्याम् अन्तःपुरचकोरः भुक्ताः अपभुक्ताश्च त्यक्ताश्च हिमरुचेश्चन्द्रस्य मरीचयः किरणा येन तथाभूतः सन्नपि युवतिवदनकान्तिभिः आप्यायितं पूर्णं फुल्लम् तुन्दं स्वोदरं परिमार्ष्टि परामृशति यस्तथाभूतः सन् शेते । अन्योपि भुक्तोज्झिताहारः पूर्णोदरश्च यदि लौल्यात्पुनरश्नाति तदा तुन्दपरिमृजोऽलसो भूत्वा क्वचिच्छेते, अयमन्तःपुरचकोरोऽपि यथारुचि चान्द्रीं रुचो निपीय पानाशक्त्या परित्यज्य च पुनर्दृश्यमानेषु युवतिमुखेषु तत्कान्तीरप्यायासैरास्वाद्यात्मतुन्दं फुल्लं परिमृजन्नलसोऽन्तःपुरे शेत इत्यर्थः ॥ ११० ॥

खुली हुई चोंचकी राहसे पेट तक पहुँच जाती हैं और यह भी देखती है कि पीतचन्द्र किरणोंसे चकोरोंके उदरदेशमें वर्त्तमान तम भी मिटते जा रहे है ॥ १०९ ॥

यहाँपर चकोरोंको युवतियोंके वदनोंकी कान्तियां पर्याप्त मात्रामें पीनेको मिल जाती हैं जिससे उनकी बुभुक्षा शान्त हो जाती है और वे अलस हो जाते है, बादमें चन्द्रमाकी किरणोंको वह चकोर कुछ खाते कुछ इधर-उधर बिखेर देते हैं और वहीं सो जाते हैं ॥

---

१. 'चञ्चूपथ–' ।

विभीषणः—इहैवायमलकायाः शाखानगरगौरवभाजि त्रिपुरदहनाधिष्ठानप्रतिष्ठो भगवान्महाकालनाथः। अयं हि

उद्दामभ्रमिवेगविस्तृतजटावल्लीप्रणालीपत-
त्स्वर्गङ्गाजलदण्डिकावलयितं निर्माय तत्पञ्जरम्।
संभ्राम्य[1]भुजदण्डपक्षपटलद्वन्द्वेन हंसायित-
स्त्रैलोक्यव्ययनाटिकानयनटः स्वामी जगत्त्रायताम् ॥१११॥

रामः—(प्राञ्जलिः।)

नमस्तुभ्यं देवासुरमुकुटमाणिक्यकिरण-

अलकायाः कुबेरपुर्याः। शाखानगरस्य उपनगरस्य गौरवं भजते तादृश्याम् अलकासमायाम्। इह उज्जयिन्याम्। त्रिपुरदहनस्य शिवस्य अधिष्ठानेन निवासेन प्रतिष्ठा ख्यातिर्यस्य तथोक्तः महाकालनाथः तदाख्यशिवलिङ्गभेदः।

उद्दामेति। उद्दामा महाभीषणा या भ्रमिः नर्त्तनभ्रमणं तद्वेगेन विस्तृता दीर्घीभूता जटावल्ली एव प्रणाली जलनिर्गमसमार्गः तस्याः तद्वर्त्मना पतन्ती या स्वर्गङ्गा तस्या जलान्येव दण्डिकाः शलाकाः ताभिः वलयितं वेष्टितम् यत् पञ्जरं तत् निर्माय कृत्वा संभ्रामयन् भुजदण्डावेव पक्षपटलद्वन्द्वम् तेन हंसायितः हंससाम्यं गतः त्रैलोक्यव्ययः संसारनाश एव नाटिका तस्या नयेऽभिनये नटः स्वामी शिवः जगत् त्रायताम् रक्षतु। अयमर्थः—वेगेन भ्रमणे प्रवृत्ते जटासु विस्तृतासु तद्वर्त्मना गङ्गापयस्सु सहस्रधारीभूय पतत्सु तज्जलधाराशलाभिरिव निर्मिते पञ्जरे स्थितः भ्राम्यतोर्भुजयोर्दण्डोपमयोः पक्षयोरिव प्रतीयमानयोर्हंससाम्यं गतस्त्रिलोकीसंहारनाटकसूत्रधृत् शिवो जगत् त्रायतामिति। रूपकालङ्कारः॥ १११॥

नमस्तुभ्यमिति। देवासुराणां देवानामसुराणां च मुकुटेषु किरीटेषु यानि माणि-

---

विभीषण—इसी उज्जयिनीमें जो अलकाके शाखानगरका गौरव धारण करती है—कामदेवको जलानेकी प्रतिष्ठा धारण करनेवाले यह महाकालनाथ रहते हैं।

प्रचण्ड भ्रमण वेगसे फैली जटारूप प्रणाली होकर गिरते हुए आकाशगङ्गाके जलरूप काठियोंसे पञ्जर-सा बनाकर भ्रमण करनेवाले बाहुदण्डरूप पक्षोंसे हंसके समान प्रतीत होनेवाले तथा त्रिलोकके संहाररूप नाटिकाके अभिनयमें नट बननेवाले स्वामी महादेव जगत्का त्राण करें॥ १११॥

राम—(हाथ जोड़कर) देव तथा असुरगणके मुकटमें खचित माणिक्योंकी किरण-

---

१. 'भुजखण्ड'।

प्रणालीसंभेदस्नपितचरणाय स्मरजिते ।
महाकल्प[1]स्वाहाकृतभुवनचक्रेऽपि नयने
निरोद्धुं भूयस्तत्प्रसरमिव कामं हुतवते ॥ ११२ ॥

किं च—

वेगादगाद्देव तव त्रिनेत्र युग्मेतरस्मान्नयनात्कृशानुः ।
कामे तु संमोहनशस्त्रहस्ते स्वाहामनुध्याय चिरं जडोऽभूत् ॥११३॥

चयानि रत्नानि तेषां किरणा एव प्रणालीसंभेदाः जलनिर्गममार्गनिर्गतजलानि तैः स्नपितौ धावितौ, चरणौ यस्य तथाभूताय प्रणिपतद्देवदानवमुकुटमणिद्युतिजलस्नपितपादद्वन्द्वायेत्यर्थः । महाकल्पे महाप्रलयकाले स्वाहाकृतं स्वहुताशे हुतं भुवनचक्रं जगन्मण्डलं यत्र तादृशेऽपि नयने निजतृतीयनेत्रे भूयः पुनः तत्प्रसरं स्वतृतीयनेत्रसञ्चारं निरोद्धुम् वारयितुमिव कामं हुतवते होमविषयं कृतवते स्मरजिते शिवाय नमः । देवदानवप्रणुतौ यश्शिवो जगन्मण्डलं संहृतवतो निजतृतीयनयनस्य प्रचारमवरोद्धुमिव कामं भस्मीकृतवान्, यद्ययं कामो नात्र हूयते तदा कुपितेनानेन तृतीयनेत्रेण पुनर्जगद्भस्मीक्रियेतेति तत्प्रतारणायैव कामं भस्मीकृतवते शिवाय नम इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ११२ ॥

वेगादिति । हे देव त्रिनेत्र शिव, तव युग्मेतरस्मात् तृतीयात् नयनात् कृशानुः अग्निः वेगात् अगात् कामसमीपं गतः किन्तु सम्मोहनशस्त्रहस्ते हस्तधृतसम्मोहननामकास्त्रे कामे स्वाहां नाम निजपत्नीम् अनुध्याय स्मृत्वा चिरं बहुकालपर्यन्तं जडः अक्रियोऽभूत् । प्रहरन्तं कामं दग्धुं त्वया तृतीयनयनात् प्रेरितोऽग्निर्वेगेन कामस्य समीपं गतस्तत्र च कामस्य हस्ते सम्मोहनं नामास्त्रमालोक्य स वह्निः स्वपत्नीस्मरणं कर्त्तुं बाधितो भूत्वा चिरं किङ्कर्त्तव्यविमूढ आसीदित्याशयः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ११३ ॥

रूप नालीसे निर्गत प्रभारूप जलसे जिनके चरण स्नपित हुआ करते हैं, और महाकल्पमें भुवनमण्डलको जलानेवाले नयनके प्रसरको रोकनेके लिए ही जिन्होंने कन्दर्पको दग्ध कर दिया है ऐसे कामारिको नमस्कार ॥ ११२ ॥

हे त्रिनेत्र, आपके तृतीयनेत्रसे अनल तो बड़े वेगसे चला, कामके समीप पहुँचा, परन्तु वहाँ जब उसने कन्दर्पको सम्मोहनास्त्र लिये खड़ा देखा तब वह तृतीय नेत्रानल अपनी प्यारी स्वाहानामक स्त्रीको याद करने लगा इसीलिए ठिठका खड़ा रहा ॥ ११३ ॥

१. स्वाहीकृत' ।

(सर्वे नमन्ति ।)

सीता—(विहस्य ।) अहो तत्थभवदो ससहरसेहरस्स कवलिद-चउद्दसभुवणस्स वि ण पलाइदा अक्खिबुभुक्खा जेण भअवं मअणो वि विआलिअग्गासीकिदो । [अहो तत्रभवतः शशधरशेखरस्य कवलितचतुर्दशभुवनस्यापि न पलायिता अक्षिबुभुक्षा येन भगवान्मदनोऽपि विकालिकग्रासीकृतः ।]

(सर्वे हसन्ति ।)

रामः—(सविमर्शम् ।) अस्य हि भगवतः

वाणीभूतपुराणपूरुष[1]धृतिप्रत्याशया धाविते
विद्राति स्फुरदाशुशुक्षणिकणक्लान्ते [2]शकुन्तेश्वरे ।

शशधरशेखरस्य चन्द्रशेखरस्य । कवलितचतुर्दशभुवनस्य चतुर्दशापि भुवनानि संहृतवतः । न पलायिता न निवृत्ता । अक्षिबुभुक्षा दृष्टिक्षुधा । विकालग्रासीकृतः मध्याह्नादिपरकालभोजनतां नीतः, यथा कृतभोजनेनापि सावशेषभोजनेच्छेन जनेन विकाले किञ्चिदल्पं भुज्यते तथैव चतुर्दशभुवनान्यप्यशित्वाऽक्षिक्षुधायामनिवृत्तायां शिवः कामदाहरूपं विकालाशनमिव कृतवानित्यर्थः ।

वाणीभूतेति । पुरा त्रिपुरदाहावसरे भगवान् विष्णुः शिवस्य वाणो जातः तत् वाणीभूतस्य शरस्वरूपं गृहीतवतः पुराणपुरुषस्य नारायणस्य धृतौ धारणे पृष्ठेन वहने या प्रत्याशा उत्कटेच्छा तया धाविते प्रस्थिते (किन्तु) स्फुरद्भिः प्रचलैः आशुशुक्षणेः अग्नेः कणैः क्लान्ते पीडिते शकुन्तेश्वरे पक्षिराजे गरुडे विद्राति पलाय-

---

(सभी प्रणाम करते हैं)

सीता—(हंसकर) महादेवकी आंखोंने चतुर्दश भुवनको ग्रास बना लिया फिर भी उनकी बुभुक्षा शान्त नहीं हुई जिससे कि उन्होंने कामदेवको जलपानके रूपमें ग्रास बना लिया ।

(सभी हंसते हैं)

राम—(विचार करके) इस महादेवका—

त्रिपुरासुरके दाहकालमें विष्णु जब उनके वाण बन गये थे तब अपने स्वामी विष्णुको अपनी पीठपर ढोनेकी लालसासे गरुड़ वाण बने हुए विष्णुके पास गये, परन्तु शिवजीके तृतीय नेत्र स्थित वह्निकी ज्वालासे झुलसकर भाग खड़े हुए, जब वह गरुड़ समीप आते

---

१. 'गति–'। २. 'पतङ्गेश्वरे'।

नम्रोन्नम्रभुजंगपुंगवगुणव्याकृष्टबाणासन-
क्षिप्तास्त्रस्य पुरद्रुहो विजयते संधानसीमाश्रमः ॥११४॥

(अन्यतो दर्शयन् ।) इयं च [1]कलचुरिकुलनरेन्द्रसाधारणाग्रमहिषी माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी । इह हि

आश्लेषचुम्बनरतोत्सवकौतुकादि-

माने सति नम्रः गरुडोपसर्पणजन्यभयान्नतः उन्नम्रः तदपसरणादुन्नतश्च यो भुजङ्गपुङ्गवः सर्पराजः स एव मौर्वी प्रत्यञ्चा तेन व्याकृष्टं चलं यत् शरासनम् धनुस्तेन क्षिप्तम् अस्त्रम् येन तथाभूतस्य पुरद्रुहः शङ्करस्य सन्धाने शरयोजने सीमा इयत्ता तत्र श्रमः विजयते । त्रिपुरारेः शिवस्य त्रिपुरदाहोपक्रमे भगवान्विष्णुः शरस्वरूपतां गतो वासुकिश्च प्रत्यञ्चारूपत्वं गतः, विष्णोर्वाहनगरुडस्तथाभूतमपि विष्णुं वोढुमुत्कण्ठमानस्तत्समीपमागन्तुमुपचक्रमे समीपमुपसरन्नेवासौ तृतीयनयनज्वालयाऽवलीढसर्वावयवस्सन्द्रुतपदं पलायितः, समीपमागच्छतस्तस्माद् भयेन वासुकिर्नमति स्म, तस्मिन्नपक्रामति चोन्नमति स्म, तदेवं तस्य वासुकेः प्रत्यञ्चारूपस्य नमनोन्नमनयोर्जायमानयोः शरः क्षिप्तो जातस्तदा च पुनः शरोऽयोज्यत पुनः क्षिप्ते शरेऽन्यः शरो योजित इति शरयोजनायास एव विजयतेः कर्तृतया वर्णितो बोध्यः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११४ ॥

करचुरिकुलं कार्त्तवीर्यार्जुनवंशस्तत्र ये नरेन्द्रा राजानस्तेषां साधारणी एकभावा अग्रमहिषी ज्येष्ठा भार्या । चेदिमण्डलस्य चेदिराज्यस्य मुण्डमाला मस्तकालङ्करणभूता ।

आश्लेषेति । आश्लेषः आलिङ्गनम् चुम्बनम् रतोत्सवः सुरतप्रसक्तिश्च एते

थे तब प्रत्यञ्चा बने हुए नागराज नम्र हो जाते थे, और जब वह तापासहिष्णु होकर दूर चले जाते थे तब नागराज कुछ उन्नत हो जाते थे, इसलिए प्रत्यञ्चाके चलायमान होते रहनेसे बाण बहुत तेजीसे छूटने लगे, अतः महादेवको तीव्रताके साथ बाण-सन्धान करना पड़ा, महादेवका वह श्रम-विजय लाभ करे ॥ ११४ ॥

(दूसरी ओर दिखलाते हुए) करचुली कुलके नृपतियोंकी साधारण पटरानी तथा चेदिमण्डलकी शिरोभूषण स्वरूप यह है माहिष्मती नगरी । यहाँपर आलिङ्गन, चुम्बन, रतोत्सव आदि द्यूतका पण बना करते हैं और उस द्यूत का मध्यस्थ बनता है कामदेव ।

१. 'करचुलि–' ।

क्रीडादुरोदरपणप्रतिभूरनङ्गः।
[1]भोगस्तु यद्यपि जये च पराजये च
यूनोर्मनस्तदपि वाञ्छति जेतुमेव ॥ ११५ ॥

(विमानवेगं रूपयित्वा ।) देवि,[2]

देव्या भूमेर्मृगमदमषीमण्डनं सिद्धसिन्धोः
सध्रीचीयं जयति यमुना या तटैकाग्रवृत्तीन्।
प्रेमोत्कर्षादिव पितृपतेर्भ्रातुराच्छिद्य हस्ता-
दस्ताबाधं गमयति पितुर्मण्डलं [3]चण्डभानोः ॥ ११६ ॥

आद्यो यस्यास्तादृशो यो दुरोदरपणः द्यूतक्रीडाशुल्कम् तस्य प्रतिभूः प्रवर्त्तको मध्यवर्त्ती विश्वासदायकः अनङ्गः कामदेव एव। यद्यप्यत्र दुरोदरे जये पराजये च भोगः परस्पराालिङ्गनादिरूपः समान एव तथापि यूनोर्मनः जेतुमेव वाञ्छति। कामदेवेन मध्यस्थीभूय प्रवर्त्तिते आश्लेषादिपणे द्यूते जयपराजययोरन्तरं नास्ति भोगस्योभयसमनियतत्वात्तथापि युवानौ जेतुमिच्छतः प्रत्येकमिति भावः ॥११५॥

देव्या इति। भूमेर्धरायाः देव्याः मृगमदः कस्तूरी एव श्यामतया मसी तया मण्डनम् अलङ्करणभूतम् पृथ्व्या मुखे कस्तूरीकृतलेखवत् प्रतीयमाना सिद्धसिन्धोर्गङ्गायाः सहचरी सध्रीची इयं यमुना जयति। या यमुना तटैकाग्रवृत्तीन् एकाग्रमनसा तटवर्त्तिनो जनान् भ्रातुः स्वसोदरस्य पितृपतेर्यमराजस्य हस्तात् आच्छिद्य बलादपहृत्य प्रेमोत्कर्षात् स्नेहातिशयादिव अस्ताबाधं निर्विघ्नं पितुः चण्डभानोः सूर्यस्य मण्डलं नयति प्रापयति। इयं हि यमुना पृथ्व्या मृगमदलेख-

---

यद्यपि इस द्यूतकी जीत तथा हार दोनों स्थितियोंमें भोग समान है तथापि युवकोंको जीतनेकी ही इच्छा होती है ॥ ११५ ॥

(विमानके वेगका अनुभव करके) देवि,

देवी पृथ्वीके लिए कस्तूरी-लेप-भूषणकी तरह दीखने वाली, गङ्गाकी सङ्गिनी यह यमुना अपने तटपर रहनेवाले जनोंको प्रेमकी प्रचुरताके कारण अपने भाई यमराजके हाथोंसे बलपूर्वक छीनकर अपने पिताके मण्डल तक पहुँचा देती है जहाँ किसी प्रकारका कोई क्लेश नहीं होता है ॥ ११६ ॥

---

१. 'भोगस्तु यद्यपि जयेऽपजये च तुल्यो'; 'भोगः स यद्यपि जये विजयेऽपि तुल्यो'।
२. 'देवि' इति क्वचिन्नास्ति। ३. 'भास्करस्य'।

लक्ष्मणः—(दूरमङ्गुल्या दर्शयन् ।)

त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितैः [1]क्रीडयद्भि-
र्भुवनममृतभानोर्बालमित्त्रैः पयोभिः ।
सगरसुतचितायाः पावनी तोयराशे-
रियमियमघमग्रे जाह्नवी निह्नुते नः ॥ ११७ ॥

रामः—(सहर्षम् ।)

गौरीविभज्यमानार्धसंकीर्णहरमूर्धनि ।
अम्ब द्विगुणगम्भीरे भागीरथि नमोऽस्तु ते ॥ ११८ ॥

समा प्रतीयमाना स्वतटागतान् जनान्यमपाशाद् मोचयित्वा सूर्यमण्डलं मोक्ष-मार्गं प्रापयतीत्यतिशयवतीयमिति भावः ॥ ११६ ॥

त्रिपुरहरेति । त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितैः शिवशिरोदेशविहितवासैः भुवनं विश्वं क्रीडयद्भिः प्रसन्नतां प्रापयद्भिः अमृतभानोश्चन्द्रस्य बालमित्रैः बालसखैः पयोभिः पानीयैः सगरसुतचितायाः सगरसुतानां कपिलकर्तृकदाहस्थानभूतस्य तोयराशेः सागरस्य पावनी पवित्रताकरी अग्रे इयम् जाह्नवी नः अस्माकम् अघम् पापं निह्नुते अन्तर्दधाति । यानि पयांसि शिवशिरस्यक्रीडन्त यानि च जगत्प्रसन्नमकुर्वत, यानि चन्द्रपादैस्सह बालसखित्वमभजन्त, तैरेव स्वपयोभिः सगराणां कपिलेन कृतस्य दाहस्य स्थानभूतं सागरं पुनन्ती इयं जह्नुतनया गङ्गाऽस्माकमघमेकपद एव विनाशयतीत्यर्थो बोध्यः, आदरातिशयकृते संभ्रमे इयमियमिति द्विरुक्तिः ॥११७॥

गौरीति । अम्ब, मातः, भागीरथि गङ्गे, गौर्या विभज्यमानम् अर्धम् अर्धभागस्तेन सङ्कीर्णे स्वल्पीभूते हरस्य मूर्धनि अर्धनारीश्वरस्य शिरोऽर्धभागे द्विगुणगम्भीरे द्विगुणीभूतगाम्भीर्ये, (अविस्तृते प्रदेशे नद्यः सङ्कीर्णाः किन्तु गम्भीरा वहन्तीत्याशयेनेदं विशेषणम्) ते तुभ्यं नमः ॥ ११८ ॥

लक्ष्मण—(अङ्गुलिसे दूर तक दिखाते हुए) महादेवके सिरपर खेलनेवाले तथा चन्द्रमाके बालमित्र जलोंसे सगरपुत्रोंकी चितास्वरूप सागरको पवित्र करनेवाली यह गङ्गा हमारे पापोंको दूर करे ॥ ११७ ॥

राम—(सहर्ष) पार्वती द्वारा आधे अङ्गके विभाजित कर लिये जानेपर सङ्कीर्ण हो गये महादेवके मस्तकपर द्विगुण-गम्भीर होकर बहनेवाली मातर्गङ्गे, तुमको नमस्कार करता हूँ ॥ ११८ ॥

---

१. 'प्रीणयद्भिः' ।

(सीतां प्रति ।) देवि, वन्दस्व ।

देवस्याम्बुजसम्भवस्य भवनादम्भोधिमागामुका[1]
सेयं मौलिविभूषणं भगवतो भर्गस्य भागीरथी ।
उद्यातानपहाय विग्रहमिह स्रोतःप्रतीपानपि
स्रोतस्तीव्रतरत्वरा गमयति द्राग्ब्रह्मलोकं जनान् ॥११९॥

सीता—(कृताञ्जलिः ।) एसा णिअस्सोतसिङ्खलासंदाणिदतिहुअणा-मन्दाइणि, वन्दिज्जसि ।

(सर्वे नमन्ति ।)

लक्ष्मणः—(अन्यतो दर्शयन् ।)

देवस्येति । अम्बुजसम्भवस्य कमलयोनेर्देवस्य ब्रह्मणः भवनात् गृहात् तत्कमण्डलोः अम्भोधिम् सागरम् आगामुका आगन्तुकामा भगवतो भर्गस्य शिवस्य मौलिविभूषणम् सेयं भागीरथी विद्यते इति शेषः । इह भागीरथ्यां विग्रहं कलेवरम् अपहाय त्यक्त्वा उद्यातान् ऊर्ध्वंगतान् स्रोतःप्रतीपान् प्रवाहप्रतिकूलगामिनः अपि जनान् स्रोतस्तीव्रतरत्वरा प्रवाहापेक्षयाऽप्यधिकेन वेगेन गमनशीला इयं भागीरथी द्राग् झटिति ब्रह्मलोकं गमयति । ब्रह्मकमण्डलोः सागरं गच्छन्त्यस्यां भागीरथ्यां ये जनाः शरीरं त्यक्त्वा म्रियमाणान् जनानियं भागीरथी प्रतिकूलप्रवाहाभिमुखं प्रवाहाभिमुखापेक्षयापि तीव्रतरं धावित्वाऽतित्वरया ब्रह्मलोकं प्रापयतीत्यहो अस्या माहात्म्यमिति भावः ॥ ११९ ॥

(सीताके प्रति) देवि, गङ्गामाताको प्रणाम करो ।

कमलयोनि ब्रह्माके घरसे समुद्र तक आनेवाली तथा महादेवके मस्तकको अलंकृत करनेवाली यही हैं भगवती भागीरथी । इसके तटपर जो लोग शरीर त्याग करते हैं उन्हें यह प्रवाहके विरुद्ध दिशामें प्रवाहकी अपेक्षा तेजीसे चलकर शीघ्र ब्रह्मलोक पहुँचा देती हैं ॥ ११९ ॥

सीता—(हाथ जोड़कर) इस गङ्गाने अपने प्रवाहरूप कड़ियोंसे त्रिभुवनको बाँध रखा है, भागीरथि, आपको नमस्कार करती हूँ ।

(सभी प्रणाम करते हैं)

लक्ष्मण—(दूसरी ओर दिखलाते हुए)

---

१. 'आगामुकी' ।

धनाधिनाथप्रणयानुरोधादभग्नकैलासनिकेतनस्य।
देवस्य कल्पान्तकपालपाणेर्वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् ॥१२०॥

रामः—(सहर्षमवलोक्य।)

प्लवमानैरपारोऽयं जनैः संसारसागरः।
द्वीपे वाराणसीनाम्नि विश्रान्तैरिह तीर्यते ॥ १२१ ॥

अपि चैनां नित्यमध्यास्ते भगवान्,

कण्ठच्छायनिपीतपन्नगफणारत्नौघमात्रस्थितौ
हारे निर्भयपार्वतीभुजलताबन्धोल्लसत्कन्धरः।

धनाधिनाथेति। पुरस्तात् अग्रतः धनाधिनाथस्य कुबेरस्य यः प्रणयः स्नेहस्तदनुरोधात् अभग्नम् अत्यक्तम् कैलासनिकेतनम् येन तथोक्तस्य कुबेरस्नेहानुरोधात् कैलासे निवसतः कल्पान्ते प्रलये कपालपाणेः कपालं करे धृत्वा भ्रमतः देवस्य शम्भोः वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् अग्रे दृश्यत इति शेषः॥ उपजातिर्वृत्तम् ॥१२०॥

प्लवमानैरिति। अयं संसार एव सागरः प्लवमानैः सन्तरद्भिर्जनैः अपारः तरीतुमयोग्यः किन्तु इह वाराणसीनाम्नि द्वीपे विश्रान्तैः सद्भिः तीर्यते। अयमाशयः—यथा कश्चित्सागरः सकृदारम्भमात्रेण न तर्त्तुं शक्यः प्रवाहस्य विस्तृतत्वात्, किन्तु मध्ये मध्ये द्वीपेषु विश्रम्य तर्त्तुं शक्यते, तथैवायं संसारसागरोऽपि काशीनामके द्वीपे विश्रम्य तर्त्तुं शक्यत इति ॥ १२१ ॥

कण्ठच्छायेति। कण्ठस्य च्छाया प्रतिबिम्बम् कण्ठच्छायम् तेन निपीतः निश्शेषेण पीतः तिरोहितः पन्नगफणारत्नौघः सर्पफणामणिकान्तिचयः तन्मात्रेण अस्तकान्तिस्वरूपेण स्थिते हारे नागहारे निर्भयायाः फणामणिनिह्नवेन वासुकेरसद्भावमुत्प्रेक्ष्य गतभीतेः पार्वत्या भुजलतया बन्धेन अशिथिलालिङ्गनेन उल्लसन्ती

धनाधिनाथ कुबेरके स्नेहानुरोधसे महादेवने कैलासरूप अपना पुराना वासस्थान नष्ट नहीं किया, परन्तु प्रलयकालमें करालपाणि बननेवाले शिवजीका वासस्थानभूत वाराणसी ही है जो आगे दिखलाई पड़ रही है ॥ १२० ॥

राम—(हर्षसे देखकर) यह संसारसागर तैर करके पार करनेवालोंके लिए अपार है, इस वाराणसी नामक द्वीपमें विश्राम करनेपर संसारसागरका पार प्राप्त किया जा सकता है ॥ १२१ ॥

इस वाराणसीमें महादेव सदा रहा करते हैं।

महादेवके गलेकी काली छायाके पड़नेसे सर्पफणामणि प्रच्छादित हो जाती है, पार्वती

तत्सर्वाङ्गविरामवामनतरैरेव स्वरैः सामगं
विभ्रद्ब्रह्मशिरः शिवाय जगतामेणाङ्कचूडामणिः ॥१२२॥

([1]अन्यतो दर्शयन्, सीतां प्रति ।) देवि, दृश्यतामितः ।

नवोन्मीलन्मौर्वीकिणनिकरकार्कश्यसदय-
प्रवृत्तस्त्वत्पाणौ किमपि निविडं पीडयति मे ।

शोभमाना कन्धरा यस्य स तथोक्तः । पूर्वं पार्वतीहरकण्ठे स्थितात्सर्पाद्बिभ्यती तं कण्ठग्रहेण नानन्दयति स्म, सम्प्रति कण्ठस्य नीलप्रभया अन्तर्हिते फणामणिदीप्तिचये सर्पस्यासद्भावमुत्प्रेक्ष्य पार्वती तस्य कण्ठं बाहुभ्यामाश्लिष्टवती येन तस्य कन्धरा उल्लासमन्वभूदित्यर्थः । तत् प्रसिद्धमतिप्रियं वा सर्वाङ्गविरामेण सकलाङ्गविनाशेन वामनतरैः खर्वतां गतैः ह्रस्वैः एव स्वरैः सामगम् सामवेदगायकं ब्रह्मशिरः ब्रह्मणः कपालं बिभ्रत् धारयन् एणाङ्कचूडामणिः मृगाङ्कशेखरः शिवः जगतां शिवाय जायतामिति शेषः ॥

शाश्वतरूपतया शिवोऽनेकेषां ब्रह्मणां विनाशं पश्यतीति स तत्कपालधारितयाऽत्र वर्णितः, तत्कपालं चाङ्गान्तरसङ्गरहितमिति मन्दस्वरेणैव साम गायतीत्युत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२२ ॥

नवोन्मीलदिति । यस्यां पुर्यां मिथिलायाम् नवोद्यन् सद्यः सञ्जायमानः मौर्वीकिणनिकरः प्रत्यञ्चाकर्षणोत्पन्नव्रणार्बुदसमूहः, तत्कार्कश्यात् हेतोः सदयप्रवृत्तः त्वत्पाणिं सदयं ग्रहीतुं प्रवर्तमानः (अस्याः कोमलः करो मया नवोदितव्रणकिणकर्कशेन बलवद् गृह्यमाणो व्यथेतेति विभाव्य सदयमेव तव करं कलयितुं व्यापृतः) मे मम करः किमपि स्नेहातिरेकवशादनिर्वचनीयरूपेण निविडं गाढं

का सर्पभय निवृत्त हो जाता है और वह निर्भय भावसे शिवका कण्ठालिङ्गन कर लेती है जिससे शिवकी ग्रीवा उल्लसित हो उठती है । प्रलयकालमें ब्रह्माका सारा शरीर समाप्त रहता है केवल कपाल रह जाता है अतएव वह कपाल मन्दस्वरसे ही सामगान कर पाता है उसी कपालको महादेव धारण करते हैं, ऐसे चन्द्रचूड़ शिव विश्वका कल्याण करें ॥१२२॥

(दूसरी ओर दिखलाते हुए) (सीताके प्रति) देवि, इधर देखो,

हमारे हाथमें ताजे बने प्रत्यञ्चाकर्षणजन्य व्रणकिण थे, अतः हम चाहते थे कि तुम्हारे कोमल हाथको कष्ट न पहुंचे अतः हमने कोमलरूपमें तुम्हारा हाथ पकड़नेकी चेष्टा की थी,

१. 'अन्यच्च' ।

कृतार्थोऽयं यस्यां समजनि करः सैव पुरतः
पुरी पूर्वेषां ते नयनमियमालानयति नः ॥ १२३ ॥

सीता—(सस्मितानुरागं [1]साचीकृताक्षी रामं पश्यन्ती पुरीं प्रति ।) अम्ब मिहिले, वन्दिज्जसि । गुरुअणे वि वन्दणं मे विण्णवेसि । [अम्ब मिथिले, वन्द्यसे । गुरुजनेऽपि वन्दनं मे विज्ञापयिष्यसि ।]

रामः—(सुग्रीवविभीषणौ प्रति ।) [2]वयस्यौ, इयं सा जानकीं प्रजायमानाया भगवत्या भूमेररिष्टमन्दिरं मिथिला ।

[3]सुग्रीवविभीषणौ—(सकौतुकस्मितम् ।) यत्र भगवतः [4]पार्वतीजीवितेश्वरस्य [5]धनुर्धनुरन्तेवासिनावजगवभार्गवौ भञ्जतो भवतः सहपांसुक्रीडादीर्घसखीयं वीरलक्ष्मीः ।

त्वत्पाणौ पीडयति सति (सदयं प्रवृत्तस्य मम करस्य तव पाणिनैव गाढं ग्रहणे क्रियमाणे सति) कृतार्थः धन्यः अजनि जातः सैव ते तव पूर्वेषां पूर्वजानामियं पुरी नः अस्माकं नयनम् आलानयति बध्नाति आकर्षति ॥ १२३ ॥

प्रजायमानायाः जनयन्त्याः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र जनिः । अरिष्टमन्दिरम् सूतिकागृहम् ।

पार्वतीजीवितेश्वरस्य हरस्य । धनुर्धनुरन्तेवासिनौ धनुश्चापं धनुरन्तेवासी चाप-

---

परन्तु जब तुम्हारे हाथने हाँ हमारे सदयप्रवृत्त उस हाथको जोरोंसे थाम लिया तब हमारा हाथ तुम्हारे प्रेम-प्रकर्षका पता पाकर धन्य हो उठा, यह सारी घटना जिस नगरीमें हुई वही यह तुम्हारे पूर्वजोंकी मिथिला नगरी हमारी आँखोंको आकृष्ट कर रही है ॥ १२३ ॥

सीता—(मुस्कुराहट तथा प्रेमके साथ कुटिलदृष्टिसे रामकी ओर देखती हुई पुरीके प्रति) अम्ब मिथिले, वन्दना करती हूँ, कृपया मेरे गुरुजनोंसे भी मेरी वन्दना निवेदित कर देना।

राम—(सुग्रीव और विभीषणके प्रति) मित्रो, जानकीको उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीका सूतिकागृहस्वरूप मिथिला यही है।

सुग्रीव और विभीषण—(कुतूहलके साथ हँसकर) यहींपर शिवजीके धनुष तथा धनुर्वेद विद्याके शिष्य परशुरामका भङ्ग करके आपने साथ-साथ धूलिक्रीड़ा करनेवाली वीरलक्ष्मी प्राप्त की थी।

---

१. 'कृताङ्गी'। २. 'वयस्यौ' इति क्वचिन्नास्ति। ३. 'तौ सकौतुकम्'।
४. 'पार्वतीदयितस्य'। ५. 'धेनुरन्तवासिनौ'।

रामः—([1]सलज्जस्मितमन्यतो दर्शयन्सीतां प्रति ।) देवि, इयं पुनस्ततोऽपि पुरस्ताच्चम्पा नाम गौडानां विनयमधुरश्रृङ्गारविभ्रमरमणीया [2]मकरकेतनकुमारव्रतचर्यातपोवनमिव राजधानी । (अपवार्य च ।) इह हि

रोमाञ्चोच्छ्वसदङ्ग[3]सन्धिनिबिडैरालिङ्गनैर्यामिनीं
शेषीकृत्य विवृण्वते निजरहश्चातुर्यमेणीदृशः ।
यष्टिस्थे सपदि प्रदीपमुकुले दग्ध्वा दशां मल्लिका-
तैले प्रज्वलति स्तृणोति वसतीर्यन्नाभिदघ्नं तमः ॥ १२४ ॥

विद्याशिष्यश्च तौ अजगवभार्गवौ अजगवनामकं धनुः भार्गवः परशुरामश्च तौ । भञ्जतः धनुर्भञ्जयतः परशुरामं पराजयमानस्येति यथोपयोगमर्थः । सहपांसुक्रीडादीर्घसखी बाल्यावस्थायामेव सङ्गता वीरता ।

विनयेति । विनयेन नम्रतया मधुरः मनोहरः श्रृङ्गारविभ्रमः कामकलाविलासः तेन रमणीया । मकरकेतनस्य कामदेवस्य कुमारव्रतचर्या ब्रह्मचर्यतपस्या तदर्थं तपोवनम् इव, सततसन्निहितजागरूकत्वात्कामदेवस्य तथोक्तम् ।

रोमाञ्चोच्छ्वसदिति । एणीदृशो मृगनयनाः कामिन्यः रोमाञ्चेन उच्छ्वसता परिणाहमागच्छताङ्गसन्धिना समस्ताङ्गेन निबिडैः गाढैः आलिङ्गनैः यामिनीं रजनीं शेषीकृत्य किञ्चिन्मात्रावशिष्टां कृत्वा सपदि सम्प्रति प्रभातप्रायायां निशि यष्टिस्थे दीपाधारदण्डस्थिते प्रदीपमुकुले दीपाङ्कुरे दशां वर्त्तिं दग्ध्वा मल्लिकातैले मल्लिकाख्यसुगन्धिपुष्पनिर्मिततैले प्रज्वलति सति यत् यदा नाभिदघ्नं नाभिप्रमाणं तमः स्तृणोतु व्याप्नोतु तदा निजरहश्चातुर्यम् स्वीयं सुरतपाटवं विवृण्वते प्रकटयन्ति । अत्रत्याः स्त्रियः समस्तां निशं दृढालिङ्गनैर्यापयित्वा अल्पशेषायां निशि दीपस्थ-

---

राम—(लज्जाकी हँसीके साथ दूसरी ओर दिखलाते हुए सीताके प्रति) देवि, मिथिलासे भी पूर्व दिशामें वर्तमान यह गौडदेशकी राजधानी चम्पापुरी है जो नम्रता तथा श्रृङ्गार विलाससे रमणीय है और जो कामदेवके ब्रह्मचर्यका तपोवन मानी जाती है ॥

(दूसरोंसे बचाकर सीतामात्रके प्रति)

इस चम्पापुरीमें रोमाञ्चसे उच्छ्वसित होनेवाले अङ्गोंसे प्रियतमोंको गाढ़ आलिङ्गन करके स्त्रियाँ रात्रिको स्वल्प शेष कर देती हैं, पीछे जब दीपदण्डपर स्थापित दीप बत्तीके निश्शेष दग्ध हो जानेसे मल्लिका तैलको जलाने लगता है जिससे प्रकाश दीप मध्यमें चला जाता है और नीचे अन्धकार व्याप्त हो जाता है तब अपना रतिकौशल प्रकट करती हैं ॥ १२४ ॥

---

1. 'सस्मितम्' । 2. 'मकरकेतु-' । 3. 'अङ्गसङ्ग' ।

लक्ष्मणः—(अग्रे दर्शयन्।) एते भगवत्यौ भूमिदेवानां मूलायतनमन्तर्वेदीं [1]पूर्वेण कृष्णागुरुमलयजमयमङ्गरागमिवान्योन्यस्य कुर्वाणे कलिन्दकन्यामन्दाकिन्यौ संगच्छेते।

हिमालयोत्सङ्गसदाधिवासतो [2]जातेव पाण्डुः प्रतिभाति जाह्नवी।
निदाघभानोः पितुरङ्कलालनात्कृतेव [3]काली यमुना च दृश्यते ॥१२५॥

दशायां दग्धायां तत्तैले [प्रज्वलति सति तद्दीपाधोदेशेऽन्धकारव्याप्तौ गृहस्थशयनीयतल्पस्यान्धकारावृततायां सुरते प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः, यावत् दशा ज्वलति तावत्समस्तगृहे प्रकाश इति ता लज्जन्ते तां च लज्जां गाढाश्लेषेण गोपयन्ति, यदा च तैलं ज्वलति तदा दीपाधोभागे तमो व्याप्तेरानुभविकतया ताः सुरतमारभन्त इत्यहो चातुर्यं तासामिति भावः ॥ १२४ ॥

भूमिदेवानाम् ब्राह्मणानाम्। मूलायतनम् आदिमं वासस्थानम्। अन्तर्वेदीम् नामप्रदेशम्। पूर्वेण पूर्वस्यां दिशि। कृष्णागुरुः कृष्णवर्णमगुरु, मलयजं चन्दनम्। अङ्गरागम् अङ्गविलेपनम्। अन्योन्यस्य परस्परस्य। अयमाशयः—प्रयागे यमुनागङ्गे सङ्गते, तत्रान्योन्यमिलिते इत्थं प्रतीयेते यथा ते परस्परम् अङ्गरागमिव कुर्वाते, तत्र यमुना गङ्गाया देहे कृष्णागुरुकृतमङ्गरागं लिम्पति गङ्गा च यमुनाया वपुषि चन्दनाङ्गरागं लिम्पति, अर्थात् यमुनापानीयसम्पर्केण गङ्गांऽशतः श्यामा प्रतीयते एवमेव गङ्गापानीयसंपर्केण यमुनांशतः शुक्ला प्रतीयते इति।

हिमालयेति। जाह्नवी गङ्गा हिमालयस्य उत्सङ्गे क्रोडे सदाधिवासतः सततावस्थानात् पाण्डुः शुभ्रा जाता (शीते स्थाने वसतः शुभ्रता प्रसिद्धा) इव प्रतिभाति प्रतीयते। यमुना च पितुः स्वजनकस्य निदाघभानोः सूर्यस्य अङ्कलालनात् क्रोडे लालनात् काली कृष्णवर्णा जाता प्रतिभासते इत्यन्वयः ॥ १२५ ॥

लक्ष्मण—(आगेकी ओर दिखलाते हुए) यह दोनों ब्राह्मणोंके आदिम वासस्थान अन्तर्वेदी नामक स्थानसे पूर्वभागमें पृथ्वीको काले अगुरु तथा चन्दनका अङ्गराग-सा लगाती हुई यमुना और गङ्गा एक दूसरेसे मिल रही हैं॥

बराबर हिमालयकी गोदमें रहनेसे गङ्गा स्वच्छकान्ति हो गई मालूम पड़ती है, और अपने पिता सूर्यकी गोदमें दुलारी जानेके कारण यमुना काली हो गई हो ऐसा प्रतीत होता है ॥ १२५ ॥

---

१. 'पूर्वतः'। २. 'जडेव'। ३. 'कालीकृता वा'।

(विभाव्य च ।)

बलिद्विषः पादनखांशुराजिभिः स्मरारिमौलीन्दुमरीचिवीचिभिः ।
हिमाद्रिनिःस्यन्दरसैः पदे पदे विवर्धते वैबुधसैन्धवी रुचिः ॥ १२६ ॥

अपि च—

प्रयागः सर्वतीर्थेभ्यस्तीर्थमुच्चैस्तरामयम् ।
[1]संसाराब्धेः परं पारमिहस्थैरवलोक्यते ॥ १२७ ॥

रामः—(सादरम् ।) किमुच्यते ।

सत्यमेव प्रयागोऽयं मोक्षद्वारमुदीर्यते ।

बलिद्विष इति । बलिद्विषः वामनावतारस्य विष्णोः पादनखांशुभिः पादनखरकान्तिभिः, स्मरारेः शिवस्य मौलीन्दोः ललाटस्थितस्य चन्द्रस्य याः मरीचिवीचयः किरणप्रवाहास्ताभिः, हिमाद्रेः हिमालयस्य निस्यन्दरसैः प्रस्रुतजलैः पदे पदे प्रतिस्थानं वैबुधसैन्धवी गङ्गासम्बन्धिनी रुचिः विवर्धते समेधते, प्रथमं विष्णोः पादप्रसुता, ततः शिवमौलिवासिनी ततश्च हिमाद्रिसञ्चारिणीयं गङ्गा विष्णुनखकान्तिभिः शिवशिरोभूषाचन्द्रद्युतिभिर्हिमालयस्रुतजलप्रवाहैश्च प्रतिपदमात्मनो द्युतिमपुष्णादित्याशयः ॥ १२६ ॥

प्रयाग इति । अयं प्रयागः सर्वतीर्थेभ्यः सर्वेभ्यः पुण्यक्षेत्रेभ्यः उच्चैस्तराम् प्रधानं तीर्थम् , इहस्थैरत्र प्रयागे स्थितैः जनैः संसाराब्धेः भवसागरस्य परम्पारम् अन्यत्तटम् अवलोक्यते । उच्चैःस्थाने स्थितस्य दूरदर्शनम् उचितमिति संसारपरपारदर्शकतयाऽस्य प्रयागस्योच्चैस्त्वमिति भावः ॥ १२७ ॥

सत्यमेवेति । अयम्प्रयागः सत्यमेव यथार्थभावेनैव मोक्षस्य निर्वाणस्य द्वारम्

(विचार करके) भगवान् विष्णुके चरणनखकान्तियोंसे, महादेवके शिरोभूषण चन्द्रमाकी किरणोंसे, और हिमालयके निष्यन्द रससे पग-पगपर गङ्गाकी कान्ति समृद्ध होती रहती है ॥ १२६ ॥

यह प्रयाग सभी तीर्थोंमें ऊंचा तीर्थ है, यहाँ रहनेवाले संसारसागरके उस पारको भी देख सकते हैं ॥ १२७ ॥

राम—(आदरके साथ) क्या कहा जाय,

सचमुच प्रयागको लोग मोक्षद्वार कहते हैं जिसके दोनों भागोंमें बहनेवाली गङ्गा यमुना

---

१. 'संसारस्य' ।

देव्यौ यस्याभितो गङ्गायमुने वहतः श्रियम् ॥ १२८ ॥

(सीतां प्रति ।) देवि, प्रणम्यतामितः ।

श्यामो नाम वटः सोऽयमेतस्याद्भुतकर्मणः ।
छायामप्यधि[1]वास्तव्यैः परं ज्योतिर्निषेव्यते ॥ १२९ ॥

(सर्वे [2]प्रणमन्ति ।)

रामः—(विमानवेगनाटितकेन सहर्षम् ।)

यूपाङ्कुरप्रकरदन्तुरतीरलेखा-
संख्यायमानमनुसन्ततिसप्ततन्तुः ।

कारणं मार्गो वा उदीर्यते कथ्यते, यस्य प्रयागस्य अभितः उभयतः गङ्गायमुने नाम नद्यौ श्रियं शोभां वहतः पुष्यतः ॥ १२८ ॥

श्याम इति । सः प्रसिद्धः अयं श्यामो नाम वटः वटवृक्षः दृश्यते, एतस्य अद्भुतकर्मणः आश्चर्यजनककर्मणः वटस्य छायाम् अपि अधिवास्तव्यैः अधिवसद्भिः जनैः परं ज्योतिः ब्रह्म निषेव्यते प्राप्यते । अन्येषां वटानां वृक्षाणां छायामधिवसद्भिः तमः निषेव्यतेऽस्य त्वाश्चर्यजनकव्यापारस्य वटस्य छायामपि श्रितवद्भिः परं ज्योतिर्ब्रह्म प्राप्यत इत्यर्थः । छायाश्रयणे तेजःप्राप्तिरिति विरोधः, ब्रह्मपरकतायां तु तत्परिहारः ॥ १२९ ॥

यूपाङ्कुरेति । यूपाः यज्ञीयपशुबन्धनदारुविशेषास्त एवाङ्कुराः प्ररोहाः तेषां प्रकरेण समूहेन दन्तुरा उन्नतदन्ता नतोन्नता याः तीरलेखाः तटसीमानः ताभिः संख्यायमानाः एकद्वित्र्यादिगणनाविषयीक्रियमाणाः मनुसन्ततीनाम् मनुवंश्यराजानाम् सप्ततन्तवः यज्ञा यत्र तादृशी स्वतीरसीमावर्त्तियूपगणनाद्वारा या मनु-

---

उसकी शोभा समृद्धिको बढ़ाया करती हैं ॥ १२८ ॥

(सीताके प्रति) देवि, देखो, इधर प्रणाम करो—

यह वही आश्चर्यजनक श्याम वटवृक्ष है जिसकी छायामें भी रहनेवाले परम ज्योति ब्रह्मका साक्षात्कार कर पाते हैं ॥ १२९ ॥

(सभी प्रणाम करते हैं)

राम—(विमान वेगका अनुभव करके हर्षके साथ) यूपाङ्कुर समुदायकी गिनतीसे जहाँ मनुवंशी राजगणके यज्ञोंकी गिनती की जा सकती है। वह इक्ष्वाकु राजगणकी प्रधान

---

१. 'अध्यधि-' । २. 'नमन्ति' ।

इक्ष्वाकुराजमहिषीपदपट्टलक्ष्मी-
देव्या भुवो भगवती सरयूरियं नः ॥ १३० ॥

इयं च भगवत्ययोध्या

[1]गगनगतास्मदुदीक्षणकुतूहलोत्तानपृथुलनिःस्यन्दैः ।
उन्नालस्थलकुवलयवनमिव जनलोचनैः क्रियते ॥ १३१ ॥

(सर्वे [2]नमस्यन्ति ।)

सुग्रीवविभीषणौ—(निर्वर्ण्य ।)

वृन्तैरिव क्रतुसहस्रभुवां फलाना-
मालोक्य यूपनिकरैर्मधुरामयोध्याम् ।

वंश्यनृपाणां यागान् गणयतीव तादृशी, देव्या भुवः पृथिव्याः इक्ष्वाकुराजानां तद्वंश्यनृपाणाम् महिषीपदाय प्रधानराज्ञीपदाभिषेकोचितः पट्टः पट्टवस्त्रं तस्य लक्ष्मीरिव लक्ष्मीर्यस्यास्तथोक्ता भुवो राजमहिषीपदाभिषेकोचितपट्टवसनसादृश्यं धारयन्ती इयं नः अस्माकं सरयूरस्तीति शेषः ॥ १३० ॥

गगनेति । गगनगतानाम् विमानवर्त्तिनाम् अस्माकम् उदीक्षणे ऊर्ध्वनिरीक्षणे यत् कुतूहलम् तेन उत्तानानि उन्नमितानि पृथुलानि विशालानि निःस्पन्दानि निश्चलानि च नयनानि तैः जनलोचनैः अयोध्यावासिलोकनयनैः उन्नालानाम् उद्गतनालानां स्थलकुवलयानां स्थलवर्त्तिनीलकमलानां वनमिव क्रियते ऊर्ध्वमुखानि लोकनयनानि उन्नालस्थलकमलानीव प्रतीयन्ते, सर्वेऽप्युत्सुका अस्मान् पश्यन्तीति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, आर्याभेदो वृत्तम् ॥ १३१ ॥

वृन्तैरिवेति । क्रतुसहस्रभुवाम् सहस्रसंख्यकयज्ञोत्पन्नानाम् फलानां स्वर्गादीनाम् वृन्तैरिव यूपनिकरैः यूपसमूहैः मधुराम् रमणीयदर्शनाम् अयोध्याम्

रानी अयोध्याके पट्टवस्त्रकी शोभा धारण करनेवाली भगवती सरयू दीख रही है ॥ १३० ॥

यह है अयोध्या,

आकाशमें वर्त्तमान हम लोगोंको देखनेके लिए उत्कण्ठावश विशालतया निःस्पन्दन जननयनोंसे यह अयोध्या उन्नाल स्थलकमल वन सी बना दी गई है ॥ १३१ ॥

(सभी प्रणाम करते हैं)

सुग्रीव-विभीषण—(देखकर) हजारों यज्ञोंसे उत्पन्न फलोंकी वृन्तावलियोंकी तरह दीखनेवाले यूपोंसे रमणीय इस अयोध्याको देखकर तथा इस नगरीमें रहनेवाले नृपोंकी

---

१. 'गगनतलास्म' । २. 'प्रणमन्ति' ।

राज्ञामिह [1]प्रवसतां च विचिन्त्य सिद्धिं
देवः शचीसहचरोऽपि न रोचते नः ॥ १३२ ॥

रामः—(तौ प्रति ।) वयस्यौ,

ईदृशाः[2] प्रागजायन्त राजानो यदिहान्वये ।
तद्वसिष्ठचरोरैन्द्राबार्हस्पत्यस्य वैभवम् ॥ १३३ ॥

(पुरोऽवलोक्य [3]सहर्षोल्लासम् ।) कथं स एवायं भगवान् [4]प्रकल्पितास्मदभिषेकसम्भारो भरतशत्रुघ्नाभ्यां [5]सह वसिष्ठो मां प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति । (पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, [6]समवतीर्यतामस्यां [7]ककुत्स्थकुलोपकारिकायाम् ।

आलोक्य, इह प्रवसतां निवासं कुर्वताम् राज्ञां च सिद्धिम् विचिन्त्य नः अस्मभ्यम् शचीसहचरः शचीपतिर्देव इन्द्रोऽपि न रोचते, अत्रत्यराजसिद्धितुलनायां शक्रस्यापि सिद्धिरस्माभिर्लघ्वीव प्रतीयत इत्याशयः ॥ १३२ ॥

ईदृशा इति । इह अस्मिन् अन्वये वंशे यत् ईदृशाः पूर्वोक्तगुणशालिनः राजानः अजायन्त जनिमलभन्त तद् ऐन्द्राबार्हस्पत्यस्य इन्द्रो बृहस्पतिश्च देवते यस्य तथोक्तस्य वसिष्ठचरोः वसिष्ठसम्पादितमन्त्रसंस्कृतपायसविशेषस्य वैभवम् प्रभावः अस्तीति शेषः, वसिष्ठस्य पुरोहिततया तत्कारितयज्ञद्वारिका एवास्मत्पूर्वजानां सिद्धिरासीदिति भावः ॥ १३३ ॥

कल्पितास्मदभिषेकसम्भारः सज्जीकृतास्मदभिषेकोपकरणः । प्रतीक्षमाणः प्रतिपालयन् । ककुत्स्थकुलोपकारिकायाम् ककुत्स्थवंशस्य राजगृहे 'राजसदनमुपकारिकोपकार्या' इत्यमरः ।

सिद्धियोंको विचारकर हमको इन्द्रपर भी श्रद्धाधिक्य नहीं रह जाता है ॥ १३२ ॥

राम—(उन दोनोंके प्रति) ऐसे माननीय राजागण जो इस वंशमें पहले उत्पन्न हो सके यह इन्द्रबृहस्पति देवताको उद्देश्य करके वसिष्ठ द्वारा संपादित यज्ञपाकका प्रभाव है ॥

(आगे देखकर हर्षसे उल्लसित होकर) क्यों, यही वह भगवान् वसिष्ठ हमारे राज्याभिषेकका सारा प्रबन्ध करके भरत तथा शत्रुघ्नके साथ हमारी प्रतीक्षामें खड़े हैं ? (पुष्पकके प्रति) विमानराज ककुत्स्थकुलकी राजधानी इस अयोध्यामें उतर जाइये ।

---

१. 'प्रभवताम्' । २. 'तादृशाः' । ३. 'सहर्षम्' । ४. 'उपकल्पित—' ।
५. 'सह वसिष्ठो' इति क्वचिन्नास्ति । ६. 'अवतार्यताम्' । ७. 'रघुकुल—' ।

(सर्वे विमानावतरणं नाटयन्ति ।)

(ततः प्रविशति पटाक्षेपेण वसिष्ठो भरतशत्रुघ्नौ च ।)

वसिष्ठः—

चक्रे लङ्केश्वरपरिभवच्छेदनिष्णातदोष्णा
यद्वत्सेन त्रिजगदभयं तन्न चित्रीयते नः ।
बालेनाजौ विगलितवतो वीर्यनिर्यासराशे-
र्येत्पिण्याकः स मुनिरमुना निर्मितो जामदग्न्यः ॥१३४॥

(राममवलोक्य सहर्षम् ।)

भल्लावलूनदशकन्धरकण्ठपीठ-
सीमासमाप्तभुजविक्रमकर्मकाण्डः ।

चक्र इति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य परिभवे पराजये छेदे विनाशे च निष्णात-दोष्णा समर्थभुजेन वत्सेन रामेण यत् त्रिजगत् लोकत्रयम् अभयं गतसकलभयम् चक्रे कृतम् तत् रामकर्तृकं रावणवधद्वारकं जगदभयम् न अस्मान् नः चित्रीयते न विस्मापयति, यत् यस्मात् बालेन शिशुना रामेण अमुना आजौ युद्धे सः प्रसिद्धो मुनिः परशुरामः विगलितवतः दूरपराहतस्य वीर्यनिर्यासराशेः वीर्यसारसमूहस्य पिण्याकः तिलकल्कः निर्मितः कृतः निर्वीर्यतां गमितः, येन रामेण बाल्यावस्था-यामेव परशुरामो निर्वीर्यः कृतस्तस्य रावणविजयद्वारा जगदभयजननं नाश्चर्य-करमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

भल्लावलूनेति । भल्लेन अस्त्रविशेषेण अवलूनं छिन्नं दशकन्धरस्य रावणस्य कण्ठपीठम् तस्य सीमायाम् अवसाने समाप्तः शेषतां गतः भुजविक्रमकर्मकाण्डः

(सभी विमानसे उतरते हैं)

एक ओरसे पर्दा हटाकर (वसिष्ठ और भरत-शत्रुघ्नका प्रवेश)

वसिष्ठ—हे राम, आपने लङ्केश्वरको जीतनेमें निपुण अपने भुजोंद्वारा संसारको अभयदान दिया इसमें मुझे आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि आपने बाल्यावस्थामें ही परशुराम-का वीर्यसार निकालकर उन्हें निस्सार सीठी बना दिया था । परशुरामको जीतनेवाला रावणको जीत ले तो क्या आश्चर्य ? ॥ १३४ ॥

(रामकी ओर देखकर हर्षसे) भल्लनामक अस्त्रसे खण्डित रावणके कण्ठ समुदायरूप सीमापर जिसके पराक्रमप्रकाशनरूप कर्मकाण्डका अन्त हो जाता है, वही रामचन्द्र

दिष्ट्या जगद्विजयमाङ्गलिकैर्यशोभिः
सोऽयं पुनर्नयनवर्त्मनि रामचन्द्रः ॥ १२५ ॥

रामः—(ससंभ्रममुपसृत्य वसिष्ठपादावुपगृह्य च ।)

रघुब्रह्मक्रियाचार्यं पुराणब्रह्मवादिनम् ।
ब्रह्मर्षिं ब्रह्मजन्मानमेष रामोऽभिवादये ॥ १२६ ॥

वसिष्ठः—(सादरमालिङ्ग्य ।) वत्स रामभद्र, का तुभ्यमाशीः ।

आदाय प्रतिपक्षकीर्तिनिवहान्ब्रह्माण्डमूषान्तरे
निर्विघ्नं धमता नितान्तमुदितैः स्वैरेव तेजोऽग्निभिः ।
तत्तादृक्पुटपाकशोधितमिव प्राप्तं गुणोत्कर्षिणा

बाहुपराक्रमप्रदर्शनकर्मकलापो यस्य तथोक्तः भल्लनामकेनास्त्रेण रावणशिरसश्छेदनं कृत्वा विजेतव्याभावात् समापितभुजवीर्यप्रकाशनात्मकक्रियाकलापः जगद्विजयमाङ्गलिकैः विश्वविजयमङ्गलमयैर्यशोभिः (उपलक्षितः) सोऽयं रामचन्द्रः दिष्ट्या भाग्यवशात् पुनः नयनवर्त्मनि वर्त्तत इति शेषः ॥ १२५ ॥

रघुब्रह्मेति । रघूणां रघुवंश्यानाम् ब्रह्मक्रियायां वैदिककर्मानुष्ठाने आचार्यम् गुरुम् , पुराणब्रह्मवादिनम् प्राचीनं वेदविदं ज्ञानिनं च ब्रह्मजन्मानम् ब्रह्मपुत्रम् ब्रह्मर्षिम् वसिष्ठम् एषः अहं रामोऽभिवादये प्रणमामि ॥ १२६ ॥

आदायेति । ब्रह्माण्डमेव मूषा आवर्त्तनवटिका तस्या अभ्यन्तरे मध्ये प्रतिपक्षाणां शत्रूणाम् कीर्त्तिनिवहान् यशोराशीन् आदाय निधाय नितान्तम् अत्यर्थम् उदितैः स्फुटीभूतैः स्वैरेव तेजोभिः प्रतापैः अग्निभिः निर्विघ्नं विघ्नात्यन्ताभावेन धमता फूत्कुर्वता भवता रामेण गुणोत्कर्षशालिना स्वगुणविस्तारकेण भवता तत् तादृक् पुटपाकशोधितमिव मृत्तिकामयावरणपाकपरिशोधितमिव पिण्डस्थम् एकत्रीभूतम्

संसारके मङ्गलको बढ़ानेवाली कीर्त्तियोंसे युक्त होकर सौभाग्यवश हमारी आँखोंके सामने हैं ॥ १२५ ॥

राम—(तेजीसे आकर और वसिष्ठके चरण छूकर)

रघुवंशके ब्रह्मचर्योपदेशक, पुराने ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मर्षि तथा ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठको मैं रामचन्द्र प्रणाम करता हूँ ॥ १२६ ॥

वसिष्ठ—(रामको आदरके साथ गले लगाकर) वत्स रामभद्र, आपको क्या आशीर्वाद दिया जाय ?

दुश्मनोंकी कीर्त्तियोंको ब्रह्माण्डरूप मूषायन्त्रमें भरकर अपने प्रतापरूप अग्निसे उसे

पिण्डस्थं च महत्तरं च भवता निःक्षारतारं यशः ॥१३७॥

[1]अपि च—

त्रिजगदङ्गनलङ्घनजाङ्घिकैस्तव यशोभिरतीव पवित्रिताः ।
प्रथमपार्थिवपुंगव कीर्तयो विबुधसिन्धुजलैरिव सिन्धवः ॥१३८॥

तथापीदमस्तु[2] ।

जगदालोकधौरेयौ सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुत्रौ गोत्रस्य गोप्तारौ जनय स्वभुजाविव ॥ १३९ ॥

(सीता मुनिं वन्दते ।)

महत्तरम् विशालं निःक्षारम् निर्दोषम् तारम् उत्कटं च यशः प्राप्तम् । यथा कोऽपि वैद्यः सुवर्णादिमूषायां न्यस्य समिद्धेनाग्निना धमन् असति पात्रादिभङ्गविघ्ने गुणोत्कृष्टं पिण्डीभूतं विशालगुणं क्षारत्वशून्यम् तारं शुभ्रञ्च भस्म लभते तथैव भवान्यशोऽलब्धेति भावः । अभिधाश्रयव्यञ्जनया द्वितीयार्थप्रत्ययः ॥ १३७ ॥

त्रिजगदिति । त्रिजगत् त्रिभुवनम् एव अङ्गनम् अजिरम् तस्य लङ्घने अतिक्रमणे जाङ्घिकैः समर्थजङ्घाशालिभिर्द्रुतगामिभिः तव रामस्य यशोभिः अतीव पवित्रिताः प्रथमे पूर्वे ये पार्थिवपुङ्गवाः राजश्रेष्ठास्तेषां कीर्त्तयः विबुधसिन्धुजलैः गङ्गापयोभिः अतीव पवित्रिताः सिन्धवः सागरा इव दृश्यन्ते इति शेषः, यथा भागीरथीजलैः सागरस्थपयसः पवित्रता शोभा समेधते तथैव तव कीर्त्तिभिस्त्वत्पूर्वजानां राज्ञां कीर्त्तयः पावनीकृता इत्याशयः ॥ १३८ ॥

जगदिति । जगताम् आलोके उद्योतने धौरेयौ धुरन्धरौ सूर्याचन्द्रमसाविव स्वभुजाविव च गोत्रस्य कुलस्य गोप्तारौ रक्षितारौ पुत्रौ जनय लभस्व ॥ १३९ ॥

पकाकर आपने पिण्डीभूत तथा दोषशून्य विशाल यश प्राप्त कर लिया है जो पुटपाक-शोधित है ॥ १३७ ॥

तीनों भुवनोंको लाँघनेमें समर्थ तुम्हारे यशसे तुम्हारे पूर्वजोंकी कीर्त्तियाँ और अधिक पवित्र हो गई हैं जैसे गङ्गाधाराके गिरनेसे सागरका जल और अधिक पवित्र हो जाता है ॥

फिर भी यह होवे—

संसारको आलोकित करनेका भार लेनेवाले सूर्य-चन्द्रमाके समान तथा वंशकी रक्षा करनेवाले और आपके भुजोंके समान दो पुत्र आपको प्राप्त हों ॥ १३९ ॥

(सीता मुनिके चरणों को छूती है)

---

१. किं च', 'एतदस्तु' ।

वसिष्ठः—वत्से जनकवंशसुवासिनि, युवयोः साधारणीमेव [1]रामस्य वयमाशिषमवोचाम ।

सीता—(सहर्षमात्मगतम् ।) अम्मो, णिस्सावत्तञ्चं मे अज्जउत्तस्स घरणित्तणं हुविस्सदि । [अम्मो, निःसापत्न्यं मे आर्यपुत्रस्य गृहिणीत्वं भविष्यति ।]

लक्ष्मणः—सगरगोत्रगुरो मैत्रावरुणे, सौमित्रिरभिवादयते ।

वसिष्ठः—वत्स लक्ष्मण, आशिषां विषयमतिक्रम्य वर्तसे ।

वीरमिन्द्रजितं जित्वा दिष्ट्या वर्धयतो जगत् ।
अभये दक्षिणीयस्ते गीर्वाणग्रामणीरपि ॥ १४० ॥

युवयोः साधारणीम् समानाम् , रामाय मया या पुत्रद्वयजननाशीः प्रदत्ता सा त्वत्साधारणी, तवापि मया सैवाशीः क्रियत इत्यर्थः ।

निःसापत्नम्—सपत्नीसम्भावनावर्जितम् , रामाय वसिष्ठेन पुत्रद्वयजननाशीः प्रदत्ता, सा च मत्साधारणी, अतो रामेणान्यस्यां स्त्रियां पुत्रौ न जननीयौ किन्तु मय्येवेति मया सपत्नीसम्भवकष्टं न लब्धमिति तात्पर्यम् ।

सगरगोत्रगुरो सगरवंशकुलपूज्य आचार्य । मैत्रावरुणे वसिष्ठे ।

आशिषां विषयम् आशीर्वादवर्त्म, आशीर्वादः शुभाशंसनम् , यस्य किमपि लब्धव्यं भवति तस्मै तद्विषयक आशीर्वादः प्रदीयते यस्तु सर्वमेव लब्धव्यं लब्ध्वा वर्त्तेत तस्मै किमाशीर्वादेनाशंसनीयम् , तथा च त्वयापि सर्वशुभलाभस्य कृतत्वात्त्वद्विषये किमपि नास्त्याशंसनीयमित्याशयः ।

वीरमिति । वीरम् इन्द्रजितं नाम रावणसुतं जित्वा समरे निहत्य दिष्ट्या भाग्यवशेन जगत् वर्धयतः वृद्धिं प्रापयतस्तव गीर्वाणग्रामणीः देवानामीशः शक्रोऽपि

वसिष्ठ—मैंने जो आशीर्वाद दिया है उसमें तुम्हारा भी समान भाग है ।

सीता—(हर्षके साथ स्वगत) अहा ! तब तो मैं आर्यपुत्रकी अकेली रानी रहूँगी ।

लक्ष्मण—सगरवंशके गुरु मैत्रावरुणे, सौमित्रि लक्ष्मण प्रणाम करता है ।

वसिष्ठ—वत्स लक्ष्मण, आशीर्वादके पर हो तुम, क्योंकि—

वीर इन्द्रजितको मारकर जगतको वृद्धि प्रदान करनेवाले तुमने देवराज इन्द्रको भी अभयदान दिया है ॥ १४० ॥

---

१. 'रामचन्द्रस्य भगवत्याश्च',

तथापि यूयं सर्वेऽपि द्वौ द्वौ जनयतात्मजौ ।
यैरादिराजवंशोऽयमष्टशाखः प्ररोहति ॥ १४१ ॥

रामः—(सहर्षं कृताञ्जलिः ।) भगवन् परमनुगृहीतमिक्ष्वाकुकुलम् ।

भरतः—(रामं प्रति ।) आर्य, शून्यभवनप्रकोष्ठैकरक्षापदातिर्भरतः प्रणमति ।

रामः—(सहर्षमालिङ्ग्य ।) वत्स भरत,

आत्मानमिन्दुकरमेदुरचन्द्रकान्त-
स्तम्भोज्ज्वलं वितर मे हृदि निर्वृणोमि ।
न भ्रातृसंगमसुखासिकया जहाति

अभये दक्षिणीयः दक्षिणार्हः दत्ताभयदक्षिणः । इन्द्रायापि त्वं मेघनादं हत्वाऽभयं दक्षिणां दत्तवानसीति तवाशंसनीयं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ १४० ॥

तथापीति । तथापि जगदभयदानसम्पादनशक्तिमत्तयाऽऽशीर्विषयातिक्रमेऽपि यूयं सर्वे भ्रातरश्चत्वारः द्वौ द्वौ प्रत्येकं द्वौ आत्मजौ पुत्रौ जनयत उत्पादयत, यैः पुत्रैः अयम् आदिराजवंशः मनोः कुलम् अष्टशाखः अष्टधा भिन्नः सन् प्ररोहति वर्धेत ॥ १४१ ॥

शून्यभवेनेति । शून्यं भवद्विरहितं यद् भवनं गृहम् तस्य प्रकोष्ठो बहिर्गृहम् तस्य एका केवला रक्षा तस्याः पदातिः पादचारी सैनिकः ।

आत्मानमिति । इन्दोश्चन्द्रस्य किरणैः करैः मेदुरः स्निग्धो यश्चन्द्रकान्तस्तम्भः चन्द्रकान्तमणिनिर्मितो दण्डः तद्वत् उज्ज्वलम् आत्मानम् स्वदेहम् मे मम वक्षसि हृदि वक्षसि वितर अर्पय, (तेन) निर्वृणोमि शान्तिं लभे सुखीभवामि । चपला चञ्चला अपि लक्ष्मीः भ्रातृसङ्गमे या सुखासिका सुखावस्थानं तया हेतुना सकौ-

---

फिर भी तुम सभी दो दो पुत्र प्राप्त करो जिससे यह मनुका वंश आठ शाखाओंमें समृद्ध हो । १४१ ॥

राम—(सहर्ष हाथ जोड़कर) आपने इक्ष्वाकु कुलपर बड़ी कृपा की ।

भरत—(रामके प्रति) आर्य, सूने भवनका रखवाला यह पादचारी सैनिक भरत आपको प्रणाम करता है ।

राम—(हर्षके साथ गले लगाकर) वत्स भरत,

चन्द्रकान्तमणिकी तरह सुन्दर स्तम्भोज्ज्वल अपना अङ्ग लाओ जिसे आलिङ्गन कर शान्ति प्राप्त करूं । भाईके आलिङ्गनमें बड़ा आनन्द है, इसीलिए चञ्चला हो करके भी

विष्णोः सकौस्तुभमुरश्चपलापि लक्ष्मीः ॥ १४२ ॥

भरतः—([1]सीतां प्रति ।) [2]देवि, प्रणमामि ।

सीता—वच्छ भरद, उण्हकरकिरणणिउरम्बचुम्बिअकमलखण्डं विअ चिरं मे णअणं आणन्देहि । [वत्स भरत, उष्णकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितकमलखण्डमिव चिरं मे नयनमानन्दय ।]

(लक्ष्मणो भरतं वन्दते ।)

भरतः—

वत्स लक्ष्मण सोत्कण्ठं चिरात्परिरभस्व माम् ।
श्रद्धालुर्भ्रातुरङ्गानि चन्दनेष्वप्यरोचकी ॥ १४३ ॥

स्तुभम् कौस्तुभाख्यरत्नभूषितम् विष्णोः उरो वक्षःस्थलम् न जहाति न त्यजति । कौस्तुभस्य लक्ष्म्याश्चैकस्मात्समुद्रादुत्पन्नत्वेन लक्ष्म्या भ्राता कौस्तुभस्तत्सहवाससुखानुभवेनैव चपलापि लक्ष्मीर्विष्णोरुरोदेशं न जहाति, अत एव चन्द्रकान्तमनोहरशीतलं स्वसङ्गं मदुरस्यर्पय येन भ्रातुरङ्गानां सम्पर्केण निर्वृतिं लभेयेति भावः ॥ १४२ ॥

उष्णकरस्य सूर्यस्य किरणनिकुरम्बेन करसमूहेन चुम्बितम् कमलखण्डम् कमलवनमिव । यथा सूर्यकरस्पृष्टं कमलकुलमानन्दति तथा त्वद्दर्शनेन मदीयं नयनमानन्दं लभतां तथा यतस्व मत्समीपमुपेहीत्यर्थः ।

वत्सेति । हे वत्स लक्ष्मण, चिरात् बहोः कालात् सोत्कण्ठम् तदालिङ्गनधृतोत्कभावम् माम् भरतं परिरभस्व आलिङ्ग, भ्रातुरङ्गानि श्रद्धालुः सादरमादधानः

लक्ष्मी कौस्तुभमणिरूप अपने भाईके साथ रह पानेके लोभसे भगवान्‌की छातीको कभी नहीं छोड़ती है ॥ १४२ ॥

भरत—(सीताके प्रति) देवि, प्रणाम करता हूँ ।

सीता—वत्स भरत, सूर्यकिरणसे विकसित कमलकी तरह चिरकाल तक हमारी आँखोंको आनन्दित करते रहो ।

(लक्ष्मण भरतको प्रणाम करते हैं)

भरत—वत्स लक्ष्मण, मैं बहुत दिनोंसे तुम्हारे आलिङ्गनके लिये उत्सुक हूं, आओ मुझसे लिपट जाओ । भाईके अङ्गोंपर श्रद्धा रखनेवाला चन्दनमें अरुचि धारण करता है ॥ १४३ ॥

---

१. 'सीतां नमति' । २. 'सीते, भरतस्त्वां नमति' ।

([1]निर्भरं परिरभ्य ।) हन्त रघुवंशयशस्तडागयूपदण्डेन लक्ष्मणबाहुना परिक्षिप्यमाणश्चिरेण शीतलीकृतोऽस्मि ।

इन्दोः कलाकलापेन पङ्क्तिक्रमनिवेशिना ।
[2]सर्वदुःखापनोदाय सोदर्याणां भुजाः कृताः ॥ १४४ ॥

शत्रुघ्नः—(रामं प्रति ।) आर्य, पादुकाभृत्यानुभृत्यः शत्रुघ्नः प्रणमति ।

रामः—(गाढमालिङ्ग्य ।) कथमावृत्त्या[3] लक्ष्मणमनुभवामि । (अपवार्य सीतायै दर्शयन् ।)

सप्रेमालिङ्गन् जनः चन्दनेषु अपि अरोचकी अनास्थो भवतीत्यर्थः, भ्रातुरालिङ्गने जायमानं सुखं चन्दनविलेपनसुखमप्यतिशय्य वर्त्तत इत्याशयः ॥ १४३ ॥

रघुवंशस्य यश एव तडागस्तत्र यूपदण्डेन तत्पवित्रतासूचकेन, रघुवंशस्य यशसि पवित्रतामुत्कर्षितवता । परिक्षिप्यमाणः आलिङ्ग्यमानः ।

इन्दोरिति । पङ्क्तिक्रमनिवेशिना श्रेणीक्रमपूर्वकं निधीयमानेन इन्दोश्चन्द्रस्य कलाकलापेन कलासमुदायेन कृताः रचिताः सोदर्याणां सोदराणां भ्रातॄणां भुजाः सर्वदुःखापनोदाय सकलकष्टवारणाय भवन्तीति शेषः, चन्द्रकलाभिरिव यथास्थानं निवेशिताभिः निर्मीयमाणाः सोदरभुजाः सकलमपि कष्टमपनुदन्तीति तात्पर्यम् ॥ १४४ ॥

पादुकाभृत्यानुभृत्यः पादुकाया भृत्यो भरतो नाम तस्यानुभृत्यः सेवकस्यापि सेवकः शत्रुघ्नः ।

आवृत्त्या पुनरपि । शत्रुघ्नस्य लक्ष्मणानुजतया तत्समानरूपत्वेन लक्ष्मणरूपतया शत्रुघ्नदर्शनस्य आवृत्त्या लक्ष्मणदर्शनत्वमुक्तम् ॥

(गाढ़ालिङ्गन करके)

अहा ! रघुवंश-कीर्त्ति-तड़ागके यूपस्वरूप लक्ष्मणबाहुसे आलिङ्गित होकर शीतल हो गया हूं, ऐसा अवसर आज चिरकालपर प्राप्त हुआ है ।

चन्द्रमाकी कलाओंको सिलसिले वारसे सजाकर सारे दुःखोंको दूर करनेके लिये ही भाइयोंके भुज बनाये गये हैं ॥ १४४ ॥

शत्रुघ्न—(रामके प्रति) आर्य, आपकी पादुकाके भृत्य भरतका भृत्य मैं शत्रुघ्न प्रणाम करता हूं ।

राम—(जोरोंसे आलिङ्गन करके) क्यों, मैं फिरसे लक्ष्मणका अनुभव कर रहा हूं । (सीताको दिखलाते हुए)

---

१. 'निर्भरं च' । २. 'दुःखप्रणोदाय' । ३. 'आकृत्या' ।

एतत्तदेव मुखमक्षतचन्द्रबिम्ब-
संवादकमवलोकय लक्ष्मणस्य ।
गीर्वाणवारणकरार्गलकर्कशौ मां
तावेव लक्ष्मणभुजौ नु परिष्वजाते ॥ १४५ ॥

(शत्रुघ्नः सीतां प्रणमति ।)

सीता—तेल्लोक्कसल्लुद्धरणगोरविदेहिं चरिदेहिं लक्खणसरिसो होहि । वच्छ सत्तुहण, अज्जाजणो कहिं । [त्रैलोक्यशल्योद्धरणगौरवितैश्चरितैर्लक्ष्मणसदृशो भव । वत्स शत्रुघ्न, श्वश्रूजनः कुत्र ।]

शत्रुघ्नः—कृतमङ्गलोपचारो मध्यमाम्बाभवने भवतीं प्रतीक्षते ।

(उपसृत्य लक्ष्मणं प्रणमति ।)

एतत्तदेवेति ।• अक्षतेन पूर्णमण्डलेन चन्द्रबिम्बेन संवादकम् मिलितं तुल्यम् एतत् तदेव लक्ष्मणस्य मुखम् अवलोकय पश्य, (यादृशं लक्ष्मणस्य मुखं तादृशमेवास्य शत्रुघ्नस्यापि मुखमिति पश्येत्यर्थः) गीर्वाणाः देवास्तेषां वारणस्य करिणः ऐरावतस्य करः शुण्डादण्डः, अर्गलः कपाटप्रसरणप्रतिबन्धको लौहमयः काष्ठमयो वा दण्डश्च तद्वत्कर्कशौ कठिनौ तावेव लक्ष्मणभुजौ परिष्वजाते आलिङ्गतो मामिति शेषः, लक्ष्मणस्य मुखमिवास्य शत्रुघ्नस्य मुखं तस्य भुजाविवास्य भुजावपीति तात्पर्यम् ॥ १४५ ॥

त्रैलोक्यशल्योद्धरणगौरवितैः भुवनत्रितयमनोदुःखापनयनगौरवशालिभिः, भुवनत्रयशल्यं मेघनादं हतवान् लक्ष्मण इति प्रसिद्धेः, चरितैर्लक्ष्मणसदृशो भव, यथा लक्ष्मणो लोकत्रयदुःखापनयनयशस्वी तथा त्वमपि लोकत्रयदुःखापनयन-यशस्वी भूया इत्यर्थः ।

कृतमङ्गलोपचारः विहितमाङ्गलिकानुष्ठानः । मध्यमाम्बाभवने कैकेयी गृहे ।

सम्पूर्ण चन्द्रमण्डलसे मिलता हुआ लक्ष्मणका ही मुख तो यह देख रही हो, ऐरावतके शुण्ड तथा अर्गलके समान कठोर लक्ष्मणके भुज ही तो मुझे आलिङ्गित कर रहे हैं ॥१४५॥

(शत्रुघ्न सीताको प्रणाम करता है)

सीता—त्रैलोक्यके दुःखोंको दूर करनेमें समर्थ चरितसे लक्ष्मणके समान हो । वत्स शत्रुघ्न ! श्वश्रूजन कहाँ हैं ?

शत्रुघ्न—मङ्गलोपचार करके मझली माताके भवनमें आपकी राह देख रही हैं ।

(समीप जाकर लक्ष्मणको प्रणाम करते हैं)

लक्ष्मणः—(सहर्षमालिङ्गय) [1]वत्स, दिष्ट्या दीर्घायुषि त्वयि दीप्यमाने न[2] वयमेकाकिनमार्यभरतं परित्यज्य गताः ।

रामः—(मुनिं प्रति ।) भगवन्, एतौ लङ्काकिष्किन्धयोरधिपती विभीषणसुग्रीवौ भगवन्तं प्रणमतः ।

वसिष्ठः—विकर्तनपुलस्त्यकुलकीर्तितोरणमालावलम्बन[3]स्तम्भाविमौ चिरस्य भूयास्ताम् ।

रामः—(भरतं प्रति ।) वत्स, वन्दस्व महात्मानावेतौ पौलस्त्यसावित्रौ ।

(भरतशत्रुघ्नविभीषणसुग्रीवा [4]मिथो यथोचितमाचरन्ति ।)

वसिष्ठः—(सहर्षम् ।) [5]दिष्ट्या चतुर्दशभिः परिवत्सरैः [6]पुनः समुदयमानं दशरथकुटुम्बमीक्षामहे । (सविमर्शस्मितम् ।)

विकर्त्तनकुलम् सूर्यवंशः, पुलस्त्यस्यकुलं च तयोः कीर्त्तितोरणमालायाः यशःप्रशस्तिस्रजः, अवलम्बनस्तम्भौ आश्रयदण्डौ । सूर्यकुलस्य सुग्रीव इति बोध्यम् । पुलस्त्यकुलस्य विभीषणः इति च ।

समुदयमानम्—वृद्धिभाजनम् ।

लक्ष्मण—(सहर्ष गले लगाकर) वत्स चिरजीवो तुम्हारे साथ रहनेके कारण हमको कभी इस बातकी चिन्ता नहीं सता सकी कि हम भरतको अकेले छोड़ आये हैं ।

राम—(वसिष्ठके प्रति) महाराज, ये लङ्का-किष्किन्धाके स्वामी विभीषण तथा सुग्रीव आपको प्रणाम करते हैं ।

वसिष्ठ—सूर्यवंश तथा पुलस्त्यवंश कीर्त्तितोरणमालाके आधार बनकर आप दोनों चिरायु हों ।

राम—(भरतके प्रति) वत्स, पुलस्त्यवंशावतंस विभीषण तथा सूर्यकुलदीपक सुग्रीवको नमस्कार करो ।

(भरत शत्रुघ्न सुग्रीव विभीषण परस्परमें यथोचित आचार करते हैं)

वसिष्ठ—(सहर्ष) सौभाग्यवश चतुर्दश वर्षोंके बाद पुनः दशरथके परिवारको समृद्ध देख रहा हूँ । (विचार करके हँसते हुए)

---

१. 'वत्स' इति क्वचिन्नास्ति । २. 'न' इति क्वचिन्नास्ति ।
३. 'स्तम्भौ स्वं स्वं भाविनौ' । ४. 'मिथो' इति क्वचिन्नास्ति ।
५. 'दृष्ट्या' । ६. 'पुनः पुनः समुदयमानम्' ।

जेतारं दशकन्धरस्य जितवानेवार्जुनं भार्गव-
स्तं रामो यदि काकपक्षकधरस्तत्पूरितेयं कथा।
ऊर्ध्वं कल्पयतस्तु बालचरितात्तत्प्रक्रियागौरवा-
दन्येयं कविता तथापि जगतस्तोषाय वर्तिष्यते ॥१४६॥

(रामं प्रति।) वत्स, माङ्गलिकलग्नमतिक्रामति।

तदिदं रघुसिंहानां सिंहासनमलङ्कुरु।
राजन्वन्तः प्रतन्वन्तु मुदमुत्तरकोशलाः ॥ १४७ ॥

जेतारमिति। भार्गवः परशुरामः दशकन्धरस्य रावणस्य जेतारम् अर्जुनं कार्त्तवीर्यम् जितवानेव, (तत्र कोऽपि सन्देहावसरो नैवास्ति) काकपक्षकधरः शिखण्डकधारी शिशुः रामः यदि तं परशुरामं जितवान् तत् तदा इयं कथा रामस्य विजयवार्त्ता पूरिता समाप्तिं प्रकर्षं वा गता। परशुरामे जिते रावणादिजयस्य सिद्धवत्प्रतीयमानतया रामस्य जयवार्त्ता परशुरामजयेनैव पूर्णतां गतेत्यर्थः। तथापि बालचरितात् तस्य रावणवधादेः प्रक्रियायाः प्रकरणस्य समुद्रलङ्घनादिनः गौरवात् गुरुत्वात् ऊर्ध्वं कल्पयतः पश्चात् रावणवधादिकं रचयतः अन्या अपरा इयं कविता वर्णना जगतस्तोषाय वर्त्तिष्यते स्थास्यति। बालचरितात्परमपि रामचरितमधीत्य तोषं प्राप्स्यताम् लोकानां तृप्त्य एव सकलोऽपि परशुरामजयोत्तरकालिको व्यापारकलापः। विजयस्तु परशुरामजयेनैव प्रत्यायित इत्यर्थः। 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इत्यमरः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१४६॥

तदिदमिति। तत् इदं रघुसिंहानाम् इदं सिंहासनम् राज्यासनम् अलङ्कुरु स्वोपवेशेन भूषितं कुरुष्व। उत्तरकोशलाः कोशलाख्यजनपदविभागस्य उत्तरविभागाः राजन्वन्तः सुराजसम्पन्नाः सन्तः मुदं प्रतन्वन्तु स्वमानन्दं विस्तारयन्तु ॥ १४७ ॥

रावणको पराजित करने वाला कार्त्तवीर्यार्जुन उसके भी पराजेता परशुरामको बाल्यावस्थामें ही जब रामने जीत लिया उसी समय यह कथा पूरी हो गई, बालचरितके बाद कल्पना करके प्रक्रिया गौरव द्वारा प्रस्तुत यह रावणविजयकी कविता संसारको सन्तोष प्रदानके लिये होगी ॥ १४६ ॥

(रामके प्रति) वत्स माङ्गलिक लग्न बीता जा रहा है॥

अब तुम रघुवंशियोंके इस सिंहासनको अलंकृत करो, तुम्हें सिंहासनासीन पाकर सुराजाके राज्यमें बसनेके कारण उत्तरकोसलके प्रजाजन आनन्द प्राप्त करें ॥ १४७ ॥

(रामस्तथा करोति । वसिष्ठ 'ऐन्द्रेण महाभिषेकेण मन्त्रपूर्वकमभिषिञ्चति । अन्ये तूच्चावचमभिषेकं नाटयित्वा पश्चाद्भुचुम्बितभूमयः प्रणमन्ति । नेपथ्ये 'मङ्गलगीतिर्नान्दीवाद्यानि च ।)

वसिष्ठः—(सहर्षम् ।) वत्स रामभद्र, सम्प्रति

उदयदुदयद्धर्मस्कन्धे धुरं त्वयि बिभ्रति
क्व नु परिभवौ दृष्टादृष्टौ प्रजाः परिचिन्वते ।
अपि खलु यथा जीवात्मानः प्रभोः परमात्मनो
दिशि दिशि दिशामष्टौ नाथास्तवैव विभीषिकाः ॥१४८॥

(रामो लज्जते ।)

उदयदिति । उदयन् उदयन् प्रतिपलं वर्धमानः धर्मस्कन्धः यस्य तादृशे त्वयि रामचन्द्रे धुरं राज्यभारं बिभ्रति धारयति सति प्रजाः प्रकृतयः दृष्टः परराजसमुत्थितः अदृष्टः अनावृष्ट्यादि समुत्थितश्च तौ परिभवौ क्लेशौ क्व नु जानते त्वयि-राजनि प्रजानां दृष्टादृष्टकष्टयोर्नाम्नोऽपि ज्ञानमपि न सम्भवतीत्यर्थः । प्रभोः निग्रहानुग्रहसमर्थस्य परमात्मन ईश्वरस्य जीवात्मानो यथा तथा दिशि दिशि प्रतिदिशम् अष्टौ नाथा दिक्पाला इन्द्रादयोऽपि तवैव विभीषिकाः भयप्रदर्शनानि । यथा परमात्मनः स्वांशभूता जीवाः केवलं मिथ्याप्रत्ययभिन्ना तथैवेन्द्रादयोऽपि न त्वद्भिन्नाः ते तु त्वयैव प्रजानां भयमुत्पाद्य ताः सत्पथेन सञ्चारयितुं विभीषिका रूपतया स्थापिता इत्यर्थः । 'अदृष्टं वह्नितोयादि दृष्टं स्वपरचक्रजम्' इत्यमरः ॥१४८॥

[राम सिंहासनपर बैठते हैं । वसिष्ठ ऐन्द्र महाभिषेकद्वारा मन्त्रपूर्वक उनका अभिषेक करते हैं । और लोग भी यथारुचि अभिषेक करके पृथ्वीपर पड़कर प्रणाम करते हैं । नेपथ्यमें मङ्गलगान होता है तथा बाजे बजते हैं)

वसिष्ठ—(सहर्ष) वत्स रामभद्र, सम्प्रति,

अनुक्षण, धर्मके उदयमें संलग्न तुमने जब राज्यभार ले लिया है तब प्रजाओंको परचक्रजातभय तथा अनावृष्ट्यादि जातभयकी क्या चिन्ता रही । जिस प्रकार परमात्माके रूपान्तर जीवात्मा है उसी तरह सभी दिक्पाल तुम्हारे ही रूपान्तर हैं ॥ १४८ ॥

(राम लज्जित होते हैं)

१. 'ऐन्द्रेण महाभिषेकेण' इति क्वचिन्नास्ति ।

२. 'मङ्गलगीतिनान्दीर्मङ्गलवाद्यानि'; 'मङ्गलगीतिनान्द्यादि' ।

विभीषणः—(कृताञ्जलिर्जानुभ्यां प्रणिपत्य ।) देव,

लङ्का च पुष्पकमिदं च विमानमार्या-
द्यक्षेश्वरादपहृतं दशकन्धरेण ।
एकां भवानदित मह्यमथेदमन्य-
दाज्ञापय द्रुतमुपैतु पतिं निधीनाम् ॥ १४९ ॥

रामः—(वसिष्ठेनानुज्ञातः पुष्पकं प्रति ।) विमानराज, प्रथमस्वामिनं प्रथमपौलस्त्यमुपतिष्ठस्व ।

वसिष्ठः—(सहर्षप्रसादम् ।)—रामभद्र, किं ते भूयः प्रियं [1]करोमि ।

रामः—भगवन्, किमतः परमपि प्रियमस्ति, [2]भगवत्प्रसादान्न

ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिकमणिं कृत्वा महापोत्रिणो

लङ्का चेति । दशकन्धरेण रावणेन आर्यात् पूजनीयात् ज्येष्ठभ्रातुः यक्षेश्वरात् कुबेरात् लङ्का नाम पुरी इदं पुष्पकं विमानं व्योमयानं च अपहृतम् बलादाच्छिद्य गृहीतम्, तयोर्लङ्कापुष्पकयोः एकां लङ्कां भवान् मह्यं रामाय अदित दत्तवान्; अन्यत् अवशिष्यमाणं चेदं पुष्पकम् द्रुतं शीघ्रं निधीनां पतिं वित्तेशं कुबेरम् उपैतु गच्छतु इति आज्ञापय, त्वदाज्ञया पुष्पकं कुबेरः पुनराप्नोतु इत्याशयः ॥ १४९ ॥

प्रथमस्वामिनम् आत्मनः प्रथमं पतिम् । प्रथमपौलस्त्यस्य पुलस्त्यस्य प्रथमं ज्येष्ठं पौत्रम् । रावणस्य पिता विश्रवास्तस्य द्वौ पुत्रौ तयोः कुबेरो ज्येष्ठो रावणश्च कनिष्ठ इत्यर्थः ।

ताताज्ञामिति । तातस्य पितुराज्ञाम् अधिमौलि मस्तके मौक्तिकमणिं मुक्तामाल्यं

विभीषण—(हाथ जोड़कर और घुटने टेककर) देव,

रावणने यक्षेश्वर कुबेरसे लङ्का तथा यह पुष्पक विमान छीन लिया था, उनमें लङ्का तो आपने मुझे दे दी है, आप आज्ञा दें कि दूसरा यह विमान कुबेरके पास चला जाय ॥

राम—(वसिष्ठकी आज्ञासे पुष्पकके प्रति) विमानराज, आप अपने प्रथम स्वामी पौलस्त्योंमें ज्येष्ठ कुबेरके पास जांय ।

वसिष्ठ—(हर्षके साथ) रामभद्र, अब आपका और क्या प्रिय करूं ।

राम—भगवन्, इससे अधिक प्रिय क्या होगा ? आपके अनुग्रहसे—

मैंने पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके भगवान् वराहकी दंष्ट्रा स्वरूप विन्ध्याचल ही

---

१. 'उपकरोमि' । २. 'भवतः प्रसादात्' ।

दंष्ट्राविन्ध्यविलासपत्रशबरी दृष्टा भृशं मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तयन्नर्पितः
[1]कल्पान्तं च कृतं च विश्वमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥१५०॥

तथापीदमस्तु ।

समुन्मीलत्सूक्तस्तबकमकरन्दैः श्रवणयो-
रविश्रम्यद्धारा[2]सवनमुपचिन्वन्तु कवयः ।
न शब्दब्रह्मोत्थं परिमलमनाघ्राय च जनः
कवीनां गम्भीरे वचसि गुणदोषौ रचयतु ॥ १५१ ॥

कृत्वा मुक्तामाल्यमिव पितुरादेशं शिरसा निधाय, महापोत्रिणः आदिवराहस्य दंष्ट्रा इव यो विन्ध्यः पर्वतः स एव विलासाय पत्रं कर्णभूषणं यस्यास्तादृशी या शबरी किराती सैव मेदिनी भृशं दृष्टा पितुराज्ञया कर्णनिहितपत्रा शबरीव विन्ध्यपर्वतरूपकर्णभूषणधरा इयं मही परित्यक्तेति भावः। दक्षिणपश्चिमौ समुद्रौ सीमन्तयन् द्विधाकुर्वन् सेतुः अर्पितः सागराय दत्तः, विश्वं समस्तं च जगत् कल्पान्तं प्रलयकालपर्यन्तस्य कृते अदशग्रीवोपसर्गम् रावणरूपव्याधिविरहितं कृतम् ॥१५०॥

समुन्मीलदिति । कवयः समुन्मीलन् विकासं गच्छन् यः सूक्तस्तबकः सदुक्तिगुच्छः तस्य मकरन्दैः पुष्परसैः श्रवणयोः लोकानां कर्णयोः अविश्रम्यत् विश्रमं विराममनाप्नुवत् धारासवनं धारास्नानम् उपचिन्वन्तु वर्धयन्तु । कवयः सूक्तानि रचयन्तु, स्तबकोपमानां सूक्तानां मकरन्दैश्च लोकानां कर्णाः अनवरतधारास्नानमिव लभन्तां तृप्ता भवन्त्वित्यर्थः। जनः लोकः शब्दब्रह्मोत्थं शब्दब्रह्मणो जायमानं परिमलं सुगन्धमनाघ्राय अनास्वाद्य शब्दशास्त्ररहस्यमज्ञात्वा गम्भीरे कवीनां

जिसका कर्णाभरण है ऐसी शबरीके रूपमें (अनुपभोग्य) पृथ्वीको छोड़ दिया, दक्षिण तथा पश्चिम सागरोंको जोड़नेवाला सेतु बंधवाया, और सृष्ट्यन्ततकके लिए जगत्‌को रावणके उपद्रवोंसे मुक्ति दी ॥ १५० ॥

फिर भी यह हो—

विकसित होनेवाले सूक्तिस्तवकोंके रससे कविगण अनवरत धारास्नान प्राप्त करें, और शब्दब्रह्मके रहस्यको विना समझे लोग कवियोंके गम्भीर वचनमें गुण दोषका निर्धारण न किया करें ॥ १५१ ॥

---

१. 'कल्पान्तेऽपि' । २. 'स्नपन-' ।

अपि च—

देवस्यात्मभुवः कमण्डलुजलस्रोतांसि मन्दाकिनी-
गङ्गाभोगवतीमयानि पुनते यावत्त्रिलोकीमिमाम् ।
तावद्वीरयशोरसायनमधुस्यन्दः[1] कवीनामयं
जागर्तु श्रुतिशष्कुलीवलयितव्योमावगाही गुणः ॥ १५२ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति नायकानन्दो[2] नाम सप्तमोऽङ्कः ।

इति महाकविश्रीमुरारिविरचितमनर्घराघवं नाम नाटकं समाप्तम् ।

वचसि काव्ये गुणदोषौ न रचयतु दुष्टमिदं गुणवदिदं चेति स्वीयं विचारं न प्रकाशयत्वित्यर्थः ॥ १५१ ॥

देवस्येति । मन्दाकिनी वियद्गङ्गा गङ्गा मर्त्यलोकस्था, भोगवती पातालगङ्गा चेति तन्मयानि तत्स्वरूपाणि देवस्य आत्मभुवो ब्रह्मणः कमण्डलुजलस्रोतांसि कमण्डलुवर्त्तिजलधाराः यावत् इमां त्रिलोकीं भुवनत्रयं पुनते पवित्रयन्ति, तावत् अयं वीराणां यश एव रसायनं पुष्टिकरसहौषधिविशेषः तस्य मधुस्यन्दः माधुरीप्रवाहः श्रुतिशष्कुल्या श्रोत्रविवरेण वलयितं वेष्टितम् यत् व्योम आकाशम् तदवगाही कवीनां गुणः शब्दः जागर्त्तु तिष्ठति । यावद् मन्दाकिनी स्वर्गे वहति, गङ्गा भुवि वहति भोगवती च पाताले वहतीत्थं त्रिभुवनमेतानि ब्रह्मकमण्डलुजलस्रोतांसि पवित्रीकुर्वन्ति, तावद् वीराणां यशोवर्णनकृद् कवीनां रचनागुणः श्रवणाकाशे वर्त्तताम् श्रूयतामित्यर्थः । अत्र शुभाशंसनरूपा प्रशस्तिः ।

और भी—

ब्रह्माके कमण्डलुका जलप्रवाहरूप मन्दाकिनी, गङ्गा तथा भोगवती जब तक तीनों लोकको पवित्र करती रहे तब तक यह वीरकीर्त्तिगाथारूप कर्णामृत प्रवाह लोगोंको कानरूप आकाशका गुण बना रहे ॥ १५२ ॥

(सबका प्रस्थान)

सप्तम अङ्क समाप्त ॥

---

१. 'स्यन्दी' । २. 'इति नायकपरमानन्दो नाम' ।

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहंसात्प्रसर्पद्यशो-
ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखान्मधुरिपुध्यानैकबद्धाशयात् ।
मिश्राख्यान् 'मधुसूदना' 'ज्जयमणौ' सीमन्तिनीनां मणौ
तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्याप्रसिध्यादियम् ॥ १ ॥
बाणक्षोणिधराक्षिसम्मित शरद्याशातिथौ माधवे
चन्द्रे पुष्यति चन्द्रसूनुदिवसे श्रीशारदानुग्रहात् ।
सम्राड्धर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता
मानीतेयमुमामहेश्वरपदाम्भोजेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥
'विद्वांसो वसुधातले परवचः श्लाघासु वाचंयमाः'
उक्त्वैतद्विमुखीभवामि नमनादालोचनावर्त्मनः ।
ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पक्षपातां दृशं
निक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुवं कुर्युर्ममेमां कृतिम् ॥ ३ ॥
छिद्रान्वेषणमात्रसज्जधिषणानन्यत्र दोषान् बहून्
ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दामि किन्त्वर्थये ।
निर्दोषेण यथा प्रशस्तरचनां निर्माय कांचित्कृतिं
लोकेभ्यः समुपाहरन्तु भविता भूयो यशोऽनेन वः ॥ ४ ॥
मान्यान् यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सखायश्च मे
येषामाग्रहतो विदन्नपि निजां शक्तिं प्रवृत्तोऽभवम् ।
व्याख्यानेऽत्र न तैरियं मम कृतिः कार्यान्यथात्क्वपदं
सर्वानिन्दितकीर्त्तिलाभसुभगं भाग्यं कुतोऽस्मादृशाम् ॥ ५ ॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तःपाति 'पकडी' ग्रामवासिना मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाज-संस्कृतमहाविद्यालये साहित्याध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधि-प्रसाधिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्र 'शर्मणा' विरचितायामनर्घ-राघवनाटकस्य प्रकाशाभिधायां व्याख्यायां
सप्तमाङ्कः 'प्रकाशः'

विशेष-विवरण

(नोट्स)

अनर्घराघवप्रकाशपरिशिष्टम्

१—चकोरपारणपटुज्योतिष्मतो

नान्दी श्लोक होनेके लिए गङ्गा चन्द्र आदि शब्दका होना आवश्यक है, अतः इसी पदसे चन्द्रकी सूचना समझी जानी चाहिये—लिखा है:—'अत्र यद्यपि 'गङ्गा नारापतिः सोमः सुधानन्दो जयाशिषः। एभिर्नामपदैः कार्या नान्दी कविभिरङ्किता' इति भरतवचनादवश्योपादेयं गङ्गादिपदं न कण्ठतः श्रूयते, तथापि चकोरपारणपटुज्योतिः पदेन चन्द्रसङ्कीर्त्तनमेव। न च एभिर्नामपदैरित्यनेन तत्तत्पदेनैवोपादानं युक्तमिति वाच्यम् तस्योपलक्षणत्वात् 'जितमुडुपतिना' इत्यादि रत्नावली नान्द्यां तथैव दर्शनात्' ॥

२—उदरमविशद्द्रष्टुम्

ब्रह्मा संसार बनाते हैं अतः उनको संसारका विशदज्ञान आवश्यक है, कर्त्ताको कैसा होना चाहिये इसके लिए उसके लक्षणपर ध्यान दें। 'उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं हि कर्त्तृत्वम्' अतः 'यथा पूर्वमकल्पयत्' इस श्रुतिके अनुसार करिष्यमाणसृष्टिका पूर्णज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रलयकालमें ब्रह्मा विष्णुके उदरमें पैठ जाते हैं। क्योंकि वहां सारा संसार एक ही जगह देखनेको मिल जाता है।

३—नान्द्यन्ते

रत्नकोषमें लिखा है:—'प्रत्याहारगीतवाद्यादिद्वाविंशत्यङ्गेष्वन्तर्गता पूर्वरङ्गस्य प्रधानाङ्गभूता नान्दी' सा चेयं द्वादशपदाष्टपदा वा कार्या, 'सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः। नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृतम्' इत्युक्तेः। पदं चात्रद्विविधमभिप्रेतम्, सुप्तिङन्तरूपं श्लोकपादाख्यञ्च। तदुक्तं नाट्यलोचनकृता—'सुप्तिङन्तं पदं चात्र श्लोकपादश्च वा पदम्' ततश्चात्र श्लोकपादाभिधपदग्रहणादष्टपदानान्दीबोध्या।

४—उपस्थानीयाः

उपपूर्वकस्थाधातुसे यहां कर्त्तामें अनीयर प्रत्यय हुआ है, 'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' पाणिनि सूत्र ३।४।६८।

५—सोदरोऽपि विमुञ्चति

रुचिपतिने इस शब्दके सम्बन्धमें लिखा हैः—ननु समानशब्दस्य—'विभाषोदरे' इति स भावे 'सोदराद्यः' इति यप्रत्यये सोदर्य इति स्यात्। अतएव 'समानोदर्यसोदर्य सगर्भ्य सहजाः समाः' इत्यमरोऽपि। तत्कथं सोदर इति। उच्यते, समानमुदरं यस्येति बहुव्रीहौ सोदरः 'समानस्य' इति योगविभागाद् 'वोपसर्जनस्य' इति वा सभावः। अतएव 'सोदरोऽपि सहोदरः' इति शब्दभेदे उक्तम्।

६—वान्तैः

यद्यपि वान्तशब्दमें जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लीलत्व दोष प्रतीत होता है परन्तु—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरम्' इस उक्तिके अनुसार यहां लक्ष्यार्थक होनेसे दुष्ट नहीं होता है। जैसे सुबन्धुने लिखा हैः—'अविदितगुणमपि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्'॥

७—अनर्घराघवम्

'अनर्घः पूज्यो राघवो रामो यत्र तादृशम्'। ऐसा विग्रह करना चाहिये। 'अमूल्ये दृश्यतेऽनर्घस्तथा पूज्ये सुदुर्लभे' इति कोषः। इस तरहके नामकरणकी शैली संस्कृतसाहित्यमें प्रचलित है, जैसे प्रसन्नराघव, उदात्तराघव आदि।

८—मद्गर्घारसपाठगीति इत्यादिश्लोक

तुलनाके लिये पढ़िये रत्नावली नाटिकाका श्लोक—'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषागुणग्राहिणी लोके हारि च वत्सराज चरितं नाट्ये च दक्षावयम्। वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किम्पुनर्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वोगुणानांगणः'।

९—वसिष्ठस्यानुशासनम्

(क) वसु तेजस्तदस्यास्तीति वसुमान्, वसुमान् शब्दसे अतिशय अर्थमें इष्ठन् प्रत्यय करनेपर 'विन्मतोः' इत्यादि सूत्रसे मतुप् प्रत्यय तथा उकारका लोप, इस प्रकारकी सिद्धि धातुपारायणमें लिखित है। अतएव गदसिंहने दन्त्यसकारमध्यशब्दोंके परिगणनमें वसिष्ठशब्दको गिनाया हैः—'प्रसृतासनानुवासनवसिष्ठरसविसोढविस्तब्धाः' आश्चर्यमञ्जरीकारने श्लेषके अनुरोधसे 'वशिष्ठ' इस तालव्यघटितरूपको स्वीकार किया है।

(ख) यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैसे भवभूतिने उत्तररामचरितमें 'जामातृ यज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्। युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः' इस तरह वसिष्ठके सन्देशका प्रतिपादन किया है जिससे नायकके अगले कार्यकलापका स्वरूप निर्धारित होता है, उसी तरह इस नाटकमें भी मुरारिने वसिष्ठके—'हुतमिष्टं च तप्तं च धर्म-

श्चायं कुलस्य ते। गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिनः' इस प्रकारके सन्देशासे ही विश्वामित्रके आनेपर दशरथके कार्यकलापका नियन्त्रण किया गया है मालूम पड़ता है कि भवभूतिकी अनुकृति की गई है।

१०—विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा

यह एक प्रसिद्ध महर्षि थे, इनका जन्म राजकुलमें हुआ था, इनके पिताका नाम गाधि था, विश्वामित्र राजकुलमें जन्म लेकर भी कठोर तपस्यासे महर्षि बन गये थे। प्रावेशिकी का अर्थ है प्रवेशसूचिका और ध्रुवा का अर्थ है गीति। भरतने लिखा है:—'ध्रुवा तु गीति भेदोऽयं वृन्दसामानिबध्यते'। सा च पञ्चधा—'प्रावेशिकी निष्क्रामणी परिक्रामण्यवस्थितिः। उत्थापनी तु पञ्चम्या ध्रुवा नाट्यार्थसिद्धये। तत्र प्रावेशिकी ज्ञेया प्रवेशे गानयोगतः।'

११—त्रिशङ्कोरुपभोगाय नद्यौरपि न भूरपि

त्रिशङ्कु एक सूर्यवंशी राजा थे, सशरीर स्वर्ग जानेकी इच्छासे इन्होंने अपने पुरोहित वसिष्ठको यज्ञ करानेके लिये कहा। वसिष्ठने अस्वीकार कर दिया। अनन्तर त्रिशङ्कु विश्वामित्रकी शरण गये। उन्होंने यज्ञ करवाया, परन्तु उस यज्ञमें देवगण नहीं आये। विश्वामित्रने दूसरा स्वर्ग बनाना चाहा। देवोंने बहुत कह सुनकर विश्वामित्रसे सन्धि कर ली, तदनुसार आजतक अधोमुख त्रिशङ्कु अन्तरिक्षमें लटक रहे हैं॥

१२—ब्राह्मणमुञ्चकार

यहाँ ब्राह्मण शब्द जातिपरक है, 'ब्राह्मण इदम्' इस विग्रह द्वारा सामान्य सम्बन्धमात्रपरक नहीं है, अतएव 'ब्राह्मोऽजातौ' इस सूत्रके द्वारा टिलोप नहीं होता है, रुचिपतिने लिखा है:—'ब्राह्मणमिति जातिपरम्, तेन ब्रह्मण इदं ब्राह्मणमित्यत्राणिकृते ब्राह्मो जातौ इति टिलोपोन भवति। यद्यपि विशुद्धमातापितृयोनिजत्वं ब्राह्मणत्वमिति सर्वतान्त्रिक सिद्धं तथापि क्षत्रियाजातस्य परशुरामस्य योजनगन्धाजातस्य च व्यासस्येव विश्वामित्रस्यापि ब्राह्मण्यमचिन्त्यतपःप्रभावादेवेति'॥

१३—स्वस्ति भवते सपरिवाराय

परिवारेणसह वर्त्तत इति सपरिवारस्तस्मै सपरिवाराय। 'तेनसहेतितुल्ययोगे' इति समासे 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सः। ननु प्रकृत्याऽऽशिषि' इत्याशीर्विवक्षायां प्रकृतिभावप्राप्तया सहभाव एव स्यान्न सभाव इति चेदत्र केचित्—अत्राशीविवक्षाया अभावात् स्वस्तीत्यादिना प्रश्नस्यैव करणात् न प्रकृतिभाव प्रसक्तिः। अन्येत्वाशीर्विवक्षैवात्र नतु प्रश्नः तेन सहपरिवारायेत्येव पाठः साधीयान्,

दशरथकृताभिवादनानन्तरं विश्वामित्रेणाशीः प्रदानस्यैवौचित्य प्राप्तत्वात्। इति रुचिपति पद्धतिः॥

१४—शौवापदः

शुन इव पदमस्येति श्वापदो व्याघ्रः, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः, ततः 'तस्येदम्' इत्यणि 'द्वारादीनां च' इति ऐचि शौवापदमिति रूपम्।

१५—गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिनः

अत्राङ्गनशब्दो णकारान्त इति केचित् पठन्ति, तदप्रामाणिकम्, न च पृषोदरादिपाठेन णत्वमिति वाच्यम्, पृषोदरादिपाठे प्रमाणाभावात्, तथाविधानुप्रासयमकादेरदर्शनात्। 'तवर्ग पञ्चमोपान्तमङ्गनं केवलं विदुः' इति शब्दभेदप्रामाण्येन नानात्वेनैव तस्य स्वीकार्यत्वात्। 'अङ्गनं प्राङ्गणे याने कामिन्यामङ्गनामता' इति मेदिन्यादिकोषे नानावर्ग एव तत्पाठाच्च। (रुचिपतिः)

१६—यशःस्तोमानुच्चैरुपचिनु

'यशस्तोमानुच्चैरुपचिनु चकोर प्रणयिनी रसज्ञा पाण्डित्यच्छिद्दुरशशिधामभ्रमभरान्। अपि त्वत्तेजोभिस्तमसि शमिते रचतु दिशामसौ यात्रामैत्रीं नभसि नितरामम्बरमणिः' मुरारिके इस श्लोकको निम्नके साथ तुलना कीजियेः—

'यशः पूरं दूरं तनु सुतनुनेत्रोत्पलवनी तमस्तन्द्राचण्डातपतपसहस्राणि शरदाम्। इयं चास्तां युष्मच्छरशमितलङ्केश्वरशिरः श्रितोत्सङ्गानन्दत्सुर नरभुजङ्गा त्रिजगती'॥ प्रसन्नराघव ४।४८

दोनों श्लोकों के छन्द, आशय, शैली सबकुछ एकसा है, जो अन्तर है वह प्रसङ्गको ठीक बनाये रखने की दृष्टिसे आवश्यक था। इससे सिद्ध है कि यह भावादि साम्य इच्छाकृत है॥

१७—त्रेताग्निराचामति

अमरकोषमें लिखा हैः—'दक्षिणाग्निर्गार्हपत्या हवनीयौ त्रयोऽग्नयः। अग्नित्रयमिदं त्रेता'। यद्यपि त्रेता शब्दसे ही अग्नित्रयका बोध होता है अतः अग्नि पद की आवश्यकता नहीं थी, तथापि उसका उपादान स्फुटत्वार्थक है, जैसे करिकलभमें करिशब्दका। अथवा त्रेताशब्द युगादि परक भी है अतः अग्निरूप त्रेता बोधनार्थ यहां अग्नि शब्द का भी प्रयोग किया गया है॥

१८—दिनकर कुलीनाः

'दिनकरस्य कुलम् तत्र भवाः' इस विग्रहमें 'कुलात्खः' इस सूत्रसे खप्रत्यय खको ईन आदेश। रुचिपतिने लिखा हैः—'कुलात्खः' इति खः। न च ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति तदन्तत्वाभावात् कथं खप्रत्यय इति

वाच्यम् परिभाषाया ज्ञापकमूलत्वादनित्यत्वात् 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' इति न्यायात्। यद्वा दिनकरा इव कुलीनाः दिनकरकुलीनाः ॥

१९—मेध्यावत्सतरी विहस्यवटुभिः

'बछिया मारी जाती है' इस उक्तिमें यद्यपि अब अनौचित्य प्रतीत होता है परन्तु पूर्वकालमें गोमांसकी भक्षणीयता प्रचलित थी, मधुपर्क प्रकरणमें 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्' ऐसा लिखा है। ब्राह्मणग्रन्थोंके देखने से भी गोमांसकी भक्ष्यता प्रतीत होती है, लिखा है 'पीवा चेत्तर्ह्यश्नाम्येवे'ति याज्ञवल्क्यः। यह क्रम अनुचित था यह कहा जा सकता है परन्तु था अवश्य। भवभूतिके नाटकोंमें भी गोमारणकी बात आती है, देखिये महावीर चरित पृ० १०७ 'संज्ञप्यते वत्सतरी' ॥

२०—परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूंषि

सूर्य यजुर्वेदको किरणोंके रूपमें परिणत कर रहे हैं, मध्याह्नकालमें सूर्यकी किरणें यजुर्वेद मय होती हैं, अतः मध्याह्नकाल हो रहा है यह अर्थ हुआ। पुराणमें लिखा हैः—'ऋङ्मयः प्रातरादित्यो मध्याह्ने च यजुर्मयः। सायंसाममयश्चेति त्रयीमय उदाहृतः'। इस ग्रन्थमें भी आगे लिखा हैः—एतत्त्रयीमयंऽज्योतिरादित्याख्यं निमज्जति' ॥

२१—वाचमेषामृषीणां हि शाब्दमेवानुवर्त्तते

तुलनाके लिये भवभूतिके 'उत्तररामचरित' का पद्य देखियेः—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' ।१।१०

२२—'प्रत्यूहाय बभूवुरम्बुजभुवो देवस्य चाटूक्तयः'

विश्वामित्र जब द्वितीय सृष्टि बनाने लगे थे तब ब्रह्मा आये, उनकी बड़ी स्तुति की, तब विश्वामित्रने द्वितीय सृष्टि करना बन्द कर दिया। उनका आना विश्वामित्रने विघ्न माना। तुलना के लिये देखिये माघ प्रथमसर्ग—'व्यतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छा सदृशं पिनाकिनः' ॥

२३—किष्किन्धा

किष्किन्धा वालि और सुग्रीवकी राजधानी थी। मद्रास प्रान्तके विलारी जिलेमें हम्पीग्रामके समीप तुङ्ग भद्राके उत्तरी तट पर यह स्थान बताया जाता है ॥

२४—जानास्येव यथा पितुः परिभवम्।

महर्षि ऋचीकके पुत्र जमदग्नि वैदिक ऋषि थे। राजा प्रसेनजित्की कन्या रेणुका उनकी स्त्री थी। एक समय सेनासहित कार्त्तवीर्य जमदग्निके आश्रममें

आये। जमदग्निने कपिलाके प्रभावसे ससैन्य कार्त्तवीर्यका यथोचित स्वागतसत्कार किया। उस गौके गुणोंसे आकृष्ट होकर कार्त्तवीर्यने ऋषिसे गौ मांगी। जमदग्निने अस्वीकार कर दिया। इसपर बहुतसी सेना लेकर कार्त्तवीर्यने जमदग्निके आश्रमपर आक्रमण कर दिया। जमदग्निने यथाशक्ति प्रतिरोध किया, परन्तु अन्तमें वह मारे गये। जमदग्निकी मृत्युके समय उनके पुत्र परशुराम आश्रममें नहीं थे, लौटनेपर रेणुकाने जमदग्निकी मृत्युका समाचार कहा, इसीपर परशुरामने प्रतिज्ञाकी कि कार्त्तवीर्यके साथ इस पृथ्वीको इक्कीस वार क्षत्रियशून्य वना दूंगा। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

२५—तदेहि, विमर्दक्षमं प्रदेशमवतराव:

यह पङ्क्ति भवभूतिके उत्तररामचरितमें वर्त्तमान निम्नोद्धृत पङ्क्तिसे मिलती है, तुलना कीजिये:—

'तदितो विमर्दक्षमां भूमिमवतराव:' (पञ्चमाङ्कान्त)

२६—आत्मनासौ-तृतीय:

यहां 'आत्मनश्च पूरणे' इस पाणिनि सूत्रसे तृतीयाका अलुक् होता है। भवभूतिके वीरचरितमें भी इस तरहका प्रयोग आया है:—

'स एवायमात्मनातृतीय: कुशिकनन्दनो नूनं भवन्तमेवाभ्युपैति' (प्रथम अङ्क)

२७—आतिपातिके कर्मणि राज्ञां सद्य: शुद्धि:

अतिपात:। शत्रोराक्रमणं तद्भवं कार्यमस्त्रग्रहणं तत्र। विष्णुस्मृतौ 'न राज्ञां राजकर्मणि' इति दर्शनात्।

२८—तमद्दणा काणीचकार चरमो रघुराजपुत्र:

चरमशब्द कनिष्ठवाचक है तब यहां रामके अर्थमें चरम शब्दका प्रयोग कैसे हुआ है इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'चरमो ज्येष्ठकनिष्ठयो:' इस विश्वप्रकाश कोषके अनुसार ज्येष्ठार्थक चरम शब्दका प्रयोग है। कुछ लोग चरा मा लक्ष्मी यस्य स:-चरम: ऐसा विग्रह करके राम अर्थ निकालते हैं।

२९—जटायु:

जटायु सूर्यसारथि अरुणके पुत्र थे। दशरथके साथ इनकी मैत्री थी। सीताहरणके समय जटायुने रावणको रोकनेकी चेष्टा की थी, उसी समय रावणके अस्त्रसे जटायुकी मृत्यु हुई। सीताकी खोजमें भटकते हुए रामलक्ष्मणने जटायुको देखा,

जटायुने सीताका समाचार रामसे कहकर अपने प्राण छोड़े। रामने अपने पिताके मित्र उस जटायुकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी।

'दशरथदुरवापं प्रापनैवायमम्भः'

३०—आचुचूषति

'चूष् पाने' धातुका चूषति रूप होता है, अतः आचूषति होना चाहिये, सन्नन्त कर देने पर आचुचूषिषति हो जायगा। मेरी समझमें आशु चूषति पाठ सङ्गत तथा शुद्ध है।

३१—दनुराजकङ्कालकूटः

रामायणमें लिखा है—

'श्रिया मां मध्यमं पुत्रं दनुं नाम्ना च दानवम्।
इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तवन्तमवेहि माम्॥
अहं हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम्।
दीर्घमायुः समे प्रादात्ततोऽहं पूर्णमानसः॥
. . . . रणे शक्रमधर्षयम्।
तस्य बाहुप्रयुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा।
सक्थिनी मे शिरश्चैव शरीरे सन्निवेशितम्'॥

३२—वत्सेनैकषि

निकषाया अपत्यं स्त्री नैकषेयी होना चाहिये, अण् कैसे हुआ? इस प्रश्नका उत्तर रुचिपतिने यह दिया है कि 'क्वचिदपवाद विषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते' इति स्त्रीभ्यो ढकं बाधित्वाऽण्। क्वचित् 'कैकसि' ऐसा पाठ है।

३३—जातं जातमवलम्बनम्

यह कथन भवभूतिकृत उत्तररामचरितके पञ्चमाङ्क प्रारम्भमें वर्त्तमान 'भोः सैनिकाः जातं जातमवलम्बनमस्माकम्' इस उक्तिसे अक्षरशः मिलती है॥

३४—कर्णोत्तंसयवाङ्कुरम्

[illegible] कीजिये—'श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप।
किमपि तुन्दलितः स्थगयत्यमुं सखिमुखं न विधोः पुनरीक्ष्यते॥
(नैषधीयचरित)

३५—अपोशानकर्मणि

'अपोऽशान' इसतरहकी शिक्षा ब्रह्मचारियोंको दी जाती है, तदनुसार वह भोजनके पूर्व 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इस मन्त्रसे आचमन करते हैं इसीको अपोऽशानकर्म कहते हैं।

३६—सगरसुतचितायाः पावनी

सगरके अश्वमेधमें छोड़े गये अश्वको चुराकर इन्द्रने कपिलमुनिके आश्रममें बांध दिया। सगरके पुत्रोंने घोड़ेको मुनिके पास बन्धा देखकर मुनिका अपमान-कर दिया, मुनिके शापसे सगरके सभी पुत्र जल गये। पश्चात् भगीरथने तपस्या करके गङ्गाप्रवाह ला उनका उद्धार किया।

३७—लक्ष्मणभुजौ न परिष्वजाते

'परिष्वजाते' रूप अशुद्ध है, पाणिनिके अनुसार 'परिष्वजेते' रूप होगा।



नाटकीया विषयाः

स्वगतम्— 'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' ।

प्रकाशम्— 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्'

अपवार्य— 'तद्भवेदपवारितम्' ।

रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्यप्रकाश्यते ।

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तराकथाम्' ॥

जनान्तिकम्— 'अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्' ।

नेपथ्यम्— 'नटानां वेषपरिग्रहस्थानम्'

नाटकम्— 'वीरश्रृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते

प्रख्यातनायकोपेतं नाटकं तदुदाहृतम् ।

अङ्कः— 'प्रत्यक्ष नेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।

भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णक संयुतः ।

नानेकदिननिर्वर्त्य कथया सम्प्रयोजितः ।

आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ।

प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तोभावरसोद्भवैः ।

अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः' ॥

नान्दी— 'आशीर्वचनसंयुक्तास्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।

पदैर्युक्ताद्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥

सूत्रधारः— 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।

सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स उच्यते' ॥

प्रस्तावना— 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।

सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।

आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा' ॥

विष्कम्भकः— वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥

प्रवेशकः— 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा' ॥

नायकः— 'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता' ॥

प्रस्तावनाभेदाः—
'उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्त्तकावलगिते पञ्चप्रस्तावनाभिदाः' ।

अत्र प्रयोगातिशयाख्या सा—
'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्' ॥

बीजम्— 'अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते ।

बिन्दुः— 'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्' ।

कार्यम्— 'अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति सम्मतम्' ॥

सन्धिः— 'अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति' ।

पञ्चसन्धयः— 'मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ।
इति पञ्चास्यभेदाः स्युः'

मुखम्— 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम् ।'

प्रतिमुखम्— 'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्' ।

गर्भः— 'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः' ॥

विमर्शः— 'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः' ।

निर्वहणम्— 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ॥



अनर्घराघवगतानिच्छन्दांसि सलक्षणानि

१ अनुष्टुप्— 'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम् ।
द्विचतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' ॥

२ आर्या— 'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ।

३ इन्द्रवज्रा— 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ।

४ उपेन्द्रवज्रा— 'जतजास्ततो गौ' ।

५ उपजातिः— 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ।

६ शालिनी— 'मात्तौ गौ चेच्छालिनीवेदलोकैः' ।

७ वंशस्थविलम्—'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' ।

८ पुष्पिताग्रा— 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'

९ पृथ्वी— 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' ।

१० मन्दाक्रान्ता— 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ न तौ ताद्गुरू चेत्' ।

११ मालिनी— 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः'

१२ वसन्ततिलका—
'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ।

१३ शार्दूलविक्रीडितम्—
'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' ।

१४ शिखरिणी— 'रसैरीशैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' ।

१५ हरिणी— 'नसभरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणीमता' ।

१६ स्रग्धरा— 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' ।

अनर्घराघवगताः सूक्तयः

१—'यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' ॥

२—'कष्टा वेधव्यथा कष्टो नित्यमुद्वहनक्रमः ।
श्रवणानामलङ्कारः कपोलस्य तु कुण्डलम्' ॥

३—'उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्मवासः ।
एकालयस्थेऽपि धनाधिनाथे सख्यौ दशेयं त्रिपुरान्तकस्य' ॥

४—'पतिते व्यसने दैवाद्दारुणे दारुणात्मनि ।
संवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मनः' ॥

५—'यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव तत्कर्म कथयिष्यति' ॥

६—'क्रौञ्चं विमुच्य पुत्रं च पितरं च हिमालयम् ।
प्रविश्य जलधिं पत्यौ रक्षताऽनेन किं कृतम्' ॥

शुभमस्तु



श्लोकानुक्रमणिका

श

स

—o—